ISSN 2454-2725

86
जून 2022

अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका

जनकृति

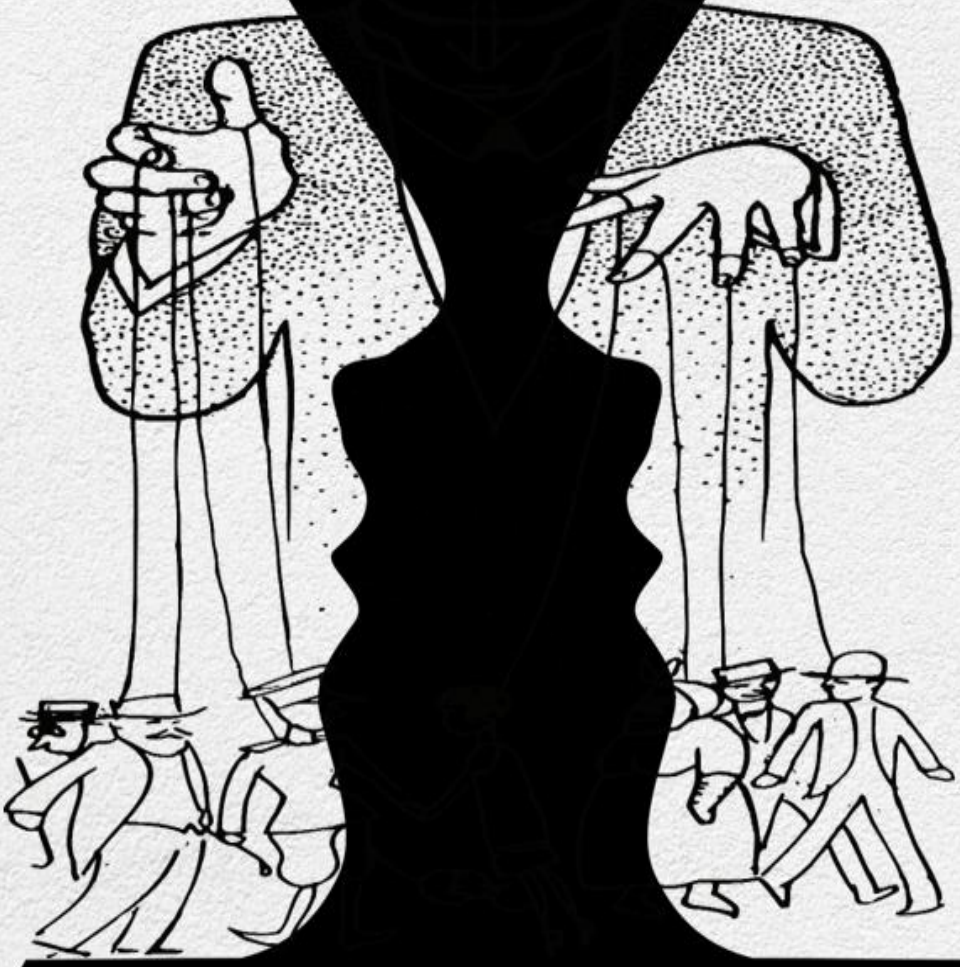

संपादक: डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

www.jankriti.com

Peer Reviewed Journal IPI Value (2.65)

जनकृति

अंतरानुशासनिक पूर्व- समीक्षित द्विभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका

वर्ष 8, अंक 86 **जून 2022**

परामर्श मंडल

डॉ. सुधा ओम ढींगरा, प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय, प्रो. रमा, डॉ. हरीश नवल, डॉ. हरीश अरोड़ा, डॉ. प्रेम जन्मेजय, डॉ. कैलाश कुमार मिश्रा, प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, प्रो. कपिल कुमार, प्रो. जितेंद्र श्रीवास्तव प्रो. रत्नेश विश्वक्सेन

संपादक

डॉ. कुमार गौरव मिश्रा
(सहायक प्रोफ़ेसर, झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

सहायक संपादक

डॉ. पुनीत बिसारिया
(एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश)

संपादन मण्डल/विशेषज्ञ समिति

डॉ. सदानन्द काशीनाथ भोसले (प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ , महाराष्ट्र)
डॉ. दीपेन्द्र सिंह जाड़ेजा (प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महाराजा सयाजीराव बड़ौदा विश्वविद्यालय, वड़ोदरा)
डॉ. नाम देव (प्रोफ़ेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. प्रज्ञा (प्रोफ़ेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रचना सिंह (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रूपा सिंह (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, बाबु शोभा राम गोवेरमेंट आर्ट कॉलेज, राजस्थान)
डॉ. पल्लवी (सहायक प्रोफ़ेसर, तेजपूर विश्वविद्यालय, असम)
डॉ. मोहसिन खान (प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जेएसएम कॉलेज, रायगढ़, महाराष्ट्र)
डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा (सहायक प्रोफ़ेसर, मिजोरम विश्वविद्यालय, मिजोरम)
डॉ. प्रवीण कुमार (सहायक प्रोफ़ेसर, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश)
डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी (सहायक प्रोफ़ेसर, जेआरएन राजस्थान विद्यापीठ, राजस्थान)
डॉ. अंबिकेश त्रिपाठी (सहायक प्रोफ़ेसर, गांधी एवं शांति विभाग, महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
डॉ. ज्ञान प्रकाश (सहायक प्रोफ़ेसर, बिहार)

संपादन सहयोग

श्री चन्दन कुमार (शोधार्थी, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा)
राकेश कुमार (शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संस्थापक सदस्य

कविता सिंह चौहान (मुंबई)
डॉ. जैनेन्द्र कुमार (बिहार)

अंतरराष्ट्रीय सदस्य

प्रो. अरुण प्रकाश मिश्रा (स्लोवेनिया), डॉ. इंदु चंद्रा (फ़िजी), डॉ. सोनिया तनेजा (स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी), डॉ. अनिता कपूर (अमेरिका), राकेश माथुर (लंदन), रिद्या (श्री लंका), मीना चोपड़ा (कैनेडा), पूजा अनिल (स्पेन)

जनकृति अव्यवसायिक
जून 2022 अंक 86, वर्ष 8

सहयोग राशि : 60 रुपये (वर्तमान अंक)
150 रुपये (संस्थागत)

व्यक्तिगत सदस्यता : 800 रुपये (वार्षिक)
3000 रुपये (पंचवर्षीय)
5000 रुपये (आजीवन)

संस्थागत सदस्यता : 1200 रुपये (वार्षिक)
6000 रुपये (पंचवर्षीय)
10000 रुपये (आजीवन)

(डिजिटल प्रति सदस्यता)

बैंक खाता विवरण : Account holder's name- Kumar Gaurav Mishra
Bank name - Punjab National Bank
Account type – saving account
Account no. 7277000400001574
IFSC code- PUNB0727700

पत्र व्यवहार : फ्लैट- जी 2, बागेश्वरी अपार्टमेंट
आर्यापुरी, रातू रोड़, रांची, झारखंड
पिन कोड: 834001, संपर्क- +918805408656

नोट : प्रकाशित रचनाओं से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
सम्पादन पूर्णतः अवैतनिक है।

ध्यानार्थ : अकादमिक क्षेत्र में शोध की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुरूप जनकृति में शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। शोध आलेखों का चयन विभिन्न क्षेत्रों के विषय विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है, जो विषय की नवीनता, मौलिकता, तथ्य इत्यादि के आधार पर चयन करते हैं। इसके अतिरिक्त पत्रिका में साहित्यिक रचनाएँ, वैचारिक लेख, साक्षात्कार एवं पुस्तक समीक्षा भी प्रकाशित होती है। जनकृति के माध्यम से हम सृजनात्मक, वैचारिक वातावरण के निर्माण हेतु प्रतिबद्ध है।

JANKRITI
Interdisciplinary Peer-Reviewed Bilingual International Monthly Magazine
Editor: Dr. Kumar Gaurav Mishra
Language: Bilingual (Hindi & English)
Publisher: JANKRITI
ISSN: 2454-2725
Website: www.jankriti.com
Email: jankritipatrika@gmail.com

संपादकीय

आप सभी पाठकों के समक्ष जनकृति का जून 2022 अंक प्रस्तुत है। इस अंक में आप साहित्य, कला, इतिहास, संस्कृति इत्यादि क्षेत्रों के महत्वपूर्ण विषयों पर आधारित शोध आलेख, लेख पढ़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त अंक में आप साहित्यिक रचनाएँ भी पढ़ सकते हैं।

जनकृति एक बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका है। यह पूर्ण रूप से विमर्श केन्द्रित पत्रिका है, जहां आप विभिन्न अनुशासन के नवीन विषयों को एकसाथ पढ़ सकते हैं। पत्रिका में एक ओर जहां साहित्य की विविध विधाओं में रचनाएँ प्रकाशित की जाती है वहीं नवीन विषयों पर लेख, शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। अकादमिक क्षेत्र में शोध की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुरूप शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। शोध आलेखों का चयन विभिन्न क्षेत्रों के विषय विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है, जो विषय की नवीनता, मौलिकता, तथ्य इत्यादि के आधार पर चयन करते हैं। जनकृति के माध्यम से हम सृजनात्मक, वैचारिक वातावरण के निर्माण हेतु प्रतिबद्ध है।

- **डॉ. कुमार गौरव मिश्रा**

जनकृति

अंतरानुशासनिक पूर्व- समीक्षित द्विभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका

वर्ष 8, अंक 86 **जून 2022**

अनुक्रम

संपादकीय 4

कला-विमर्श

विक्टोरियो डी सिका का सिने नवयथार्थवाद और उसका प्रभाव / डॉ. सुरभि विप्लव 8

स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिंदी नाटकों के रंगमंच का बदलता स्वरूप / आरती शर्मा 16

सफ़दर हाशमी के नुक्कड़ नाटकों में शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर / निशाबेन एन. ठाकोर 27

वर्तमान परिदृश्य और लोक नृत्य 'लौंडा नाच' का बदलता स्वरूप / आशा 36

दलित एवं आदिवासी-विमर्श

हरियाणा की अनुसूचित जातियों के उत्थान हेतु केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा किए गए प्रावधानों का विश्लेषण / दीपक 47

वर्ण व्यवस्था के बंधन तोड़ती दलित आत्मकथाएं / निर्मल सुवासिया 63

आदिवासी संस्कृति (कहानियों के संदर्भ में) / प्रियंका देऊ वेळीप 72

पूर्वोत्तर भारत के अल्पसंख्यक आदिवासी समुदाय / वीरेन्द्र परमार 78

स्त्री-विमर्श

पंचायती राज व्यवस्था में 50 प्रतिशत आरक्षण: महिला सशक्तिकरण की नई पहल (विशेष सन्दर्भ :हिमाचल प्रदेश)/ प्रीति 89

भारत विभाजन की त्रासदी का लैंगिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन / सुकान्त सुमन 99

'नयी पौध' में बेमेल विवाह की समस्या / ज्योति 112

'माधवी': पुरुषार्थ और मान्यताएँ / मेघा 120

शिक्षा-विमर्श

रूसो की शिक्षा संबंधी चेतना; संपूर्ण विकास की परिकल्पना / डॉ. मायानंद उपाध्याय, अंकुर सहाय श्रीवास्तव 133

किन्नर-विमर्श

'यमदीप' उपन्यास में अभिव्यक्त किन्नर समाज का यथार्थ / कृतिका चौधरी 138

मीडिया-विमर्श

मीडिया साक्षरता की आवश्यकता / राजेन्द्र सिंह क्वीरा 145

राजनीतिक-विमर्श

भारत-इजरायल द्विपक्षीय संबंध: बदलते सुरक्षा आयाम / अमित कुमार सिंह 157
अनुच्छेद 370 - भारत पर पहले और बाद में प्रभाव और अनिवार्यताएं / रवि कुमार 168
Status of Women in Panchayati Raj System: A Case Study of Jharkhand/ Dr. Suchi Santosh Barwar 179
भारत की संघीय ढांचे में संसदीय लोकतंत्र की भूमिका: चुनौतियां और संभावनाएं / दीपंकर दे 198
राष्ट्रवाद का विमर्श और प्रवासी भारतीय / राकेश कुमार 209
पॉल रिचर्ड ब्रास: भारतीय राजनीति के विपुल एवं बहुकृतिक विद्वान / जया ओझा 225

साहित्यिक-विमर्श

किसान विमर्श : 'अकाल में उत्सव' के विशेष सन्दर्भ में / धन राज 230
पृथक्कृत ताहिर, कुबरा, सुगरा, गीता...- अमृता सी. एस./ प्रोफ. प्रभाकरन हेब्बार इल्लत 236
विकास का छद्म: एक गाँव फुलझर / डॉ. मिथिलेश कुमारी 252
"अपना गाँव" एक नयी जमीन की तलाश/ डॉ. बिजय कुमार रबिदास 260
रेणु की कहानियों की जीवंतता को विश्लेषित करते पात्र / चन्दा सागर 274
समग्र मानवीय दृष्टि का वाहक एक विशिष्ट कथा-शिल्पी: निर्मल वर्मा की नज़र से 'रेणु' / डॉ. संगीता कुमारी 284
गोपालराम गहमरी : कुछ प्रश्न, कुछ विचार / गौरव भारती 294
गोरा : राष्ट्रवाद एक अध्ययन / कमरूज़मा अंसारी 301
दस्यु समस्या पर आधारित उपन्यास 'डांग'/ डॉ. उमा मीणा 310
नयी कविता का मूल्यांकन और विजयदेव नारायण साही की आलोचना-दृष्टि/ कादिर हुसैन 326
पं. वंशीधर शुक्ल: व्यक्तित्व एवं कृतित्व / आशुतोष 337
भारतेंदु की आलोचना दृष्टि / विवेक विक्रम सिंह 347
वीरकाव्य: सृजन की परम्परा एवं प्रयोजन / प्रियंका सिंह 354
किसान के चतुर्मुखी शोषण का यथार्थ दस्तावेज : होरी / डा. मनीषा ठक्कर 375
सूरदास का काव्य: लोक जीवन के अनुभवों की रागात्मक परिणति / अनिल कुमार 382
स्त्री चेतना और मीरा का काव्य / संचना 393

प्रवासी साहित्य

न भेज्यो बिदेस: प्रवासी स्त्री के जीवन का यथार्थ / शालू 403
भारतीय संस्कृति बनाम् पाश्चात्य संस्कृति का अंतर्द्वंद्व और प्रवासी हिंदी कविता/ योगेन्द्र सिंह, प्रो॰ नवीन चंद्र लोहनी 411

समसामयिक-विमर्श

भूमंडलीकरण का वैश्विक सन्दर्भ/ श्रीकांत पाण्डेय 427

धर्म एवं संस्कृति

दक्षिण काशीगा, एकम्बरेश्वरम: तेलंगाना राज्य के प्रसिद्ध मंदिर / सुनंदा ठाकुर, सज्जन सिंह पी 439

श्रीराम के गुणों के परिप्रेक्ष्य मे राजर्षि नेतृत्व शैली का अध्ययन / डॉ. दिनेश कुमार, दिव्यान्शु सिंह 444

आलेख

कोका किंगः एक विमर्श / नन्दकिशोर नीलम 460

साक्षात्कार

लोक कला और साहित्य के मर्मज्ञ प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा से ललित कुमार सिंह की बातचीत 473

साहित्यिक रचनाएँ

कविता

आलोक रंजन 482

कहानी

हस्बेमामूल/ राम नगीना मौर्य 485

जो तुम कह देते एक बार / मनीषा 495

पुस्तक समीक्षा

समाज के यथार्थ को दिखाती कहानियाँ (पुस्तक – हाथ ओ उग ही आते हैं, लेखक- प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन')/ समीक्षक: प्रिया राज 506

साहित्यिक चोरी का दस्तावेज़: छापकटैया (लेखक: प्रो.राजेंद्र बड़गूजर) / समीक्षक: रश्मि सिंह 512

विक्टोरियो डी सिका का सिने नवयथार्थवाद और उसका प्रभाव

डॉ. सुरभि विप्लव
सहायक प्रोफेसर
प्रदर्शनकारी कला विभाग (फिल्म एवं थियेटर)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सारांश

नवयथार्थवाद इटली में सांस्कृतिक परिवर्तन और सामाजिक प्रगति का प्रतीक बनकर उभरा इटली का सिने नव यथार्थवाद एक ऐसा विचार और प्रयोग है, जिसमें सिनेमा पूरी तरह से कृत्रिम अभिव्यंजना, काल्पनिक अतिरंजना और बनावटी अभिनय तथा स्टूडियो सिस्टम से मुक्त होता है। जिसके संवाहक बनते हैं विक्टोरियो डी सिका और राबर्तो रोसेलिनी। विटोरियो डी सिका दुनिया के ऐसे फिल्मकार हैं जिन्होंने दुनिया में आने वाली पीढ़ियों के लगभग सभी फिल्मकारों को प्रभावित किया। दूसरे शब्दों में कहें तो इटैलियन नवयथार्थवाद द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कठोर आर्थिक स्थितियाँ और निराशा से भरे जनसमूह,रोज़मर्रा की जिंदगी उनकी खुशियाँ,आशा-निराशा और उम्मीदों को अभिव्यक्त करने का औज़ार बना। आज के दौर में भी यहीं स्थितियाँ हैं इसलिए आज के सिनेमा में भी पुनः नवयथार्थवाद की आवश्यकता है।

बीज शब्द

इटैलियन नवयथार्थवाद, सिनेमा, डी सिका, बाइसिकल थीव्स, प्रभाव

शोध आलेख

"यह जीवन मुझे क्रूरता का आभास देता है। जब भी मैं अखबार पढ़ता हूँ तो उसमें मुझे हत्या, अपराध और तलाक के ही विषय दिखते हैं। मुझे वहाँ मानवता के प्रति ईमानदारी का प्रमाण नहीं मिलता है। मुझे मानवता पर विश्वास है, लेकिन मानवता कहीं ना कहीं निराश करती रही है। मेरे द्वारा निर्देशित फिल्में विषादपूर्ण होती हैं, इसका कारण मेरे प्रेम और मेरी निराशा के बीच का विरोधाभास है क्योंकि परिस्थितियां वैसी ही थी।..." **विटोरियो डी सिका**

इटली का नवयथार्थवाद जिसने विश्व सिनेमा सृजन की नई राह दिखाई, सिनेमा को एक आम इंसान के जीवन का दर्शन बना दिया और आने वाली पीढ़ियों को सिनेमा से समाज को देखने की दृष्टि प्रदान किया। आखिर यह नव यथार्थवाद आया कैसे, इसकी अवधारणा क्या है?

युद्ध में बर्बरता पूर्ण इतनी ताकत होती है कि वह देश की आर्थिक व्यवस्था को झकझोर कर रख देता है, खासकर उन देशों का, जो युद्ध हार गए हों। इन्हीं देशों में से एक था इटली। जिसने फासिस्ट सरकार के राज में द्वितीय विश्वयुद्ध में हार झेली। तानाशाह मुसोलिनी ने भी सिनेमा को सबसे शक्तिशाली हथियार बताया। जिसके चलते उसने सन्1937 में 'सिनेसिता फ़िल्म स्टूडियो' की स्थापना की। जिसमें उसने propaganda फिल्म बनानी शुरु की तथा स्व के प्रचार के लिए भी सिनेमा का खूब इस्तेमाल किया। मुसोलिनी के फासीवादी नेतृत्व में व्याप्त पाखंड और झूठ ने डी सिका और जीवतनी की अपनी फिल्मों में "सच बोलने" की इच्छा को उकसाया। साथ ही मध्यवर्गी फिल्मकारों का सेंसरशिप होने के कारण फिल्में बना पाना नामुमकिन सा हो गया। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सिनेसिता फिल्म स्टूडियो बर्बाद हो गया और विश्वयुद्ध हार जाने के बाद वहाँ की आम जनता का संघर्ष अपने चरम पर पहुँच चुका था और आर्थिक व्यवस्था अपने पतन पर। यह नया आर्थिक संघर्ष और फासिस्ट सरकार से आज़ादी की कामना के गर्भ से निकला इटली का नवयथार्थवाद। इस नए सिनेमा आंदोलन की उत्पत्ति का यही मुख्य कारण था। जिससे द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ ही इतालवी नवयथार्थवाद आया और बेनिटो मुसोलिनी की सरकार गिर गई, जिससे इतालवी फिल्म उद्योग ने अपना केंद्र खो दिया। नवयथार्थवाद इटली में सांस्कृतिक परिवर्तन और सामाजिक प्रगति का प्रतीक बनकर उभरा। यद्यपि सिद्धांतकारों और फिल्म निर्माताओं द्वारा नवयथार्थवाद की वास्तविक शुरुआत का व्यापक रूप से विरोध किया गया, लेकिन 1943 में रिलीज़ हुई विस्कॉन्टी की ओस्सियन को पहली नवयथार्थवादी फिल्म आम तौर पर माना जाता है। जब 1946 में कान फिल्म समारोह में युद्ध के बाद इटली में निर्मित पहली बड़ी फिल्म के रूप में ग्रैंड पुरस्कार रॉबर्टो रोसेलिनी के रोम, ओपन सिटी ने जीता, तब नवयथार्थवाद को विश्व स्तर पर प्रसिद्धि मिल गयी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूरे विश्व में जहाँ चारों तरफ बेरोजगारी गरीबी और आर्थिक मंदी फैली हो वहां सिनेमा कैसे सुखद हो सकता था? तब इटली के सिनेमा ने अपनी परम्परागत धारणाओं को तोड़ते हुए वहाँ के संघर्षों को दिखाना शुरु किया। रोजगार की लंबी कतार में हर रोज जूझते युवा को छायांकित कर परदे पर जब दिखाया गया तो लोगों को यह फिल्म अपने जीवन का यथार्थ लगने लगी।

इटली का नव यथार्थवाद एक ऐसा विचार और प्रयोग है, जिसमें सिनेमा पूरी तरह से कृत्रिम अभिव्यंजना, काल्पनिक अतिरंजना और बनावटी अभिनय तथा स्टूडियो सिस्टम से मुक्त होता है। जिसके संवाहक बनते हैं, 'विक्टोरियो डी सिका' और उनके साथ सेजार झवातिनी, अंबतों बारबरो, अंतोनियोनी, राबतों रोसेलिनी, लुचिनो विस्कौंती भी अपनी सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। इस प्रकार से गैर पेशेवर अभिनेता, वास्तविक लोकेशन, सामाजिक व वास्तविक कथानक ही इटली के नव यथार्थवाद की आत्मा है। Rome Open City, Germany, Year Zero, Paisan, La Trema, Shoe-Shine, Bicycle Thieves, Umberto D यह इटली के नव यथार्थवाद की आरंभिक फिल्में हैं। जिसने पूरी दुनिया के सिनेमा को एक नया रास्ता दिखाया। विक्टोरियो डी सीका की 'बाइसिकल थीव्स' ने नेतृत्व की भूमिका अदा किया।

दुनिया के सिनेमा का रुख मोड़ने वाले विक्टोरियो डी सिका का जन्म 7 जुलाई 1901 को सोरा लाजिया मे हुआ। उन्होंने 1917 में बनी मूक फिल्म 'द क्लेमिनिक्यू अफेयर' में महज़ 16 साल की उम्र में पहली बार सिने अभिनय किया। यही से कहीं ना कहीं सिनेमा का अंकुर डी सिका के मन में फूटा, जो आगे चलकर पूरी दुनिया को प्रभावित करने वाली फिल्में बनाई। वित्तोरियो डी सिका इटली के एक बेहद निर्धन परिवार से थे। आरंभ से विक्टोरियो को रंगमंच से प्रेम था इसलिए वे परिवार की मदद के लिए 19 वर्ष की आयु में ही रंगमंच पर अभिनेता के रूप में काम करना शुरू कर दिए थे साथ ही उन्होंने 1923 में तातियाना पाव्लोवा नाम की रंगमंच कंपनी को अपनी सेवाएं देनी शुरू की। रंगमंच पर मिली सफलता से उत्साहित होकर वित्तोरियो डी सिका ने अपनी पत्नी के साथ मिलकर 1933 में अपनी खुद की नाट्य मंडली बना ली। 1932 में 'What Rascals Men Are' फिल्म से ख्याति प्राप्त करने से पहले 1920 का पूरा दशक डी सिका ने फिल्मों तथा टूरिंग थिएटर कंपनियों के साथ काम किया। डी सिका ने फिल्म निर्देशन के पूर्व नाटय निर्देशन भी समान्तर

रूप से जारी रखा। उन्होनें 1940 मे बनी फ़िल्म Magdalena, Zero for Conduct से फ़िल्म निर्देशन का सफर शुरू किया।

इसी क्रम में 1941 में 'Doctor, Beware' , 1942 में 'A garibian in the Convent' , 1944 में 'The Children Are Watching Us' तथा 1945 में 'The Gate of Heaven' जैसी महत्वपूर्ण फिल्म बनाई।

नाट्य मंडली के प्रदर्शनों के दौरान ही उनकी मुलाकात सेजोर ज़वात्तिनी से हुई। ज़वात्तिनी के साथ मिलकर डी सिका ने शूशाइन और द बाइसिकिल थीव्स जैसी महान फिल्मों का निर्माण किया। बतौर अभिनेता डी सिका ने 1940 में ही इतालवी फिल्मों में काम करना शुरू कर दिया था, लेकिन फिल्म निर्देशक के रूप में उनकी पहली फिल्म शू शाइन थी। इस फिल्म के लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ पटकथा का ऑस्कर सम्मान मिला। ऑस्कर में यह पहली विदेशी भाषा की फिल्म थी, जिसे पहचान और सम्मान दोनों मिला। इसके दो साल बाद 1948 में प्रदर्शित डी सिका की फिल्म 'द बाइसिकिल थीव्स' ने तो सफलता के नए प्रतिमान ही गढ़ दिए। इस फिल्म को भी सर्वश्रेष्ठ लेखन के लिए ऑस्कर सम्मान मिला लेकिन इससे भी बढ़कर सम्मान की बात यह थी कि इस फिल्म की सफलता के बाद विदेशी भाषा को ऑस्कर सम्मान देने की स्थायी श्रेणी की स्थापना हो गई। द बाइसिकिल थीव्स की गणना विश्व सिनेमा के इतिहास में 15 सबसे ज्यादा प्रभावकारी फिल्मों में की जाती है। वित्तोरियो डी सिका को सम्मान और सराहना की झड़ी सी लगी रही कुछ की सूची निम्नवत है।

1971 में बर्लिन अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में उन्हें इंटरफिल्म ग्रैंड प्रिक्स से सम्मानित किया गया।फिल्म मिराकोलो अ मिलानो के लिए कान्स फिल्म समारोह का पाम दी ओर पुरस्कार, फिल्म टीटो के लिए कान्स फिल्म समारोह का ओसिस पुरस्कार, फिल्म अन्ना दी ब्रुकलिन के लिए बर्लिन अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में गोल्डन बियर पुरस्कार,फिल्म शूशाइन के लिए नेस्ट्रो डी अर्जेंटो का सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का पुरस्कार, फिल्म शूशाइन के लिए ही ऑस्कर सम्मान, फिल्म द बाइसिकिल थीव्स के लिए ऑस्कर सम्मान, फिल्म लेरी, ओगी,दोमनी के लिए ऑस्कर सम्मान फिल्म गियार्दिनो दे फ़िन्जी-कॉन्तिनी के लिए ऑस्कर सम्मान आदि पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है।

डी सिका की महत्वपूर्ण फिल्म 'शू शाइन' की कहानी दो बच्चों के इर्द-गिर्द घूमती है, जिन्हें एक घोड़ा खरीदना होता है और उसके लिए उनके पास पैसे नहीं होते। इस वजह से पैसे इकट्ठे करने के लिए वह जूता पॉलिश करना शुरू करता है। इसमें बच्चों के संघर्ष की कहानी दिखाई गई है, वे अपनी चाहत को पूरा करने के लिए किन-किन से संघर्षों का सामना नहीं करना पड़ता है। विश्व युद्ध के बाद के दौर मे 'शू शाइन' जैसी फिल्म कहीं ना कहीं अपनी मानवीय मूल्यों को प्रदर्शित करती है जिसका असर 1948 में आई सदी की महान फिल्म 'बाइसिकल थीव्स' पर साफ-साफ दिखता है। जिसमें समाज के किरदारों को फिल्मों में लाकर खड़ा कर दिया था। बाइसिकल थीव्स मे रिची हर उस इंसान की स्थिति को दर्शाता है, जो उस समाज का हिस्सा है। ध्यान रखने वाली बात यह है कि डी सिका ने अपनी पहली दो यथार्थवादी फिल्मों में नजरिया बच्चों का रखा, जहां शू-शाइन में पात्र घोड़ा खरीदने के लिए जूते पॉलिश करता है, वहीं बाइसिकल थीव्स में ब्रूनो अपने पिता के साथ उनकी चोरी हुई साइकिल को ढूंढता है।पूरी फिल्म में कभी कभी लगता ब्रुनो की नज़र से निर्देशक दिखा रहे हैं फिल्म हर एक छोटा दृश्य जैसे बारिश से बचने के लिए रिची और ब्रूनों एक इमारत के पास जाकर खड़े हो जाते हैं लेकिन उनकी नजरे साइकिल को ढूंढ रही रही होती उतने में कुछ युवा एक झुंड में आते हैं वे सभी अपनी अपनी बाते कर रहे होते हैं कि तभी ब्रूनों अपने पिता की ओर देख रहा होता कि पिता कितना परेशान हैं। ऐसे कई दृश्य हैं जहां नन्हें ब्रूनों की मूक अभिव्यक्ति ही फिल्म को नई ऊंचाई पर ले जाती है। बाइसिकल थीव्स को दुनिया भर में नवयथार्थवाद की सबसे महत्वपूर्ण फिल्म इसलिए माना जाता है,

क्योंकि इस फिल्म के मुख्य पात्र से पूरा विश्व जुड़ सकता है। डी सिका ने इस फिल्म में स्थापित भी किया है कि कैसे यह एक चक्र है जहाँ कोई कभी रिची है तो कोई कभी चोर है। फिल्म का प्रत्येक दृश्य विश्व की परिस्थितियों को बयान करता है। उदाहरण के लिए साइकिल खरीदने के लिए रिची और उसकी पत्नी बेडशीट को गिरवी रखते है, जहां पर रिची जैसे

कई और युवा अपनी रोज़मर्रा की जरूरतों को पूरा करने के लिए यही कार्य कर रहे होते हैं। रिची जब अपना काम ईमानदारी से कर रहा होता है, तभी उसकी साइकिल चोरी हो जाती है। उस साइकिल चोर के पीछे रिची ऐसे भाग रहा होता है जैसे उसकी पूरी दुनिया किसी ने लूट ली हो। जो बड़ी मुश्किल से बेरोजगारी के मार से निकलकर जीना शुरू किया था। रिची बेतहाशा साइकिल चोर के पीछे भागता है। निराश होकर साइकिल की आस छोड़ देता है। उसके बाद एक साइकिल के बाज़ार का दृश्य जहां तमाम साइकिल चोरी करके बेची जाती है तथा हर प्रकार के साइकिल के पुर्जे बिखरे पड़े थे जिसमें रिची अपनी साइकिल के पुर्जे को बारिश का ढूँढने का प्रयास करता है जो नाकाम रहती है। ऐसे कई दृश्य इस फिल्म में जो आपको सोचने पर मजबूर कर देते हैं और अंतिम दृश्य साइकल चोरी का है जब अंततः रिची यह तय कर लेता है कि जीवन जीने के लिए मुझे भी किसी अन्य की साइकिल चोरी करनी होगी और वह चोरी करने जाता भी है लेकिन असफल रहता है और पूरी भीड़ उसे पकड़ कर मार रही होती है इस दृश्य को देखकर ब्रूनों रोता है और ब्रूनों को देख कर पिता शर्मसार है लेकिन क्या करें परिस्थितियाँ ही इतनी कठिन थी। यह दृश्य दर्शक को झकझोर कर रख देता है सिनेमा को गंभीरता से समझने वाले दर्शक की भी आंखे नम हो जाती हैं। इस फिल्म ने बहुत सारे मानक स्थापित किये चाहे दृश्य कथ्य हो या सिनेमाई

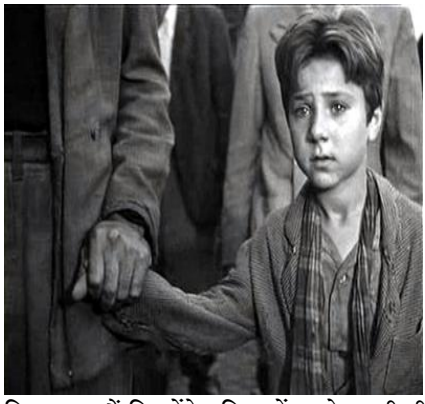

शिल्प की बात हो अभिनय की बात हो जो कभी नहीं लगता कि यह कोई अभिनय कर कर रहा है बल्कि हमेशा लगता है कि एक साधारण सा आम आदमी की कहानी है जो हममें से कोई एक है। यह फिल्म आज के बेरोजगारी, भूखमारी और आर्थिक स्थितियों को बयान करती है।

विटोरियो डी सिका दुनिया के ऐसे फिल्मकार हैं जिन्होंने दुनिया में आने वाली पीढ़ियों के साथ-साथ भारतीय फिल्मकारों को भी शिद्दत से प्रभावित किया। जिसमें कुछ महत्वपूर्ण निर्देशक हैं सत्यजीत राय, विमल राय, राजकपूर, श्याम बेनेगल, अनुराग कश्यप आदि-आदि। जिनपर संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जा सकती है सत्यजीत रे सन 1950 में लंदन गए और वहां उन्होंने विटोरियो डी सिका की फिल्म बाइसिकल थीव्स देखी इस फिल्म ने सत्यजीत रे को अंदर तक झकझोर डाला और

उन्होंने फिल्म निर्देशक बनने का दृढ़ संकल्प ले लिया। जिसकी उपज है पाथेर पांचाली। अप्पू त्रेयी जिसमें रे भी पूरी फिल्म को एक बच्चे के नजरिए से दिखते हैं। इसके बाद ही भारतीय फिल्म निर्देशक विमल राय भी इन्हीं से प्रभावित होकर फिल्म 'दो बीघा जमीन' बनाते हैं जो तात्कालिक भारतीय परिदृश्य को बयां करती है जिसमें औद्योगिककरण से जूझते किसानों तथा उनके संघर्षों को दिखाया गया है। सन 1952 में मुंबई के एक International Film Festival of India (IFFI) में बाइसिकल थीव्स देखकर राजकपूर भी भावुक हुए। फिल्म के बाद वह वित्तोरियो डी सिका से मिले और बहुत देर तक बात की। राजकपूर कहते है कि " वित्तोरियो दे सिका परदे पर वो लेकर आए जो उन्होंने समाज में देखा, महसूस किया और इसमें बहुत कुछ ऐसा था जो वास्तविक था।" इसी क्रम में श्याम बेनेगल डेसिका से प्रभावित अपनी फिल्मों में भी यथार्थवाद, इमानदारी, सामज में हो रहे कुरीतियों को दिखाते हैं। फिल्म निर्देशक अनुराग कश्यप ने भारत के अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में भाग लिया और सिर्फ 10 दिनों में 55 से अधिक फिल्में देखीं। जिसमे से एक फिल्म थी वित्तोरियो डी सिका की बाइसिकल थीव्स थी जिससे वो काफी प्रभावित हुये।

विदेशी फिल्मकारों में, इरान के फिल्म निर्देशक दारिश मेहरजुई (Darish Mehrjui) डी सिका से प्रभावित होकर। "द साइकिल(1975)" फिल्म बनाई। इसी तरह माजीद मजिदी, अब्बास कियारोस्तामी (Abbas Kiarostami) भी प्रेरित हैं। फिल्म निर्देशक जाफ़र पनाही(Zafar Panahi) वित्तोरियो डी सिका से प्रभावित होकर अपनी फिल्मों में परोक्ष सत्य या कठोर यथार्थवाद, ईमानदारी और प्रामाणिकता को केंद्र में रखने की कोशिश की है। फिल्म निर्देशक केन लोच (Ken Loach) अपने एक साक्षात्कार में कहतें हैं कि "डी सिका की फिल्म बाइसिकल थीव्स का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। इससे मुझे यह एहसास हुआ कि सिनेमा आम लोगों और उनकी दुविधाओं के बारे में हो सकता है। यह सितारों या धन या बेतुके कारनामों के बारे में फिल्म नहीं थी। इसी फिल्म को देखते हुए मैंने फिल्म बनाने का निर्णय लिया।" इनके अलावा अनेक विश्व के निर्देशक जैसे टोनी रिचर्डसन, क्लाउडे चाइब्रोल, फ्रांसिस त्रुफ़ों, ज्यां लुक गोदार्ड ,इंगमार बर्गमैन आदि हैं, जो उनसे प्रभावित रहे हैं और आज भी नए निर्देशक प्रभावित हो रहें हैं।

आज भी हर वह युवा, फिल्म निर्देशक जो फिल्म को गंभीर रूप से पढ़ना , देखना या बनाना चाहता है, तो उसकी राह विक्टोरियो डी सीका से होकर गुज़रती है और आज भी विक्टोरियो डी सीका की फिल्म पथ प्रदर्शक के रूप में प्रमाणित हैं।

सन्दर्भ सूची :-

1. Vittorio De Sica: Director, Actor, Screenwriter by Bert Cardullo
2. हिंदी सिनेमा का इतिहास : मनमोहन चड्ढा
3. पश्चिम और सिनेमा :दिनेश श्रीनेत
4. क्लासिक सिनेमा : डॉ . गौतम चटर्जी
5. विश्व सिनेमा का इतिहास : अनिल भार्गव
6. The Oxford History of World Cinema by Geoffrey Nowell-Smith (Editor)
7. History of Film by David Parkinson

स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिंदी नाटकों के रंगमंच का बदलता स्वरूप

आरती शर्मा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
9250458560
arti6945@gmail.com

शोध सार- *नाटक पुरातन विधाओं में शामिल है। भारतीय साहित्य में संस्कृत से चली आ रही नाट्य परंपरा अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। समय के साथ-साथ देशकाल और परिस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। संस्कृत नाट्य परंपरा एक समय के बाद स्थिर सी ही हो गई। मध्यकाल में नाट्य परंपरा साहित्यिक रूप से नहीं दिखाई पड़ती। आधुनिक काल में भारतेन्दु युग से पुनः हिन्दी नाट्य साहित्य का आविर्भाव होता है। जिसमें रंगमंच की संस्कृत परंपरा और पाश्चात्य परंपरा का मिश्रण दोनों का प्रयोग मिलता है। पारसी रंगमंच का प्रभाव भारतीय रंगमंच पर प्रसादयुगीन नाट्य साहित्य में अधिक देखने को मिलता है। साठोत्तरी हिंदी नाटक या स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में कथ्य, शिल्प, भाषा, रंगमंचीय उपकरण सभी में परिवर्तन आया है। साथ ही नाटकों के कथ्य और भाषा दर्शकों के जीवन से जुड़े हुए होने लगे। रंगमंच में ध्वनि और प्रकाश व्यवस्था से नाटकों के मंचन में सुविधा हुई। दर्शकों पर नाटकों का अधिक प्रभाव देखने को मिला।*

प्रसाद के नाटकों जिनको यह कह कर नकार दिया गया कि प्रसाद के नाटक रंगमंच के लिए नहीं बने। पर रंगमंच के आधुनिक उपकरणों के द्वारा प्रसाद के नाटकों को भी मंचित किया जाने लगा। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी नाटकों के रंगमंच में कई बदलाव हुए। जो हिंदी साहित्य के लिए सकारात्मक भी सिद्ध हुए हैं।

बीज शब्द - *अभिनय, नवनिर्माण, उत्कर्ष, परिवर्तनशील, तनावग्रस्त, संघर्षमय, वैविध्यपूर्ण, संयोजन, यथार्थवादी, रंगकर्मी, नाट्य-सृजन, समृद्ध, शास्त्रीय, जिजीविषा, अंधानुकरण, पलायनवाद।*

शोध आलेख

नाटक और रंगमंच एक सिक्के के दो पहलू हैं। नाटक केवल लिखने भर तक ही सीमित नहीं होता। उसका मंचित होना ही उसकी उपयोगिता को सिद्ध करता है। मोहन

राकेश लिखते हैं कि- *"लिखा हुआ नाटक अपने में पूर्ण कृति नहीं होती। रंगमंच की पृष्ठभूमि और पात्रों का अभिनय उसे पूर्णता प्रदान करते हैं। एक कृति के रूप में नाटक तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जबकि रंगमंच पर अभिनीत होने की संभावनाएँ निहित हों।"* इसीलिए नाटक जब तक मंचित न हो तब तक उसकी महत्ता को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता। नाटक के बिना रंगमंच अधूरा है और रंगमंच के बिना नाटक।

नाटक के संबंध में आलोचक नंददुलारे वाजपेयी का कथन है- *"नाटक गंभीर अभिनय नाटक कला की सर्वोत्तम सृष्टि है। मानव चरित्र को शक्ति और गति देने में, सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने में, जीवन का नवनिर्माण करने में, जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकता है, उतना दूसरी कोई कलाकृति नहीं। नाट्यकला ही समृद्धिशाली देशों की प्रतिनिधि और सर्वोच्च कला रही है। विविध राष्ट्रों के कला संबंधी उत्कर्ष को मापने के लिए नाटक ही सर्वप्रमुख उपादान रहा है।.....आज के अधिकांश साहित्य रूप व्यक्तिगत उपयोग के लिए हैं, सामूहिक उपयोग के लिए नाटक ही प्रधान साहित्यांग है।"*

स्पष्ट रूप से विद्वानों, आलोचकों का मत है कि नाटक को पूर्ण सफलता उसके मंचन के बाद ही प्राप्त होती है। नाटक पढ़ने पर इतना प्रभावित नहीं करता जितना प्रभावी मंचन के बाद लगता है। लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं कि- *"नाट्य कृति और रंगमंच एक दूसरे के कार्य और कारण है, दूसरे स्तर पर एक दूसरे के पूरक और यहाँ तक कि एक दूसरे के पर्याय।"* यहाँ सीधा-सीधा यही अर्थ निकलता है कि नाटक रंगमंच के बिना और रंगमंच नाटक के बिना अधूरा है।

नाटक साहित्य की एक ऐसी विधा है जिसमें ज्ञान, कला, शिल्प सभी का समावेश मिलता है। समय परिवर्तनशील है। समय के साथ परिवेश, परिस्थितियाँ, सोच-विचार में भी परिवर्तन आता है। उसी प्रकार समय के साथ नाटक और रंगमंच के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। जीवन-संघर्ष, संवेदना तथा चिंतन जितने सूक्ष्म तथा तीव्र होंगे, नाटक तथा रंगमंच उतने ही जटिल, संघर्षमय, विसंगतिपूर्ण तथा तनावग्रस्त होंगे। इस प्रकार आधुनिक नाटक और रंगमंच कथ्य एवं प्रदर्शन के स्तर पर कहीं अधिक वैविध्यपूर्ण और प्रयोगशील बन पड़े हैं।

डॉ. धीरेन्द्र शुक्ल कहते हैं- *"'रंगमंच' संस्कृत का शब्द है। यह रंग और मंच दो शब्दों के योग से बना है। रंग का अर्थ है- सार्वजनिक आमोद स्थली, सभा-भवन, नृत्य-गान और अभिनय। 'मंच' का अर्थ है- ऊँचा बना हुआ मंडप। इस प्रकार रंगमंच वह ऊँचा बना हुआ स्थल है जहाँ रंगकर्मी नृत्य, नाटक आदि अभिनय कलाओं का प्रदर्शन करते हैं। 'रंगमंच' अंग्रेजी के 'थियेटर' शब्द का पर्याय है। इस शब्द का सीमित और व्यापक, दो अर्थों में प्रयोग होता है। रंगमंच अपने सीमित अर्थ में अब वह स्थल समझा जाता है जहाँ नाट्याभिनय होता है और अपने व्यापक अर्थ में यह सम्पूर्ण नाटक मंडप या रंगशाला का वाचक माना जाता है।"* नाटक जब मंचित होता है तब उसकी मूल शक्ति सामने आती है। नाटककार को इससे सृजन की प्रेरणा भी मिलती है। इस प्रकार एक अच्छा नाटक रंगमंच के विकास में सहायक होता है। नाटक को जब मंचित किया जाता है तो जरूरी मंच और सामग्री का संयोजन किया जाता है। इन सब के द्वारा ही रंगमंच नया आयाम ग्रहण करता है।

रंगमंच गतिशील होता है। समय के अनुसार इसमें परिवर्तन और परिवर्धन हुए हैं। रंगमंच के विकास यात्रा को देखा जाए तो इसके अनेक रूप मिलते हैं। रंगमंच के दो रूप समानान्तर विकसित हुए हैं- एक परिनिष्ठित रंगमंच और दूसरा लोक रंगमंच। वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ रंगमंच का भी पर्याप्त विकास हुआ है। बहुधरातलीय रंगमंच, परिक्रमा रंगमंच, त्रिबंधीय रंगमंच, वृत्ताकार रंगमंच मुक्ताकाशी रंगमंच, अंडाकार रंगमंच, काबुकी रंगमंच, यांत्रिक रंगमंच आदि इसके रूप हैं। समय के साथ नाटक का कथ्य और रूप बदला और उसी के अनुसार रंगमंच भी परिवर्तित होता गया। साथ ही साज-सज्जा भी देशकाल के अनुसार परिवर्तित हुई।

स्वातंत्र्योत्तरयुगीन रंगमंच कथ्य, भाषा और शिल्प की दृष्टि से बिलकुल बदल गया था। आज़ादी के कुछ समय (1943) पहले इप्टा (इंडियन पीपल्स थिएटर एसोसिएशन) का जन्म हुआ। परिणामस्वरूप विभिन्न विधाओं से संबन्धित व्यक्ति जुडते गए। निश्चय यह किया गया कि सभी अपनी-अपनी विधा के प्रदर्शन के माध्यम से जो भी धन आएगा उसको देश की आज़ादी के लिए लगाया जाएगा। इप्टा में सम्मिलित लोगो ने संगीत, चित्रकला, नृत्य, सिनेमा, नाटक आदि कलाओं का खुलकर प्रदर्शन किया। दुर्भाग्य से इसी साल बंगाल में अकाल की स्थिति आ गई। फ़सले बर्बाद हो गई, ज़मीन बंजर हो गई और लाखों लोग भूख से मारे गए। ऐसे समय

में इप्टा के लोगों ने गीतों का सहारा लिया। गायक और संगीत मंडली ने नए-नए गीतों को लिखा जिसमें अकाल से उत्पन्न परेशानियों का चित्रण किया गया और धन इकट्ठा किया गया। संगीत के साथ रंगकर्मियों ने भी मिलकर बंगला भाषा में एक नाट्य प्रस्तुति दी। जिसमें अकाल और उसके बाद की सामाजिक, पारिवारिक और भौगोलिक स्थिति का यथार्थ और मर्मांतक चित्रण किया गया था। यह पहली प्रस्तुति थी जिसमें यथार्थवादी अभिनय को सही एवं जीवंत रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक रुप से नया आयाम विकसित होना शुरू हुआ। ज्ञान-विज्ञान और आर्थिक-राजनीतिक के नए अनुभवों से जनता रूबरू होने लगी। सबसे खास बात विदेशों के 'तकनीकी ज्ञान' की थी। तकनीकी ज्ञान से भारतीय रंगकर्मी भी निश्चित रूप से प्रभावित हुए। साथ ही अपने नाट्य-सृजन और प्रस्तुतीकरण में उनका प्रयोग करने की ओर अग्रसर हुए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज तक आधुनिक भारतीय रंगमंच को समझने के लिए तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। पहला स्तर 1950 से 1970 का, दूसरा 1970 से 1990 का और अंतिम 1990 से अब तक का। 1950 से 1970 का दौर यथार्थवादी युग का दौर रहा है। इसकी शुरुआत तो पहले से ही हो चुकी थी पर 1950 के बाद ही यह सक्रिय रूप से सामने आया। इसका एक मुख्य कारण यह रहा कि हम राजनीतिक रूप से तो आज़ाद हो गए थे पर मानसिक रूप से गुलाम ही थे। और शायद आज भी उससे मुक्त नहीं हो पाएँ हैं। पश्चिमी सभ्यता इसी यथार्थवादी रंगमंच के प्रभाव से ओत-प्रोत थी। इसी का अनुसरण हम लोगों ने भी किया। लक्ष्मीनारायण लाल, उपेन्द्रनाथ अश्क और भुवनेश्वर द्वारा इसकी शुरुआत की जा चुकी थी परंतु सक्रिय रूप से जगदीशचंद्र माथुर के नाटक 'कोणार्क' के माध्यम से अस्तित्व में आया। भले ही नाटक का कथ्य पौराणिक या ऐतिहासिक हो पर सीधे-सीधे तौर पर एक कलाकार के सामने प्रश्न खड़ा करता है कि चुनाव किसका किया जाए? अपनी कला का या सत्ता का? मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल आदि हिन्दी में, विजय तेंदुलकर मराठी में, गिरीश कर्नाड कन्नड़ में और बादल सरकार बंगला रंगमंच के लिए प्रचलित हुए। 1970 के बाद के समय में भीष्म साहनी,

असगर वजाहत, नन्दकिशोर आचार्य, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुसुम कुमार आदि साहित्यकारों ने अपने नाटकों के माध्यम से न केवल साहित्य को ही समृद्ध बनाया बल्कि हिन्दी रंगमंच के लिए नए रास्तों का निर्माण भी किया।

रंगमंच का अब शास्त्रीय ढाँचा बदल चुका था। एक ही नाटक को कई अलग-अलग शैलियों में प्रस्तुत किया जाने लगा था। जिससे नाट्य-सृजन को एक नया संदर्भ मिला। इसी बात के संदर्भ में देवराज अंकुर लिखते हैं- *"पूरी तरह से रोज़मर्रा के व्यवहार में आने वाली भाषा, वही दिन-प्रतिदिन के मानवीय व्यवहार से जुड़ी अभिनय शैली और सीधे उसकी अपनी ज़िन्दगी से जुड़े कथ्य जिनमें कहीं भी ईश्वरीय, पौराणिक अथवा मिथकीय तत्त्वों का कहीं कोई दखल नहीं है। दृश्यबन्ध के नाम पर भी चार दीवारों से घिरा हुआ घर, रेस्तराँ या क्लास रूम। गीत, संगीत, नृत्य और मुद्रा-विधान की कहीं दूर-दूर तक छाया भी नहीं। जो दर्शक इतिहास, पुराण, मिथ, रोमांस से भरपूर नाटकों के अभ्यस्त थे, उन्हें अचानक एक ताज़गी का अहसास हुआ- अरे, ये तो हमारी अपनी ज़िन्दगी है, हमारे अपने सवाल हैं, अपनी शंकाएँ हैं, दुविधाएँ हैं और अपना द्वंद्व है। यथार्थवादी रंगमंच का यही तो जादू है कि वह दर्शकों के सामने एक बन्द प्रेक्षागृह में सच्चाई का भ्रम पैदा कर देता है और हम उसके प्रभाव से अभिभूत हो जाते हैं। बाद में यथार्थवादी रंगमंच को चाहे कितना भी क्यों न नकारा गया हो, दर्शकों पर पड़ने वाले उसके जादू से आज भी कोई इनकार नहीं कर सकता।"* अंकुर जी के इस कथन से कई सारी परिस्थितियों को समझा जा सकता है। नाटक का कथ्य मनुष्य के आस-पास के जीवन से संबन्धित हो गया। रोज़मर्रा की परेशानियों और उन परेशानियों से जूझने की जिजीविषा नाटक के मंचन के द्वारा प्रदर्शित की जाने लगी। इस संदर्भ में *आधे-अधूरे, शकुंतला की अँगूठी, जादू का कालीन, विषवंश, ताजमहल का टेंडर, मुआवजे, दूसरा अध्याय और दिल्ली ऊँचा सुनती है, किमिदम्* यक्षम्, पगलघर आदि नाटकों को देखा जा सकता है।

समय और परिस्थितियाँ हमेशा एक सी नहीं रहती हैं। समय के साथ सोच-विचार, व्यवहार, कार्य-व्यापार सभी में परिवर्तन होता जाता है। समाज की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ समाज में रहने वाले व्यक्तियों के जीवन पर भी

प्रभाव डालती हैं। आज़ाद भारत में भी यही हुआ। हम आज़ाद हो तो गए थे, पर मानसिक विकार, सामाजिक रूढ़ियाँ और पाश्चात्य अंधानुकरण की प्रवृतियाँ मनुष्य में व्याप्त हो गई। राजनीतिक मोह भंग की स्थिति समाज में व्याप्त थी। पारिवारिक विघटन, स्वार्थी प्रवृतियाँ, पलायनवाद, निराशा, अमानवीय कृत्य आदि समाज में बढ़ने लगे थे। साहित्यकार या तो स्वयं भोक्ता होता है या फिर दृष्टा। वातावरण और समाज की परिस्थितियाँ नाटककार को नाटक लिखने के लिए प्रेरित करती हैं। आज़ादी के बाद के समय की परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही थी। नैमिचन्द्र जैन लिखते हैं- *"जिन युगों की परिस्थितियों में तीव्र भावालोड़न और सामाजिक तथा व्यक्तिगत उथल-पुथल सहज और स्वाभाविक होती है, वे इसी कारण नाटक के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं, क्योंकि उन युग-स्थितियों में आन्तरिक जीवन की गति अपने-आप ही सहज दिखती है, और वह इतने सरल रूप में बाह्य घटनाओं के संघात से जुड़ी हुई भी होती हैं।"* निष्कर्षत: स्वतंत्र भारत की परिस्थितियाँ नाटक के विकास के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध रही।

समकालीन रंगमंच के नाटकों की खास बात यह रही कि नाटककारों ने अपने नाटकों में रंगमंचीय संकेत देना आरंभ किया। तकनीकी का इस्तेमाल किस प्रकार किया जाए जिससे कम खर्च में नाटक का सफल मंचन किया जा सके। ध्वनि योजना और प्रकाश व्यवस्था नाटक के मंचन में सहायक रहे। साठोत्तरी नाटकों का विषय मनुष्य केंद्रित हो गया था। *आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे, अंधा-युग, युगे-युगे क्रांति, टूटते परिवेश, श्वेत कमल, मुआवज़े, माधवी, कोणार्क, मादा कैक्टस, मिस्टर अभिमन्यु, बकरी, द्रौपदी, शकुन्तला की अँगूठी, दरिन्दे, महाभोज, कथा एक कंस की, एक और द्रोणाचार्य, तेन्दुआ, सींगधारी, लोमड़ वेश, पागल घर, किमिदम् यक्षम्, ज़िल्ले सुब्हानी, बीहड़, कोर्ट मार्शल, सबसे उदास कविता, जादू का कालीन, विषवंश, दिल्ली ऊँचा सुनती है* आदि नाटक हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध हुए।

नाटकों में प्रतीकों के माध्यम से परिवेश को गढ़ा गया। मानवीय प्रवृतियाँ किस प्रकार हावी हो सकती हैं और मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए कितना नीचे गिर सकता है। इसको इन नाटकों में प्रभावी ढंग से चित्रित किया गया है। नाटककारों ने

इस ओर भी ध्यान दिया है कि नाटक के मंचन के लिए कम खर्च किया जाए और एक सफल प्रस्तुति दर्शकों के लिए प्रस्तुत की जा सके। दशरथ ओझा लिखते हैं- *"नाटक अब काल्पनिक रंगमंच के लिए न लिखे जाकर, रंगमंच पर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से रचे जाने लगे। अतः नाटककार रंगमंच की उपलब्ध सीमाओं और संभावनाओं को ध्यान में रखकर ही दृश्यबन्ध और गति-संचार के विधान की ओर उन्मुख हुए। नाट्यकार अब नाटकों में एक दृश्यबन्ध को ही रखने को महत्व देने लगे : बहु धरातलीय एवं बहुदृश्यीय दृश्यबन्ध को नाटक में दिखलाना कम होने लगा। इसका कारण रंगमंच प्रयोग की व्यावहारिक सीमाएं ही थीं।"*

इसमें कोई संदेह नहीं है कि नाट्य क्षेत्र में आई इस क्रांति ने हिन्दी साहित्य के रंगमंच को पूर्णतः प्रभावित किया। भारत सरकार द्वारा 'ललित कला अकादमी' की स्थापना की गई। अकादमी का उद्देश्य देश में विद्यमान नाट्यमंडलियों और रंगमंचों को पल्लवित करने और साथ ही नए रंगमंच का निर्माण करना रहा। विभिन्न देशों में विकसित होने वाली नाट्यकला के अध्ययन के लिए कलाकारों को भेजा जाने लगा। ताकि नए-नए तरीके और तकनीक के प्रयोग से भारतीय रंगमंच को भी नई दिशा दी जा सके।

स्वातंत्रोत्तर हिन्दी रंगमंच से नाट्य प्रदर्शन को गति मिली। काफी हाउस से उठकर रंगकर्मी इस क्षेत्र में आगे आये और हिन्दी का नया नाट्यलेखन प्रदर्शन शुरू हुआ। यही वजह है कि हिन्दी रंगमंच राष्ट्रीय रंगमंच के समानान्तर आ खड़ा हुआ। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से अलग अनेक नाट्य मंडलियों की शुरुआत होने लगी। जिसमें प्रमुख 'हिंदुस्तानी थिएटर', 'नया थिएटर', 'अनुकृति', 'दर्पण', 'अनामिका', 'निशान्त नाट्य मंच', 'शाकुंतम् नाट्य मंच', 'छवि नाट्य मंच' आदि हैं। इन संस्थाओं ने नाटक को किताबों तक सीमित ना रखकर मंच पर दर्शकों के बीच प्रस्तुत किया। नाटक की सफलता उसके मंचन से ही आँकी जाती है।

सत्तर-अस्सी के दशक में हिंदी रंगमंच अपनी जड़ों की ओर लौटने लगा। प्रत्येक क्षेत्र की विभिन्न नाट्य शैलियों को खोजा जाने लगा। बिहार में बिदेसिया, बंगाल में जात्रा और कर्नाटक में यक्षगान आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। यथार्थवादी दृष्टि से लेकर लोकनाट्य शैली सभी पर कार्य किया जाने लगा। पहले नाटक में

अभिनेता प्रमुख हुआ करता था पर उसका स्थान निर्देशक ने ले लिया। परिणाम यह हुआ कि नाटककार हाशिये पर आ गए। नाटकों की कमी कहानियों के मंचन से पूरी की जाने लगी।

संचार क्रांति ने समाज और राजनीति के साथ-साथ रंगमंच को भी प्रभावित किया। मल्टीमीडिया के प्रयोग से रंगमंच में कई तरह के परिवर्तन आएँ। विभिन्न प्रकार की रंगयुक्तियों और रंगाभ्यासों का प्रयोग किया जाने लगा। विचार के स्थान पर अभिनय और शारीरिक क्रियाओं को अधिक महत्व दिया जाने लगा। अंकों और दृश्यों में बटें नाटकों की प्रवृति समाप्त होने लगी। दृश्य परिवर्तन के लिए पर्दा उठाने और गिराने की बजाए आधुनिक तकनीक प्रकाश, ध्वनि और संगीत व्यवस्था का प्रयोग किया जाने लगा। कोरस के माध्यम से अब सूत्रधार की भूमिका अदा की जाने लगी। बाहरी के साथ-साथ अंदुरुनी ढांचा भी बदलने लगा था।

नाटक क्योंकि एक समूहिक रूप से प्रस्तुत की जाने वाली विधा है। जिसके लिए रुपयों की आवश्यकता होती है। पहले अभिनेताओं के द्वारा चंदा इकट्ठा करके नाटक का मंचन किया जाता रहा। पर धीरे-धीरे यह संगठन की भावना खत्म होने लगी। जिसके चलते एकल अभिनय की परंपरा की शुरुआत हुई। प्रयोग पर आधारित रंगमंच प्रोजेक्ट पर आधारित होने लगे। रंगकर्मियों की संख्या में इजाफ़ा हुआ। रंगमंच अब व्यावसायिकता की ओर बढ़ने लगा। पर यह व्यावसायिकता अनुदानों पर आधारित है। अनुदान न मिलने की स्थिति में नाटकों के मंचन में कमी आने लगती है। नुक्कड़ नाटकों की विकास यात्रा यहीं से ही प्रारम्भ होती है। दर्शकों से सीधे संपर्क करने का यह महत्वपूर्ण साधन बना। नुक्कड़ नाटक का महत्व सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही संस्थाओं ने समझा और अपने-अपने हिसाब से प्रयोग किया। जिसके माध्यम से सामाजिक कुरीतियों, राजनीतिक विसंगतियों और सामाजिक समस्याओं को सीधे-सीधे जनता के समक्ष प्रस्तुति की जाने लगी।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में नाटक का कथ्य, भाषा, शिल्प और रंगमंच संबंधी अवधारण सभी में परिवर्तन हुआ। नाटक का कथ्य अब मनुष्य की रोज़मर्रा की परेशानियों पर केन्द्रित हो गया। सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया जाने लगा। जिसमें पारिवारिक विघटन, निराशा, आर्थिक समस्या, संघर्ष, तनाव, स्त्री, बाल-श्रम,

दलित, किसान और मजदूर आदि की समस्याओं का चित्रण किया गया। जिससे दर्शकों को नाटक की प्रस्तुति में स्वयं की समस्याओं का अनुभव हुआ। भाषा में भी परिवर्तन हुआ। भाषा में रोज़मर्रा के शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। जिन शब्दों से लोग पहले से ही परिचित थे। जिनमें उनको अपनापन प्राप्त हुआ। हरकत की भाषा को प्रमुखता दी गई। अभिनेताओं के हाव-भाव और बिना कुछ बोले ही भाव को प्रकट किया जाने लगा। नाटकों का शिल्प भी समसामयिक चुना गया। शिल्प में बिम्ब और प्रतीकों का प्रयोग किया जाने लगा। मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, मुद्रराक्षस, मृदुला गर्ग, विष्णु प्रभाकर, नंदकिशोर आचार्य, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, स्वदेश दीपक और भीष्म साहनी आदि के नाटकों में प्रतीकों और बिंबों का खुल कर प्रयोग मिलता है। रंगमंच को ध्यान में रखते हुए नाटककारों ने रंग संकेत भी नाटकों में दिए। जो नाटक के मंचन में सहायक सिद्ध हुए। पर्दे के माध्यम से दृश्य परिवर्तन जो पुरातन परंपरा रही है वह तकनीकी युग में ध्वनि और प्रकाश व्यवस्था में बदल गई। अब दृश्य परिवर्तन के लिए प्रकाश व्यवस्था का प्रयोग किया जाने लगा। नाटकों में किसी के चीखने की, बम धमाकों की, रोने की, गोली चलने की आवाज़ों को नेपथ्य से दर्शकों तक पहुंचाया जाता है। जिसके लिए आधुनिक तकनीक माईक या पहले से रिकोर्डिड की गई आवाज़ों का प्रयोग किया जाने लगा। मंच पर कम से कम वस्तुओं का प्रयोग और कम बजट में ही नाटकों का सफल मंचन किया जाने लगा। रेडियों के लिए नाटक लिखे जाने लगे। जिसके लिए उसी तरह का परिवेश और भाषा का प्रयोग भी किया गया। नुक्कड़ नाटकों का प्रचलन बढ़ने लगा। जिससे मंच और वेशभूषा की समस्या को कम किया गया। भारत के प्रत्येक राज्य में सरकारी और गैर-सरकारी नाट्य मंडलियाँ नाटकों के मंचन पर कार्य करने लगी। जिससे नाटक किताबों तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि जनता के बीच प्रस्तुत किए जा सके। तकनीकी के प्रयोग से प्रसाद के भी नाटकों का मंचन सफलतापूर्वक किया गया। आज न केवल नाटकों का ही मंचन किया जाता रहा है बल्कि कविता, कहानी और उपन्यासों को भी मंचित किया जा रहा है। आधुनिक युग में रंगमंच के इस बदलते स्वरूप से नाटकों के मंचन और उसकी प्रासंगिकता को महत्ता मिली।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में हिंदी नाटकों के विकास में नई दिशा मिली। भारतीय भाषाओं के नाटकों का अनुवाद किया जाने

लगा। नाटकों के माध्यम से राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, और पारिवारिक समस्याओं का चित्रण किया जाने लगा। उसके मंचन से दर्शक अधिक प्रभावी भी हुए। निर्देशकों के साथ नाटककार स्वयं जुड़े। नाटक के मंचन के समय यदि कोई बदलाव स्क्रिप्ट में किया जाना चाहिए तो उसमें भी नाटककार निर्देशकों के साथ उस परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार करने लगे। यह एक सकारात्मक नाटकों में उठाई गई समस्याएं और नाटक की भाषा दर्शकों को जानी-पहचानी लगी। जिसका प्रभाव यह हुआ कि दर्शक नाटकों से भली-भांति स्वयं को जोड़ पाए।

संदर्भ सूची

1. सं तनेजा, जयदेव, (2003). नाट्य- विमर्श. अंकुर प्रकाशन : दिल्ली. पृष्ठ सं. 35.
2. वाजपेयी नंददुलारे, *नाटक विशेषांक*. आलोचना पत्रिका. अंक 17, जुलाई 1956. पृष्ठ सं 4 (संपादकीय लेख).
3. लाल लक्ष्मीनारायण. (1965). *रंगमंच और नाटक की भूमिका*. नेशनल पब्लिशिंग हाउस : नयी दिल्ली. पृष्ठ सं 15.
4. शुक्ल डॉ. धीरेन्द्र. (2004) *हिन्दी नाट्य परिदृश (आज के सन्दर्भ में)*. प्रकाशन संस्थान: नयी दिल्ली. पृष्ठ सं 11.
5. अंकुर देवेन्द्र राज. (2021) *रंगमंच की कहानी*. वाणी प्रकाशन : नयी दिल्ली. पृष्ठ सं 102.
6. जैन नैमिचन्द्र (2016) *रंगदर्शन*. राधाकृष्ण प्रकाशन : नयी दिल्ली. पृष्ठ सं 38.
7. ओझा दशरथ. (2018) *हिन्दी नाटक उद्भव और विकास*. राजपाल प्रकाशन : नयी दिल्ली. पृष्ठ सं 363.
8. पालीवाल रीतरानी. (2018) *रंगमंच नया परिदृश्य*. वाणी प्रकाशन : नयी दिल्ली.
9. मिश्र डॉ. विश्वनाथ. (2019) स्तानिस्लाव्स्की चरित्र की रचना-प्रक्रिया. वाणी प्रकाशन : नयी दिल्ली.
10. भारद्वाज मदन मोहन. (2001) *भारतीय नाट्य परंपरा और रंगभूमि*. नेशनल पब्लिशिंग हाउस : नयी दिल्ली.

11. अग्रवाल अर्चना. (2013) *कुँवरजी अग्रवाल नाट्य के अक्षरबीज*. वाणी प्रकाशन : नयी दिल्ली.
12. तनेजा, जयदेव, (2002), *समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच,* तक्षशिला प्रकाशन : नयी दिल्ली.
13. जयदेव तनेजा. (परिवर्द्धित संस्करण, 2016). *रंग साक्षात्कार*. किताबघर प्रकाशन: नयी दिल्ली.
14. सिंह केदार. (2005). *हिन्दी नाटक कल और आज*. क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी : नई दिल्ली.

सफ़दर हाशमी के नुक्कड़ नाटकों में शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर

निशाबेन एन. ठाकोर,
शोधार्थी (पीएच.डी.),
पंजीयन नं.210205018,
हेमचंद्राचार्य उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटन,
चलभाष-9825135461,
Nishathakor23@gmail.com

सारांश

नुक्कड़ नाटक एक प्रकार का जनवादी आन्दोलन है। उसमें जन चेतना का सामाजिक पक्ष उभरा है। अधुनातन अनेक उपकरणों के परिणामस्वरूप जाति और सम्प्रदाय की अस्वीकृति, पुरानी पीढ़ी के प्रति नई पीढ़ी का विद्रोह, प्रेमविवाह और अंतर्जातीय विवाह को मान्यता, नारी चेतना सामाजिक शोषण के प्रति प्रतिरोधात्मक स्वर जैसे पक्ष नुक्कड़ नाटकों में बख़ूबी निरुपित हुए। जनवादी नुक्कड़ नाटकों ने शोषण विरोध को महत्पूर्ण कर्तव्य मानकर कृषक, मजदूर तथा नारी के शोषण के खिलाफ अपनी लेखनी चलायी, जिससे समाज में शोषण का विरोध करने की प्रेरणा मिल जाये। सफ़दर हाशमी ने यह कार्य सिद्दत के साथ किया। उनके 'हल्ला बोल', मशीन, 'गाँव से शहर तक' में शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर उभरा है। सर्वहारा वर्ग की सुविधा के लिए लड़ाई है। सफ़दर हाशमी ने मजदूरों में क्रांति चेतना लाने की कोशिश की है। फलित होता है कि शोषक-अन्याय-व्यवस्था से न्याय की याचना करना, आशा करना व्यर्थ है। सफ़दर को पूरा भरोसा है, इसीलिए वह श्रमिकों की शक्ति को जागृत कर उसका सदुपयोग करने का सुझाव देता है। कुलमिलाकर सफ़दर हाशमी के सभी नुक्कड़ नाटकों में अन्याय और शोषण के प्रति प्रतिरोधात्मक स्वर प्रदर्शित हुआ है।

बीज शब्द

जनवाद, मूल्य, चेतना, शोषण, राजनीति, अंतर्संबंध, समकालीन, यथार्थ, गतिशीलता, विसंगतियाँ, उपनिवेशवाद, सामाजिक सरोकार, तकनीकीशाही, नौकरशाही आदि।

भूमिका

हिंदी नुक्कड़ नाटकों में जनचेतना का सामाजिक पक्ष उभरा। शिक्षा के प्रसार, औद्योगीकरण, पाश्चात्य जीवनमूल्य आदि ने सामाजिक चेतना को प्रभावित किया। परिणामस्वरूप जाति और सम्प्रदाय की अस्वीकृति, पुरानी पीढ़ी के प्रति नई पीढ़ी का विद्रोह, प्रेमविवाह और अंतर्जातीय विवाह को मान्यता, नारी चेतना सामाजिक शोषण के प्रति प्रतिरोधात्मक स्वर जैसे पक्ष नुक्कड़ नाटकों में बख़ूबी निरुपित हुए। 'नुक्कड़' शब्द सामाजिक प्रतिबद्धता को सूचित करने वाला शब्द है। आज नुक्कड़ नाटक हमारे सामने अपने विशिष्ट स्थान और पहचान के साथ खड़ा है। भले ही नुक्कड़ नाटक अपने आप में नयापन लिए हुए हो; लेकिन उससे जुड़े उन नाट्य रूपों से उसका अंतर्संबंध अवश्य है।उसके स्वरुप को लेकर कह सकते हैं कि नुक्कड़ नाटक को उसकी गतिशीलता, लचीलापन और कम खर्चीले होने के कारण जनपक्षीय कला का आदर्श रूप कहा जा सकता है। इसकी मदद से ठोस सांस्कृतिक गतिविधियों की पहल की जा सकती है। वर्तमान में नुक्कड़ नाटक धीरे-धीरे नाट्यकला की एक महत्वपूर्ण शैली के तौर पर अपनी जगह बनाने में सफल हो गया है। वास्तव में नुक्कड़ नाटक की रचना प्रक्रिया सतर्कता, क्षिप्रता और युगबोध की सही पकड़ की मांग करती है। समकालीन असहनीय समस्याएँ, मौजूदा हालात की कठिनता, राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक विसंगतियों की तीव्रता से अनुभव करता है और तत्काल उन्हें नुक्कड़ नाटक में ढालकर प्रस्तुत कर देता है। नुक्कड़ नाटक को लिखने के लिए नाटककार में मौजूदा घटनाओं और परिस्थितियों के विश्लेषण की क्षमता राजनीतिक समझदारी और जनता की नब्ज की पहचान ज़रूरी होती है। नुक्कड़ नाटक जनवादी आन्दोलन की कलात्मक प्रस्तुति है। इस प्रस्तुति में सफ़दर हाशमी सौ प्रतिशत सफल हुए हैं। नुक्कड़ नाट्य आन्दोलन के प्रवर्तक सफ़दर हाशमी ने 'जन नाट्य मंच' प्लेटफोर्म से संसारभर में नुक्कड़ नाटक को ख्याति दिलाई। इतना ही नहीं; उसे अमर कर दिया।

शोध आलेख :

नुक्कड़ नाटक कठिन परिस्थितियों के बीच सारे विश्व में प्रसारित हुआ। भारत में नुक्कड़ नाटकों का आविर्भाव उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष में जनगण को खींच लाने के इप्टा के अभियान के माध्यम के रूप में हुआ। आज़ादी के फ़ौरन बाद वह उन जनवादी शक्तियों के साथ जुड़ गया जो जनता के आर्थिक और सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष ज़ारी रख रही थीं। जनवादी नुक्कड़ नाटकों ने शोषण विरोध

को महत्पूर्ण कर्तव्य मानकर कृषक, मजदूर तथा नारी के शोषण के खिलाफ अपनी लेखनी चलायी, जिससे समाज में शोषण का विरोध करने की प्रेरणा मिल जाये। सफ़दर हाशमी ने यह कार्य सिद्दत के साथ किया।

सफ़दर हाशमी का 'हल्ला बोल' शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर का श्रेष्ठ उदाहरण है। वैसे 'हल्लाबोल' शीर्षक ही शोषितों के लिए शोषण के विरुद्ध आव़ाज बुलंद करने का संकेत देता है। 'हल्ला बोल' पूरा का पूरा शोषण के विरुद्ध स्वर फूंकता है। स्वयं शीर्षक ही शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर का परिचायक है। इसमें शुरुआत से लेकर अंत तक यही चेतना बनी रही है। प्रारंभ ही मजदूरों के 'हल्ला बोल' से होता है। जैसे - "हर जोर-जुलुम की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है। अभी तो ये अंगड़ाई है, आगे और लड़ाई है।

दम है कितना दमन में तेरे, देख लिया और देखेंगे।
जगह है कितनी जेल में तेरे, देख लिया और देखेगे।"[1]

जोगी वर्गगत पात्र है। उसे समझा रहे हैं कि अब भी चेत जा और झाड़ ले पल्ला सीटूवालों से। और इसी भी यूनियन से जुड़ जाएँ। लेकिन जोगी उनकी नहीं मानता है। पुलिस के धमकाने पर भी वह डरता नहीं। ऊपर से प्रतिरोध करता हुआ गाता है, "हम भूख से मरनेवाले। / क्या मौत से डरनेवाले। / आजादी का डंका बजा / उठाओ अग्नि ध्वजा / वर्गयुद्ध की शेष पुकार / आती है बार-बार / हो तैयार हो तैयार|"[2]

स्थानिक नेता उनको धमकाता है। और एक ही मिनट में बस्ती की झुग्गियों पर बुलडोजर फेर कर सपाट कर देने की धमकी देता है। नेता जी का चमचा भी धमकाता है। जोगी बिना डरे अपनी बस्ती की दशा का वर्णन करता है जो पानी, बीजली, सरकारी अस्पताल के अभाव में गंदगीयुक्त जीवन जी रही है। बस्ती वाले और नेता-पुलिस-चमचा के साथ झगड़ा बड़ा रूप लेता है। बस्ती वाले उन्हें भगाते हैं। और जोगी नारे लगाने लगता है। जैसे –

"जोगी : अपनी मांगें ले के रहेंगे।

1.हमें सरकार की तरफ से पक्के मकान मिलें।
2.जहाँ कूड़ा-करकट और गंदगी न हो।
3.जहाँ बिजली और पानी का पूरा बंदोबस्त हो।

4.जहाँ बच्चों के पढ़ने के लिए स्कूल हों और रोगियों के लिए अस्पताल हों।

5.जहाँ बच्चों के खेलने के लिए मैदान हों।"[3]

इस प्रकार दिल्लीभर में मांगों के लिए लड़ाई तेज हो रही है। जीने लायक वेतन के लिए; कहीं नौकरी बचाने के लिए; कहीं बस्तियों में बेहतर मकान के लिए इंसान लड़ रहा है। साथ-साथ महिला मजदूरों ने भी संघर्ष का रास्ता अपना लिया है। महिला मजदूरों का प्रश्न है कि वे अपने बच्चे को काम पर साथ नहीं ले जा सकती हैं। टाइमकीपर गेट पर महिला को रोक देता है, जो बच्चे को साथ लेकर आई है। घर में कोई बच्चे को पालने वाला नहीं है तो वह किसके पास छोड़ कर काम पर आएँ ! सीटू के पर्चे में साफ-साफ लिखा था कि जिस मिल में औरतें नौकरी करती हैं वहाँ बालघर बनाना पड़ेगा। फिर नारे उठते हैं और महिला मजदूर जुलुस में जोगी और अन्य पुरुष भी जुड़ जाते हैं। मजदूरों की मांग थी कि समान काम और समान वेतन। साथ-साथ ठेके के मजूरों को क़ायम करने की आवाज भी है। ठेकेदारी की प्रथा बंद करने की भी मांग है। ठेका-मजदूरों को काम की जगह पर ही पक्का करने और कंपनी-रजिस्टर एन नाम दर्ज करने तथा ई.एस.आई., बोनस, बीमा, ग्रेज्युटी मिलने की भी मांग है। उसके लिए सारे मजुओं को सीटू के मेंबर बनना पड़ेगा। गुलाम रसूल और राघवन से पारबती समझा रही है कि सीटू में शामिल होने में ही सबकी भलाई है। सारे लोग एक हो जाते हैं और इस नारे के साथ नाटक पूरा होता है,

"कोरस-5 : जिस मिल में हो वर्कर महिला,
बच्चे रखने की हो सुविधा।
कोरस-6 : ठेकेदारी का अंत करो,
इस बीमारी का अंत करो।
कोरस : और बंद करो ये पुलिस दमन,
ये लाठी, गोली का शासन।
लड़कर लेंगें ये मांगें सारी,
ये देखेगी दुनिया सारी।
मजबूत हमारा एका है,
झंडा ऊँचा लहराता है।
मजदूर विरोधी हाकिम तक ये संदेसा पहुँचाता है।"[4]

इस प्रकार 'हल्ला बोल' नुक्कड़ नाटक में ठेके के मजदूरों के अधिकार की लड़ाई है। साथ-साथ बस्तियों की सुविधा के लिए लड़ाई है। 'मशीन' में भी शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर उठा है। मशीन का पुर्जा मालिक का साथ छोड़ देता है और मशीन रुक जाती है। तब साथ-साथ काम करने की बात का विरोध करते हुए मजदूर कहता है कि मैं भी तो आखिर इंसान हूँ। अब मुझे साथ-साथ वाली बात ठीक नहीं लगती है। नुक्कड़ नाटक का लक्ष्य समाज का उत्थान रहा है। किसी वर्ग या समाज को हक़ के लिए जागृत करना, शोषण का विरोध करना नुक्कड़ नाटक का स्वभाव है। हकीकत में अनपढ़ जनता में क्रांति-चेतना उत्पन्न करने हेतु सबल विधा नुक्कड़ नाटक है। विषय की दृष्टि से नुक्कड़ नाटक राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक-पारिवारिक समस्याओं पर केन्द्रित होते हैं या फिर चुनावों की दिशाहीनता-उदासीनता, युवाओं के फस्ट्रेशन पर आधारित होते हैं। इसके द्वारा जनता के स्वर को बुलंद करना, जन-हितों का हनन करनेवाली ताकतों के खिलाफ़ संघर्ष करना इस विधा की प्रकृति है। कहें कि जनवादी चेतना के विकास को लेकर भ्रष्ट राजनीति और सत्ता के लिए चुनौती पैदा करना इस विधा का लक्ष्य रहा है। "नुक्कड़ नाटक दर्शकों के मर्म को तीव्रता से न केवल छूता है, बल्कि वर्तमान सामाजिक ढांचे को बेपर्दा कर सामाजिक चेतना की जमीन भी तैयार करता है। जबकि नुक्कड़ नाटक के उद्भव के पीछे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अंतर्भाव है, असल में इसे मानवीय बोध का विकसित परिणाम भी माना जाता है।"[5] इस संदर्भ में प्रसिद्ध रंगकर्मी देवेन्द्रराज अंकुर का भी कहना है कि "एक ऐसा माध्यम जो स्वयं लोगों के बीच पहुंचता है, उन्हीं की समस्याओं से रू-ब-रू होता है और उन्हीं की भाषा में संवाद करता है। उसकी भूमिका मुख्यत: विरोध की रहती है क्योंकि उसका उद्देश्य किसी भी तत्कालीन व्यवस्था में गलत हो रही बातों की तरफ जनमानस का ध्यान आकृष्ट करके उन्हें उसके प्रति जागृत करना है और यदि संभव हो तो उस गलत व्यवस्था से लड़ने के लिए तैयार करना है।"[6]

'गाँव से शहर तक' में शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर झलकता है। पूंजीपतियों, मालिकों, महाजनों द्वारा या व्यवस्था द्वारा जब कोई बात हद पार हो जाती है तब यह स्वर उठता है। आजादी पूर्व स्वर्णिम समाज की कल्पना थी। लेकिन समयांतर भारतीय समाज के सारे सपने टूट कर चूर हो गए। सामाजिक सुधार होने की अपेक्षा स्वातंत्र्योत्तर भारत में अनेकविध सामाजिक विसंगिकताओं ने जन्म लिया। अनेकविध सामाजिक सरोकारों को लेकर सामाजिक व्यवस्था में बदलाव की आवश्यकता हुई।

सामाजिक विकास में बाधक तत्वों के अस्वीकार की स्थिति कड़ी हुई। परम्परागत सामाजिक मूल्यों के प्रति विद्रोह भावना की मांग हुई। सामाजिक अस्तित्व को लेकर जनमानस खासा तैयार हुआ। 'गाँव से शहर तक' में कलुआ, मजदूर, बाबू, छात्र; सभी एक साथ खड़े हो जाते हैं। और सोचते हैं कि "लोहे की दीवारों से सर टकराने से कुछ नहीं होगा। आओ, कंधे से कंधा मिला कर आगे बढ़ो। वह जो अनजान है उनको समझाओ कि दुःख-दर्द ख़ुदगर्ज इंसानों ने पैदा किए हैं। खुदगर्जी की जमात को पहचानो। (मालिक और चमचा एक तरफ खड़े उसे देख रहे हैं। उनकी ओर इशारा करके) यही कहीं जमींदार, कहीं महाजन, कहीं फैक्ट्री-मालिक, कहीं मैनेजर और कहीं गवर्निंग बाड़ी के चेयरमैन हैं। मेरे देश के मजदूरों, मेरी धरती के लालो, मेरे देश के आवारा बच्चों – आओ एकजुट हो आओ और पहचान लो कि केवल एक ही रास्ता है – मेहनतकश एकता का रास्ता। बोलो मेरे साथ - - हमारी मांगें –

चारों : पूरी करो।
मालिक : बोनस माँगने वाले –
चमचा : देश के दुश्मन।
कलुआ : जो जोतेगा –
चारों : वो काटेगा।
चमचा : जमीन माँगनेवाले –
मालिक : देश के दुश्मन।
छात्र : शिक्षा को –
चारों : रोजगार से जोड़ो।
मालिक : विद्यार्थियों –
चमचा : राजनीति से दूर रहो।
सूत्रधार : (बिच में आकर दर्शकों से) आँखें खोलकर देखो –
चाहे गाँव का खेत या शहर की राह,
हर तरफ से उमड़ती है चोखों पुकार।
जिस तरफ आँखें फेरो यही पाओगे।
यह हकीकत भला कैसे ठुकराओगे।"[7]

इस प्रकार जन-चेतना जाग उठती है। अंजली एन. के शब्दों में, "गाँव से शहर तक' नामक नुक्कड़ नाटक में मजदूरों में क्रांति चेतना लाने की कोशिश की गयी है। नाटक

में सूत्रधार देश के श्रमिकों को ललकारता है क्योंकि इस शोषक-अन्याय-व्यवस्था से न्याय की याचना करना, आशा करना व्यर्थ है। श्रमिकों में छिपी हुई शक्ति पर सूत्रधार को पूरा भरोसा है, इसीलिए वह उन्हें उस शक्ति को जागृत कर उसका सदुपयोग करने का सुझाव देता है।"[8] इस नाटक में सूत्रधार ललकारता है कि मेरे देश के मजदूरों, एक जूट हो जाएँ और मेहनतकश एकता का रास्ता ही सिर्फ़ एक मार्ग है।

'राजा का बाजा' में क्रमश: राजनीतिज्ञ, व्यापारी, वकील आदि अपनी स्वार्थी और स्तरहीन वृत्ति का परिचय देते हैं तब पाँचवा हमारे देश की स्थिति को लेकर जागृत करते हुए कहता है जिसमें समाज की वास्तविकता प्रदर्शित होती है। वहाँ प्रतिरोधात्मक स्वर मिलते हैं। जैसे –

> "नौकरशाही तकनीकीशाही अफसरी वकीली,
> पूर्ण किलेबंदी कर ली है, ले तलवार नुकीली।"[9]

अर्थात् नौकरशाही, तकनीकीशाही, अफसरी, वकीली ने सारे संसार पर किलेबंदी कर दी है। हमें पूर्णत: अपने पंजे में जकड़ लिया है। और यह ओर किसी उपाय से नहीं नहीं होगा। इसको अंजाम देना है तो नुकीली तलवार हाथ में धरना होगा। रामेश्वर दयाल भी इस कारवाँ में शामिल होना चाहता है। वह हाथ जोड़कर विनय करता है, लेकिन कोई उसकी सुनता ही नहीं। फिर तंग आकर वह दहाड़ता है, "बहुत हो गया। ये जानवरों का-सा बरताव मुझे मंजूर नहीं। आखिर मैं भी इंसान हूँ। दौलत, ताकत, शिक्षा और पुरे देश पर तुम्हारी ये इजारेदारी मुझे मंजूर नहीं। मैं इसे अस्वीकार करता हूँ।"[10] 'औरत' में भी नारी-शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक स्वर उठा है। पहले नारी का हर मोड़ पर हो रहे शोषण को निरुपित किया गया है और अंतिम बिंदु पर नाटक में स्त्री के आम उत्पीड़न के प्रश्न को विशिष्ट रूप में जनवादी अधिकारों के आंदोलन और विकास के साथ ही संभव होगा यह दर्शाया गया है। शिक्षा का अधिकार और काम का अधिकार ही आज़ादी के पथ को भी प्रशस्त करेगा। सिफारिश, कृपा और भीख माँगने के बजाय संघर्ष की चेतना और संघर्ष का आह्वान ही समानता और उन्नति का बंद द्वार खोल सकेगा। इसीलिए नाटक के अंत तक आते-आते तीन अभिनेता दर्शकों से मुखातिब होते हैं और कहते हैं :

> तीनों : (दर्शकों से) भेड़िये से रहम की उम्मीद छोड़ दे
> अपनी इन सदियों पुरानी बेड़ियों को तोड़ दे

आ चुका है वक्त अब इस पार या उस पार का

राज जाहिर हो चुका है असली जिम्मेदार का।"[11] हमारे समाज में नारी-वर्ग को खामोश रहकर अन्याय बर्दाश्त नहीं करना चाहिए। अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए। समानता के अधिकार के लिए संघर्ष करना चाहिए। गुपचुप रहकर मालिकों की जी हुजूरी करने की अपेक्षा प्रतिरोधात्मक स्वर उठाना चाहिए। खामोश रहकर, अन्याय सहकर बैठे रहने से अच्छा है कुछ ऐसे दृष्टिकोणों को, संस्कारों को तोड़ें। उसके बिना सामजिक प्रगति असंभव है। 'औरत' में यह हुआ है। देखिए,

"अभिनेत्री : मैं एक आज़ाद औरत हूँ।

(वृत्त से बाहर निकलती है। मुट्ठी तानकर आगे किये हुए। बाक़ी अभिनेता भी उसके पीछे मुट्ठी ताने एक घुटना टेके एक पैर आगे बढ़ाकर बैठते हैं।)

...

अभिनेता 6 : एक औरत जिसके साइन में गुस्से से फफकते नासूरों से भरा एक दिल छिपा है।

अभिनेता 7 : एक औरत जिसकी आँखों में आज़ादी की आग के लाल साए लहरा रहे हैं।

अभिनेत्री : एक औरत जिसके हाथ काम करते-करते सीख गए हैं लाल झंडा कैसे उठाया जाता है। (लाल झंडा उठाती है।) "[12]

परोक्ष रूप से सफ़दर हाशमी के नुक्कड़ नाटक संघटन एवं एकता पर बल देते हुए कहते हैं कि संघटित वर्ग चेतना में ही वह शक्ति निहित है। जो उसे दासता के जंजीरों से मुक्त कर सकती है। परस्पर सहयोग, संघटन, एकता तथा आत्मविश्वास के बल पर चलाये गए मुक्ति संघर्ष में श्रमिकों की विजय अवश्यम्भावी है। सफ़दर हाशमी के नुक्कड़ नाटक ऐसी चेतना जगाने में क्रियाशील रहे हैं।

निष्कर्ष

सफ़दर हाशमी के नुक्कड़ नाटकों में हर अन्याय, अत्याचार, दमन के विरुद्ध हल्ला बोल है। सफ़दर हाशमी ने मजदूर-दमन, ठेकेदारी के विरुद्ध हाला बोल दिया

है तो दूसरी तरफ बंद फैक्ट्रियाँ खुलवाने के लिए, झुग्गीवासियों के लिए पक्के मकान बनवाने के लिए तथा झुग्गीवासियों के लिए स्कूल, अस्पताल और बिजली की सुविधा उपलब्ध कराने हेतु डंका बजाया है। कुलमिलाकर सफ़दर हाशमी के सभी नुक्कड़ नाटकों में अन्याय और शोषण के प्रति प्रतिरोधात्मक स्वर प्रदर्शित हुआ है।

संदर्भ सूची

1. भीष्म साहनी (सं.), सफ़दर हाशमी का व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. 104
2. वही, पृ. 109
3. वही, पृ. 110-111
4. वही, पृ. 117
5. ताळके अप्पाराव बाजीराव, आपात्कालोत्तर हिंदी नुक्कड़ नाटक (शोधग्रंथ), पृ. 14
6. देवेन्द्रराज अंकुर, रंग कोलाज, पृ. 68
7. वही, पृ. 138-139
8. अंजलि एन. अंक पृ. 75
9. भीष्म साहनी (सं.), सफ़दर हाशमी का व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. 140
10. वही, पृ. 141
11. https://egyankosh.ac.in औरत 21-22
12. https://egyankosh.ac.in 23-24

वर्तमान परिदृश्य और लोक नृत्य 'लौंडा नाच' का बदलता स्वरूप

आशा
पीएच॰डी॰ शोधार्थी, हिन्दी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र, भारत
मेल ashakardam.kardam@gmail.com
मोबाईल: 9518789904

सारांश

भारत एक सांस्कृतिक विविधता वाला देश है। एक ऐसा देश जहां कोश-कोश पर पानी बदले और तीन कोश पर वाणी। इतनी विविधाओं के होते हुए भी यह देश न केवल एकता का संदेश देता है बल्कि अपने संदेश को पूर्ण रूप में चरितार्थ भी करता है। ऐसे देश में अनेक लोक कलाएं, लोक नृत्य, लोकगीत, लोक संगीत आदि लोक साहित्य का हिस्सा रहें है। किसी भी राज्य की संस्कृति वहाँ की लोक-कलाओं में समाहित रहती है। लोक कलाएं जितनी प्राचीन होगी उतनी ही समृद्ध उस देश की संस्कृति होगी तथा वह उतनी ही समृद्धि के साथ अपने कला रूपों को भी प्रदर्शित करेगी। प्रत्येक क्षेत्र और समाज की अपनी कुछ लोक कलाएं होती है जो उस समाज की संस्कृति, क्रियाकलापों और रीति-रिवाजों से मौखिक कथा, किस्से, कहानियों से उत्पन्न होती हुई कला के प्रदर्शनकारी रूप को प्राप्त करती हैं। इन लोक कलाओं में लोक नृत्यों की एक वृहद परंपरा देखने को मिलती है। यह किसी क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष का नृत्य होता है जिस लोक नृत्य में उस समाज या समुदाय की संस्कृति की झलक साफ देखी जा सकती है। ऐसा ही एक लोक नृत्य है लौंडा नाच। लोक नृत्य आम जन के बीच से ही निकलाता है जिस कारण उसके विषय और उसकी भाषा लोक से ही ली जाती है। लोक नृत्य में कला का कौशल बेशक कम या ज्यादा हो सकता है लेकिन भावों की प्रस्तुति निर्विवाद रूप से गहन होती है। यह एक बड़ी ही विचारणीय स्थिति है कि जब कोई लोक गीत या लोक नृत्य सिनेमा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है तो उसकी जितनी वाह-वाही बड़े पर्दे के हिस्से आती है उतनी उस लोक कला और कलाकार के हिस्से नहीं।

बीज शब्द-*लोक नृत्य, संस्कृति, समाज, कलाकार, वर्तमान स्थिति*

शोध आलेख

अनेकता में एकता लिए हुए भारत एक ऐसा देश है जहां भारत के प्रत्येक राज्य में भारतीय संस्कृति के अलग-अलग रंग देखने को मिलते हैं। विविधता जहां भिन्नता की परिचायक है वहीं भारत के संदर्भ में यह भिन्नता में एकता की सूचक बन जाती है। यहां के लोग अपनी संस्कृति और भाषा में भिन्न होते हुए भी एक सूत्र में बंधे हुए हैं। यही कारण है कि आप भारत के जिस अंचल में भ्रमण करेंगे, आपको नाना प्रकार की संस्कृतियों के दर्शन, भारतियों में बड़े ही सहज रूप से दृष्टव्य होंगे। यह भिन्न-भिन्न रंग जनमानस के प्रेम, उत्साह, उमंग और कला के प्रति उनके स्नेह भाव को प्रदर्शित करने में सहायक होते है। पूरे विश्व को अपने प्रकोप से कपा देने वाली कोविड-19 महामारी का काल सभी लोक कलाओं, कलाकारों, व कला जगत के लिए भी बहुत ही चुनौतीपूर्ण रहा।

अपनी प्राचीन सभ्यता को संजोए रखने वाले देशों में भारत एक विश्व प्रसिद्ध देश है। भारत की विविधता में एकता के दर्शन हमें यहां की बोली, भाषा और संस्कृति के माध्यम से देखने को मिलते हैं। जहां के लोग अपने धर्म और इच्छा के अनुरूप लगभग सौलह सौ पचास बोलियों का प्रयोग करते हैं। प्रत्येक क्षेत्र की संस्कृति, धर्म, भाषा और परंपरा में भिन्नता होने के बावजूद भी लोग यहां एक-दूसरे के धर्म, संस्कृति व भाषा का सम्मान करते हैं। बात केवल अगर संस्कृति की ही की जाए तो भारत में भिन्न-भिन्न राज्यों में अलग-अलग संस्कृति देखने को मिलती है। जहां संस्कृति होगी वहां कला भी होगी क्योंकि किसी भी संस्कृति के विकास को वहां की लोक-कलाओं में बड़ी ही आसानी से देखा जा सकता है।

किसी भी राज्य की संस्कृति वहाँ की लोक-कलाओं में समाहित रहती है। प्रत्येक समाज की लोक कलाओं में उस समाज की संस्कृति और सभ्यता के दर्शन होते हैं। लोक कलाएं जितनी प्राचीन होगी उतनी ही समृद्ध वहां की संस्कृति होगी तथा वह उतनी ही समृद्धि के साथ अपने कला रूपों को भी प्रदर्शित करेगी। यह कहना उचित और सार्थक होगा की कला और संस्कृति एक दूसरे की पूरक है।

प्रत्येक क्षेत्र और समाज की अपनी लोक कलाएं होती है जो उसी समाज की संस्कृति, क्रियाकलापों और रीति-रिवाजों से मौखिक कथा, किस्से, कहानियों से

उत्पन्न होती हुई कला के प्रदर्शनकारी रूप को प्राप्त करती हैं। इन लोक कलाओं का स्वरूप प्रदर्शनकारी होता है जिसमें पारंपरिक संगीत, वेशभूषा, बोली, भाषा और अंचल विशेष की पौराणिक, धार्मिक व ऐतिहासिक कथाएं सम्मिलित होती हैं। इन सभी तत्वों को मिलाकर प्रदर्शनकारी लोक-कलाओं की निर्मिती होती हैं।

यह लोक कलाएं हमारी संस्कृति, सभ्यता व धर्म को प्रदर्शित करने के साथ-साथ समाज की बुराइयों और कुरुतियों पर भी प्रश्न खड़ा करती हैं। यह संबंधित समाज की अगली पीढ़ी के निर्माण में भी सहायक सिद्ध होती हैं।

इन लोक कलाओं में लोक नृत्यों की एक वृहद परंपरा देखने को मिलती है। सामान्य शब्दों में समझने की कोशिश की जाए तो लोक नृत्य वह नृत्य है जो शास्त्रीय बंधनों से मुक्त होता है। यह लोक में ही जन्म लेता है। लोक नृत्य, लोक द्वारा लोक के लिए होता है। यह परंपरा, भाषा, संस्कृति और संस्कारों को अपने अंदर समाविष्ट किए रहता है। यह किसी क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष का नृत्य होता है जिस लोक नृत्य में उस समाज या समुदाय की संस्कृति की झलक साफ देखी जा सकती है।

लोक नृत्य किसी भी समाज का ऐसा बिंब होता है जो लोक द्वारा निर्मित होकर लोक मनोरंजन का माध्यम बनता है। इसमें समाज का यथार्थ लोक के समक्ष बड़ी ही सहजता से प्रस्तुत किया जाता है। यही लोकनृत्य अपने प्रदर्शनों में अपने समाज, रीति-रिवाज, परिधान, बोली, संगीत, संस्कृति के परिचायक होते हैं जो आने वाली पीढ़ी को अपनी संस्कृति से परिचित कराते हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग लोक नृत्य की एक वृहद परंपरा देखने को मिलती है। यहां केवल एक-एक का ही जिक्र किया गया है जैसे आंध्र प्रदेश में कूचिपूड़ी, कर्नाटक में यक्षगान, केरल में कथकली, महाराष्ट्र में लावणी, मध्यप्रदेश में जवारा, राजस्थान में घूमर, पंजाब में गिद्दा, उत्तर प्रदेश में रासलीला, बिहार में जाट-जटनी और लौंडा नाच आदि।

लोक-नृत्यों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनकी निर्मिती इनके अपने समाज की संस्कृति से होती है। यह किसी क्षेत्र विशेष में ही प्रचलित व प्रदर्शित होते हैं। जैसे अगर बात की जाए बिहार के लोक-नृत्य लौंडा नाच की तो वह बिहार प्रदेश में किया

जाने वाला एक बहुत ही प्रसिद्ध लोक नृत्य है। जिसे बिहार राज्य के भिखारी ठाकुर और उनके द्वारा निर्मित नाट्य मण्डली के माध्यम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

किसी भी क्षेत्र विशेष के लोगों के लिए लोक-नृत्य प्रेरणा के स्रोत होने के साथ-साथ अभिव्यक्ति का भी सशक्त माध्यम होता है। आम जन की रूचि के अनुरूप होने के कारण यह अपनी कलात्मक प्रस्तुति में बहुत आकर्षक होते हैं जिस कारण सामान्य जन स्वभाविक रूप से इनके प्रति आकर्षित होता है।

लोक नृत्यों की बीज भूमि वह आंचलिक परिवेश होता है जिससे वह जुड़े होते है। यह मनोरंजन का साधन होने के साथ-साथ आम जन के समक्ष गंभीर सामाजिक समस्या भी उजागर करते हैं। इनके नृत्य प्रदर्शन के लिए कोई निश्चित नपा-तुला मंच नहीं होता। आमजन का हिस्सा होने के कारण यह किसी भी निश्चित निर्धारित स्थान पर प्रस्तुत कर दिए जाते हैं।

बिहार के लोक नृत्यों में एक सशक्त लोक नृत्य है **'लौंडा नाच'**। लौंडा नाच में लौंडा शब्द पर भी ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। यह शब्द लौंडा जो बिहार अंचल के लोकप्रिय नृत्य लौंडा नाच से जुड़ा है। लौंडा शब्द बिहार में प्रयोग किए जाने वाला शब्द नहीं है। यह बिहार के अंचल तक कैसे पहुंचा यह भी एक दिलचस्प और विचारणीय बात है क्योंकि जिस समय यह लोक नृत्य लोकप्रिय हुआ था उस समय तक आवागमन के वर्तमान जितने साधन भी उपलब्ध नहीं थे। यह शब्द वहां तक कैसे पहुंचा यह एक अलग विषय है।

लौंडा जिसका अर्थ है लड़का अर्थात वह नृत्य जो लड़के के द्वारा किया जाए। लौंडा नाच बिहार अंचल में किया जाने वाला एक ऐसा लोक नृत्य है जिसमें पुरुष स्त्री परिधान पहन, साज-शृंगार कर, इसके साथ ही स्त्रियोचित लचीलापन, हाव-भाव के साथ जब मंच पर उतर कर नृत्य करता है तो ऐसा लगता है मानो कोई स्त्री ही नृत्य कर रही हो। इस लोक नृत्य को सर्वप्रथम भिखारी ठाकुर द्वारा मंच प्रदान किया गया जिस संदर्भ में प्रसिद्ध भोजपुरी साहित्यकार भगवती प्रसाद द्विवेदी जी लिखते है कि

"भिखारी ठाकुर ने ही सबसे पहले कलात्मक प्रतिभाओं वाले युवा पुरुषों को स्त्रियोचित वेशभूषा में मंच पर उतारा और 'लौंडे के नाच' का प्रचलन किया"1 बिहार के लोक जीवन में यह लोक नृत्य मनोरंजन का एक सशक्त मध्ययम बना।

यह नृत्य बिहार के प्राचीन लोक-नृत्यों में से एक हैं। किसी भी शुभ अवसर पर आयोजन मंडलियों द्वारा इस नृत्य का आयोजन कराया जाता था। लौंडा नाच सुनते ही ऐसी अनेक मनमोहक छवियां भोजपुरी अंचल या इस नाच के जानकारों के मन-मस्तिष्क में उभरने लगती है। इस नाच में पुरुषों द्वारा स्त्रियों के वेशभूषा में नृत्य किया जाता हैं। यह उस समय का लोक नृत्य है जब स्त्रियों का प्रदर्शनकारी कलाओं में हिस्सा लेना अपमानजनक माना जाता था।

यह स्थिति केवल बिहार लोकनृत्य लौंडा नाच की ही नहीं थी बल्कि मुंबई जैसे महानगर की भी थी। उस समय वहां भी स्त्रियों का कोई नामोनिशान नहीं था। इसलिए भिखारी ठाकुर ने स्त्री पात्रों के रूप में पुरुषों को स्त्रियोचित साज-सज्जा के साथ मंच प्रदान किया।

इस लोक-नृत्य को पूरे भारत में प्रसिद्ध करने का श्रेय बिहार के प्रसिद्ध कलाकार भिखारी ठाकुर और उनकी मंडली को ही जाता है। उनकी अनुपम निधि केवल यह एक लोक नृत्य ही नहीं बल्कि कला जगत को उन्होंने एक नाट्य मंडली भी प्रदान की। इस लौंडा नाच के दीवाने सिनेमा से भी कहीं अधिक होते थे। इसे देखने के लिए व्यक्ति अपना सब काम छोड़, थके-हारे होते हुए भी देखने पहुँच जाते। लौंडा नाच की इसी लोकप्रियता को मद्दे नजर रखते हुए महेश्वर आचार्य ने लिखा है कि,

"सच तो यह है कि विशेषत: आरा, बलिया और छपरा के क्षेत्र में भिखारी के मुकाबले न नाच हुआ, न है और न ही भविष्य में होगा। भिखारी का नाच आया है - सुनकर सामने रखा हुआ खाना छोड़कर चल देने वाले दर्शकों को लाखों की संख्या में देखा गया है। क्या बराबरी करेगा सिनेमा का कोई भी चित्र भिखारी ठाकुर के नाच के सामने? और क्या भीड़ एकत्रित होगी, कोई तानसेन या बैजु बावरा के संगीत पर, जब स्वयं भिखारी उतर जाते थे स्टेज पर।"2 यह लोकनृत्यों के प्रति लोक की दीवानगी थीं। यह लोक नृत्य इतना पसंद किया जाता था की इसे देखने आए लोगों में से जब

तक दो-चार लोग, मद-मस्त होकर, कुएं में नहीं गिरते थे तब तक इसके कलाकारों को लगता ही नहीं था की शो अच्छा हुआ।

लौंडा नाच यह बिहार प्रदेश का एक लोकप्रिय लोक नृत्य है। लौंडा नाच की बात हो और भिखारी ठाकुर की मंडली के रामचंद्र मांझी की बात न हो तो यह आलेख अधूरा ही होगा। इसलिए रामचंद्र माझी जी का संक्षिप्त परिचय देना जरूरी है। साथ ही लौंडा नाच के जनक भोजपुरी के सुविख्यात कलाकार भिखारी ठाकुर के बारे में भी संक्षेप में कुछ बातें रखना अंत्यन्त आवश्यक हैं। हालांकि वह किसी परिचय के मौहताज नहीं है।

एक नब्बे वर्ष के व्यक्ति को आप जब स्त्री परिधानों में मंच पर थिरकते, हास-परिहास करते व नाचते-गाते हुए देखेंगे तो आपके मन में एक बार तो यह जिज्ञासा आएगी ही की उस व्यक्ति की उम्र कितनी होगी? कैसे वह व्यक्ति इतनी फुर्ती, लचीलेपन और स्पष्ट आवाज के साथ मंच पर प्रदर्शन कर रहा है? वह भी केवल दस या पंद्रह मिनट नहीं बल्कि पूरे दो-दो घंटे। किसी मंच पर जहां नौजवान कलाकार के दस से पंद्रह मिनट के प्रदर्शन में पसीने छूट जाते हैं वहां 'रामचंद्र माझी' जी के बारे में बात करना लाजमी है।

जिन उपरोक्त तथ्यों को पढ़ते हुए आपका चेहरा और आँखें आनंदित होकर मुस्कुरा उठे उन्हें अपनी लोक कला लौंडा नाच के द्वारा प्रस्तुत करते है, रामचंद्र माझी जी। अगर अभी भी आपको कोई संशय है तो आपको और अधिक स्पष्ट करते हुए बताना चाहती हूँ, हाँ वही रामचंद्र मांझी जी की बात यहां की गई है जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा पदम श्री सम्मान से सम्मानित किया गया है। रामचंद्र मांझी एक अद्वितीय कलाकार है।

यह लौंडा नाच के प्रसिद्धकर्ता भिखारी ठाकुर मंडली के सबसे वृद्ध कलाकार है। जो आज भी भिखारी ठाकुर के लौंडा नाच को मूल रूप में संजोय हुए है। माझी जी का जन्म छपरा जिले के हुजपुर गांव में एक दलित परिवार में हुआ। पूरा गांव इस बात से बेखबर था की एक दिन अपनी प्रतिभा के दम पर यह बालक पूरे गांव का नाम भारत में रोशन करेगा।

भोजपुरी के सेक्सपियर कहे जाने वाले भिखारी ठाकुर जी की मंडली में मांझी जी बचपन में ही शामिल हो गए थे। उस समय उनकी उम्र कोई दस-बारह वर्ष रही होगी। जब वह मंडली में नाच-गाना करते तो उनके घर परिवार वाले माता-पिता सब उन पर नाराज होते थे। किसको पता था की एक दिन वह बालक, अपने बल पर, इस नाच को विश्व पटल पर अपनी कला के माध्यम से स्थापित करेगा।

किसी भी लोक नृत्य में उस क्षेत्र विशेष की संस्कृति जीवंत हो उठती है ठीक वैसे ही बिहार के इस लौंडा नाच में वहां की लोक संस्कृति भी प्राणवान हो उठी। बदलते समय में आधुनिकता का प्रभाव जहां चहुंओर देखने को मिल रहा है वहीं लौंडा नाच जैसे लोक नृत्य आज समाप्तकाय हो रहें हैं।

जिसका कारण है इन लोक नृत्यों और इसके कलाकारों की दयनीय आर्थिक और सामाजिक स्थिति। जब कोई लोक गीत या नृत्य सिनेमा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है तो उसकी जितनी वाह-वाही फिल्मों के हिस्से आती है उतनी उस लोक कला और कलाकार के हिस्से नहीं।

लोक कलाओं के कलाकार अधिकतर अशिक्षित होते है जिस कारण इनका कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं हो पाता। भारत एक ऐसा देश है जहां अनेक ऐसी लोक कलाएं है जो समय के साथ विलुप्त होती जा रही है। लोक कलाकारों के अशिक्षित होने के कारण इन लोक कलाओं के मूल रूप में समय के साथ परिवर्तन होते रहते हैं। जो लोक नृत्य उस समय अपने आप में समाज के यथार्थ के साक्ष्य हो सकते थे वे आज इतने अधिक परिवर्तन के बाद सिर्फ मनोरंजन के माध्यम बनकर रह गए है। रंगमंच से जुड़ी हुई अनेक ऐसी लोक कलाएं है जिनका कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं हो पाता जिस कारण इनके अध्ययन में भी समस्या आती है।

इस कमी को जैनेंद्र दोस्त ने भी इंगित किया है उनका कहना है कि

"बिहार के शेक्सपियर कहें जाने वाले भिखारी ठाकुर की परफॉर्मेंस की कोई रिकॉर्डिंग नहीं मिलती लौंडा नाच के जीतने भी नए शोधार्थी है, उन्होंने शायद ही कभी ये नाच देखा हो इस डांस फॉर्म के ज़्यादातर कलाकार नीची जाति के लोग ही हुआ करते थे। अनपढ़ लोग क्या इतिहास लिखेंगे।"3

लोक नृत्य किसी क्षेत्र विशेष से संबंधित होता है इसलिए उनकी आर्थिक इनकम के स्रोत भी सीमित हो जाते हैं। इस तरह के लोक नृत्यों से कोई निश्चित आर्थिक सहायता न मिलने के कारण लोग प्राय: ऐसे कार्यों को छोड़ देते हैं। इन लोक नृत्यों से कभी-कभी होने वाली आय से परिवार चलाना मुश्किल होता है जिस कारण लोग इसे नहीं करना चाहते। नए लोग पुराने लोगों की खराब आर्थिक स्थिति को देखते हुए इस क्षेत्र में आना पसंद नहीं करते।

ऐसे लोक कलाकारों के लिए सरकार को कुछ आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए जिससे उनका भविष्य सुरक्षित हो सकें। साथ ही ऐसी लोक कलाओं के लिए समर्पित लोगों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। जिससे इन लोक कलाओं का संरक्षण होने के साथ-साथ इसके लोक कलाकारों में भी वृद्धि हो और इन लोक कलाओं में फिर से प्राण डाला जा सके।

आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त एक अन्य कारण है ऐसे लोक नृत्य कलाकारों को सम्मान की दृष्टि से न देखा जाना। एक तो पहले ही पुरुष होकर स्त्री रूप में मंच पर आना किसी पुरुष के लिए उसके अहम को भारी ठेस लगने जैसा है। जिस समाज में पुरुषों को रोने तक का अधिकार नहीं, रोना केवल स्त्रियों के अधिकार क्षेत्र में है क्योंकि अगर वह गलती से रोता भी है तो उसे औरतों की तरह रोता है कहकर उसका मज़ाक बनाया जाता है।

ऐसी स्थिति में समाज और कई परिस्थितियों में तो परिवार द्वारा भी ऐसे कलाकारों को अपमान का सामना करना पड़ता है। लौंडा नाच जो लोक में प्रिय होने के साथ-साथ शुभ-अवसरों पर किए जाने वाले कार्यक्रमों में भी शामिल हैं। इन सबके बावजूद वह मनोरंजन का माध्यम तो बन सकता है लेकिन उसके कलाकार सम्मान के पात्र नहीं। इस लोक नृत्य को करने और देखने वाले बहुत ही कम लोग रह गए हैं। ऐसे कलाकारों को समाज सम्मान नहीं देता जो इसके विलुप्त होने का एक प्रमुख कारण है।

जैनेंद्र कुमार दोस्त जो बिहार प्रांत से होने के साथ प्रसिद्ध रंगकर्मी व इस विषय के शोधार्थी भी रहें है इनके अनुसार

"लौंडा एक गाली है ऊंची जातियों वालों को यह शब्द पसंद नहीं है न ही आप इसे पब्लिक में बोल सकते हैं। जब आप राष्ट्रीय स्तर पर इसका मंचन करते हैं तो इसके गानों के बोल बदल दिए जाते हैं और प्रदर्शन का समय भी कम कर दिया जाता है।"4

यह बात केवल मान सम्मान तक सीमित न होकर कई बार इस हद तक पहुँच जाती है कि ऐसे लोक नृत्य कलाकारों के साथ समाज के प्रतिष्ठित पुरुषों द्वारा शोषण के भी मामले सामने आए। ऐसे ही विषय पर महाराष्ट्र में एक फिल्म भी बनी है जिसका नाम है 'नटरंग'। इस फिल्म में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जो पुरुष स्त्रियों के रूप में नृत्य करते हैं कैसे समाज के अन्य पुरुष यह जानते हुए भी, की वह स्त्री नहीं पुरुष ही है फिर भी उसका यौन शोषण करते हैं।

स्त्री रूप में नृत्य कर रहें पुरुष कलाकार को अन्य पुरुष केवल स्त्री की तरह ही महसूस करते हैं। वह यह जानते है कि नृत्य प्रस्तुतकर्ता स्त्री नहीं बल्कि पुरुष है फिर भी वह उस स्त्री रूप के प्रति आकर्षित होते हैं। उस पुरुष के साथ संभोग करना चाहते है। ऐसी एक स्थिति में ट्रांसजेंडर ऐक्टिविस्ट रेशमी भी शोषण का शिकार हुई थी वह बताती है कि

"एक बार मुझे गाँव वाले उठाकर ले गए और एक कमरे में मेरा यौन शोषण किया गया जान बचाने के लिए मैं रातभर खेतों में छिपी रही।"5

मनोरंजन जो हर युग की आवश्यकता रही है चाहे युग देवताओं का हो जहां इन्द्र के सभा में अप्सराएँ नृत्य करती थी या राजा-महाराजाओं का जिनके मनोरंजन के लिए नगर वधू और नर्तकी होती थी या वर्तमान समय में जब लोगों के पास मनोरंजन के अनेक साधन उपलब्ध है लेकिन पहले ऐसा नहीं था तब केवल लोक कलाओं के माध्यम से ही लोगों का मनोरंजन किया जाता था। उसमें भी इन लोक कलाओं में अधिकतर निम्न जाति के लोग ही लोक कलाओं में प्रदर्शन करते थे। समाज का सबसे निम्न और कमजोर वर्ग होने के कारण इनका शोषण करना भी आसान हो जाता। इस संदर्भ में उनकी कही कोई सुनवाई नहीं होती थी क्योंकि रसुखदार लोगों के विरुद्ध कोई नहीं जाना चाहता।

यह लोक नृत्य उस समय प्रसिद्ध हुआ था जब महिलाओं का मंच पर आना तक शर्म की बात माना जाता था। इस लोक नृत्य में छोटी जाति के पुरुष स्त्रियों के रूप में मंच पर उतरकर नृत्य प्रदर्शन करते। स्त्री रूप में नृत्य प्रस्तुत करने वाले पुरुषों को समाज में सम्मान नहीं मिलता था जबकि आज यही आधुनिक फिल्म जगत और टी॰ वी. जगत में पसंद किया जाने वाला एक लोकप्रिय हिस्सा है। इस संदर्भ में आज अनेक उदाहरण उपस्थित है जैसे कपिल शर्मा के शो में अधिकतर स्त्री पात्र पुरुष ही हैं, चाची चारसों बीस फिल्म, अक्षय कुमार की फिल्म लक्ष्मी बॉम्ब आदि। ऐसे अनेक उदाहरणों से आज फिल्म जगत भरा पड़ा है।

आज जब एक अलग तरह से इसे ही बड़े पर्दे पर दिखाया जा रहा है तो लोग इस काम को भी सम्मान देते हैं और इसके कलाकारों को भी। बड़े पर्दे पर आने से केवल उन कलाकारों को पहचान ही नहीं मिली बल्कि ऐसे कलाकार लोक कलाकार की तुलना में आर्थिक और सामाजिक रूप से भी बहुत अधिक मजबूत दिखाई पड़ते हैं।

पुरुषों द्वारा स्त्रियों का रूप धर नृत्य करना जहां एक तरफ कला जगत की खाली जगह को भरता है वही यह नाच आर्थिक कमजोरी को भी प्रदर्शित करता है। आर्थिक रूप से कमजोर व सामाजिक रूप से निम्न वर्ग ही इस लौंडा नाच में स्त्री रूप में काम करता था। उसकी आर्थिक कमजोरी या मजबूरी ही उसे उस पुरुष प्रधान समाज में स्त्री रूप में कार्य करने के लिए मजबूर करती।

भिखारी ठाकुर ने जब लौंडा नाच की शुरुआत की तब यह नाच इतना लोकप्रिय हुआ की इसे देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती थी और यह लोक नृत्य केवल मनोरंजन का माध्यम न होकर व्यंग्य रूप में कुछ न कुछ सामाजिक संदेश भी देता था।

भिखारी ठाकुर इस लौंडा नाच में आवश्यक उठा-पटक कर इस विधा के जरिए समाज को व्यंग्य रुप में संदेश देते। बदलते समय के साथ इस लोक नृत्य के मूल रुप को संजोकर न रखा गया जिस कारण इसमें अश्लीलता का धीरे-धीरे समावेश होने लगा इसलिए लोगों की दृष्टि में यह उतना सम्मान न पा सका जिसका यह अधिकारी था।

संदर्भ सूची-

1. https://www.thelallantop.com/bherant/legend-of-launda-naach-bhikhari-thakur/
2. https://www.thelallantop.com/bherant/legend-of-launda-naach-bhikhari-thakur/
3. https://hindi.scoopwhoop.com/the-folk-dance-launda-naach-sees-a-surge-in-popularity/
4. https://hindi.scoopwhoop.com/the-folk-dance-launda-naach-sees-a-surge-in-popularity/
5. https://hindi.scoopwhoop.com/the-folk-dance-launda-naach-sees-a-surge-in-popularity/

सहायक सामग्री-

1. मिश्र, विद्यानिवास. (2000). लोक और लोक का स्वर. प्रभात प्रकाशन.
2. उपाध्याय, कृष्णदेव. (2009). लोक संस्कृति की रूपरेखा. लोक भारती प्रकाशन.
3. उपाध्याय, कृष्णदेव. (2019). लोक साहित्य की भूमिका. लोक भारती प्रकाशन.
4. डॉ. अमरनाथ. (2012). हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. राजकमल प्रकाशन.

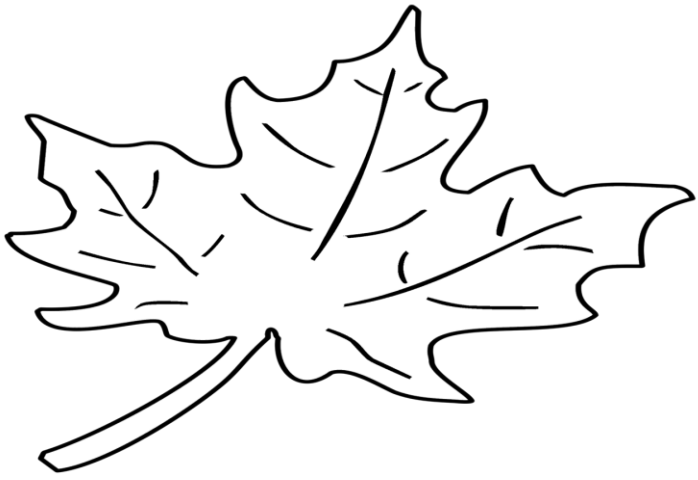

हरियाणा की अनुसूचित जातियों के उत्थान हेतु केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा किए गए प्रावधानों का विश्लेषण

दीपक
शोध छात्र
राजनीति विज्ञान संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली-110068
ईमेल – dipakluhera@gmail.com
फोन – 9718385204

शोध सार

प्रस्तुत शोध पत्र में अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा किए गए प्रावधानों का विश्लेषण का किया गया है। संवैधानिक प्रावधान किस प्रकार अनुसूचित जातियों को प्रभावित करते हैं । राज्य अनुसूचित जातियों के विकास में क्या भूमिका निभाता है। राज्य के अनुसूचित जातियों से कैसे सम्बन्ध हैं। इन जातियों के विकास में राज्य किस प्रकार का दृष्टिकोण रखता है अर्थात किस प्रकार की नीतियों का निर्माण करता है।

राज्य व समाज के सम्बन्ध बहुत गहरे हैं। राज्य की नीतियों, गतिविधियों और कार्यप्रणाली से समाज का कोई वर्ग अछूता नहीं रहता है। हरियाणा राज्य और यहाँ का समाज भी इसका अपवाद नहीं है। हरियाणा में दलित वर्ग के विकास और उत्थान के लिए कई प्रावधान किये गए हैं। लेकिन कई बार इन्हें उच्च जातियों द्वारा उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। समाज में इनसे छुआछूत का व्यवहार किया जाता है

मूल शब्द :-
राज्य, संविधान, अनुसूचित जाति, सामाजिक न्याय

शोध आलेख

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय संविधान का निर्माण किया गया। डॉ. आंबेडकर ने संविधान के माध्यम से ऐसी व्यवस्था दी जिससे सभी वर्गों को आगे बढ़ने के समान अवसर मिल पाएं एवं जो लोग सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं उन्हें विशेष सुविधाएँ देकर उनका जीवन-स्तर उंचा उठाया जा सके ताकि

वे सभी अपना जीवन यापन ससम्मान कर सकें। संविधान ने अन्याय, असमानता पर आधारित सभी नियमों को समाप्त कर दिया तथा न्याय पर आधारित समतावादी समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। संविधान द्वारा अनु. जाति और जनजाति के लोगों को दोहरे अधिकार व सुरक्षा प्रदान की गई। संविधान में समाज में अपमान एवं उत्पीड़न के शिकार वर्ग के लिए कई प्रावधान किए गए। इन प्रावधानों को प्रस्तावना, मौलिक अधिकार एवं अन्य उपबंधों के माध्यम से संविधान में प्रेषित किया गया है। **भारतीय संविधान की प्रस्तावना** में ही नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता के विचार रखे गए हैं। जिससे मालूम पड़ता है कि संविधान सम्पूर्ण तरीके से व्यक्ति के सर्वांगीण विकास और समानता, स्वतंत्रता का पक्षधर है। आपसी भाईचारे, राष्ट्र की एकता और अखंडता को बढ़ावा देने की बात भी संविधान की प्रस्तावना करती है। प्रस्तावना में इन मूल्यों को सम्मिलित करने का मूल उद्देश्य यही रहा होगा कि समाज में सभी का समान विकास हो। सभी को समान अवसर प्राप्त हों, किसी से भी किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। प्रस्तावना में प्रतिपादित मूल्यों से ही संविधान में वर्णित क़ानून प्रेरणा ग्रहण करते हैं। **मौलिक अधिकार** व्यक्ति को समान सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक विकास की गारंटी देते हैं। मौलिक अधिकार जहाँ भारत के प्रत्येक नागरिक को विकास के सामन अवसर प्रदान करते हैं वहीं अनुसूचित जाति और जनजाति को भी विशेष अधिकार प्रदान करते हैं। **अनुछेद पन्द्रह** व्यक्ति से जन्म, जाति, लिंग, रंग, धर्म, क्षेत्र, वंश के आधार पर भेदभाव की मनाही करता है (किशोर, 1995:38)। अनुच्छेद 15 के भाग 4 के द्वारा सभी जिला पंचायतों, नगर निकायों में अनुसूचित जाति - जनजाति महिलाओं का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया गया है (सिंह, 1994:74)। संविधान में इस प्रकार के उपबन्ध वंचित जातियों के विकास और समृद्धि में आवश्यक हैं। ये इनकी राजनीति में सहभागिता को सुनिश्चित करते हैं। **अनुछेद सत्रह** द्वारा छुआछूत को समाप्त किया गया और इसका किसी भी रूप में प्रयोग दंडनीय अपराध घोषित किया गया है। वैज्ञानिक युग में भी छुआछूत का बना रहना भारतीय समाज के आधुनिकीकरण पर एक प्रश्न चिन्ह है। इसके द्वारा छुआछूत

की समाप्ति के साथ- साथ इसका किसी भी रूप में प्रयोग दंडनीय घोषित किया गया है। लेकिन वर्तमान की घटनाओं को देखकर लगता है कि इस प्रकार के प्रावधान केवल संविधान में ही सिमट कर रह गए हैं। इनका धरातल पर पूर्ण रूप से क्रियान्वयन नहीं किया गया है। **अनुछेद 25 (2) (9)** अनुच्छेद के अंतर्गत ये व्यवस्था की गई है कि जो भी संस्थाएं हिन्दू प्रकृति की हैं, अर्थात उनमें हिन्दू रीति के अनुसार कार्य होते हैं तो अगर कोई व्यक्ति जो हिन्दू धर्म का अनुसरण करता है ये संस्थाएं प्रत्येक उस व्यक्ति के लिए खुली हुई हैं। इनमें प्रवेश करने से उन्हें कोई नहीं रोक सकता है (सिंह, 2010:100)। **धारा 35(अ) (77)** के अंतर्गत 'अस्पृश्यता' अपराध अधिनियम 1955 पारित किया गया है। यह संशोधित कानून 'नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955' के नाम से दिनांक 14 नवम्बर, 1976 से लागू हुआ। इसमें कठोर दंड की व्यवस्था की गई। यदि लोक सेवक जानबूझकर उपबन्ध की उपेक्षा करता है या समुचित कार्रवाई नहीं करता तो समझा जाएगा कि वह अपराध को उत्प्रेरित करता है (पाण्डेय, 1995:130)। **राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत** राज्य को निर्देशित करता है कि वह अपने अंतर्गत आने वाले कमजोर और दुर्बल पक्षों के विकास व समाज में समरसता स्थापित करने के लिए कार्य करेगा जो इन वर्गों के लिए लाभकारी हों। राज्य के संसाधनों का वितरण इस प्रकार किया जाए कि समाज में किसी एक वर्ग को लाभ न मिलकर बल्कि समाज के अधिकतम वर्गों को उनका लाभ मिले। **अनुच्छेद 46** अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, और अन्य दुर्बल वर्गों की शिक्षा और धन सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने के लिए कार्य करेगा। यह राज्य को निर्देश देता है कि वह इन वर्गों की शिक्षा और धन सम्बन्धी समस्याओं का निवारण करे। इन अनुच्छेद के द्वारा समान आचार संहिता, बेगार की समाप्ति, श्रमिकों को जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी, अवसर की समानता, धार्मिक व व्यवसाय की स्वतंत्रता, भेदभाव की समाप्ति एवं बेकारी, वृद्धावस्था व अंग-भंग की स्थिति में लोगों को राज्य द्वारा सहायता मिले ऐसी घोषणाएं की गई हैं।

अनुच्छेद 330 और 332 के अंतर्गत लोकसभा और राज्य विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का प्रावधान किया गया है। **अनुच्छेद 335** सेवाओं और पदों पर अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के

लिए आरक्षण का निर्धारण करता है (सिंह, 2010:44)। **अनुच्छेद 338** के अंतर्गत व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति अनुसूचित जाति-जनजाति आयोग का गठन करेगा। आयोग अनुसूचित जाति, जनजाति से सम्बन्धित शिकायतों की जांच करेगा तथा वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। आयोग इन वर्गों के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए योजना प्रक्रिया में भाग लेने और सलाह - सुझाव देने के लिए कार्य करेगा। आयोग को अपनी कार्यवाहियों को विनियमित करने की शक्ति होगी। किसी विषय की जांच करते समय आयोग को एक सिविल न्यायालय की सभी शक्तियाँ प्राप्त होंगी (पाण्डेय, 2019:491)। यह निश्चित किया गया है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारें अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति से सम्बन्धित नीति-नियमों के निर्धारण के लिए आयोग से सलाह करेंगी (विभूति, 1993:133)। इस अधिनियम के द्वारा **राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग** की स्थापना की गई है (www.ncsc.nic.in)। **अनुच्छेद 341, 342** के द्वारा राष्ट्रपति को ये अधिकार है राज्यपाल के परामर्श से राज्य व संघ की किसी जाति को अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जाति की सूची में सम्मिलित कर सकता है (मल, 1999:11)। 73 वें तथा 74 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 243 (घ) (1) के अंतर्गत अनुसूचित जाति व जनजाति की महिलाओं को पंचायत व नगरपालिकाओं में स्थानों का आरक्षण प्रदान किया जाएगा।

भारत की स्वतंत्रता के पश्चात अनुसूचित जातियों को जो सबसे अधिक लाभ किसी कार्य ने पहुंचाया तो वह है भारत का संविधान। भारत का संविधान जितना विशाल है उसी प्रकार इसने समाज के हर तबके की पीड़ा को स्वयं में संग्रहित की है। सदियों से भारतीय समाज में उपेक्षित, शोषित, दलित, नारी, पीड़ित व्यक्तियों के उद्धार के लिए तथा विश्व की पृष्ठभूमि पर समृद्ध भारत के निर्माण में भारत के संविधान ने अत्यधिक सफलता प्राप्त की है। भारतीय संविधान के द्वारा छुआछूत, असमानता, रूढ़िवादिता, सामन्तवाद, साम्राज्यवाद, जमींदारी प्रथा, अंधविश्वास, बेगारी प्रथा आदि को समाप्त किया गया है। संविधान द्वारा कानून का शासन स्थापित किया गया है, एवं हिन्दू-मुस्लिम, सिख-इसाई, अमीर-गरीब, काले-गोरे, उच्च जाति-निम्न जाति सभी को समान माना गया है। भारतीय संविधान किसी भी प्रकार के भेदभाव की मनाही करता है। संविधान व्यक्ति को व्यवसाय की स्वतंत्रता प्रदान करता है, जिससे

व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुरूप कोई भी कार्य कर सकता है। अवसर की समानता का विचार भी भारतीय संविधान रखता है, जिससे सभी को विकास के समान अवसर उपलब्ध कराने के लिए संविधान प्रतिबद्ध है। राजनैतिक आरक्षण की व्यवस्था भी भारतीय संविधान द्वारा लागू की गई है। जिससे अनुसूचित जातियों और जनजातियों की राजनीति में भागीदारी बढ़ रही है, एवं उनका राजनैतिक विकास हो रहा है। भारत का संविधान सामाजिक न्याय करने वाला महत्वपूर्ण राष्ट्रीय ग्रन्थ है। संविधान में पिछले 67 वर्षों में उल्लेखनीय उपलब्धि दी है, 26 जनवरी,1950 को संविधान लागू होने के बाद दलितों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में भागीदारी सुनिश्चित हुई है। यह वर्ग समाज में विकास की ओर अग्रसर हुआ है। भारत सरकार, राज्य सरकारों ने दलितों के अधिकार संरक्षण व उनकी उन्नति को बढ़ावा देने के लिए सामाजिक न्याय व अधिकारिता मंत्रालय केंद्र व राज्यों में स्थापित किये हैं। जहाँ आज अ.जाति व अ.ज.जा. वर्ग के छात्रों एवं समाज के विकास हेतु प्रोत्साहन दिया जा रहा है। उच्च शिक्षा पी.एस.पी.,आई. ए. एस., आई.पी.एस., विदेशों में शिक्षा ग्रहण करने, मेडिकल, इंजीनीयरिंग, शोधकार्य, तकनीकी शिक्षा, कलात्मक शिक्षा आदि के लिए उक्त मंत्रालय के माध्यम से सुविधाएं दी जाती हैं व समय-समय पर प्रोत्साहन व प्रशिक्षण भी दिया जाता है। जातिगत उत्पीड़न को समाप्त करने के लिए भी कड़े कानून बनाए गए हैं। राज्य व केंद्र सरकारों द्वारा भी समय-समय पर बहुत से दलितों के लिए लाभदायक नीतियाँ बनायी जा रही हैं। इन नीतियों के परिणामस्वरूप इन जातियों का विकास होना सुनिश्चित हो रहा है। भारतीय संविधान में प्रत्येक प्रकार की विशेषता विद्यमान है, लेकिन फिर भी दलित समाज को संविधान के लागू होने का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं हो पा रहा है। दलित उत्पीड़न की घटनाएं हमें प्रत्येक दिन पढ़ने को मिलती हैं। जो संवैधानिक उपबन्धों के क्रियान्वयन पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं। भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति व जनजाति की स्थिति को सुधारने के लिए इतने प्रावधान किये गए किन्तु फिर भी समाज की सोच और इन जातियों की हालत में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं आया। इसके बाद भी समाज में उन्हें घृणा से देखा जाता, उनसे समाज में कोई लेन देन नहीं किया जाता, उनसे कोई काम नहीं कराया जाता आदि कई अमानवीय भेदभाव उनसे किये जाते हैं। इसको लेकर ही भारत

सरकार द्वारा 1955 में अस्पृश्यता अधिनियम 1955, पारित किया गया। इसके अंतर्गत धार्मिक स्थलों, सामाजिक चिकित्सालयों, शैक्षिक छात्रावासों आदि में व्यक्तियों का दाखिला करने से इनकार करने, वस्तुओं को बेचने या नौकरी देने से इनकार करने, सरकार द्वारा दिए गए अनुदानों या प्रत्यादान में यदि कोई भेदभाव या अस्पृश्यता बरतता है तो उसके लिए कठोर दंड के प्रावधान हैं। 1955 अधिनियम के बाद भी समाज में कोई ख़ास परिवर्तन देखने को नहीं मिला। वैसे तो ये उपबन्ध मानव-मात्र को ध्यान में रखकर संविधान में रखे गए। भारत की अनुसूचित जाति और जनजाति का इनसे निकट का सम्बन्ध है, क्योंकि पूर्व के समय में इनके साथ ही अत्याचार बहुत अधिक हुआ है, इनका शोषण ही ज्यादा किया गया है।

अनुसूचित जातियों के उत्थान हेतु राज्य एवं केंद्र सरकार द्वारा चलाई जा रही योजनाएं :-

राज्य द्वारा अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए तीन प्रकार की योजनाएं चलाई हुई हैं - 1.राज्य प्लान स्कीमें, 2.केंद्र प्रायोजित स्कीमें, 3. नॉन प्लान स्कीमें। इन स्कीमों का निर्माण अनुसूचित जातियों की शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जरूरतों को ध्यान में रखकर किया गया है।

शैक्षिक उत्थान हेतु स्कीमें :-

आंबेडकर मेधावी छात्रवृत्ति योजना का लाभ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व पिछड़ा वर्ग को दिया जा रहा है। इसके अंतर्गत अलग-अलग मद में धनराशी छात्रों को वितरित की जाती है। **अनुसूचित जाति उच्च शिक्षा प्रोत्साहन** स्कीम के अंतर्गत जिन अनुसूचित जाति के छात्रों के अभिभावकों की वार्षिक आय 1.00 लाख रूपये से 2.40 लाख रूपये है, उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। **अनुसूचित जाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों के बेरोजगार युवकों की कंप्यूटर के माध्यम से टाईपिंग तथा डाटा एंट्री में निपुणता बढौतरी हेतु** एक वर्ष का मुफ्त प्रशिक्षण दिया जाता है तथा प्रशिक्षण के दौरान प्रशिक्षणार्थियों को 250 रूपये मासिक वजीफा दिया जाता है। **अनुसन्धान एवं अध्ययन** को बढ़ावा देने के लिए भी राज्य सरकार द्वारा आर्थिक सहायता का प्रावधान किया गया है। **अनुसूचित**

जाति छात्रों के लिए पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्ति स्कीम से विभिन्न कक्षाओं में पढ़ने वाले छात्रों को 230 रूपये से लेकर 1200 रूपये प्रतिमास की छात्रवृत्ति ,विश्विद्यालय फीस तथा अन्य फीस केंद्र सरकार द्वारा शिक्षा विभाग के अंतर्गत दी जाती हैं। राज्य से बाहर पढ़ने वाले छात्रों को भी इस विभाग द्वारा छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है। **बाबू जगजीवन राम छात्रावास योजना द्वारा** छात्राओं को सरकारी संस्थाओं में छात्रावास की सुविधा प्रदान की जाती है। **अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के छात्रों के लिए मैरिट अपग्रेडेशन स्कीम** के अंतर्गत छात्रावास में रहने वाले नौंवी से बारहवीं कक्षा के विद्यार्थियों के लिए अच्छे अंक लाने के लिए विशेष कक्षाओं का आयोजन किया जाता है। **अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्ति** के अंतर्गत दसवीं कक्षा के बाद पढ़ने वाले छात्रों को प्रत्येक महीने 230 रूपये से 1200 रूपये तक छात्रवृत्ति के रूप में दिए जाते हैं। **सफाई तथा जान जोखिम वाले व्यवसायों में लगे लोगों के बच्चों के लिए प्री-मैट्रिक छात्रवृत्ति** के रूप में हॉस्टल की सुविधा प्रदान की जाती हैं। **पूर्व परीक्षा प्रशिक्षण केंद्रों का संचालन** अम्बाला, भिवानी, रोहतक, हिसार, करनाल तथा रेवाड़ी में किया जा रहा है। इन केन्द्रों में उम्मीदवारों को हिंदी/अंग्रेजी में टाईप तथा शार्टहैण्ड का एक वर्ष का मुफ्त प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण के दौरान इन उम्मीदवारों को 100/- रूपये प्रतिमास छात्रवृत्ति दी जाती है।[1]

आर्थिक उत्थान हेतु स्कीमें :-

रोजगार उन्मुख संस्थाएं/प्रशिक्षण कार्यक्रम स्कीम के अंतर्गत वर्ष 2015-16 में 10.00 लाख रूपये की राशि खर्च की गई। **अनुसूचित जाति एवं अन्य पिछड़े वर्ग की संस्थाओं/सोसायटी को वित्तीय सहायता** स्कीम के द्वारा अनुसूचित जाति एवं पिछड़ा वर्ग की संस्थाओं को सामुदायिक भवन, शैक्षणिक एवं सामाजिक कार्यों के प्रयोग, निर्माण एवं रख रखाव के लिए अनुदान दिया जाता है। **डॉक्टर बी.आर. आंबेडकर आवास योजना के अंतर्गत मकान बनाने/मुरम्मत**

[1] Annual Administrative Report of The Welfare of Schedule Castes & Backward Classes Department, Haryana for (2015-2016)

के लिए अनुदान स्कीम से जो नागरिक गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे हैं उनके रहने योग्य मकान के लिए 50000/- रूपये व मरम्मत के लिए 10000/- रूपये की आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। **मुख्यमंत्री विवाह शगुन योजना के द्वारा** गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले सभी वर्गों की विधवाओं को उनकी लड़की एवं स्वयं विधवा की शादी के लिए इस योजना के अंतर्गत सहायता राशि दी जाती है। अनु. जाति को 31000/- रूपये तथा शेष वर्गों को 11000/- रूपये शगुन के रूप में दिए जाते हैं। **अनुसूचित जाति वर्ग की विधवाओं, निराश्रित महिलाओं को सिलाई का प्रशिक्षण** स्कीम के अंतर्गत एक लाख रूपये से कम वार्षिक आय वाले प्रशिक्षणार्थियों को 100/- रूपये प्रतिमास छात्रवृत्ति तथा 150/- रूपये कच्चे माल के लिए खर्च किए जाते हैं। एक वर्ष का कोर्स पूरा होने पर सिलाई मशीन मुफ्त दी जाती है।

सामाजिक उत्थान हेतु स्कीमें :-

पी.सी.आर.एक्ट. 1955 तथा अनुसूचित जाति/जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 की पालना के लिए 1955 एक्ट के अंतर्गत दर्ज मुकदमें, भूमिपतियों द्वारा अत्याचार और भूमि बेदखली के मुकदमों में कानूनी सहायता दी जाती है। **मुख्यमंत्री सामाजिक समरसता अन्तर-जातीय विवाह शगुन** स्कीम के द्वारा अनुसूचित जाति के लड़के/लड़कियों से विवाह करने वाले गैर अनुसूचित जाति की लड़की/लड़के को 1.01 लाख रूपये प्रोत्साहन के रूप में दिए जाते हैं। यह राशि दम्पत्ति के संयुक्त खाते में जमा कर दिए जाते हैं। **पंचायतों को पुरूस्कार** स्कीम से जो पंचायत अनुसूचित जाति के लिए अग्रणी होकर कार्य करती हैं, जैसे छुआछूत को दूर करना, गलियां पक्की करना तथा लड़कियों का स्कूल में दाखिला करना आदि कार्य करती हैं। उन्हें 50000/- रूपये का पुरूस्कार दिया जाता है। **अनुसूचित जाति के व्यक्तियों पर गैर अनुसूचित जाति के लोगों द्वारा अत्याचार** किये जाने से होने वाले नुकसान की क्षतिपूर्ति लिए आर्थिक सहायता के रूप में 75000/- रूपये से 7.50 लाख रूपये तक की आर्थिक सहायता दी जाती है। **विशेष केन्द्रीय सहायता** स्कीम द्वारा अनुसूचित जातियों की आर्थिक दशा सुधारना, औद्योगिक प्रशिक्षण देना,

औद्योगिक संस्थाओं को अपग्रेड करना, अनु. जातियों को विशेष प्रशिक्षण देना आदि कार्य वर्ष 2015-16 में किए गए जिसमें 632.95 लाख रूपये खर्च आया। ये योजना पूर्णतया केंद्र द्वारा संचालित हैं। **अनुसूचित जाति उप-योजना** भारत सरकार द्वारा चलाई जा रही ऐसी योजना है जिसमें सीधे अनुसुचित जातियों को लाभ पहुँचाया जाता है। इसके अंतर्गत प्राथमिक शिक्षा,स्वास्थ्य, पीने का पानी, न्यूट्रीशन, ग्रामीण आवास, ग्रामीण सड़कें,ग्रामीण बिजली, कृषि और अन्य सम्बन्धित कार्य पर प्राथमिकता प्रदान करना है।

सरकार द्वारा चालाई गई इन योजनाओं से अनुसूचित जाति और जनजातियों को बहुत लाभ हुआ है। लेकिन जितना लाभ इनका मिलना चाहिए था उतना नहीं मिल पाया है। उसके पीछे कारण सरकारी तंत्र की उदासीनता और लोगों में इन योजनाओं के प्रति जागरूकता और जानकारी का अभाव है। लागों में जागरूकता बढ़ाने के लिए सरकार को मीडिया और आधुनिक संसाधनों को प्रयोग करना चाहिए जिससे अधिक-से- अधिक लोगों को इन योजनाओं का लाभ प्राप्त हो सके। अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम में अधिकतर कर्मचारी कॉन्ट्रैक्ट आधार पर नियुक्त किए जाते हैं, जिससे वे अपने कार्य को पूरी लगन व ईमानदारी से नहीं कर पाते। क्योंकि उन्हें अपनी नौकरी जाने का डर हर पल बना रहता है। इसलिए इन विभागों में स्थाई कर्माचारी रखे जाएं अथवा इन्ही कर्मचारियों को स्थाई किया जाए। जिससे ये कुशलता पूर्वक अपने कार्यों का निर्वहन कर सकें। हरियाणा अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम में कर्मचारियों का पक्षपातपूर्ण रवैया, अन्य विभागों पर आश्रित रहना, अनुसूचित जाति एवं पिछड़ा वर्ग कल्याण का अधिक नियंत्रण, सदस्यों में अनुभवहीनता, आपसी मनमुटाव आदि ऐसी बातें हैं जो निगम की कार्यप्रणाली के ठीक होने पर अविश्वास प्रकट करती हैं। सरकारी नौकरी हेतु परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण में कार्यकर्ता पूर्ण रूप से प्रशिक्षित नहीं होते, जिससे वे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा छात्रों को नहीं दे पाते हैं। सुझाव है कि सरकार को प्रशिक्षित कार्यकर्ता ही नियुक्त करने चाहिए एवं आधुनिक संसाधनों का प्रयोग प्रशिक्षण में किया जाना चाहिए। वर्तमान में देखा जाए तो अधिकतर योजाएं ऑनलाइन उपलब्ध है लेकिन गाँवों में कंप्यूटर सुविधा की कमी है जिसके कारण ये जातियां इनका लाभ नहीं उठा

पाती हैं। इन योजनाओं का लाभ लेने के लिए हमारे आवदेनकर्ता के पास सभी कागजात होने चाहिए। इसमें समस्या ये आती है कि व्यक्ति का नाम सरकारी गलती के कारण कई जगह गलत लिखा होता है जैसे कि रामकंवार नाम को रामकुमार लिखा जाना जिससे उसे उचित लाभ नहीं मिल पाता है। कई योजनाओं में अनु.जाति /जनजाति विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति दी जाती है। इसमें ये भी प्रावधान है कि यदि किसी छात्र का दाखिला निजी संस्था में हुआ है तो वह पहले संस्था की फीस स्वयं भरे उसके एक वर्ष बाद उस फीस की धनराशी छात्र के खाते में आएगी। इसमें दो बातें हैं प्रथम तो ये कि इन संस्थानों की फीस बहुत अधिक होती है। जिसको भरना किसी भी अनु. जाति के व्यक्ति के लिए कठिन होता है। दूसरा अगर वह व्यक्ति उस फीस को समय से भर भी देता है तो जो छात्रवृत्ति मिलती है उसके मिलने में काफी समय लगता है। जिससे छात्र और उसके अभिभावकों का आर्थिक उत्पीड़न होता है। एक उत्तरदाता ने जब अपनी दो बेटियों की शादी की तो उन्हें कन्यादान राशि मिलनी थी जो कि 50000 होती है। उसमें भी उन्हें दफ्तरों में 5000 रिश्वत देनी पड़ी, तभी उन्हें ये धनराशी प्राप्त हुई। अगर वे ऐसा नहीं करते हैं तो उनके आवेदन में कमियां निकालकर उसे निरस्त कर दिया जाता है। एक उत्तरदाता ने ये भी बताया कि उसे यदि परिवार का कोई सदस्य सरकारी नौकरी या उसकी आर्थिक स्थिति मजबूत है और वो आवेदनकर्ता को कोई मदद नहीं करता। किन्तु परिवार की वार्षिक आय में उसकी गिनती की जायेगी और आय प्रमाण-पत्र बनवाने में आवेदनकर्ता को समस्या आएगी, जिससे सरकार द्वारा दी जा रही छात्रवृत्ति का आवेदनकर्ता लाभ नहीं उठा पायेगा। बीपीएल कार्ड धारकों को सरकार द्वारा कई विशेष सुविधाएं उपलब्ध कराई जाती हैं। किन्तु बीपीएल कार्ड बनाने में बहुत अनियमितता बरती गई हैं। एक उत्तरदाता के अनुसार वह मजदूरी करता है।[1] उसकी माँ विधवा है। जो पक्का घर बना हुआ है। वो भी सरकारी योजना

[1] साक्षात्कार- सतबीर, 12-06-2019, सूंध (तावडू)

के अंतर्गत ही बना था। किन्तु वर्तमान में उसी बीपीएल कार्ड धारकों की सूची से बाहर रखा गया है। जिससे उसे सरकारी योजनाओं का कोई लाभ नहीं मिल रहा है। उसे प्लाट भी आवंटित नहीं हुई है।

हरियाणा राज्य में चल रही सभी योजनाएं बहुत ही कल्याणकारी हैं। लेकिन सरकार अपनी कार्यनीति में आमूल-चूल परिवर्तन करकर अनुसूचित जातियों को इनका उचित लाभ दे सकती हैं। इन योजनाओं में हरियाणा में घोटाले भी हुए हैं एक खबर के अनुसार वर्ष 2015 से 2019 तक पोस्ट मैट्रिक स्कीम के तहत अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों को दी जाने वाली छात्रवृत्ति में पाँच जिलों भिवानी, फतेहाबाद, हिसार, सिरसा और चरखी दादरी में आधार कार्ड, बैंक खाते में हेराफेरी करकर 17 करोड़ 25 लाख 57 हजार 576 रुपये का घोटाला सामने आया है। हिसार स्टेट विजिलेंस ने संबंधित अधिकारियों-कर्मचारियों सहित 12 लोगों के खिलाफ विभिन्न धाराओं के तहत केस दर्ज किया है। (अमर उजाला, हिसार 24 Dec,2019) इस मामले की जाँच चलती रही और दो वर्ष से छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान नहीं की गई। सरकार को चाहिए की समय-समय पर इन योजनाओं की जांच और मूल्यांकन किया जाए जिससे योजनाओं में स्पष्टता बनी रहे और जरूरतमंद को इनका लाभ मिलता रहे।

सफाई कर्मचारियों से सम्बन्धित नीतियों व कार्यक्रमों का विश्लेष्ण

वाल्मीकि जाति की बहुत बड़ी संख्या सफाई कार्य से जुड़ी हुई है। भारतीय समाज में इस जाति को सफाई कर्मचारी जाति के रूप में जाना जाता है। भारतीय संविधान द्वारा समाज में समरसता स्थापित करने और किसी भी कार्य व व्यक्ति को छोटा बड़ा नहीं समझने के लिए प्रावधान किए गए हैं। किन्तु आजादी के 70 वर्ष बाद भी वाल्मीकि जाति को सफाई कर्ता जाति ही समझा जाता है। इस जाति से इसी आधार पर समाज में छुआछूत और भेदभाव किया जाता है। समाज में गंदगी फैलाने वालों को ऊँची जाति और सफाई करने वालों को नीची जाति का नाम दिया जाता है (गौतम,

2012:136)। सफाई कर्मचारियों के मद्देनजर अनेक नीतियाँ व कार्यक्रम केंद्र व राज्य सरकारों ने बनाए हैं। उनमें से एक राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग है जिसका गठन हाथ से मैला उठाने के गंदे कार्य से छुटकारा दिलाने के लिए 2 अगस्त 1994 को 'राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग अधिनियम, 1993 द्वारा एक संवैधानिक संस्था के तौर पर 3 वर्षों के लिए किया गया था। सफाई कर्मचारी नियोजन और शुष्क शौचालय निर्माण (प्रतिषेध) अधिनियम,1993 के बाद भी देश में हाथ से मैला उठाने की प्रथा बादस्तूर जारी है। इसके 20 वर्ष बाद 2013 में इस अधिनियम में बदलाव किये गए एवं इसको 'हाथ से मैला उठाने वाले कर्मियों के नियोजन का प्रतिषेध और उनका पुनर्वास अधिनियम 2013' नाम दिया गया। इस अधिनियम से हाथ से मैला उठाने की प्रथा को समाप्त करने के साथ-साथ उनके परिवारों को पुनर्वास की सुविधा भी दी गई। लेकिन ये अधिनियम भी कारगर साबित नहीं हुआ और हाथ से मैला उठाने की प्रथा आज भी आम जनता की उदासीनता एवं उच्च अधिकारियों की नीतियों के सही क्रियान्वयन में लापरवाही,के कारण ज्यों की त्यों प्रचलित है। आयोग की स्थापना जिन मुद्दों और समस्याओं के समाधान के लिए की गई थी उनमे आयोग सफल नहीं हुआ है। आयोग की वार्षिक रिपोर्ट (2017-18) भी स्थिति को स्पष्ट करती है कि आयोग ने राज्यों में 1993 में से आगे हुई सीवर-मृत्यु की सूची जारी की और कई मामलों में सीवर मृत्यु पीड़ितों के आश्रितों को 10 लाख रूपये का पूरा मुआवजा नहीं दिया गया था। आयोग के समक्ष ये भी आया कि हरियाणा सरकार ने अभी तक धारा 7 के तहत खतरनाक सफाई पर प्रतिबंध, 20 के तहत निरीक्षकों की नियुक्ति, 24 के तहत जिला एवं उप-प्रभागीय स्तर की निगरानी समितियों के गठन पर अधिसूचना जारी नहीं की हैं। आयोग ने भी इसको लेकर दिशा निर्देश जारी किए हैं। हरियाणा सरकार द्वारा मैनुअल स्क्वेंजर की संख्या शून्य बताई है जबकि अकेले हरियाणा से 1993 से 05 जुलाई, 2019 तक 8.59 प्रतिशत सफाई कर्मचारी सीवर के कारण मृत हुए हैं, एवं मार्च 2012 में भारत के महापंजीयक द्वारा जारी हाउसलिस्टिंग और हाऊसिंग सेंसेस 2011 से भी ज्ञात होता है कि देश में अभी भी 26 लाख । अस्वच्छ शौचालय मौजूद हैइसलिए आयोग ने सरकार को निर्देश दिया कि वे एक निष्पक्ष तीसरे पक्ष द्वारा अस्वच्छ शौचालयों एवं मैन्युअल स्कवेंजरों का सर्वेक्षण करवाएं

और तीस दिन में रिपोर्ट प्रस्तुत करें। सीवर मृत्यु मामले में राज्य सरकार को यह निर्देश दिया गया था कि वे ऐसे सभी मामलों में पूरे मुआवजे का भुगतान 3 माह के अंदर करें। आयोग ने अधिसूचनाओं के सम्बन्ध में निर्देश दिया कि जल्द-से-जल्दी अधिसूचना जारी करें। आयोग ने हरियाणा राज्य सफाई कर्मचारी आयोग की स्थापना करने के निर्देश भी राज्य सरकार को दिए। हरियाणा सरकार द्वारा सुझाव दिया गया कि सफाई के काम में तकनीक के प्रयोग हेतु प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना की जाए।

राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग सफाई कर्मचारियों के हित में बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। उनके हितों को ध्यान में रखकर केंद्र सरकार व राज्य सरकारों से सिफारिशें करता है एवं विभिन्न प्रकार की रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। लेकिन आयोग को कई ऐसे अधिकार प्राप्त नहीं हैं जो उसको और अधिक मजबूती प्रदान करें। आयोग को संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं है। जिससे आयोग किसी भी उच्च अधिकारी जो की सफाई कर्मचारियों के हित में कार्य नहीं करता व उनका शोषण करता है के विरुद्द सीधे कार्यवाही का अधिकार नहीं है। जिला कलेक्टर आयोग द्वारा भेजे गए पत्रों को गंभीरता से नहीं लेते। सफाई कर्मचारियों के प्रति किये जाने वाले सभी कार्यों के लिए जिला कलेक्टर सीधे तौर पर जिम्मेदार होना चाहिए। आयोग के अनुसार जिला कलेक्टर सफाई कर्मचारियों का सर्वेक्षण सही तरीके से नहीं करते हैं जिससे आयोग प्रभावशाली तरीके से अपने कार्यों को अंजाम नहीं दे पाता है। आयोग के पास वित्त सम्बन्धी कोई शक्ति नहीं है। जिससे सफाई कर्मचारियों की आयोग सीधे तौर पर मदद नहीं रह सकता है। सफाई कर्मचारी अथवा मैनुअल स्क्वेंजरों के लिए एक अलग बजट का प्रावधान होना चाहिए और उससे सम्बन्धित सभी अधिकार सफाई कर्मचारी आयोग के पास होने चाहिए। राज्यों को सफाई कर्मचारियों के लिए उपलब्ध निधियों के प्रयोग का पूर्ण अधिकार दिया जाए। सफाई कर्मचारी वित्त और विकास निगम, जो सफाई कर्मचारियों के लिए विभिन्न योजनाओं का कार्यान्वयन करता है, को इस कार्य का सीधे पर्यवेक्षण तथा मॉनिटरिंग रा.स.क.आ. के अधीन लाया जाए।

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि केंद्र एवं राज्य सरकार ने हरियाणा की अनुसूचित जातियों के विकास के लिए अनेक प्रावधान किए हैं। राज्य नीति-निर्धारण के अंतर्गत अनुसूचित जातियों के हितों का ध्यान रखता है। अनुसूचित जातियां भी इन नीतियों का लाभ उठा रही हैं। सरकार सभी को रोजगार के अवसर उपलब्ध करा रही है। योजनाओं का लाभ लेने में भी कई बार इन जातियों को समस्याओं का सामना करना पड़ता है। गाँवों में सरपंच के पक्षधर लोगों को योजनाओं का लाभ आसानी से मिल जाता है। जबकि जो सरपंच के पक्ष में नहीं होते उन्हें समस्याएं आती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात के साधनों की कमी के कारण भी अनुसूचित जाति के बच्चे कई शैक्षिक सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पाते हैं। जैसे मुफ्त कोचिंग की सुविधा, जोकि जिले में ही उपलब्ध होती है। आजकल अधिकतर सुविधाएं ऑनलाइन उपलब्ध हैं। लेकिन कम्प्युटर का ज्ञान न होने के कारण भी इन सुविधाओं का लाभ उठाने में ग्रामीण असमर्थ रहते हैं। कुछ सुविधाएं तो ऐसी हैं जिसमें पहले आवेदनकर्ता को रिश्वत तक देनी पड़ जाती है। बिना उसके काम नहीं होता है। अर्थात जितनी सुविधाएं प्राप्त हैं उसके साथ उन्हें प्राप्त करने में समस्याएँ भी हैं। सरकार ने कर्मचारी कॉन्ट्रैक्ट पर लगाए हुए हैं एवं उनका वेतन कम है, जिससे वे अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए रिश्वत लेते हैं। कॉन्ट्रैक्ट पर होने के कारण ये अपनी वर्तमान नौकरी को पूरी निष्ठां से नहीं कर पाते हैं। इसलिए या तो इन्हीं कर्मचारियों को नियमित किया जाए या फिर नए सिरे से नियमित कर्मचारियों की नियुक्ति की जाए। राष्ट्रीय एवं प्रदेशीय सफाई कर्मचारी आयोगों को संवैधानिक दर्जा दिया जाए। जिससे ये स्वतंत्रता पूर्वक सफाई कर्मचारियों के हित में काम कर सकें। अंत में कहा जा सकता है कि केंद्र एवं राज्य सरकार हरियाणा की अनु. जातियों के उत्थान और बेहतरी के लिए कार्य कर रही हैं।

संदर्भ सूची

1. के.आई.विभूति (1993:133), डॉ. आंबेडकर एंड एम्पावरमैंट, यूनिवर्सिटी प्रेस, पूना

2. कुमार, गौतम (2012) वाल्मीकि जाति उद्भव, विकास और वर्तमान समस्याएं, गौतम बुक सेंटर, लखनऊ
3. पाण्डेय, जयनारायण (1995:130) भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहबाद
4. पाण्डेय, जयनारायण (2019:449) भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहबाद
5. मल,पूरण (1999:11), अस्पृश्यता व दलित चेतना, पॉइंटर प्रकाशन, जयपुर
6. राजकिशोर (1995:38), हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
7. सिंह, रामगोपाल (1994:74), सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
8. सिंह, रामगोपाल (2010:100), सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
9. सिंह, रामगोपाल (2010:44), सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

समाचार-पत्र :-

1. अमर उजाला
2. दैनिक जागरण
3. पंजाब केसरी
4. राजस्थान पत्रिका
5. वाल्मीकि बाण
6. हिन्दुस्तान

पत्रिकाएँ :-

1. आंबेडकर इन इण्डिया
2. दलित दस्तक

3. देस हरियाणा
4. जनकृति
5. डिप्रेस्ड एक्सप्रेस
6. साहित्यनामा
7. हाशिये की आवाज
8. हंस
9. सुलभ इण्डिया

वेबसाईट :-

1. www.ncsk.nic.in
2. www.ncsc.nic.in
3. www.hscsk.org.in
4. www.socialjustice.nic.in
5. www.socialjusticehry.gov.in
6. www.mda.nic.in
7. www.nuh.gov.in
8. www.census2011.co.in

वर्ण व्यवस्था के बंधन तोड़ती दलित आत्मकथाएं

निर्मल सुवासिया
शोधार्थी (हिंदी)
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
प्राध्यापक
शिक्षा विभाग, राजस्थान
E-mail – suwasiyanirmal@gmail.com

शोध सार

दलित आत्मकथाएँ दलित समाज में व्याप्त धार्मिक बंधनों एवं जकड़नों पर प्रहार करती है। धार्मिक रुढियों को जिस प्रकार दलित आत्मकथाएँ प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करती है वह जातिगत साजिशों को अनावृत करने का कार्य भी करता है। जातिगत भेदभाव की यह मानसिकता कैसे शोषण को धर्म की आड़ में सहनीय बना देती है, इसका बेबाक चित्रण दलित आत्मकथाओं में किया गया है।

बीज शब्द: *दलित, शोषण, समाज, व्यवस्था, प्रभाव, शिक्षा*

शोध आलेख

अखिल वैश्विक समाज में धर्म और संस्कृति का जो ताना बाना बुना गया है उस से एक बात स्पष्ट है कि धर्म की जड़ताओं ने मनुष्य को धर्मांधता में जकड़े रखा है। भारतीय समाज में धार्मिक आस्था जीवन के हर पहलू में ऐसे गुंथी हुई है कि उसे पृथक कर पाना संभव ही नहीं है क्योंकि धर्म की मान्यताओं तथा कर्मकांडों का समाज पर व्यापक प्रभाव है। इनके प्रति आस्था, अंधविश्वास की हद तक है। समाज के शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर प्रायः हर वर्ग में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। यह भारतीय समाज में सदियों से चला आ रहा है। लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा, भाग्य, कर्मफल, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि इनके ऐसे तत्त्व हैं जिनके बारे में तरह-तरह की कथाएँ प्रचलित हैं। यह बातें लोगों के दिलों-दिमाग में इतनी गहरी उतर चुकी हैं कि चाहे किसी भी परिस्थिति में हो, उक्त मान्यताओं के बंधन से बाहर ही नहीं निकल पाते। समय की गति के साथ-साथ शिक्षा और जागरूकता में हो रही वृद्धि के कारण लोगों में तार्किकता का विकास होने के कारण ऐसे लोगों की मानसिकता और जीवन

शैली में बदलाव आते जा रहे हैं किंतु दूसरी सच्चाई यह भी है कि चाहे वैश्वीकरण, उदारीकरण, सूचना क्रांति आदि की लाख दुहाई दें, गांव की हालत में आज भी उचित सुधार की दरकार है। देश की ज्यादातर आबादी गाँव में रहती है इसलिए गाँव की परिस्थितियों में समुचित सुधार आए बिना देश की हालत में सुधार की बातें करना बेमानी है।

भारतीय समाज में वर्ण और जाति व्यवस्था गहरे तक विद्यमान है। इन सब की जड़ों में पौराणिक ग्रंथों द्वारा समर्थन करने वाला धर्म है। सवर्ण व्यवस्था के तहत मंदिर में वही जा सकते हैं जिन्हें उनके धर्म ने मान्यता दी है। ऐसे में दलितों का मंदिर जाना वर्जित था। अगर कोई दलित भगवान की पूजा करता है तो उसे भी दंड दिया जाता था। यहां ध्यान देने की बात है कि दलितों के अपने देवी देवता हुआ करते थे। उल्लेखनीय है कि दलितों के देवी देवता उन्हीं के समाज के वे पात्र होते थे जो दलितों में दुस्साहसिक कार्य करते थे, बाद में मिथिकीय शक्ति से देवता में परिणत हो जाते थे। इन सब के बावजूद धार्मिक आस्था एवं धार्मिक संरचना के कारण दलित मुख्यधारा के देवी देवता के प्रति ही अधिक आस्थावान था, वे अपने ही घर में पूजा कर लिया करते थे। दलितों की पूजा के विषय में डॉक्टर आंबेडकर लिखते हैं कि, "आगरा के एक चमार ने किसी ब्राह्मण को उसके घर में विष्णु की मूर्ति की पूजा करते हुए देख अपने घर में भी ऐसा ही किया। ब्राह्मण को इसका पता चला तो वह गुस्से में लाल पीला हो उठा। उसने बहुत से गाँव वालों की सहायता से अभागे हरिजन को पटक उसकी जमकर पिटाई की और कहा तुझे भगवान विष्णु की पूजा करने की हिम्मत कैसे हुई? इसके बाद उन्होंने उसके मुंह में कीचड़ भर कर छोड़ दिया। चमार ने हताश होकर हिंदू धर्म त्याग दिया और इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।"[1] आज भी हम देख सकते हैं कि दलितों को धर्म के प्रति कितनी यातनाएँ भुगतनी पड़ती है। वह जहाँ भी जाए उसे उसकी जाति के कारण अपमानित किया जाता है।

[1] बाबा साहेब अम्बेडकर, संपूर्ण वांग्मय, खंड 9, पृ. 9

अशिक्षा और गरीबी के मकड़जाल में घिरे लोगों में यह देखा जा सकता है कि वे धर्म के नाम पर अंधविश्वास जनित कर्मकांडों में जकड़े हुए हैं तथा स्वाभाविक समस्याओं का समाधान भी वे उन्हीं जड़ मान्यताओं और कर्मकांडों में ढूंढते हैं जो किसी भी तरह से व्यवहारिक एवं तार्किक नहीं होते हैं। धर्म का समाज में परंपरागत रूप से किस तरह प्रभाव है, दलित वर्ग उससे किस तरह प्रभावित होता आ रहा है। उसकी दयनीय स्थिति, पिछड़ेपन और शोषण के लिए यह तत्त्व किस तरह जिम्मेदार है, इनके कारण पैदा होने वाली जीवन का परिस्थितियों से आत्मकथाकारों के जीवनानुभव अपने वर्ग के लाखों-करोड़ों लोगों की तरह कितने दग्ध है इन सब का आत्मकथाओं में अत्यंत यथार्थ पूर्वक एवं मार्मिक चित्रण हुआ है। डॉक्टर आंबेडकर ने बौद्ध धर्म ग्रहण करते हुए अपनी 22 प्रतिज्ञा में सबसे पहली प्रतिज्ञा धर्म की नकारने की करते हैं। क्योंकि दलित साहित्य अम्बेडकरवादी चेतना से निर्मित है इसीलिए दलित साहित्यकार सीधे तौर पर धर्म को नकार देते हैं। धर्म को नकारने की वजह से धर्म से निर्मित आत्मा, परमात्मा, भाग्य, मोक्ष, कर्मकांड, वर्ण-व्यवस्था इत्यादि का स्वतः ही नकार हो जाता है। दलित आत्मकथाएँ दलित समाज में व्याप्त धार्मिक बंधनों एवं जकड़नों पर प्रहार करती है। धार्मिक रुढियों को जिस प्रकार दलित आत्मकथाएँ प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करती है वह जातिगत साजिशों को अनावृत करने का कार्य भी करता है। जातिगत भेदभाव की यह मानसिकता कैसे शोषण को धर्म की आड़ में सहनीय बना देती है, इसका बेबाक चित्रण दलित आत्मकथाओं में किया गया है।

पौराणिक मान्यता के अनुसार भारतीय समाज अपने प्रारंभिक दौर में चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजित रहा है। इसके साथ ही प्रत्येक वर्ग का कार्य विभाजन भी हुआ है और उन्हें भिन्न भिन्न जिम्मेदारियाँ आवंटित की गई जो मूल रूप से भेदभाव पूर्ण है। इन वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में स्पष्ट रूप से मनु स्मृति में लिखा गया है "संसार की वृद्धि के लिए मुख, बाहु, जया और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद को उत्पन्न किया।"[1] इसी क्रम में इनकी श्रेष्ठता और निकृष्टता का भी निर्धारण किया गया। वर्ण-व्यवस्था असमानता पर आधारित है तथा

[1] गणेशदत्त पाठक, मनुस्मृति टीका, पृ. 37

इसमें कुछ विशेष वर्ग को सामाजिक व्यवस्था में उच्चतम पायदान पर रखा गया है। तार्किक दृष्टि से देखा जाए तो यह मान्यता ही अस्वीकृत होनी चाहिए। मनुस्मृति एवं बाद की टीकापरक व्याख्याओं ने वर्ण-व्यवस्था को स्थापित किया। वर्ण-व्यवस्था को कालान्तर में अपने हितों के लिए स्थापित किया गया। यही वर्ण व्यवस्था आगे चलकर जाति व्यवस्था में तब्दील हो जाती है जहाँ से सामाजिक अन्याय एवं शोषण अपने चरम पर पहुंच जाता है। मानवशाखी डी.एन. मजूमदार का मानना है कि "परिस्थिति किसी व्यवसाय का परिणाम नहीं है बल्कि उस धार्मिक व्यवसाय के साथ जुड़ी रहती है। झाड़ू बुहारना, मृतक का दाहकर्म, मृत पशुओं के शरीर से चमड़ा उतारना आदि अपावन व्यवसाय धार्मिक दृष्टि से अपवित्र होते हैं, अतः ये नीची परिस्थिति के परिचायक है।"[1] मनुष्य द्वारा की जाने वाली नौकरी को भी सवर्ण मानसिकता के अनुसार पवित्र अपवित्र घोषित कर सामाजिक हैसियत का निर्धारण कर दिया गया। जाति व्यवस्था में यह सवर्णवादी मानसिकता ही दिखाई देती है।

कौशल्या बैसंत्री जी को दोहरा अभिशाप में ऐसा ही अनुभव हुआ है। जब नाम लिखवाने के बाद स्कूल जाती है तो रास्ते में मंदिर देखकर उसके अंदर मंदिर में जाने की इच्छा बलवती होती है। एक बार वह हिम्मत करके जाती है। कौशल्या जी लिखती हैं, "गणपति के मंदिर में सिर्फ ब्राह्मण या ऊंची जाति वाले ही जाते थे। अस्पृश्यों को मंदिर में प्रवेश नहीं था... वहां के पुजारी को हमारे ऊपर शक नहीं आया नहीं तो मार पड़ती।"[2] इस तरह दलित समाज का मंदिर में जाना या प्रसाद लेना मना था। हिंदू धर्म ने दलितों के मन-मस्तिष्क पर कब्जा कर रखा था क्योंकि दलित वर्ग भी सवर्ण हिंदुओं का अनुकरण कर घर में अलग देवताओं की पूजा किया करते थे। भारतीय धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था संस्कृति के नाम पर उत्पीड़न, अत्याचार और अंधविश्वास को बढ़ावा ही देती रही।

सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा तिरस्कृत इस तरह के अविवेकपूर्ण मानसिकता का जबरदस्त प्रतिरोध किया है। आत्मकथा के आरंभ में ही सूरजपाल चौहान ने भंगी

[1] डी.एन. मजुमदार, सामाजिक मानवशास्त्र, पृ. 194

[2] कौशल्या वैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ. 27

भक्तों द्वारा अपनी मां की हत्या का अत्यंत मार्मिक चित्रण करते हुए लिखा है, "मां ठीक होने की बजाय और अधिक बीमार होती गई। पिता ने भक्तों के कहने पर सभी देवी देवताओं की मनौतियाँ मानी। कुल आपवन, बुलाखी मसान व नेता खईस को खुश करने के लिए मुर्गे, बकरे, घों घोंटिया और दारू की बेटे चढ़ाई। आगरा जाकर बुलाखी मसान और गुड़गाँव जाकर ललिता भवानी की जोत जलायी। पिता ढोंगी-भक्तों के चक्कर में पूरी तरह कर चुके थे।"[1] दलित समाज परंपरागत रूढ़ियों, अंधविश्वासों और कुरीतियों के बीच फंसा हुआ था। इन आत्मकथाओं में इस जकड़न की फांस और इनकी पहुँच देखी जा सकती है इसलिए दलित आत्मकथाकार इसके खिलाफ खड़ा होता है। सूरजपाल चौहान ने भी अपनी आत्मकथा में इन सभी का पुरजोर विरोध किया है।

मोहनदास नैमिशराय ने अपने-अपने पिंजरे' आत्मकथा में बताया है कि उस समय दलितों को मंदिर के अंदर जाने की इजाजत नहीं होती थी। अगर कोई जाता तो दंड भी दिया जाता था। इसी तरह के एक प्रश्न के बारे में जिक्र करते हुए लिखते हैं- "उनकी बस्ती के किनारे भी एक मंदिर था और उस में दलितों को जाने का अधिकार नहीं था। मंदिर भी उनकी जड़ खरीद संपत्ति थी। जिसके जरे -जरे पर उनका अधिकार था। हमारी बस्ती के लोग मंदिर को आते-जाते ही दूर से देखकर संतोष कर लिया करते थे।"[2] इस तरह दलितों को मंदिर के अंदर जाकर दर्शन करने का अधिकार नहीं था किंतु दलितों के बच्चों में धर्म व वर्ण व्यवस्था की समझ विकसित ना होने के कारण दूसरे बच्चों के साथ मंदिर जाने का मन करता था, मंदिर से प्राप्त प्रसाद को चखने का मन करता था। जिस आस्था के नाम पर उन्हें शोषित किया जाता था उसी आस्था में उनका हिस्सा तक नहीं था, ऐसे में कई बार उन्हें जातिगत तानों से अपमानित भी किया जाता है। नैमिशराय जी लिखते हैं कि, "तू चमार का है न सब कुछ भरपेट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढोरों से, प्रसाद दूर से लिया करो।"[3] ऐसी हालत में दलित

[1] सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, अनुभव प्रकाशन, पृ. 10

[2] मोहनदास नैमिशराय, अपने अपने पिंजरे, पृ. 30

[3] वही, पृ. 6

बालकों पर कैसा प्रभाव पड़ा होगा वही जानते हैं। दलित बच्चों को बचपन से ही धार्मिक और जातिगत शोषण और अपमान का अनुभव हो जाता है।

दलित समाज ने हजारों वर्ष की सामाजिक यात्रा में जो भोगा है, उनके जो अनुभव है उनसे सामाजिक व्यवस्था के प्रति नकार की भावना उत्पन्न हो गई है। भारतीय समाज व्यवस्था में दलित ही है जो सदियों से विषमतावादी जाति व्यवस्था के शिकार रहे हैं। यही कारण है कि उन्हें पशुवत जीवन जीने पर विवश किया गया। सुशीला टाकभौर ने अपने जीवन में प्रताड़ना व शोषण के कई स्तरों को सहा है। वह बचपन में शिक्षा के दौरान तथा अध्यापन के दौरान कई तरह की प्रताड़नाओं से गुजरी हैं। कार्यस्थल पर लोग इन्हें दलित समझकर महत्व नहीं देते थे। हमेशा शिकायत करने के फिराक में रहते थे। सोचते थे कि कुछ ऐसी बात कहूँ कि यह अपमानित हो जाएँ। सच्चाई तो यही है कि समाज किसी वी को प्रगति की तरफ जाते हुए नहीं देख सकता और यदि वी दलित हो तो उनका शिकंजा और भी कस जाता है। एक अध्यापक द्वारा ड्राय लैट्रिन सिस्टम के समर्थन करने पर वह लिखती हैं- "तब इस काम को कौन करेगा? यदि वर्ण व्यवस्था द्वारा निश्चित कार्यों को पलट दिया जाए- शूद्र शिक्षा देने का काम करें और ब्राह्मण सफाई का काम करें तो कैसा रहेगा? वर्ण व्यवस्था बनाए रखिए, काम बदल कर करके देखिए। इस पीड़ा को, जाति व्यवस्था के इस अभिशाप को स्वयं भी भोग कर देखिए।"[1] वर्ण व्यवस्था का ऐसा विरोध दलित चेतना से ही उत्पन्न होता है और वास्तविकता में यही दलित चेतना का प्रतिरोधी स्वर भी है। सुशीला जी को सामाजिक व्यवस्था की बहुत अच्छी समझ है वह अपने आसपास के समाज को बहुत पैनी निगाह से देखती हैं और एक अच्छी व्यवस्था को लाने की कोशिश करती हैं। असल में इस व्यवस्था को समझना और उसका विरोध करना ही आंबेडकरवादी चेतना है। इस चेतना की स्पष्ट एवं निर्मम अभिव्यक्ति दलित आत्मकथा में दृष्टिगोचर होती है। सुशीला जी दलितों की दयनीय अवस्था के बारे में चिंतन करते हुए लिखती हैं- "कब मिलेगी वर्ण-भेद जाति भेद से मुक्ति। बरसों पहले दलित आंदोलन शुरू हुआ है, मगर इसका लाभ हमें नहीं मिल सका| सच यह है कि इसका लाभ हमारे लोग नहीं

[1] सुशीला टांकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 246

ले सके। वेद धर्म, ईमान और कर्तव्य को महत्व देते हैं। उन्हें जो काम सौंपा गया वे पीढ़ी दर पीढ़ी उसे ही धर्म और कर्तव्य समझ कर रहे हैं। यह आस्था, विश्वास और चिंतन हिंदू धर्म प्रचारकों ने ही उनके मन में भरा है। इन्हीं बातों को मानते हुए चल रहे हैं इसलिए पिछड़े हैं।"[1] इस प्रकार सुशीला जी अपने लोगों के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि भी रखती हैं। यह दलित समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है कि वह अपने अंतर्विरोधों को बार-बार आत्मालोचित करे। दलित चिंतन इस बात को पहचाने की यह आंतरिक अंतर्विरोध किस तरह दलित समुदाय को पिछड़ा बनाए हुए है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा में वर्ण-व्यवस्था द्वारा किए गए भेदभाव का बेहद सटीक वर्णन किया है। बाल्यावस्था से मृत्यु तक एक दलित को वर्ण व्यवस्था का शिकार होना ही पड़ता है। चाहे पाठशाला हो, गाँव हो, कार्यालय हो, दलित समाज को जातिगत अपमान का घूंट पीना ही पड़ता है। वाल्मीकि जी अपनी आत्मकथा में अपने स्कूली जीवन का अत्यंत मार्मिक चित्रण करते हैं। वह बताते हैं कि विद्यालय में उनसे झाड़ू लगवाया जाता था और साफ सफाई भी करवाई जाती थी। स्कूल के अध्यापक सवर्ण समाज से थे। जातिगत मानसिकता उनके अंदर कूट-कूट कर भरी थी। वह बलपूर्वक बालक वाल्मीकि से स्कूल के प्रांगण की तथा कमरों की साफ-सफाई करवाते थे। गौर करने की बात यह है कि एक अध्यापक जिसके लिए सभी बच्चे समान होने चाहिए, जिसका एकमात्र कर्तव्य छात्रों को समान शिक्षा का अवसर प्रदान करना होना चाहिए किंतु जातिवादी मानसिकता का इतना असर है कि एक अध्यापक भी अपने छात्रों से जातिगत भेदभाव करता है। अपनी आत्मकथा में एक प्रश्न का जिक्र करते हुए लिखते हैं कि एक बार जब वह झाड़ू लगा रहे थे तभी उनके पिता आ गए। बालक ओमप्रकाश वाल्मीकि पिताजी को देखकर रोने लगे। पिता पूछते हैं कि मुंशी जी यह क्या कर रहा है?" पिताजी को देख कर रोना आ गया और उन्हें रोते हुए देख कर पिताजी फिर पूछने लगे कि मुंशी जी रोते क्यों हैं? ठीक से बोल क्या हुआ है। इन्होंने पूरी बात बताई। सुनते ही पिताजी को गुस्सा आया और

[1] वही, पृ. 264

चीखने लगे। "काँणसा मास्टर है, वह द्रोणाचार्य की औलाद जो मेरे लड़के से झाड़ू लगाते हैं- पिताजी की आवाज सुनकर सभी मास्टर बाहर आए और पिताजी को धमकाने लगे। लेकिन धमकी का कोई असर नहीं हुआ। हेडमास्टर ने तेज आवाज में कहा 'ले जा इसे यहां से चूहड़ा होकर पढ़ाने चला है। जा चला जा नहीं तो हाड़गोड़ दूंगा। मास्टर हो इसलिए जा रहा हूं- पर इतना बाद रखिए ये चूहड़े का पड़ेगा इसी मदरसे में और यो ही नहीं इसके बाद और भी आयेंगे पढ़ने।"[1] उस दिन पिता हार कर निराश लौट आए कुछ भी खाए-पिए बिना रात भर बैठे रहे। बाद में प्रधान जी की सहायता से बेटे को स्कूल भेजने की व्यवस्था की गई। यह प्रसंग केवल एक व्यक्ति को ही परेशान होते हुए नहीं दिखाता बल्कि यह संपूर्ण दलित समाज की सच्चाई है जहाँ पर उन्हें प्रत्येक क्षण, प्रत्येक कदम पर शोषण और अपमान का सामना करना पड़ता है। वर्ण-व्यवस्था निश्चित तौर पर यथास्थिति को बनाए रखने की ऐसी धर्मगत साजिश है जो सवर्ण समुदाय को किसी भी तरीके से लाभ की स्थिति में रखना चाहती थी। वर्ण व्यवस्था को बनाए रखने के लिए धर्म का सहारा लिया गया और ऐसे प्रावधान किए गए कि दलित समुदाय उसी में उलझा रहे। दलित समुदाय सदियों से इन प्रपंचों में उलझा हुआ है और इस शोषण को अपनी नियति मान बैठा है। दलित आत्मकथाएँ इस के खिलाफ़ मुखरता से प्रतिरोध दर्ज करने का कार्य करती है।

संदर्भ सूची

1. बाबा साहेब अम्बेडकर, संपूर्ण वांग्मय, खंड 9, पृ. 9
2. गणेशदत्त पाठक, मनुस्मृति टीका, पृ. 37
3. डी.एन. मजुमदार, सामाजिक मानवशास्त्र, पृ. 194
4. कौशल्या वैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ. 27
5. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, अनुभव प्रकाशन, पृ. 10
6. मोहनदास नैमिशराय, अपने अपने पिंजरे, पृ. 30
7. वही, पृ. 6

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृ. 15

8. सुशीला टांकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 246
9. वही, पृ. 264
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृ. 15

आदिवासी संस्कृति (कहानियों के संदर्भ में)

प्रियंका देऊ वेळीप
सहायक प्राध्यापक
पार्वतीबाई चौगुले महाविद्यालय (स्वायत्त), मड़गाव-गोवा
velippriyanka1996@gmail.com

शोध सारांश

आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है जो पहले से ही अनेक समस्याओं का सामना करते हुए आगे बढ़ रहा है। विभिन्न समस्याओं से गुजरते हुए उनको शोषण, अन्याय, अत्याचार, आदि को सहना पड़ रहा है। जिसके कारण आदिवासी समाज को अपने जीवन में संघर्ष करना पड़ रहा है। जंगल में रहने के कारण उनका जीवन प्रकृति पर निर्भर है। खान-पान, जीवन शैली, अस्तित्व, संस्कृति, आदि जंगल से जुड़ी हुई है। मांस खाना, शराब पीना तथा उनके गीत-नृत्य आदि जंगल से ही जुड़े हुए हैं। यह मिल गया तो उनको न भूख की चिंता होती है, न मकान की और न संपत्ति की। प्रस्तुत शोध आलेख में आदिवासी कहानियों में वर्णित आदिवासी संस्कृति को रेखांकित किया गया है।

बीज शब्द: *आदिवासी, संस्कृति, अस्मिता, नृत्य, गीत, लोक, समाज*

शोध आलेख

आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है जो पहले से ही अनेक समस्याओं का सामना करते हुए आगे बढ़ रहा है। विभिन्न समस्याओं से गुजरते हुए उनको शोषण, अन्याय, अत्याचार, आदि को सहना पड़ रहा है। जिसके कारण आदिवासी समाज को अपने जीवन में संघर्ष करना पड़ रहा है। जंगल में रहने के कारण उनका जीवन प्रकृति पर निर्भर है। खान-पान, जीवन शैली, अस्तित्व, संस्कृति, आदि जंगल से जुड़ी हुई है। मांस खाना, शराब पीना तथा उनके गीत-नृत्य आदि जंगल से ही जुड़े हुए हैं। यह मिल गया तो उनको न भूख की चिंता होती है, न मकान की और न संपत्ति की। वाहरू सोनवणे अपने लेख में लिखते हैं- *"आदिवासियों के अपने स्वतंत्र रूप से त्यौहार देवी देवता तथा पूजा विधि आचार विचार होते हैं। नीति नियम तथा उनकी अपनी एक विशेष स्वतंत्र संस्कृति भी होती है। आदिवासी समाज में समूह जीवन को महत्व*

होता है। जिसमें समूह गीत, समूह नृत्य, ढोलक, मृदंग, तुतारी, पीपारी तथा शहनाई, आदि संगीत वाद्य होते हैं। घेल की ताल पर गीत गाते आदिवासी रात रात भर नाचते हैं।" [1] इस प्रकार से आदिवासी समाज की संस्कृति स्वतंत्र रूप से दिखाई पड़ती है। वे विभिन्न पारंपारिक वाद्यों के माध्यम से नृत्य, गीत गाकर रात भर नाचते हैं। उसी में उनका सुख होता हैं। आज आधुनिक युग में बले ही कई आदिवासी आधुनिक संस्कृति को अपनाकर डिस्को नाच, गानों के माध्यम से नृत्य कर रहे हैं पर आज भी कई अदिवासी समूह अपनी मूल संस्कृति को बचाने की कोशिश कर रहे हैं। एक साथ समूह में रहना वे पसंद करते है। समाज, धर्म को लेकर भेदभाव करना उनकी संस्कृति नहीं सिखाती है। रमणिका गुप्ता लिखती है-*" अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, अपना इतिहास, अपना भूगोल सब जानने, सब की पड़ताल करने और उसे उस बाह्य जगत से रू-ब-रू कराने के चेतना भी उनमें उभरी और वे बोल उठे, 'देखो! हम एक ऐसे समाज हैं, जिनके मूल्यों का ना तो ह्रास हुआ है, ना-ही उनमें विकृति आई है। हम सामूहिक जीवन प्रणाली में जीते रहे हैं समाज और समूह में रहते रहे हैं तुम्हारे द्वारा दी गई कठिन जिंदगी को अपने गीतों, अपने नृत्य से भुलाते रहे हैं। तुमने हमें सभ्यता से दूर ठेला विस्थापित किया हमने बांसुरी और नगाड़े के माध्यम से आपसी संवाद जारी रखा अब यह संवाद नाद बनकर फूट पड़ा है। बांसुरी को हमने 'मशाल' बना लिया है।"*[2] इस प्रकार से आदिवासी समाज अपने दुख-दर्द, कठिनाइयों को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं तथा अपनी पीड़ाओं को नृत्य करके, अपने पैर जमीन पर जोर-जोर से थापते हुए व्यक्त कर रहे है। तरुण भटनागर द्वारा लिखित कहानी 'चांद चाहता था कि धरती रुक जाए' में इसका चित्रण हुआ है। कहानी में कहानीकार 'घोटुल' का वर्णन करते हुए बता रहे है कि किस प्रकार से घोटुल आदिवासी समाज के लिए महत्वपूर्ण है। 'घोटुल' में आदिवासी लड़के और लड़कियाँ एक साथ रहते हैं जिसमें उनको विद्या दी जाती है। आदिवासी समाज में व्याप्त 'घोटुल' प्रथा के बारे में हरिराम मीणा अपने लेख में लिखते हैं कि- *"यहाँ मुझे यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो*

[1] सोनवणे, वाहरू;आदिवासी साहित्य: संस्कृति तथा अस्मित,सं विशाला शर्मा, दत्ता कोल्हारे,आदिवासी साहित्य एवं संस्कृति, स्वराज प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण.2016,पृ.39

[2] गुप्ता, रमणिका; आदिवासी चेतना, साहित्य और संस्कृति का मूल्यांकन, वही,पृ.22

के दर्शन की वह व्यवस्था याद आ रही है जब वे आदर्श शासन व्यवस्था संचालित करने के लिए 'दार्शनिक राजा' की अवधारणा पर चर्चा करते हैं और साथ ही उससे शासक वर्ग की जिसमें प्रत्येक विभाग के दायित्व को संभालने के लिए हृष्ट-पुष्ट, सुंदर एवं क्षमतावान कर्मियों का समूह हो। ऐसा समूह कैसे पैदा किया जाए? यह प्लेटो की समस्या थी। उसने समाधान खोजा। नगर-राज्य में उपलब्ध स्वस्थ एवं सुंदर युवक-युवतियों का चयन किया जाये और उन्हें नियत सामूहिक आवास (घोटुल जैसे) में रहने दें। खूब खिलाया-पिलाया जाय। खेल-कूद व अन्य शारीरिक अभ्यास कराया जाये और मुक्त यौन-संबंध स्थापित करने की छूट दी जाये। प्लेटो का समाधान था युवतियाँ गर्भवती हों और यह न जान सकें कि किस युवक का बच्चा किस युवती की कोख में पनप रहा है। प्रसवोपरान्त शिशुओं का लालन-पालन भी सामूहिक हो। माँ भी अपने बालक की पहचान न कर सके। प्लेटो को आशा थी कि ऐसा करने से एक तो श्रेष्ठ शरीर एवं मस्तिष्क वाले व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें बाल्यावस्था से ही शासन संचालन एवं युद्ध-कौशल की शिक्षा दी जाएगी ताकि उनकी मनसा के मुताबिक शासन एवं सेना के नायक उपलब्ध हो सकें।"[1] इससे यह बात पता चलती है कि 'घोटुल' उनके जीवन में कितना महत्वपूर्ण है। आदिवासी समाज में विवाह को लेकर जैसी परंपरा है वैसी ही 'घोटुल' में दिखाई पड़ती है। दहेज प्रथा उनके समाज में न होने के कारण आदिवासी लड़की भी दहेज प्रथा जैसी समस्या से बच जाती है। आदिवासी समाज में शादी को लेकर कोई दिखावा नहीं होता है। आधुनिक पद्धति से शादी करना वे पसंद नहीं करते है। वह अपनी संस्कृति, परंपरा का पालन करते हुए आगे बढ़ रहें है। इसी संदर्भ में डॉ. एम. फिरोज अहमद लिखते हैं- " *बस्तर के आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक विरासत को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाने में घोटुल (घोटुल - अविवाहित युवक-युवतियों का आमोद गृह) की महत्वपूर्ण भूमिका है।"*[2] इस प्रकार

[1] मीणा, हरिराम; आदिवासी संस्कृति-वर्तमान चुनौतियों का उपलब्ध मोर्चा, सं अनुज लुगुन, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.2015, पृ.20

[2] अहमद, फीरोज; आदिवासियों के रिति-रिवाजों, समारोहों और पर्वों का प्रामाणिक दस्तावेज, सं डॉ. एम. फीरोज खान, डॉ. शगुफ्ता नियाज, आदिवासी साहित्य दशा एवं दिशा, वाड्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण.2015, पृ.183

से आदिवासी समाज द्वेष, भेदभाव, घृणा, आदि दूर करके एक साथ एक ही घोटुल में रहते हैं। एक साथ एक समूह में रहने से उनकी संस्कृति दिखाई देती है। कहानी में भी बताया गया है कि उस 'घोटुल' में एक लड़की गर्भवती हो जाती है लेकिन उसे पता नहीं कि किससे वह गर्भवती हो गई हैं। लेकिन उनके लिए यह बड़ी बात नहीं होती है क्योंकि उनकी संस्कृति में यौन संबंध स्थापित करने की छूट दी गई है जिसका फायदा आज बाहरी लोग उठा रहे हैं जिसे इस कहानी के माध्यम से भी देख सकते हैं। इस कहानी में भी बाहरी आदमी अपनी सभ्यता का प्रयोग करके बुजुर्ग तथा घोटुल में रहने वाले लड़कों को डरा-धमकाकर घोटुल बंद करने के लिए कह रहा है। घोटुल का बंद होना मतलब उनकी संस्कृति नष्ट करना है। आदिवासी अगर उनकी बात मना करते हैं तो उनका शोषण किया जा रहा है। इस कहानी में बाहरी आदमी घोटुल में रहनेवाले लड़कों को बंदूक चलाने के लिए सिखा रहा है। स्त्रियों का शोषण किया जा रहा है। इस संदर्भ में हरिराम मीणा लिखते है-*"मनपसंदगी से प्रेम और विवाह की 'भगोरिया' व 'घोटुल' जैसी परंपराएँ उदात्त सांस्कृतिक जीवन के उदाहरण हैं जिन्हें तथाकथित सभ्य समाज उल्टे नजरिए से देखता है। उस तथाकथित सभ्य समाज के भीतर कितनी यौन विकृतियां एवं अपराध पनपते हैं, यह नहीं देखा जाता। यही वजह है कि मुख्य-धारा के समाज में पैदा हुई नारी-मुक्ति आंदोलन स्वतंत्रता के नाम पर उच्छृंखलता पैदा करते हैं जबकि आदिवासी परंपरा में स्त्री को सकारात्मक स्वतंत्रता भोगने का अवसर मिलता है और स्त्री व पुरुष के मध्य असमानता की भावना नहीं दिखती।"*[1] इस प्रकार से घोटुल जैसी परंपरा उनकी संस्कृति है पर उनकी इस संस्कृति का गलत फायदा बाहरी लोग उठा रहे है। घोटुल में जिस प्रकार से वे रहते है उसका गलत अर्थ निकाला जा रहा है। सभ्य समाज उसे उल्टे नजरिए से देखकर उनपर अत्याचार करता है। कहानी में घोटुल के बाहर देखभाल करने के लिए रखे बुजुर्ग को बाहरी आदमी डराते हैं, धमकाते हैं। कहानी में वह बुजुर्ग से कहता है कि- *"यही तो तुम लोग नहीं समझते हो। जब यह बंद होगा तभी तुम समझ पाओगे कि गरीबी और*

[1] मीणा, हरिराम; आदिवासी संस्कृति-वर्तमान चुनौतियों का उपलब्ध मोर्चा, सं अनुज लुगुन, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.2015, पृ.19

शोषण क्या है.. हां गरीबी घोटुल के बंद होने से ही यह शब्द तुम समझ पाओगे। तुम्हारा नर्क तुम्हें यह शब्द नहीं समझने देता है।"[1] इस प्रकार से बाहरी आदमी घोटुल को नर्क कहता है। घोटुल में लड़के-लड़कियों को शिक्षित किया जा रहा है इसलिए वह कहता है कि जब घोटुल बंद हो जाएगा तब पता चलेगा कि गरीबी और शोषण का मतलब क्या है। इस प्रकार से बाहरी लोग नहीं चाहते हैं कि आदिवासी समाज आगे बढ़े। उनकी धारणा है कि आदिवासी समाज सिर्फ गरीब बनकर रहे और अंतहीन शोषण सहता रहे। आदिवासी संस्कृति, परंपरा, अस्तित्व, जल, जंगल, जमीन, आदि से वे दूर होकर विस्थापित हो जाये यह उनकी चाल है। जिससे उनकी संपत्ति पर उच्च वर्ग के लोग अपना प्रभाव जमा सकें। इसी कारण आदिवासी समाज को अपनी संस्कृति बचाये रखने के लिए अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आदिवासी समाज का तेजी से पलायन हो रहा है। पलायन, विस्थापन के कारण आज आदिवासी समाज पर आधुनिक या शहरी संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु वे शहर जाकर शहरी जीवन जी रहे है। वे अपनी मूल संस्कृति को भूलकर आधुनिक संस्कृति को अपना रहे है। प्रीती मुरमू की कहानी 'सच्चा सुख' में छोटका उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए शहर जाता है और वहीं जमीन खरीदकर अपना मकान बना लेता है। लेकिन प्रति वर्ष वह 'सोहराई' परब के दिन गाँव आता है और गाँव की तुलना शहर से करता है। कहानी में छोटका के अनुसार विकास का अर्थ है- " *सुविधा-सम्पन्न होना, दौलतमंद होना, पक्का मकान होना, नये फैशन के कपड़े पहनना, आरामदायक कुर्सियाँ, टेबल, टी.वी., फ्रिज और बिजली चालित-सभी प्रकार की वस्तुएँ होना।"*[2] इस प्रकार से आदिवासी समाज पर शहरी संस्कृति का प्रभाव पड़ रहा है, उनके लिए विकास यही तक सीमित है। वे अपनी मूल संस्कृति, परंपरा आदि को दूर करके पाश्चात्य संस्कृति को अपना रहे है। कहानी में छोटका के माध्यम से देख सकते है कि किस प्रकार से वह शहर में रहने के कारण स्वार्थी प्रवृत्ती का बन गया है। इस स्वार्थपरता के कारण वह लखन से कहता है कि साल पेड़ को

[1] भटनागर, तरूण; चांद चाहता था धरती रुक जाये, सं केदार प्रसाद मीणा, आदिवासी कथा जगत, अनुज्ञा प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण.2016, पृ.49

[2] मुरमू, प्रीती; सच्चा सुख, वही पृ.137

काटकर पलँग, कुर्सियाँ, टेबल, सोफा, खिड़की, दरवाजे और अलमीरा बनाओ जिससे लगेगा की आधुनिक बन गये है। लेकिन छोटका के आँखों में लगा यह आधुनिकता के पर्दे के पीछे ध्यान नहीं आता की उस पेड़ के फूल बाहा परब में उपयोगी होते है। इसप्रकार से स्वयं आदिवासी समाज अपनी संस्कृति को नष्ट कर रहा है। उनकी जीवन शैली बदल रही है। आज आदिवासी युवा पीढ़ी अपने माँ-बाप की कमजोरियों तथा मजबूरियों को नजरअंदाज करके आधुनिक जीवन जीना पसंद कर रहे है। खान-पान, पहनावा, भाषा, आदि बदलती जा रही है। आज आदिवासी युवा वर्ग फास्ट-फूड, जीन्स, आदि के प्रति आकर्षित हो रहे है। ख्वालकुंगी द्वारा लिखित कहानी 'काउबॉय लाबेले जीन्स' में छोटा लड़का रिनसांगा 'ला बेले नीली जीन्स' के लिए गलत रास्ते से जाता है क्योंकि किसी भी हालत में उसे वह जीन्स चाहिए थी। अपनी दादी और पिता को बताए बिना वह अपने दोस्त ललमुअना का बताया रास्ता अपनाकर टिकट खरिदकर ज्यादा पैसों में बेचने चले जाता है पर वहाँ ललमुअना चोरी का पाकीट उसके जेब में डालकर उसे फँसाता है। जिसके कारण उसे पोलिस स्टेशन जाना पड़ता है। कहानी की इस घटना के माध्यम से देख सकते है की किस प्रकार से आज की पीढ़ी नये फैशन, आधुनिक बनने की चाह में गलत रास्ता अपनाते है। वे आधुनिक तो बनना चाहते है पर वहाँ भी उनका शोषण हो रहा है। सभ्य समाज उन्हें न आधुनिक बनने दे रहा है और न ही उनको जंगल में रहने दे रहा है।

संदर्भ सूची-

1. सं विशाला शर्मा, दत्ता कोल्हारे,आदिवासी साहित्य एवं संस्कृति, स्वराज प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण.2016
2. सं अनुज लुगुन, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण.2015
3. सं डॉ. एम. फीरोज खान, डॉ. शगुफ्ता नियाज, आदिवासी साहित्य दशा एवं दिशा, वाड्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण.2015
4. सं केदार प्रसाद मीणा, आदिवासी कथा जगत, अनुज्ञा प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण.2016

आलेख

पूर्वोत्तर भारत के अल्पसंख्यक आदिवासी समुदाय

वीरेन्द्र परमार
संपर्क: 103, नवकार्तिक सोसायटी,
प्लाट न.–13, सेक्टर-65, फरीदाबाद-121004
मोबाइल-9868200085,
ईमेल:bkscgwb@gmail.com
ब्लॉग:http://madhumaydesh.blogspot.com

भील (BHIL)

भील भारत के प्राचीनतम आदिवासी समुदायों में से एक है। वाल्मीकि रामायण में भील की चर्चा मिलती है। भीलों ने राम की सेना में रहकर रावण के विरुद्ध लड़ाई लड़ी थी। विष्णु के सातवें अवतार राम ने एक भील महिला शबरी के जूठे बेर खाए थे। पौराणिक आख्यान है कि जब देवी पार्वती महादेव को प्रसन्न करना चाहती थीं ताकि वे अपने तपस्वी जीवन को त्याग दें तब उन्होंने एक भील स्त्री का रूप धारण किया था । माना जाता है कि रामायण के लेखक महर्षि वाल्मीकि भी भील समुदाय के थे। एक समय भील राजस्थान, गुजरात, मालवा, मध्य प्रदेश और बिहार के कुछ भागों पर शासन करते थे। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार त्रिपुरा में भील समुदाय की जनसंख्या मात्र 3,105 है। येलोग मुख्य रूप से बिहार और मध्य प्रदेश से त्रिपुरा में आए हैं। येलोग भीली भाषा बोलते हैं। त्रिपुरा के भील बंगला भी बोलते हैं। इनकी आजीविका का मुख्य साधन चाय बागान और ईट भट्टों में काम करना है। वे कृषक मजदूर के रूप में काम करते हैं। इनका निवास मुख्यतः बेलोनिया के अकिनपुर और खोवाई सब डिविजन के बागान बाज़ार में है। पारंपरिक रूप से भील समुदाय प्रकृतिपूजक था, लेकिन अब अधिकांश लोग हिंदू धर्म को मानते हैं। वेलोग 'बाघदेव' की पूजा करते हैं। येलोग भूत–प्रेत और जादू–टोना में भी विश्वास करते हैं। 'भगत' अथवा 'गुरु' इस समुदाय के पूज्य पुरुष हैं जो सभी प्रकार के धार्मिक और पारंपरिक अनुष्ठान कराते हैं। भगवान शिव इनके सर्वोच्च देवता अथवा ईश्वर हैं। वे दुर्गा और अन्य हिंदू देवी–देवताओं की भी पूजा करते हैं। वे पेड़, नदी, पहाड़ आदि प्राकृतिक शक्तियों की भी पूजा करते हैं। वे जंगल के देवता और भूत–प्रेतों की भी पूजा करते हैं।

संगीत–नृत्य इनके जीवन का अभिन्न अंग है। किसी सामजिक या पारिवारिक समारोह में वे पूरी रात मदिरा पीकर नृत्य करते हैं।

चैमल (CHAIMAL)

चैमल त्रिपुरा का एक अल्पसंख्यक आदिवासी समूह है। 2011 की जनगणना के अनुसार उनकी कुल आबादी केवल 549 है। वे मुख्यतः त्रिपुरा के धलाई जिले के अंबासा में केन्द्रित है। वे खुद को 'सैमर' कहते हैं। वे कुकी-चीन समूह की भाषा बोलते हैं। चैमल और हलम भाषा में बहुत समानता है। वे कोकबोरोक भाषा भी समझ और बोल सकते हैं। वे झूम खेती के साथ-साथ स्थायी खेती भी करते हैं। वे हिंदू धर्म को मानते हैं और सभी हिंदू रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। इस समुदाय के कुछ शिक्षित लोगों ने ईसाई धर्म अपना लिया है। अन्य जनजातियों की तरह इस समुदाय के पास भी लोकनृत्य, लोकगीत और संगीत की उन्नत परंपरा है, लेकिन वे उनका प्रदर्शन बहुत कम करते हैं।

संताल (SANTAL)

संताल अथवा संथाल त्रिपुरा की आप्रवासी जनजातियों में से एक है। वे ऑस्ट्रो-एशियाई नस्लीय कुटुंब से संबंधित हैं। उनकी मूल मातृभूमि पश्चिम बंगाल, बिहार और मध्य प्रदेश है। वे चाय बागान मजदूर के रूप में इस राज्य में आए थे । 2011 की जनगणना के अनुसार त्रिपुरा में संथाल की जनसंख्या 2,913 है। वे मुख्य रूप से सदर सब-डिविजन के सिम्ना और मेक्लीबन टी गार्डन क्षेत्रों में केंद्रित हैं । अधिकांश संताली चाय बागान में काम करते हैं । उनकी भाषा संथाली है। संथाली एक आस्ट्रो–एशियाई परिवार की भाषा है जो ओल–चिकि लिपि में लिखी जाती है। संथाल समाज में परिवे समाज की सबसे छोटी इकाई है। यह पितृसत्तात्मक समाज है। पिता परिवार का मुखिया होता है। विवाह के बाद पुत्र अपने पिता से अलग हो जाता है और नया घर बनाकर अपनी पत्नी के साथ रहता है। विवाह के बाद लड़कियां अपने पति के घर चली जाती हैं। संथाल समुदाय कई गोत्रों (परिस) में विभक्त है और गोत्र कई उपगोत्रों (खुट) में विभक्त है। उपगोत्रों (खुट) के बीच विवाह वर्जित है। संथाल समाज में विवाह

(बपला) को जीवन की महत्वपूर्ण घटना माना जाता है। विवाह के बाद ही व्यक्ति समाज का पूर्ण सदस्य बनता है। खेती में भी पत्नी पुरुष की सहायता करती है। इस समुदाय में बच्चे के जन्म का खूब स्वागत किया जाता है। अपनी गर्भावस्था के दौरान संथाल महिलाएं कुछ निषेधों का पालन करती हैं। गर्भवती महिला का पति न तो किसी जानवर को मार सकता है, न ही किसी मृतक के अंतिम संस्कार में सम्मिलित हो सकता है। गर्भवती महिला अकेले जंगल में नहीं जा सकती है, न ही अपने रिश्तेदारों की मृत्यु पर रो सकती है। उसके लिए कठिन कार्य करना भी मना है। जन्म छटिहार होने तक नवप्रसूता का रसोईघर में प्रवेश करना मना है। बच्चे के जन्म के सात या नौ दिनों के बाद जन्म छटिहार का आयोजन किया जाता है। संथाल समुदाय में समगोत्रीय विवाह प्रतिबंधित है। विवाह के अनेक प्रकार प्रचलित हैं जैसे–बातचीत के द्वारा विवाह, आपसी सहमति से विवाह, जबर्दस्ती विवाह, सहपलायन द्वारा विवाह, विधवा विवाह (संग बपला), घर जमाई, हिंदू तरीके से विवाह (दिकु बपला) आदि। बातचीत के द्वारा विवाह इस समुदाय में आम है। विवाह की पहल वर पक्ष द्वारा की जाती है। दोनों पक्षों के बुजुर्ग और सगे–संबंधी अनेक बार एक–दूसरे के घर में जाकर वधू मूल्य तय करते हैं। वधू मूल्य के रूप में पैसे और वस्तु दोनों दिए जाते हैं। विवाह के दिन घर के सामने केले का पेड़ लगाया जाता है और उसकी पूजा की जाती है। उसके बाद दूल्हा–दुल्हन के चेहरे और शरीर में हल्दी लगाई जाती है। कृषि और शिकार करना इस समुदाय की आजीविका के मुख्य साधन हैं। इनके पास खेती की जमीन नहीं है। वे चाय बागान द्वारा चाय बागान के बाहर आबंटित भूमि में धान और सब्जियां उगाते हैं। इस समुदाय का मुख्य भोजन चावल है। वे मांसाहारी हैं और मछली, मेंढक, अंडा, चिड़िया आदि खाते हैं। हंडिया (स्थानीय मदिरा) इनका नियमित पेय है। हंडिया चावल से बनती है। धार्मिक दृष्टि से वे हिंदू धर्म को मानते हैं और शक्ति की उपासना करते हैं । होली उनका मुख्य त्योहार है। इस त्योहार में वे हंडिया (एक प्रकार की देशी शराब) का खूब सेवन करते हैं और ढोल बजाकर समूह में गाते हैं तथा पारंपरिक नृत्य करते हैं। उनके पुजारी धार्मिक प्रमुख के रूप में कार्य करते हैं। पुजारी ही सभी अनुष्ठान कराते हैं । वे काली, दुर्गा, महादेव और अन्य सभी हिंदू देवी–देवताओं की पूजा करते हैं। वे दुर्गा पूजा और काली पूजा का धूमधाम से

आयोजन करते हैं। उन पर ईसाई धर्म का प्रभाव नहीं है। वे जंगली जानवरों का शिकार करते हैं । वास्तव में उनमें से ज्यादातर के पास जमीन नहीं है। मृत्यु के बाद संताल शव को जलाते हैं। असाध्य रोगों के कारण मृत्यु होने, आकस्मिक मृत्यु या अकाल मृत्यु होने पर शवों को दफनाया जाता है। दाह संस्कार के बाद हड्डियों और राख को एकत्रित कर उपवन में रखा जाता है जिस पर मृतक की स्मृति में पत्थर स्थापित किए जाते हैं । संताल एक शांतिप्रिय जनजाति है और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का पालन करते हुए अन्य समुदायों के साथ रहती है। 'झूमर' और 'करम' इस समुदाय के दो प्रमुख नृत्य रूप हैं। महिलाओं द्वारा यह नृत्य प्रस्तुत किया जाता है।

उचई (UCHAI)

उचई प्राचीन काल से त्रिपुरा में निवास करनेवाली एक अल्पसंख्यक जनजाति है । वे बर्मा के अराकान हिल्स से देशांतरित होकर त्रिपुरा में आए हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार त्रिपुरा राज्य में इनकी जनसंख्या 2,447 है और वे मुख्य रूप से अमरपुर और बेलोनिया सब डिविजन में केंद्रित हैं। उचई की भाषा और संस्कृति कोकबोरोक बोलनेवाली अन्य जनजातियों जैसे, रियांग, त्रिपुरी, जमातिया आदि के समान है। उचई टोंगघर (गेरेंग) में रहते हैं जो घास और बाँस के बने होते हैं। परंपरागत रूप से उचई झूम खेती करते हैं। झूम खेतों में वे अपनी जरूरत की हर चीज का उत्पादन करते हैं । वे अभी भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जंगल पर निर्भर हैं। वे जंगली जानवरों, पक्षियों आदि का शिकार करते हैं । अधिकांश उचई गाँवों में रहते हैं। एक गांव में अधिकतम 50 परिवार एक साथ रह सकते हैं। परिवार में युवा और बुजुर्ग एक साथ रहते हैं, इसके बावजूद परिवार में सौहार्दपूर्ण संबंध बना रहता है। घर के प्रमुख कार्य माँ द्वारा किए जाते हैं। पिता आर्थिक गतिविधियों में व्यस्त रहते हैं। झूम खेतों और अन्य घरेलू कार्यों में युवा लड़के–लड़कियां पिता–माता की मदद करते हैं। इस समाज में विवाह की उम्र 16-20 वर्ष है। पहले उचई समुदाय की सामाजिक परिषद के नियम बहुत कठोर होते थे, लेकिन अब परिषद इतनी सक्रिय नहीं है । उचई समुदाय के लोग हिंदू धर्म को मानते हैं। वे भगवान के साथ-साथ कुछ प्राकृतिक शक्तियों में विश्वास करते हैं । उनके प्रमुख देवता राधक, गरिया, केर, गंगा, नकसू मोताई आदि हैं

। उचई समुदाय के कुछ लोगों ने ईसाई धर्म अपना लिया है और वे ईसाई कैलेंडर के अनुसार धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। इस समुदाय में हिंदू धर्म के रीति–रिवाजों के अनुसार शवों का दाह संस्कार किया जाता है।

मुंडा (MUNDA)

मुंडा मध्य भारतीय जनजाति है। त्रिपुरा में यह एक अप्रवासी जनजाति है। मुंडा की मूल मातृभूमि छोटानागपुर है। उनकी भाषा मुंडारी है जो ऑस्ट्रो-एशियाई परिवार से संबंधित है। त्रिपुरा में मुंडा को त्रिपुरा के तत्कालीन राजा द्वारा 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चाय बागान और ब्रिकफील्ड्स में काम करने के लिए लाया गया था। 2011 की जनगणना के अनुसार त्रिपुरा में उनकी आबादी 14,544 है और वे मुख्य रूप से कैलाशहर, मनु वैली टी एस्टेट और राज्य के अन्य चाय बागानों में रहते हैं। मुंडा अन्य जनजातियों के साथ मिश्रित गांवों में रहते हैं। वे चाय बागान में काम करने के अलावा धनुष-बाण से जंगली जानवरों और पक्षियों का शिकार करते हैं। उनके पास भूमि नहीं है और वे सरकारी जमीन में रहते हैं। इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है और वे गांव के महाजनों पर निर्भर रहते हैं।। वे मिट्टी की दीवार वाली झोपड़ी में रहते हैं। मुंडा समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली अधिक है। परिवार के सभी सदस्य एक ही घर में रहते हैं। परिवार में बुजुर्गों को सम्मान दिया जाता है। चावल इनका प्रमुख भोजन है। चावल से बनी हुई मदिरा (लंगी) इनका नियमित पेय है। पर्व–त्योहारों, उत्सवों और विवाह समारोहों में लंगी अवश्य पिलायी जाती है। जब मुंडा समुदाय के घर में कोई अतिथि आता है तो उनके सम्मान में लंगी पेश की जाती है। इस जनजाति के लिए विवाह जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना होती है और विवाह में वर और वधू दोनों पक्षों द्वारा सहयोग दिया जाता है। लड़के के घर पर विवाह का आयोजन होता है। विवाह रात्रि में होते हैं। इस समाज में कोई दहेज़ प्रथा नहीं है। मुंडा हिंदू धर्म को मानते हैं। वे अपने पारंपरिक देवी-देवताओं में आस्था रखते हैं। वे शिव, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, विश्वकर्मा आदि देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। वे अपने 'गढ़देवता' के प्रति अखंड आस्था रखते हैं। 'सूर्यदेवता' इनके सर्वोच्च ईश्वर हैं। वे बिना पूजा किए खाना नहीं खाते हैं। वे देवी–देवताओं को बकरी, मुर्गा, कबूतर की

बलि देते हैं। वे देवताओं को स्थानीय मदिरा लंगी भी अर्पित करते हैं। माघीपूर्णिमा, गंगा पूजा, करम, शिव पूजा और काली पूजा मुंडा समुदाय के प्रमुख त्योहार हैं। इस समुदाय में विवादों और समस्याओं के समाधान के लिए एक प्रधान होता है। समुदाय के बुजुर्ग सदस्यों (मुरुब्बी) के सहयोग से प्रधान समस्याओं का समाधान करता है। प्रधान और मुरुब्बी का चयन समुदाय के लोगों द्वारा किया जाता है। अन्य समुदाय की भांति मुंडा समाज में भी महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं है। मुंडा महिलाएं खेतों में कठिन परिश्रम करती हैं, लेकिन उन्हें कोई निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। पहन (पुजारी) मुंडा समुदाय के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । पहन सभी प्रकार के धार्मिक संस्कारों और रीति-रिवाजों, सामुदायिक उत्सव, विवाह, ग्राम देवी-देवताओं की पूजा और अंतिम संस्कार कराते हैं।

सुलुंग (SULUNG)

सुलुंग अथवा सुलु अरुणाचल प्रदेश की एक महत्वपूर्ण आखेटक और खाद्य संग्राहक जनजाति है। अरुणाचल के ईस्ट कामेंग और कुरुंगकुमे जिले में इनकी प्रमुख आबादी निवास करती है। बहुत दिनों तक निशिंग जनजाति के लोग इनसे दास का काम लेते थे और इनका अलग कोई अस्तित्व नहीं था। खान-पान, रहन-सहन और सांस्कृतिक समानता के कारण इन्हें निशिंग (दफ़ला) ही समझा जाता था, परन्तु निशिंग और तागिन जनजाति से समानता के बावजूद भाषा और संस्कृति की दृष्टि से सुलुंग एक अलग जनजाति है। इस जनजाति को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री हैमनड्रेफ को जाता है जिन्होंने सन 1947 में सुलुंग लोगों की जीवन शैली का अध्ययन कर विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। सन 1945-48 के बीच में श्री सी.आर.स्टोनर ने कई बार इस क्षेत्र का भ्रमण किया और सुलुंग जनजाति के बारे में जानकारी दी। इस जनजाति के लोग आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से अन्य जनजातियों की अपेक्षा पिछड़े हुए हैं। वे लोग बहुत दिनों तक कृषि कर्म से भी अनभिज्ञ थे और भोजन के लिए शिकार और जंगली कंद-मूल पर निर्भर थे। बाद में अपनी पड़ोसी जातियों को देखकर इन लोगों ने खेती करना सीखा। ये लोग भी झूम विधि से खेती करते हैं। जहां समतल जमीन है वहाँ पर स्थायी खेती भी की जाती है। खेतों में बीज बोने और फसल काटने का कार्य महिलाएं

ही करती हैं। चावल इनका मुख्य उत्पादन है। मकई और कोदो भी उपजाए जाते हैं। सुलुंग लोग पशुपालन नहीं करते। सुलुंग लोगों की वेशभूषा और मकान निशिंग जनजाति के समान है । घर बांस के बने होते हैं और उसकी छत फूस-पत्तों की बनी होती है। निशिंग समाज की तरह इनके पास एक सामुदायिक भवन होता है। सामुदायिक भवन का निर्माण और उपयोग दो-तीन परिवार करते हैं। चावल और मांस-मछली इस समाज का मुख्य भोजन है। जंगली कंद-मूल और जानवर के मांस भी ये लोग खाते हैं। स्थानीय किस्म की मदिरा 'अपोंग' इनका दैनिक पेय है। आबो तानी को सुलुंग समाज भी अपना पूर्वज मानता है। इस समुदाय की धार्मिक आस्था और क्रिया-कलाप एवं निशिंग जनजाति के धार्मिक विश्वासों में बहुत साम्य है। 'वाएन्यी' इस समाज का प्रमुख त्योहार है। इस पर्व का संबंध आबो तानी से है। त्योहार की तिथि का निर्धारण पुजारियों द्वारा किया जाता है। निश्चित तिथि को सभी लोग एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और अपने इष्ट देव को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करते हैं। पुजारी मंत्रोच्चार करता है। पूजा-स्थल को बांस तथा फूल-पत्तों से सजाया जाता है तथा पर्याप्त मात्रा में अपोंग, चावल और मांस तैयार किए जाते हैं। सभी कार्य पुजारी के नेतृत्व में संपन्न होते हैं। इस अवसर पर सूअर की बलि दी जाती है। बलि चढ़ाये गए सूअर के आगे की बाई टांग पुजारी को दी जाती है तथा शेष भाग को पकाया जाता है। भोजन में सभी ग्रामवासी शामिल होते हैं। इस पर्व के अवसर पर नृत्य-गीत भी प्रस्तुत किए जाते हैं। पहले यह त्योहार व्यक्तिगत स्तर पर मनाया जाता था, लेकिन आजकल सामूहिक रूप से इस पर्व का आयोजन किया जाता है। सुलुंग समाज में मृतक के शवों को घर के नजदीक ही दफनाने की परंपरा है।

मेंबा और खंबा (MEMBA AND KHAMBA)

अरुणाचल प्रदेश की मेंबा और खंबा दोनों जनजातियों की आबादी बहुत कम है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से ये जनजातियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं। भौगोलिक कारणों से ये लोग बाहरी दुनिया से कटे हुए हैं। आवागमन के साधनों का अभाव इनके विकास में बहुत बड़ी बाधा है। खंबा लोग 'यंग-संग-चु' घाटी में और मेंबा लोग 'जेलिंग' के निकट बसे हुए हैं। अरुणाचल के वेस्ट सियांग और अपर सियांग जिले इनके निवास

क्षेत्र हैं। दोनों जनजातियाँ बौद्ध धर्म में विश्वास रखती हैं। 'दुबा' मेंबा जनजाति का प्रमुख त्योहार है। यह त्योहार एक सप्ताह तक मनाया जाता है। टुटिंग का गोम्पा इनके धार्मिक क्रियाकलापों का सबसे प्रमुख केंद्र है। पर्व के दिन रंग-बिरंगे कपड़ों में सुसज्जित होकर सभी लोग गोंपा में एकत्रित होते हैं। 'दुबा' का शाब्दिक अर्थ 'बुरी शक्तियों का विनाश' है। मेंबा परंपरा के अनुसार यह त्योहार लोगों की भलाई और समाज में सुख-शांति की स्थापना के लिए मनाया जाता है। इस त्योहार को मनाने से बुरी शक्तियों का नाश होता है और अच्छी शक्तियों की प्रबलता के कारण समुदाय के लोग सुखी और स्वस्थ रहते हैं। सभी लोग दुर्भाग्य, रोग और प्राकृतिक आपदाओं से रक्षा के लिए इष्ट देवता की प्रार्थना करते हैं। लोगों का विश्वास है कि दुबा त्योहार नहीं मनाने से वे सुखमय जीवन व्यतीत नहीं कर सकते हैं। इस पर्व के अवसर पर अजगर, घोड़े, सिंह, बंदर इत्यादि जानवरों के मुखौटे पहनकर लोग नृत्य करते हैं।

मीजी (MIJI)

मीजी जनजाति का निवास क्षेत्र अरुणाचल प्रदेश के पश्चिमी कामेंग जिले का नाफ्रा अंचल है। बीचम नदी घाटी में निवास करनेवाले मीजी जनजाति के लोग पच्चीस गांवों में फैले हुए हैं। मोंपा, निशिंग और आका जनजातियाँ इनके पड़ोस में रहती हैं। मीजी लोग स्वयं को धम्माई कहते हैं। लोक कथाओं से पता चलता है कि इनका मूल निवास क्षेत्र मैदान में और संभवतः असम में था। असम के अहोम शासकों से इनका घनिष्ठ संबंध था। 'मीजी' का शाब्दिक अर्थ 'आग देने वाला' है । 'मी' का अर्थ 'आग' और 'जी' का अर्थ है 'देना' है । इससे विदित होता है कि मीजी लोगों ने ही सर्वप्रथम आग का आविष्कार किया होगा अथवा आग से परिचित हुए होंगे। मीजी लोग स्वयं को 'सजोलंग' कहते हैं। मीजी समुदाय दो वर्गों में विभक्त है–न्यूबु और न्युलु। पुनः ये दोनों वर्ग भी अनेक उपवर्गों में विभक्त हैं। सामाजिक दृष्टि से न्यूबु को विशिष्ट वर्ग माना जाता है जबकि न्युलु को अपेक्षाकृत हीन समझा जाता है। धर्म की दृष्टि से यह समाज जड़ात्मवादी (Animistic) है। ये लोग पर्वत, वन, सूर्य, चंद्रमा आदि के अतिरिक्त अन्य दैवी शक्तियों में विश्वास करते हैं। 'चिनडंग' त्योहार इनका सबसे प्रमुख त्योहार है। सुख समृद्धि और आरोग्य की कामना के साथ धूमधाम से इस

त्योहार का आयोजन होता है। 'चिन' का अर्थ 'पूजा' और 'डंग' का अर्थ 'अर्पित करना' और 'बलि देना' है। इस त्योहार में सर्वशक्तिमान आध्यात्मिक प्रतीक 'जंग लंग नाई' तथा अन्य देवताओं जैसे सूर्य, चंद्रमा, पर्वत, नदी, वन आदि की पूजा की जाती है। उन्हें जानवरों की बलि दी जाती है तथा मंत्रों-गीतों से इन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है। यह त्योहार सामुदायिक स्तर पर मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त मीजी जनजाति 'खान गेलम' त्योहार भी मनाता है। यह त्योहार व्यक्तिगत स्तर पर आयोजित किया जाता है। इस त्योहार में व्यय अधिक होता है। अतः सामान्यतः धनी लोग ही इस त्योहार का आयोजन करते हैं। मीजी समुदाय कृषि पर आश्रित है। भौगोलिक कारणों से ये लोग झूम खेती करते हैं। इनकी खेती अनिश्चित है। अतः ये लोग दैवी शक्तियों से अच्छी फसल की कामना करते हैं तथा खेती के प्रत्येक चरण में किसी न किसी त्योहार का अवश्य आयोजन करते हैं।

बुगुन/खोवा (BUGUN/KHOWA)

बुगुन जनजाति के लोग अरुणाचल प्रदेश के पश्चिमी कामेंग जिले में निवास करते हैं। ये सरल, भद्र और ईमानदार होते हैं। विकास की दृष्टि से ये लोग अत्यंत पिछड़े हुए हैं। इनके पड़ोस में आका जनजाति का निवास है। इसलिए इनकी परंपरा और जीवन शैली पर आका जनजाति का बहुत प्रभाव है। कृषि इनकी आजीविका का मुख्य साधन है। मक्का और सब्जियाँ इनके मुख्य उत्पाद हैं। ये लोग झूम कृषि करते हैं, लेकिन धीरे–धीरे येलोग स्थायी खेती करने लगे हैं क्योंकि सरकार की नीति के कारण झूम खेती के स्थान पर स्थायी खेती को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस समाज की महिलाएं घर और खेतों में अथक परिश्रम करती हैं, लेकिन परिवार की अचल संपत्ति पर इनका कोई अधिकार नहीं है। इस समुदाय में बहुपत्नी प्रथा प्रचलित है, परंतु ऐसा धनी लोग ही कर पाते हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति वधू मूल्य अदा करने के बाद ही विवाह कर सकता है। बुगुन लोग अनेक पर्व-त्योहार मनाते हैं जिनमें क्श्यात-सोवई सबसे प्रमुख है। यह प्रति वर्ष दिसंबर के तीसरे सप्ताह में मनाया जाता है। इसे पुजारी की सहायता से एक निश्चित स्थान पर आयोजित किया जाता है। त्योहार के प्रथम दिन पूजा स्थल की सफाई की जाती है। दस दिनों तक चलनेवाले इस त्योहार के अंतिम

दिन पूजा स्थल पर सभी ग्रामीण एकत्रित होकर भोज में सम्मिलित होते हैं। जैसे-जैसे बुगुन समुदाय में शिक्षा का प्रसार हो रहा है वैसे-वैसे इनकी जीवन शैली और जीवन स्तर में परिवर्तन हो रहा है, पुरानी परंपराए टूट रही हैं और आधुनिकता का समावेश हो रहा है। अब ये लोग मात्र कृषिजीवी नहीं र,हे बल्कि व्यापार, सरकारी सेवा आदि में इनकी भागीदारी बढ़ रही है।

बवम (BAWM)

बवम मिजोरम की एक अल्पसंख्यक जनजाति है। 'बवम' का शाब्दिक अर्थ 'टोकरी ढोनेवाला' है। ऐसा विश्वास है कि इनका मूल निवास स्थान 'चीनलंग' था। 'चीन' का अर्थ 'बंद दरवाजा' और 'लंग' का अर्थ 'पत्थर' है। इस प्रकार 'चीनलंग' का अर्थ 'बंद दरवाजा' है। ऐसा माना जाता है कि एक दिन कुछ लोग उस बंद दरवाजे से निकले थे जिनकी पीठ पर टोकरी थी। टोकरी ढोनेवाले लोगों को 'बवम' कहा गया। मिजोरम के प्रायः सभी समुदायों में एक मिथक प्रचलित है जिसके अनुसार वेलोग किसी गुफा से प्रकट या उत्पन्न हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि इस समुदाय में 'वंदिर' गोत्र के एक चीफ थे जो पराजित होने के बाद अपने मूल निवास को छोड़कर बंगलादेश की चटगाँव पहाड़ी पर आ गए थे। वहां से वे लोग बर्मा में आए और 1800 ई. के आसपास मिजोरम में आकर बस गए। मिजोरम के लुंगलेई जिले में इस जनजाति का निवास है। बवम समुदाय के लोग आपस में अपनी बवम भाषा बोलते हैं। इस भाषा की कोई लिपि नहीं है। दूसरे समुदायों से वेलोग दुहलियन भाषा में बातचीत करते हैं। वेलोग टूटी–फूटी हिंदी भी बोलते हैं। बवम लोग मांसाहारी होते हैं तथा गाय, सूअर, भैंस इत्यादि का मांस खाते हैं। वेलोग जंगली पशु-पक्षियों का शिकार करते हैं और उनके मांस उबाल कर खाते हैं। चावल इनका प्रमुख भोजन है। वे मूंग, मसूर की दाल तथा बैगन, गोभी, भिन्डी, टमाटर आदि की सब्जियां भी खाते हैं। वे बिना तेल-मसाले के उबला हुआ भोजन करते हैं। वे कभी–कभी खाना बनाने में सरसों का तेल और हल्दी का उपयोग करते हैं। येलोग पपीता, केला, संतरा इत्यादि फल खाते हैं। ये लोग घर में बनी मदिरा (जु) का कभी-कभी सेवन करते हैं। औरत–मर्द सभी मिज़ो सिगरेट पीते हैं। वेलोग पान और तम्बाकू खाते हैं तथा निकोटीन जल पीते हैं। यह एक पुरुष सत्तात्मक समाज है। पिता का गोत्र ही पुत्र और पुत्रियों का गोत्र माना जाता है।

विवाह के बाद भी पुत्रियों का गोत्र परिवर्तित नहीं होता है। विवाह गोत्र से बाहर किए जाते हैं, लेकिन ईसाईकरण के उपरांत इस परंपरा का सख्ती से पालन नहीं किया जाता है। विवाह आपस में विचार–विमर्श से तय किए जाते हैं। सहपलायन भी विवाह का एक प्रकार है। दोनों प्रकार के विवाह में लड़के अथवा उसके माता-पिता अपने दोस्तों द्वारा लड़की के माता-पिता को अपना संदेश भिजवाते हैं। लड़की भी अपनी दोस्तों द्वारा अपने माता-पिता को अपनी इच्छा से अवगत कराती है। सहमत होने पर वर-कन्या दोनों पक्ष के बड़े-बुजुर्ग मिलकर विवाह की तिथि और वधू मूल्य निर्धारित करते हैं। शादी के दिन लड़की के पिता को नकद रूप में वधू मूल्य का भुगतान किया जाता है। इस समाज में तलाक और विधवा का पुनर्विवाह मान्य है। विवाह गिरजाघरों में ईसाई रीति–रिवाज के अनुसार संपन्न होता है। पिता ही परिवार का मुखिया होता है। आजकल अधिकांश एकल परिवार देखे जाते हैं। बच्चे अपने माता-पिता और बुजुर्गों का सम्मान करते हैं। परिवार के सभी सदस्य आपस में हँसी-मजाक करते हैं। सबसे छोटा पुत्र पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है। अन्य पुत्रों को भी संपत्ति का कुछ हिस्सा दिया जाता है, लेकिन पुत्रियों को पिता की संपत्ति में कोई हिस्सा नहीं दिया जाता है। पिता की मृत्यु के बाद सबसे बड़ा पुत्र परिवार का मुखिया बनता है। आजकल माता भी अपने बड़े पुत्र के साथ–साथ अपने परिवार के दायित्वों को निर्वाह करती है। इस समुदाय के अधिकांश लोगों ने ईसाई धर्म अपना लिया है। प्रत्येक गाँव में गिरजाघर है जिसमें रविवार के दिन सभी ग्रामीण एकत्रित होते हैं एवं बाइबल का पाठ करते हैं। विवाह अथवा अंत्येष्टि के समय पादरी आकर ईसाई रीति-रिवाज से संस्कार संपन्न कराते हैं। वर्ष में बवम समुदाय तीन त्योहार मनाता है-क्रिसमस, नया वर्ष और ईस्टर। यद्यपि इन लोगों ने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया है, फिर भी वे मानते हैं कि पर्वतों, नदियों और जंगलों में कुछ आत्माएं और शक्तियां निवास करती हैं।

पंचायती राज व्यवस्था में 50 प्रतिशत आरक्षण: महिला सशक्तिकरण की नई पहल
(विशेष सन्दर्भ :हिमाचल प्रदेश)

प्रीति,
पी-एच.डी. शोधार्थी,
विभाग- स्त्री अध्ययन विभाग
ई-मेल : negipriti090@gmail.com
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

शोध सार

किसी भी राष्ट्र का विकास तभी संभव है। जब वहां की महिलाएं विकसित है। महात्मा गांधी जी कहते थे कि घर में किसी कोने पर रखा हुआ कोई खजाना अचानक मिल जाए तो कितनी खुशी होती है। ऐसे ही उनका मानना था कि हमारी महिला शक्ति सुस्त पड़ी है। अगर भारत की महिलाएं जाग जाएं तो पूरे विश्व को चकाचौंध कर सकती हैं। डॉक्टर भीमराव अंबेडकर जी ने कहा था कि समाज में स्त्री का बहुत बड़ा महत्व है। जिस परिवार में स्त्री शिक्षित प्रशिक्षित हो उनके बच्चे सदा ही उन्नति के पथ पर अग्रसर रहते हैं। एक महिला ही अच्छे व सुंदर परिवार की निर्माता होती है। जब तक हमारे आंदोलनों में महिलाएं भी भरपूर रूप से हिस्सा नहीं लेंगी तब तक हमारा आंदोलन कभी सफल नहीं हो सकता है।

बीज शब्द: *पंचायत, महिला, आरक्षण, सशक्तिकरण,हिमाचल प्रदेश, समाज*

परिचय:

पंचायती राज व्यवस्था में महिला नेतृत्व, सशक्तिकरण का अभिप्राय महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक, सामाजिक, मानसिक, आर्थिक और राजनीति के क्षेत्रों में उनके समाज, परिवार, समुदाय एवं राष्ट्र की संस्कृति पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वतंत्रता से है। महिलाओं में इस प्रकार की क्षमता का विकास जिसमें वह अपनी इच्छा अनुसार अपने जीवन का निर्वहन करने में सक्षम हो सके और उनके अंदर स्वाभिमान, आत्मविश्वास जागृत हो। भारत में महिलाओं की स्थिति के संबंध में यह अवश्य कहना चाहेंगे कि प्राचीन भारत से ही भारत में ग्रामीण प्रशासन प्रचलित था। रामायण महाभारत काल के साहित्य सभा, समितियों तथा गांव में भी उल्लेख मिलता है। प्रोफेसर अल्तेकर के अनुसार "अति प्राचीन काल से ही भारत के ग्राम शासन

व्यवस्था की धुरी रहे हैं।" त्रिस्तरीय व्यवस्था के अंतर्गत ग्रामीण स्तर पर ग्राम पंचायत खंड स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद की स्थापना की गई है। पंचायती राज व्यवस्था के नवीन स्वरूप को राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा मान्यता मिलने के बाद सर्वप्रथम 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान सरकार द्वारा इसे अपने प्रदेश में लागू किया गया। इसके पश्चात उत्तरप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र पंजाब तथा आंध्र प्रदेश आदि राज्यों में भी इस व्यवस्था को लागू किया गया। मेघालय नागालैंड को छोड़कर संपूर्ण देश में पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना की जा चुकी है। समाज में महिलाओं को जिस दृष्टि दर देखा जाता है। लिंग आधारित भेदभाव किया जाता है। पुरुषों के समकक्ष नहीं समझा जाता है। भारत के ज्वलंत समाज की यह सबसे बड़ी त्रासदी है। , वर्तमान में स्त्रियों ने पढ़ लिखकर कुछ स्थानों पर पुरुषों की बराबरी कर ली है। लेकिन उनका विषय इतना कम है कि अभी भी अवहेलना का शिकार होती जा रही है। भगवान ने मनुष्य को दो रूप दिए हैं। पहला पुरुष और दूसरा महिला भगवान ने महिला को

इस प्रकार मंडित किया है। कि वह संसार और भविष्य में स्वयं निर्मात्री हो गई है। कई युगों में कई युगपुरुष हुए हैं। जो महिला के हर रूप बहन, पत्नी, मां रही हो से प्रभावित होकर महान बने हैं। अतः कह सकते हैं कि संसार की तरक्की नारी के विकास पर ही निर्भर है। महिला को हर क्षेत्र में बढ़ावा देना आत्मनिर्भर बनाना उसकी सहभागिता और उसकी सक्रियता को आधार बनाकर आगे करने से ही देश का निर्माण और भला हो सकता है।

शोध प्रविधि:

प्रस्तुत शोध आलेख में गुणात्मक, मात्रात्मक प्रविधि का प्रयोग किया गया है। इस प्रविधि में द्वितीय आंकड़ो पर आधारित विषयों का अध्ययन करते हुए इसमे प्रमुख विधियों का प्रयोग किया गया है। जिनमे विवरणात्मक, अंतर्वस्तु विश्लेषण आंकड़ो का प्रयोग किया गया है।

73वें संविधान संशोधन दम तोड़ती पंचायत, पंचायती राज व्यवस्था को पुनर्जीवन प्रदान करने की दिशा में उठाया गया एक जबरदस्त कदम है। नवीन संशोधन के द्वारा पंचायती राज व्यवस्था सशक्त सुदृढ़ और स्वायत्तताशासी हो सकेगी और उसके पास

ऐसी शक्तियां, अधिकार, वित्तीय संसाधन उपलब्ध होंगे। जिनसे यह संस्थाएं स्वायत्तशासी संस्थाओं के रूप में कार्य कर सकेंगी। लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की अवधारणा को बनाए रखने के लिए पंचायती राज व्यवस्था को स्वस्थ स्वायत्तताशासी, आत्मनिर्भर बनाया गया है। पंचायतों को ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान किए गए हैं जिससे वह गांव की जनता में आर्थिक सामाजिक समानता व न्याय प्रदान कर सके।

73वें संविधान संशोधन के अंतर्गत कर्नाटक, मध्यप्रदेश व राजस्थान के क्रमशः 1993 और 1994 में पंचायती राज को नए अध्ययन पारित किए। देश के अन्य राज्यों में भी इसकी सार्थक क्रियान्वित की गई। पंचायत अधिनियम 1996 के प्रावधानों से आंध्रप्रदेश, बिहार, गुजरात हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र मध्यप्रदेश, उड़ीसा और राजस्थान के 8 राज्यों के जनजातीय इलाकों में पंचायतों की पंहुच हो गई है। यह अधिनियम 24 दिसंबर 996 में लागू हो गया है बिहार को छोड़कर सभी राज्यों में 996 से लागू हो गया है। बिहार राज्य को छोड़कर सभी राज्यों ने 1996 इस अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने वाले कानून पारित कर दिए हैं। इस प्रकार 73वें संशोधन अधिनियम ने ग्राम सभाओं को मान्यता महत्व देकर भारत के लोकतंत्र में एक नया आयाम जोड़ा है।

पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं की साझेदारी:

पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं की साझेदारी की बात करें तो पंचायती राज अधिनियम 1992 लागू होने से गांव की महिलाओं की स्थिति में काफी सुधार हुआ। वर्तमान समय में महिला आरक्षण को नए राज्य में 30% से बढ़ाकर 50% तक ग्राम पंचायतों में महिलाओं की भूमिका और साझेदारी बड़ी है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत में इस कानून के लागू होने से महिलाओं की स्थिति में काफी सुधार हुआ है। यही कारण है कि पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं की भूमिका और साझेदारी बड़ी है। एक और जहां ग्रामीण क्षेत्र की महिलाएं घुंघट में रहने के लिए विवश थी। उन्हें पंचायतों में भी बोलने का अधिकार नहीं था। वह अपने पति, पिता या अन्य रिश्ते नातेदारो पर निर्भर रहती थी महिलाओं की समस्या पर खुद नहीं बोल पाती थी।

लेकिन आज का समाज बदल रहा है। उन्हें इसके लिए अधिकार भी मिल रहे हैं। 1959 पंचायतों के विकास के लिए बलवंत राय मेहता समिति का गठन किया गया तो इस समिति ने महिलाओं की साझेदारी की बात कही समय-समय पर महिलाओं को सशक्तिकरण के लिए सरकार ने कई कदम उठाए। लेकिन पंचायती राज ग्रामीण भारत की महिलाओं के सशक्तिकरण में पत्थर के मील की तरह साबित हुई है। वर्तमान परिवेश में महिलाएं पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलती हुई नजर आती है। पंचायती राज व्यवस्था के जरिए लाखों महिलाओं को लोकतांत्रिक प्रशिक्षण मिल रहा है। वह हमारे समूचे राजनीति के चरित्र को प्रभावित कर रही हैं। पंचायती राज में महिलाओं के आरक्षण के कारण महिलाओं का दबदबा समाज में बढ़ता जा रहा है। आज देश में 2.5 लाख पंचायतों में लगभग 32 लाख प्रतिनिधि चुनकर आ रहे है। इनमें से 14 लाख 45.15 प्रतिशत से भी अधिक महिलाएं चुनकर आई है। यह आंकड़ा बताने के लिए पर्याप्त है कि किस तरह से महिलाएं राजनीति के क्षेत्र में अपनी भागीदारी कर रही हैं। महिलाओं की गांव में बढ़ती भागीदारी ना केवल महिलाओं के खुद के स्वाभिमान के लिए सकारात्मक संदेश है। बल्कि समूचे हिंदुस्तान के गांव में सामाजिक असमानता भी दूर होगी लिंग के आधार पर किए जाने वाली गैर बराबरी अब संभव नहीं रह गई है। महिलाओं का बढ़ता वर्चस्व उन्हें घर के अंदर और घर के बाहर की दुनिया में स्वतंत्रता से जीने में सहायता प्रदान कर रहा है। समाज व परिवार के अंदर होने वाली उत्पीड़न से और समाज की कुरीतियों से आज की महिला लड़ने में सशक्त हो चुकी है। पंचायतों में महिलाओं को आरक्षण का राज्यवार विवरण को अगर देखें तो आंध्र प्रदेश 22945, असम 2431, बिहार 9040, छत्तीसगढ़ 9982, हिमाचलप्रदेश 3330, झारखंड 3979 कर्नाटक 5833, केरल 1165, मध्यप्रदेश 23412, महाराष्ट्र 28277, उड़ीसा 6578, राजस्थान 9457, उत्तराखंड 7335, पश्चिम बंगाल 3713 पंचायतो की संख्या है।

पंचायती राज व्यवस्था में, हिमाचल प्रदेश में महिलाओं की भागीदारी:

हिमाचल प्रदेश में पंचायती राज अधिनियम 1952 के प्रावधानों के तहत वर्ष 1952 में हिमाचल प्रदेश में पंचायती राज प्रणाली एक वैधानिक रूप में स्थापित की गई थी। हिमाचल प्रदेश पंचायती राज अधिनियम में अधिनियमित होने से पहले केवल 280

ग्राम पंचायते शामिल थी। इस अधिनियम के अधिनियमित होने के बाद वर्ष 1954 में 466 ग्राम पंचायतों की स्थापना की गई थी। वर्ष 1962 के दौरान ग्राम पंचायतों की संख्या बढ़ाकर 628 कर दी गई। नवंबर 1966 स्कोर पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों में मिला दिया गया और परिणाम स्वरूप ग्राम पंचायतों की संख्या बढ़ाकर 1695 हो गई। पंजाब पंचायत समिति और जिला परिषद अधिनियम के प्रावधानों के तहत एक त्रिस्तरीय पंचायती राज प्रणाली अस्तित्व में आए इस राज्य में दो स्तरीय प्रणाली प्रचलित थी। पुराने और नए विलय वाले क्षेत्रों की पंचायती राज व्यवस्था में एकरूपता लाने की दृष्टि से हिमाचल प्रदेश पंचायती राज अधिनियम 1968 इस राज्य में 15 नवंबर 1970 को अधिनियमित किया गया था। राज्य में दो स्तरीय पंचायती राज प्रणाली की स्थापना की गई थी। इसके अलावा न्यायिक कार्यों के निर्वहन के लिए इस राज्य में न्याय पंचायते अस्तित्व में थी। लेकिन 1977 के दौरान न्याय पंचायतों को समाप्त कर दिया गया और न्यायिक कार्य को ग्राम पंचायतों में स्थानांतरित कर दिया गया। वर्ष 1970 में अधिनियम के लागू होने के बाद मौजूदा ग्राम सभाओं को समय-समय पर पुनर्गठित विभाजित किया गया और नई ग्राम सभा और ग्राम पंचायतों की स्थापना की गई।

पंचायती राज व्यवस्था में पंचायती चुनावों में हिमाचल प्रदेश की जमीनी राजनीति में केवल यही बदलाव नहीं है। महिलाएं उनके लिए 50% पर चुनाव लड़ने के अलावा, उनके लिए आरक्षित नहीं पंचायतों में पुरुषों को कड़ी टक्कर दे रही हैं। हिमाचल प्रदेश में महिलाओ कि पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्गत आरक्षण कहीं ना कहीं महिलाओं के लिए रामबाण सिद्ध हो रहा है। महिलाएं पंचायती राज व्यवस्था में बढ़-चढ़कर अपनी भागीदारी पर अपनी सहभागिता को दिखा रही हैं। कहीं ना कहीं आरक्षण के बढ़ने से महिलाओं के ऊपर एक सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। पंचायती राज व्यवस्था में आरक्षण के बढ़ने से महिलाओं में आत्मनिर्भरता और अपने आप को सशक्त करने की राह ज्यादा दूर नहीं है। जो कि इस आरक्षण के बढ़ने से हिमाचल प्रदेश के अंदर महिलाओं की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक भागीदारी को भी आगे आने वाले दिनों में सुनिश्चित करेगी।

हिमाचल प्रदेश में जिला कांगड़ा जोकि सबसे बड़ा और सबसे अधिक आबादी वाला जिला है। उस एक पंचायत में अनुसूचित जाति से आने वाली श्रीमती ममता देवी बातचीत करने पर पता चलता है। वह सोकनी द कोट हाशिए पर रहने वाले समुदाय से आती है। श्रीमती ममता देवी वर्तमान में दो अपनी पंचायतों के अध्यक्ष के रूप में दूसरा कार्यकाल संभाल रही है। यह पंचायत हिमाचल प्रदेश में जिला कांगड़ा के धर्मशाला ब्लॉक में स्थित है। उनसे बातचीत पर हमें पता चला कि किस तरह की निर्वाचित महिला नेता होने के बाद अपनी भूमिका में कैसे सफल होती है। इस क्षेत्र में प्रचलित पितृसत्तात्मक और पारंपरिक सामाजिक मानदंड पीछे करते हुए किस तरह से भी आगे बढ़ती जा रही हैं। प्रधान के रूप में उन्होंने अपने भीतर और बाहर सभी हित धारकों के साथ सकारात्मक संबंध बनाए पंचायत सहित स्थानीय विधायक मंत्री कॉर्पोरेट आदि सुनिश्चित करें कि उसकी गतिविधियां और नीतियों ने उनका विरोध करने वालों को अलग नहीं किया। उनकी परिपक्वता और सक्रिय जुडाव प्रदर्शित करके उनकी बातचीत और समस्या समाधान में प्रत्यक्ष और केंद्र दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए श्रीमती ममता देवी ने गरीब और हाशिए के परिवार के लोगों को एक साथ लाने सकारात्मक प्रदर्शन करने में सक्षम रही समुदाय और स्थानीय स्वशासन में परिवर्तन श्रीमती ममता देवी का मानना है कि 73वें संविधान संशोधन की मंशा और भावना की ही शक्ति है। कि पंचायत बनाने की दिशा में एक मजबूत राजनीतिक इच्छाशक्ति का साथ हासिल किया जा सकता है। बात करते हुए उनके संघर्ष के मुद्दे और चुनौतियां उन्होंने संबंधित पंचायत के अंदर होने वाले कार्यो को उन्होंने बहुत ही अच्छे तरीके से संभाला है। उनका भी मानना है कि कहीं ना कहीं महिलाओं को पंचायती राज व्यवस्था में बड़े आरक्षण से वह अपने आप को आत्मनिर्भर समझ रही है। उनको भी लग रहा है कि आने वाले समय मे अपनी सुदृढ़ता, आत्माविश्वास से अपनी भागीदारी को सुनिश्चित करेगी।

महिला सशक्तिकरण की पहल:

महिलाएं भारत की कुल आबादी का आधा हिस्सा है। राष्ट्र के विकास के कार्य में महिलाओं की भूमिका और योगदान पूरी तरह से सही परिपेक्ष्य में राष्ट्र निर्माण के कार्य को समझा जा सकता है। समूची सभ्यता में व्यापक बदलाव के लिए महत्वपूर्ण

घटक के रूप में महिला सशक्तिकरण आंदोलन बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक और सामाजिक विकास कहा जाना चाहिए। भारत जैसे देश में जहां लोकतांत्रिक तरीके से काम करने की आजादी है। एक परंपरा है। जनमत जीवन है। आधी आबादी की कल्याण में रुचि लेने वाले वर्ग विद्यमान है। पंचायती राज में महिला सहभागिता का स्त्रियों की दशा का दर्पण है। सामाजिक पारिवारिक परिवेश तथा परिस्थितियों में महिला नेतृत्व की स्थिति को स्पष्ट करता है। महिलाओं में साक्षरता की दर बढ़ रही है। गांव में भी बालिका शिक्षा का चलन हो रहा है। घूंघट की उनकी परंपरा थी पर अब इससे भी महिलाएं उभर रही है। महिलाएं भ्रूण हत्या को रोकने में सर्जक है। बाल मृत्यु दर भी कम हो रहा। ग्रामीण नेतृत्व की श्रेणी में 30 से 35 वर्ष की महिलाएं ज्यादातर निर्वाचित होकर पंचायती राज व्यवस्था में काम कर रही हैं। महिलाएं अपने शैक्षणिक स्थिति की दिशा को सुधारने में ज्यादा सोच रही है। महिलाओं में राजनीतिक जागृति और प्रशासनिक क्षमताओं का विकास होने लगा है। पंचायती राज के माध्यम से महिलाओं की नेतृत्व की क्षमता सामने आई है। विभिन्न सामाजिक योजनाओं की प्रगति से गांव में आर्थिक सामाजिक जीवन में काफी बदलाव हुआ है। गांव नए भारत के नए बाजार के रूप में उभर रहे हैं। पंचायतों के जरिए कहीं ना कहीं महिलाओं से जुड़ी हुई योजनाएं सीधे तौर पर महिलाओं तक पहुंच रही है। सरकार भी कोशिश कर रही है। कि इन संस्थाओं को अधिकार दिया जाए ताकि यह वित्तीय रूप से मजबूत हो। देश की पंचायती राज व्यवस्था में गांव में ज्यादा से ज्यादा योगदान महिलाओं का रहे। महिलाएं पंचायतो में सशक्त, आत्मनिर्भर बन सके। पंचायती राज व्यवस्था में महिला आरक्षण के बढ़ने से कहीं ना कहीं ग्रामीण राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं को चुनावों में प्राप्त प्रतिनिधित्व मिल पा रहा है। इस प्रतिनिधि को बढ़ाने की वह तरफ से स्थानीय स्वशासन केंद्रीय संस्थाओं में उनको मिल रही हैं। इस दृष्टि से पुरे विश्व में से भारत का उदाहरण महत्वपूर्ण है। क्योंकि यहां पंचायती राज में महिलाओं के लिए आरक्षण के कारण विश्व में स्थानीय स्वशासन के स्तर पर सबसे अधिक महिलाएं निर्वाचित हुई हैं। पुरुषवादी मानसिकता के शिकार लोग अक्सर यह तर्क देते रहते हैं कि निरक्षर महिला पंचायतों का कामकाज नहीं कर सकती हैं। लेकिन बहुत सारे सर्वेक्षणों के निष्कर्ष हुआ है कि महिला जनप्रतिनिधि शिक्षा के विस्तार के साथ ही ग्रामीण विकास को अभूतपूर्व गति प्रदान करने में

महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रही हैं। स्वयं निरक्षर होने के बाद भी यह महिलाएं नहीं चाहती कि इनके गांव में कोई भी व्यक्ति और बालिका अशिक्षित रहे और वह ज्यादा से ज्यादा महिला शिक्षा से जुड़ रहे हैं। इसी से यही लग रहा है कि महिलाएं चाह रही हैं कि जिन पंचायतों में व जनप्रतिनिधि के माध्यम से चयनित होकर आई है। उन पंचायतों में शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं का सशक्तिकरण गांव का विकास सुनिश्चित हो पंचायतों में महिला आरक्षण के लागू होते ही महिलाएं पंचायतों में चुनकर आई थी। लेकिन पंचायतों के काम उनके रिश्तेदार संभाल रहे थे। महिला आरक्षण और महिला सशक्तिकरण के सारे सपने ध्वस्त प्रतीत हो रहे थे। लेकिन धीरे-धीरे स्थिति बदली और पंचायतों के लिए चुने जाने वाली महिलाएं अपने पुरुष सुधारों के हाथ की कठपुतली मात्र नहीं रहेगी और महिला सशक्तिकरण के सपने को साकार कर रही हैं। पंचायती राज संस्थाओं में 50 फ़ीसदी महिला आरक्षण की व्यवस्था उसे यह महिलाओं में अधिक से अधिक आत्मविश्वास जगाएं और इससे समाज में क्रांतिकारी बदलाव और सुधार केंद्र व राज्य स्तर पर उनके प्रयास पंचायतों को सशक्त करने के लिए किए गए है।

निष्कर्ष:

प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्ष स्वरूप में हम कह सकते हैं कि पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओआरक्षण के बढ़ने के कारण महिलाएं स्वयं जागरूक और शिक्षित होकर अपने अधिकारों के महत्व को समझ रही हैं। आगे बढ़ कर अपनी भूमिका को सशक्त बना रही है। पंचायती राज व्यवस्था के आरक्षण का वास्तविक अर्थ साकार होता नजर आ रहा है। क्योंकि आरक्षण द्वारा महिलाओं को नेतृत्व की कमान सौंपी गई है। जिस कारण महिलाएं सशक्त आत्मनिर्भर बन सके। पंचायती राज में आरक्षण के कारण महिलाओं के विचार विमर्श प्रशिक्षण की सहायता से राजनीति में भी सक्रियता दिख रही है। हिमाचल प्रदेश में भी आरक्षण से जागरूकता आई है कि वे स्वयं सब कुछ कर सकती है। घर संभाल सकती है। देश को भी संभाल सकती है। महिलाओं की भागीदारी से गांव क्षेत्र में देश का विकास भी तीव्रता से होगा पंचायती राज व्यवस्था में जहां ग्रामीण क्षेत्रों की महिला प्रतिनिधियों ने कई तरह की समस्याओं का समाधान करते हुए सबका ध्यान अपनी और आकर्षित किया है। यह बढ़ा हुआ

आरक्षण महिलाओं के लिए रामवाण सिद्ध होने की प्रक्रिया में अग्रसर है। देश में सरकार को उन राज्यों में भी महिला आरक्षण 50 प्रतिशत करना चाहिए जहा अभी भी इस आरक्षण को लागु नहीं किया गया है क्योंकि इस से देश की सम्पूर्ण महिलाओं का समग्र विकास और सशक्तिकरण होगा।

संदर्भ सूची:

1. उषा ठोर, न. द. (2009). *भारतीय समाज में महिलाए.* नई दिल्ली: रास्ट्रीय पुस्तक न्यास.
2. चेत्नादित्य, अ. (2016). *महिला सशक्तिकरण.* नई दिल्ली: केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड.
3. पवार, य. (2016). *महिला सशक्तिकरण: फिर भी मंजिल अभि बाकी.* नई दिल्ली: केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड.
4. पांडेय, प. न. (2000). *ग्रामीण विकास एवं सरंचनात्मक परिवर्तन.* नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशजयपुरन.
5. महाजन, ए. (2009). *सामाजिक बदलाब के लिए शिक्षा.* नई दिल्ली: रास्ट्रीय पुस्तक न्यास.
6. महीपाल. (2017). *पंचायत में महिलाए.* नई दिल्ली: रास्ट्रीय पुस्तक न्यास.
7. राजकुमार. (2003). *भारतीय नारी ,सामाजिक अध्ययन.* नई दिल्ली: अर्जुन पुब्लिशिग हॉउस.
8. राजकुमार. (2005). *नारी के बदलते आयाम* . नई दिल्ली : अर्जुन पब्लिकेशन हॉउस.

वेबसाइट:

1. https://www.panchayat.gov.in/women-representation-in-pris
2. https://himachal.mygov.in/group/%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%9A%E0%A4%B2-%E0%A4%AA%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%

A6%E0%A5%87%E0%A4%B6-
%E0%A4%AA%E0%A4%82%E0%A4%9A%E0%A4%
BE%E0%A4%AF%E0%A4%A4%E0%A5%80-
%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%9C-
%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%AD%E0%A4%
BE%E0%A4%97

3. https://hi.vikaspedia.in/social-welfare

भारत विभाजन की त्रासदी का लैंगिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन

सुकान्त सुमन
पीएच.डी. हिन्दी
अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
मोबाईल-9015243700
ईमेल- sukantksuman@gmail.com

शोध सार- *भारत का विभाजन हिंदुस्तानी इतिहास की सबसे त्रासदपूर्ण घटनाओं में से एक है जिसने व्यक्ति, समाज, देश सबको बहुत बुरी तरीके से प्रभावित किया था। विभाजन और उससे उपजी हिंसा जहां एक ओर राजनैतिक स्तर पर देश के नेतृत्वकर्ताओं की असफलता को बयां करती है वहीं दूसरी ओर सामाजिक स्तर पर आपसी सद्भाव और भाईचारे को कमजोर करती है। इस दौरान हुई यौन हिंसा की घटनाएं समाज के स्तर पर पुरुषों की पितृसत्तात्मक मानसिकता, बर्बरता, क्रूरता और उनकी दमित यौन कुंठाओं को उजागर करती है। भारत विभाजन के दौरान पुरूषों की तुलना में महिलाओं ने हिंसा और बलात्कार के भयानक अनुभवों के साथ-साथ दोहरा विस्थापन का दर्द भी झेला है। विभाजन के दौरान महिलाओं द्वारा झेली जाने वाली हिंसा, बलात्कार, विस्थापन और उससे उपजी समस्याएं इतनी व्यापक हैं कि उनको अलग से देखे जाने की जरूरत है।*

बीज शब्द- *विभाजन, यौन हिंसा, स्त्री शुचिता, पितृसत्तात्मक मानसिकता, थोआ खालसा, विस्थापन, अपहरण, त्रासदी, संस्कृति।*

शोध आलेख- भारत का विभाजन इतिहास की उन त्रासदपूर्ण घटनाओं में से है, जिसने मानवता के स्तर पर क्रूरता की सभी सीमाएँ लांघ दी थी। इसने राष्ट्र को न केवल भौतिक स्तर पर प्रभावित किया, बल्कि सदियों से अर्जित भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के गौरव को भी क्षीण कर दिया। दुर्भाग्य से, भारत विभाजन के दौरान महिलाओं द्वारा झेली गई पीड़ा को शुरूआती इतिहास लेखन में यथोचित स्वर नहीं मिल सका। बँटवारे के कारण औरतों ने जो हिंसा झेली वह उनकी खामोशी की अनेक परतों के बीच कहीं दफन हो गई थी। परंतु कालांतर में कमला भसीन, ऋतु मेनन, उर्वशी बुटालिया, बेगम अनीस किदवई, कमलाबेन पटेल जैसी महिला कार्यकर्ताओं

और लेखिकाओं ने विभाजन की घटनाओं को स्त्रियों के परिप्रेक्ष्य में देखने और समझने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस क्रम में इन्होंने विभाजन के पश्चात् शरणार्थी कैंपों, दिल्ली, हरियाणा, पजांब और बंगाल के सीमावर्ती इलाकों में बंटवारे का दंश झेल रही महिलाओं के अनुभवों को जुबानी रिकॉर्ड किया और उसके आधार पर उन कारणों और परिस्थियों की भी पड़ताल की, जिसके कारण महिलाओं को बांकियों की अपेक्षा ज्यादा पीड़ा झेलनी पड़ी थी। कमला भसीन एवं ऋतु मेनन कहती हैं- "ऐसा नहीं है कि विभाजन संबंधी इतिहास लेखन में अथवा सरकारी आंकड़ों में महिलाओं की उपस्थिति नहीं है, परंतु उन्हें उसी तरह से देखा गया है जैसा कि इतिहास हमेशा से उन्हें देखता रहा है। अर्थात् यहां भी महिलाएं 'सब्जेक्ट' के रूप में न होकर एक 'ऑब्जेक्ट' के रूप में ही दर्ज हैं।...परंतु विभाजन संबंधी कोई भी दस्तावेज, तब तक अधूरा है जब तक कि वह स्त्रियों पर होने वाली हिंसा की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं करता है।"[1]

विभाजन के दौरान स्त्रियों पर होने वाली हिंसा एवं बलात्कार का सबसे बड़ा कारण यहां की रूढ़िवादी, पितृसत्तात्मक मानसिकता और दमित यौन कुंठाएं थी। भारत जैसे पितृसत्तात्मक समाज में व्यक्ति से लेकर समाज के स्तर तक 'स्त्री शुचिता' पर बहुत बल दिया जाता है। इस क्रम में समाज जहां एक ओर स्त्रियों की यौनाकांक्षाओं को नियंत्रित करने का प्रयास करता है, वहीं दूसरी ओर अपने पौरूष प्रदर्शन के लिए आसान शिकार के रूप में स्त्रियों की यौनिकता पर हमला करता है। इसलिए वह स्त्री को एक स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में देखने के बजाय या तो एक संपत्ति के रूप में देखता है या फिर उसे अपनी इज्जत से जोड़ कर देखता है। उर्वशी बुटालिया लिखती हैं- "यदि उपनिवेशवाद ने भारतीय पुरुषों को अपनी हिन्दू स्त्री की पहचान को एक भद्र महिला, अच्छी, मध्यवर्गीय हिंदू पत्नी और माँ, अपने पतियों की समर्थक के रूप में निर्माण और पुनर्निर्माण करने का मूलाधार दिया, तो स्वतंत्रता और इसके दूसरे स्याह पहलू बँटवारे, ने महिलाओं को राष्ट्र के सम्मान का प्रतीक बनाने का तर्काधार भी दिया।"[2] भारतीय समाज में शुरू से ही परिवार, समाज और राष्ट्र की

[1] Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in India's Partition, p.- 11, Rutgers University Press, Ed.- 1998

[2] बुटालिया, उर्वशी, खामोशी के उस पार, पृ. 148, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 2002

इज्जत और सम्मान को महिलाओं से जोड़ कर देखा जाता रहा है। 'भारत माता' अर्थात् राष्ट्र को जननी मानने की सोच इसी अवधारणा की पुष्टि करती है। इसलिए विभाजन के समय हिंदू-मुस्लिम दंगों के दौरान, धार्मिक वर्चस्व की लड़ाई में, भारत और पाकिस्तान के बहुसंख्यकों ने एक-दूसरे के गौरव और दर्प को आहत करने के लिए राष्ट्र के प्रतीक के रूप में महिलाओं को 'सॉफ्ट टारगेट' बनाया। एक राष्ट्र के प्रतीक के रूप में, महिलाओं की इज्जत को हमेशा राष्ट्र, जाति और देश से जोड़ कर देखे जाने की जो प्रवृत्ति रही है, उस पर ब्रिटेन के गार्जियन अखबार में सिख स्तंभकार सनी हुंदल लिखते हैं - "भारत और पाकिस्तान में राजनैतिक और पारिवारिक सत्ता के प्रतीक के रूप में महिलाओं का शरीर अत्यधिक प्रतिष्ठित और बहुमूल्य माना जाता है। पितृसत्तात्मक और सामंती समाजों में, महिलाओं को हमेशा संस्कृति और 'सम्मान' के वाहक के रूप में देखा जाता है। "पारंपरिक, रूढ़िवादी दक्षिण एशियाई संस्कृति में महिलाओं को काफी हद तक दबा कर रखा जाता है, जबकि आम धारणा यह है कि महिलाएं उस समाज में बेहद आदर और सम्मानपूर्वक अपना जीवन जीती हैं। लेकिन वास्तव में, उन्हें उस सम्मान के प्रतीक के रूप में देखा जाता है, तथा उसे बनाए और बचाए रखने के लिए उनके जीवन को उसी तरह के सांचे में ढाला जाता है। उन्हें समाज के बनाए उन आदर्शों से समझौता कर जीने की बिल्कुल आजादी नहीं है, जबकि पुरुषों के पास इन आदर्शों को निभाने की कोई बाध्यता नहीं है, वे तुलनात्मक रूप से ज्यादा स्वतंत्र हैं।"[1]

भारत विभाजन के दौरान हुए सांप्रदायिक हमलों की आड़ में महिलाओं का यौन शोषण और उनपर होने वाले हमले इसी मानसिकता की देन थी। इस क्रम में अगर व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाए तो विभाजन के दौरान महिलाओं को तीन स्तरों पर हिंसा का सामना करना पड़ा- पहले स्तर पर दूसरे समुदायों के सांप्रदायिक तत्वों के द्वारा उनका अपहरण, बलात्कार और धर्म परिवर्तन किया गया, दूसरे स्तर पर अपने पारिवार में ही उन्हें या तो आत्महत्या करने के लिए 'प्रोत्साहित' किया गया था या परिवार के सदस्यों के द्वारा ही उनकी इसलिए हत्या कर दी गई थी ताकि परिवार के

[1] Ghosh, Palash, Partition Of India And Pakistan: The Rape Of Women On An Epic, Historic Scale, https://www.ibtimes.com/partition-india-pakistan-rape-women-epic-historic-scale-1387601

सम्मान और धर्म की रक्षा की जा सके, तीसरे स्तर पर राज्य या राष्ट्र के रूप में भी उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा का सामना करना पड़ा जहां एक मिशन के रूप में उन्हें कहीं-कहीं जबरन 'बरामद' किया गया और एक महिला के रूप में कहीं न कहीं उनके नागरिक अधिकारों की हत्या की गई।

विभाजन के दौरान स्त्रियों द्वारा झेली गई यौन हिंसा की घटनाओं के संबंध में पलाष घोष लिखते हैं- "यौन हिंसा की भयावह बर्बरता के अलावा, बलात्कारियों द्वारा पीड़िता के शरीर पर ऐसे चिह्न बना दिए गए जो ताउम्र उनके शरीर पर मौजूद रहे। ये एक ऐसी चीज थी जिसके कारण सालों बीत जाने के बाद भी वे उस हादसे को कभी भूल नहीं सकती थीं। बलात्कारी, लड़कियों के शरीर को विकृत कर उन पर टैटू या वाक्य उभार देते थे जिसमें 'पाकिस्तान जिंदाबाद', 'जय हिंद' या हिंदू त्रिशूल या इस्लामिक अर्ध चंद्र जैसे प्रतीक बने होते थे जो उनकी राजनीतिक या धार्मिक कट्टरता को प्रदर्शित करता है।"[1]

इस प्रकार की घटनाएं दोनो समुदायों की ओर से व्यापक तौर पर देखी गई थी जो यह दर्शाती हैं कि कैसे राष्ट्र या धर्म की रक्षा करने के नाम पर हुए सांप्रदायिक दंगों में महिलाओं के शरीर को निशाना बनाया गया। उनके लिए महिलाओं का शरीर एक ऐसे वस्तु के रूप में था, जहां वे अपना धार्मिक और राजनैतिक वर्चस्व साबित कर सकते थे। सबसे बड़ी विडंबना तो यह थी कि जिस राजनीतिक, धार्मिक वर्चस्व को साबित करने के लिए दूसरे समुदाय के लोग महिलाओं के शरीर को निशाना बना रहे थे, उस से बचने के लिए अपने समुदाय और परिवार के पुरूष स्वयं अपनी ही स्त्रियों को मार रहे थे ताकि "इज्जत" को लूटने से बचाया जा सके। इस प्रकार दोनों ही परिस्थितियों में हिंसा का शिकार औरतों को ही होना था। यह एक ऐसी विचित्र और विंडबनापूर्ण स्थिति है जिसका इतिहास में कम ही जिक्र हुआ है। एक साक्षात्कार में चरन सिंह भाटिया नामक शख्स अपने चाचा की ऐसी ही कहानी सुनाते हुए बताते हैं- "उनकी छह बेटियां थीं, वे काफी अच्छी जिंदगी जी रहे थे और उनके मुस्लिम पड़ोसियों के साथ भी बहुत अच्छे संबंध थे। उन मुस्लिम पड़ोसियों ने उनसे कहा कि

[1] वही, https://www.ibtimes.com/partition-india-pakistan-rape-women-epic-historic-scale-1387601

वे अपनी बेटियों की शादी उनके बेटों से कर दें- इस तरह वे सभी संबंधी हों जाएंगे और उनका परिवार भी सुरक्षित रहेगा। वे बिना किसी डर के अपने गाँव में रह सकते थे। वह उनकी बात सुनता रहे और सहमति में सिर हिलाते रहे। उसी शाम, उन्होंने अपने परिवार के सभी सदस्यों को एक साथ बुलाया और अपनी तलवार से सभी का सर धड़ से अलग कर दिया, सभी 13 लोगों की मौत हो गई। फिर उन्होंने उनकी चिता जलाई, और अपने घर की छत पर चढ़ कर चिल्ला कर कहने लगे- बर्तन लै आओ। हुण लै आओ बरतन अपनियां। मेरियां थैईयां लै जाओं, तैयार ने व्याह वास्ते। (शादी करने वालों को ले आओ! अब अपने-अपने दूल्हे को ला सकते हो। मेरी बेटियों को ले जाओ, वे शादी के लिए तैयार हैं) और इतना कहते हुए उन्होंने खुद की भी जान ले ली।"[1]

सबसे अजीब बात तो यह थी कि परिवार के स्तर पर हो रहे इस सामूहिक हत्याकांड को समाज और 'सिस्टम' के द्वारा भी समर्थन मिल रहा था। इसका सबसे बड़ा उदाहरण था थोआ खालसा की घटना। थोआ खालसा (रावलपिंडी) में 90 औरतों द्वारा आत्मरक्षा के उद्येश्य से कुएं में कूद कर सामूहिक आत्महत्या करने की घटना को समाचार पत्रों में महिमामंडित किया गया। स्टेट्समैन ने तो अपनी रिपोर्ट में इस घटना की तुलना राजपूताना परंपरा के सती प्रथा (जौहर) से कर दी, इस प्रकार ऐसी घटनाओं को उस वक्त परंपरा के नाम पर स्वीकृति दी गई[2] जिसमें यह तर्क दिया गया था कि उन महिलाओं ने अपनी इच्छा से यह निर्णय लिया था, भले ही यह फैसला उनके व्यक्तिगत हितों के बजाय समुदाय के हित के लिए था। इसका कारण यह है कि समाज में पुरूष को रक्षक की भूमिका में देखे जाने की मानसिकता औरतों के अंदर काफी गहरे स्तर पर बसाई गई है, इसलिए जब पुरूष उनकी रक्षा करने में नाकाम रहे तो उन्होंने लड़ने और संघर्ष करने के बजाय आत्महत्या या बलिदान का रास्ता चुनने का फैसला किया। इस घटना की प्रशंसा करते हुए महात्मा गांधी भी एक

[1] Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in India's Partition, P.-48, Rutgers University Press, Ed.- 1998

[2]Nagpal, Himanshi, The Partition Of Bengal: Challenges Faced By Women And Migrants, https://feminisminindia.com/2017/07/24/partition-bengal-women-migrants/

जगह कहते हैं- "मैंने सुना है कि कई महिलाएं जो अपना सम्मान नहीं खोना चाहती थीं, उन्होंने अपने लिए मृत्यु को चुना। मुझे लगता है कि यह वास्तव में बहुत अच्छा है, क्योंकि मैं जानता हूं कि ऐसी चीजें भारत को बहादुर बनाती हैं। जब मैं ये सारी बातें सुनता हूं तो मैं खुशी से नाच उठता हूं कि भारत में ऐसी बहादुर महिलाएं हैं।"[1] देखा जाए तो शारीरिक शुद्धता पर इतना जोर दरअसल लैंगिकता के दमनकारी पितृसत्तात्मक समझ से जुड़ा है जो यौन शुचिता अथवा शरीर की अखंडता के विचार को पोषित करता है।

एक अन्य साक्षात्कार के दौरान मुन्नी नाम की लड़की अपनी चाची की विभाजन से जुड़ी कहानी बताती है- "मुसलमानों के डर से परिवार की सारी औरतें अपने बच्चों समेत खुद को मारने जा रही थी, केवल तीन महिलाएं ही थीं जिन्होंने खुद को तथा अपने बच्चों को मारने से मना कर दिया। उन सभी के लिए भी जहर के पैकेट तैयार रखे थे। साथ के सभी लोग उन्हें खुद को एवं बच्चों को समाप्त करने के लिए कहते रहे मगर चाची (वीरन) ने खुद जहर खाने और अपनी 13 साल की बेटी को जहर देने से इनकार कर दिया। बाद में वह खुद को यह कहते हुए सही ठहरा रही थी कि उसने ऐसा करने से इसलिए मना कर दिया था क्योंकि किसी न किसी को तो जिंदा रहना था ताकि अगर उस हादसे में पुरुष जीवित रह गए तो उनके लिए वे खाना बना सके, परंतु उसे अपनी 'कायरता', अपनी मौत को गले लगाने का 'साहस' न दिखाने के कारण काफी शर्मिंदगी झेलनी पड़ी।[2]

यहां इस महिला के तर्क को दो दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। एक तो यह कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी ये महिलाएं अपनी जिंदगी में खुद को प्राथमिकता देने के बजाए उन पुरुषों की सहूलियत के बारे में ही सोचती हैं जिन पर वे आर्थिक रूप से निर्भर रहती हैं। दूसरा यह कि हमारी सामाजिक संरचना में स्त्रियों का पालन-पोषण इस तरह से किया जाता है कि वे अपने जिंदा रहने की सार्थकता को भी पुरूषों

[1] Gupta, Srijan, Partition and Women: A narrative on Gender Violence, https://www.jstor.org/stable/40664128

[2] Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in India's Partition, p.- 54, Rutgers University Press, Ed.- 1998

के हित और सम्मान से जोड़कर देखने के लिए मजबूर होती हैं। वे इस समाज में केवल ऐसा जीवन ही चुन सकती हैं, जिसमें वह पुरूषों के काम आ सके। इसीलिए वह समाज की नजरों में अपनी 'कायरता' को छुपाने के लिए भी ऐसे तर्क का चयन कर रही है जिसे इस पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में स्वीकृति मिल सके। हालांकि यह भी एक तथ्य है कि वे पुरुष जो अपनी 'इज्जत' की खातिर महिलाओं के 'बलिदान' को जायज ठहरा रहे थे, उनमें से कई लोग विभाजन के बाद के दिनों में, एक पति और पिता के रूप में अपने घर की स्त्रियों को वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर करते रहे ताकि उनके परिवार का भरण-पोषण हो सके और वे जीवित रह सके। इस नई परिस्थिति में अब उन पुरुषों का 'जीवन' महिलाओं के सम्मान से अधिक जरूरी हो गया था। इसी प्रकार की एक और घटना का उल्लेख कैंप में उन दिनों काम कर रहीं सामाजिक कार्यकर्ता कमलाबेन पटेल ने किया है, जहां एक व्यक्ति ने अपने परिवार को बचाने के लिए अपनी बेटी की कुर्बानी दे दी। वे उस लड़की से मिलने के पश्चात अपना अनुभव बताती हैं- "2-3 दिनों के बाद वह अचानक रोने लगी। फिर उसने हमें बताया कि वहां के पुलिस इंस्पेक्टर ने उसके माता-पिता से कहा कि 'अगर तुम अपनी जमीन, अपनी बेटी और सोने-चांदी मुझे दोगे, तो मैं तुम सब को भारतीय कैंप में सही सलामत पहुँचा दूंगा।' तब उसके पिता ने हिंदुस्तान पहुँचाने के एवज में उस इंस्पेक्टर को 30 तोला सोना, अपना घर और अपनी बेटी सौंप दिया।"[1]

इन दो अलग-अलग तरह की परिस्थितियों में पुरूषों द्वारा महिलाओं के साथ किए गए बर्ताव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत-पाकिस्तान जैसे पितृसत्तात्मक और सामंती समाज में पुरूष एक ओर अपनी 'इज्जत' की शर्त पर महिलाओं की जिंदगी तक से समझौता नहीं करते हैं और दूसरी ओर जब अपनी जिंदगी बचाने की बात आती है तो कई बार वे महिलाओं की 'इज्जत' को ही दांव पर लगाने से चूकते नहीं हैं और उन्हें वे केवल भौतिक संपत्ति के रूप में देखते हैं।

सांप्रदायिक दंगों के दौरान महिलाओं का अपहरण एक बड़ा मुद्दा बन गया था। भारत में अपहृत मुस्लिम महिलाओं की संख्या का आधिकारिक अनुमान 50,000 था जबकि पाकिस्तान में अपहृत हिंदू और सिख महिलाओं की संख्या का

[1] वही, पृ. 78

आधिकारिक अनुमान करीब 33,000 लगाया गया।[1] इस तरह की रिपोर्टें जब काफी मात्रा में आने लगी तो सितंबर 1947 में, भारत और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री ने लाहौर में मुलाकात की और दोनों पक्षों की अपहृत महिलाओं को बरामद करने के लिए एक कार्यक्रम शुरू करने का फैसला किया। 1949 में अपहृत व्यक्ति (बरामदगी एवं स्थापन) अधिनियम को पारित किया गया था। इस अधिनियम के तहत, एक तारीख तय की गई थी और 1 मार्च, 1947 के बाद महिलाओं के धर्म-रूपांतरण और विवाह को मान्यता नहीं दी गई, इन महिलाओं को अपहृत व्यक्ति माना गया।[2] यह ऑपरेशन विभाजन के बाद 9 साल तक चला, जिसमें लगभग 22,000 मुस्लिम महिलाएं और 8000 हिंदू और सिख महिलाएं बरामद हुईं।[3] परंतु इन अपहृत महिलाओं की तलाशी का अभियान इतना आसान नहीं था क्योंकि सच्चाई तो यह थी कि लोग अभी भी सांप्रदायिकता की आग में जल रहे थे, और वे अपहृत स्त्रियों को वापस लौटा देने को अपनी हार के रूप में देख रहे थे। इसलिए एक ओर जहां तलाश करने गई महिला कार्यकर्ताओं को स्थानीय स्तर पर रेप और अपहरण की धमकियां मिलती थीं वहीं पुलिस के स्तर पर भी उन्हें कई बार सहयोग नहीं मिलता था। बावजूद इसके दोनों देशों में प्रयास जारी रहे। अपहृत महिलाओं की सबसे अधिक बरामदगी पंजाब (पूर्वी एवं पश्चिमी) में हुई थी, इसके पश्चात् जम्मू और कश्मीर और पटियाला में। पाकिस्तानी पंजाब के भीतर, गुजरात जिले में सर्वाधिक हिंदू एवं सिख महिलाओं को खोजा गया था वहीं भारतीय पंजाब, में पटियाला, फिरोजपुर और अमृतसर में सर्वाधिक मुस्लिम महिलाएं बरामद की गईं थीं।[4] कमला भसिन एवं ऋतु मेनन के अनुसार- दोनों देशों ने आठ साल की अवधि में ऐसी करीब 30,000 हिंदू, मुस्लिम एवं सिख महिलाओं को बरामद किया था। इनमें से मुस्लिम महिलाओं की

[1] वही, पृ. 70

[2]Nagpal Himanshi, The Partition Of Bengal: Challenges Faced By Women And Migrants, https://feminisminindia.com/2017/07/24/partition-bengal-women-migrants/

[3] Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in Indis's Partition, p.-70, Rutgers University Press, Ed.- 1998

[4] वही, पृ. 70

कुल संख्या-20728, हिंदू और सिखों-9,032 से काफी अधिक थी। अधिकांश महिलाओं की तलाश वर्ष 1947-50 के बीच की गई थी।[1]

अपहृत महिलाओं की बरामदगी में हिंदू सिख और मुस्लिम महिलाओं की तुलना करें तो इसमें काफी अंतर है। इस अंतर के पीछे भी वही विचार काम कर रहा है जो एक पितृसत्तात्मक समाज को पोषित करता है। हिंदू समाज में मुसलमानों की तुलना में स्त्रियों की यौन शुचिता पर ज्यादा बल दिया जाता है। इस तथ्य को कमला भसिन एवं ऋतु मेनन स्वीकारती हुई लिखती हैं- "ऐसा मेरा अनुभव था। हिंदू महिला यह महसूस करती थी कि यौन हिंसा, अपहरण ने उसे अपवित्र कर दिया है। इसलिए बेहतर है कि वह आत्महत्या कर ले। वहीं मुस्लिम महिलाएं ठीक ऐसा ही महसूस नहीं करती थी। यह उसके खून में नहीं था, परंतु यह हमारे खून में है। यह हमारा मनोविज्ञान है।"[2] ज्यादातर अपहृत मुस्लिम महिलाएं जिन्हें भारत में बरामद किया गया था उन्हें वापस पाकिस्तान भेज दिया गया था। उन महिलाओं की संख्या लगभग 12,000 थी और पाकिस्तान से बरामद कर हिंदुस्तान वापस भेजी गई हिंदू-सिख महिलाओं की संख्या करीब 9,000 या उससे थोड़ी कम थी। हमने उन्हें पंजाब के गाँवों और कस्बों से, जिनमें ज्यादातर गाँवों में तलाश किया था। वे नौ से दस हजार महिलाएं जो पाकिस्तान से वापस लायी गयी थीं, उन्हें हिंदुओं ने स्वीकार कर लिया था। क्यों? क्योंकि ये लोग भी शरणार्थी के रूप में यहाँ आए थे और पैसे की तंगी से जूझ रहे थे। इनके लिए उन महिलाओं को स्वीकार करने के पीछे आर्थिक वजहें ज्यादा थीं। इन महिलाओं के रूप में उनके पास घरेलू काम-काज करने के लिए एक गृहणी मुफ्त में उपलब्ध हो रही थी, इसलिए सब कुछ भूल कर वे वापस उन्हें स्वीकार कर रहे थे। ये लोग उन महिलाओं को इसलिए नहीं अपना रहे थे क्योंकि ये उनके प्रति उदारवादी सोच रखते थे, बल्कि इसके पीछे इनकी अपनी मजबूरी थी। हालांकि यह मुसलमानों के लिए इतना महत्व नहीं रखता था क्योंकि उनकी संस्कृति में महिलाओं को अपवित्र मानने की परंपरा वैसे नहीं है जैसे हिंदुओं में है। मुसलमानों में अपनी

[1] Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in Indis's Partition, p.-77, Rutgers University Press, Ed.- 1998

[2] वही, पृ. 76-77

स्त्रियों की 'यौन शुचिता' को लेकर वैसी समस्या नहीं थी इसलिए हिंदुस्तान से बरामद कर वापस लाई गई महिलाओं को अपनाने में उन्हें ज्यादा हिचकिचाहट नहीं हुई।[1]

हालांकि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि मुसलमान समाज में स्त्रियों को अपेक्षाकृत ज्यादा स्वतंत्रता है या मुसलमान समाज हिंदुओं की तुलना में महिलाओं के प्रति ज्यादा उदार हैं। स्त्री शुचिता के संदर्भ यह अंतर केवल और केवल अलग धार्मिक दृष्टिकोण और भिन्न सांस्कृतिक परंपरा के कारण दोनों समुदायों में देखा जा सकता है, परंतु सामाजिक स्तर पर दोनों समुदाय मजबूत पितृसत्तात्मक सोच को पोषित करते हैं जिसके अंतर्गत वे महिलाओं की यौनिकता और उनसे जुड़ी तमाम चीजों पर मजबूत नियंत्रण रखना चाहते हैं। विभाजन के दौरान दोनो समुदायों की ओर से स्त्रियों पर की गई बर्बर हिंसा इसी बात की पुष्टि करती हैं।

अपहृत स्त्रियों की बरामदगी और फिर उन्हें वापस अपने वतन भेजने का मामला बड़ा ही पेचिदा था, कुछ महिलाएं ऐसी थीं जो वास्तव में पीड़ित थी। दूसरे समुदाय के व्यक्ति द्वारा उनका शोषण किया जा रहा था। वे किसी भी हाल में वापस अपने वतन जाना चाहती थीं। वहीं दूसरी ओर ऐसी महिलाएं भी थीं जो नए हालात को या तो अपना चुकी थीं या समझौता कर इसे ही अपनी नियति मान बैठी थी, उनमें वापस फिर से नई जिंदगी शुरू करने की इच्छाशक्ति नहीं बची थी। ऐसे में यह पता लगाना बेहद मुश्किल था कि कौन वास्तव में अपने नए हालात में खुश है और कौन अन्य कारणों से वापस आने से मना कर रही है। इसलिए रिकवरी मिशन में महिलाओं के वास्तविक इच्छाओं की अनदेखी की गई। इस प्रकार एक नए-नए स्वतंत्र और लोकतांत्रिक देश में न केवल उन महिलाओं के नागरिक अधिकारों का दमन किया गया बल्कि भौतिक और मानसिक स्तर पर फिर से उन्हें एक और विस्थापन का दर्द झेलने के लिए मजबूर किया गया। कृष्णा थापर अपने 'रिकवरी मिशन' के दौरान के एक अनुभव का जिक्र करती हुई बताती हैं- "सन् 1950 के समय की बात है जब मुझे कुछ 21 मुस्लिम महिलाएं, जिन्हें हिंदुस्तान में बरामद किया गया था उन सबको सही-सलामत पाकिस्तान ले कर जाना था। वे वापस नहीं जाना चाहती थी, लेकिन ट्रिब्यूनल ने फैसला किया था कि उन्हें जाना ही होगा। वे सभी जवान और खुबसूरत

[1] वही, पृ. 92

लड़कियां थीं जिन्हें सरदारों ने अपना लिया था। वे वापस हिंदुस्तान में ही रहने की जिद कर रही थी क्योंकि वे सभी अपनी नई जिंदगी में बहुत खुश थीं। हमें उन्हें वापस ले जाने के लिए बल-प्रयोग तक करना पड़ा। मैं इस चीज से बेहद दुखी थी- वे पहले ही बहुत सारे कष्ट झेल चुकी थी और अब हम उन्हें वापस लौटने के लिए तब मजबूर कर रहे थे जब वे वहां से जाना नहीं चाह रही थी। परंतु मुझसे कहा गया- "ई तैं ऐवेयां राउला पा रियां ने, एन्दा ते फैसला हो चुक्का हैं, एन्नु ता भेजना ही है।" (ये लड़कियां बिना किसी बात के हंगामा कर रही हैं। इनका फैसला तो हो चुका है। इन्हें वापस जाना ही पड़ेगा।) वे महिलाएं काफी हताश थीं और हम जब तक अमृतसर पहुँच नहीं गए तब तक वे मुझे चिल्ला-चिल्ला कर लगातार कोसती ही रहीं।"[1]

इस प्रकार परिवार और समाज के स्तर पर महिलाओं को जिस पितृसत्तात्मक नजरिए से देखा जाता है, राज्यों ने भी कमोबेश महिलाओं को इसी नजरिए से देखा। गोयाकि स्त्री कोई संपत्ति है जिसे लूटने वाले के यहां से बिना उनकी इच्छा जाने उन्हें बरामद करना आवश्यक है। विभाजन के दौरान बेशुमार अपहरण, लूट और हिंसा की घटनाओं से यह स्पष्ट है कि दोनों राष्ट्र के नेता अपने-अपने देश की महिलाओं, बच्चों और नागरिकों की सुरक्षा करने में पूरी तरह से विफल हो चुके थे। इसलिए इस रिकवरी मिशन को एक तरह से उन विफलताओं को ढकने के प्रयास के रूप में भी देखा जाना चाहिए। एक नए-नए आजाद और लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिए इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है कि जिन महिलाओं की मुक्ति के लिए यह अभियान चलाया गया था उसमें उन्हीं की इच्छाओं ओर सहमति के लिए कोई स्थान नहीं था। पहले नागरिक के रूप में दूसरे समुदाय के पुरुषों ने उन महिलाओं को बंधक बनाया, बिना उनकी इच्छा के उनसे शादी की, उन्हें अपने वतन जाने से रोका और अब राज्य उनकी जिंदगी और मानसिक जटिलता को समझे बगैर उन्हें ऐसे नियम के तहत वापस ला रही थी जिसमें एक बार फिर से उनकी सहमति लेने की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई थी। परिणामस्वरुप इस रिकवरी मिशन में कई बार महिलाओं के साथ यंत्रवत व्यवहार किया गया, कई मामलों में उनकी लगभग बस चुकी जिंदगी को फिर से उजाड़ दिया गया और कई जगह न चाहते हुए भी दुबारा उन्हें वापस अपने

[1] वही, पृ. 77

वतन भेजा गया जहां फिर से वे कैंप की बदहाल जिंदगी जीने के लिए मजबूर हुईं। वापस घर पहुँचने के बाद भी वे अपने परिवार और समाज में पुरानी प्रतिष्ठा हासिल नहीं कर पाईं।

इस प्रकार, देखा जाए तो भारत विभाजन के दौरान पुरूषों की तुलना में महिलाओं ने हिंसा और बलात्कार के भयानक अनुभवों के साथ-साथ दोहरा विस्थापन का दर्द भी झेला है। विभाजन कई महिलाओं के लिए उनके जीवन को पूरी तरह से बदल देने वाली घटना थी, जिन्हें पुरुषों के हाथों क्रूरता का सामना करना पड़ा। उन्हें अपने घरों और जिंदगी से उखाड़ कर एक अज्ञात दुनिया में फेंक दिया गया जहां वे अपने सामाजिक जीवन से बिल्कुल कट गई थी, इस प्रकार विभाजन जनित त्रासदी ने उन्हें भौतिक और भावनात्मक दोनों ही स्तर पर पूरी तरह से अलग-थलग कर दिया था।

संदर्भ सूची

1. Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in India's Partition, p.- 11, Rutgers University Press, Ed.- 1998
2. बुटालिया, उर्वशी, खामोशी के उस पार, पृ. 148, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 2002
3. Ghosh, Palash, Partition Of India And Pakistan: The Rape Of Women On An Epic, Historic Scale,https://www.ibtimes.com/partition-india-pakistan-rape-women-epic-historic-scale-1387601
4. वही,https://www.ibtimes.com/partition-india-pakistan-rape-women-epic-historic-scale-1387601
5. Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in India's Partition, P.-48, Rutgers University Press, Ed.- 1998

6. Nagpal, Himanshi, The Partition Of Bengal: Challenges Faced By Women And Migrants, https://feminisminindia.com/2017/07/24/partition-bengal-women-migrants/
7. Gupta, Srijan, Partition and Women: A narrative on Gender Violence, https://www.jstor.org/stable/40664128
8. Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in India's Partition, p.- 54, Rutgers University Press, Ed.- 1998
9. वही, पृ. 78
10. वही, पृ. 70
11. Nagpal Himanshi, The Partition Of Bengal: Challenges Faced By Women And Migrants, https://feminisminindia.com/2017/07/24/partition-bengal-women-migrants/
12. Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in Indis's Partition, p.-70, Rutgers University Press, Ed.- 1998
13. वही, पृ. 70
14. Menon, kamla & Bhasin, Ritu, Borders & Boundaries- Women in Indis's Partition, p.-77, Rutgers University Press, Ed.- 1998
15. वही, पृ. 76-77
16. वही, पृ. 92
17. वही, पृ. 77

'नयी पौध' में बेमेल विवाह की समस्या

ज्योति
पीएच. डी. (हिंदी) दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क – 9555147931

शोध सार

प्रस्तुत शोध में भारतीय समाज में व्याप्त बाल – विवाह, बेमेल विवाह जैसी गंभीर समस्या को केंद्र में रखकर लिखा गया है। भारतीय समाज का ढांचा पितृसत्तात्मक है। जिसमें समाज एवं परिवार का नेतृत्व एक मुखिया के रूप में पुरुष करता है। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण समाज में स्त्री के सीमित दायरे बने हुए है। नागार्जुन ने अपने उपन्यास 'नई पौध' के माध्यम से इसी गंभीर समस्या को उजागर किया है। नागार्जुन एक प्रगतिशील लेखक है। उपन्यास में प्राचीन रूढ़ियों एवं नई पीढ़ियों के द्वंद्व को उन्होंने दर्शाया है। भारतीय समाज में बाल – विवाह, बेमेल विवाह एक गंभीर समस्या है जो भारतीय समाज की परंपरावादी पितृसत्तात्मक सोच एवं रूढ़िवादी विचार को प्रदर्शित करता है।

बीज शब्द

भारतीय समाज, पितृसत्ता, सामाजिक संरचना, विवाह संस्था, नवजागरण आंदोलन, अनमेल विवाह, रीति- रिवाज़।

शोध आलेख

भारतीय समाज में नारी की छवि कुछ धुंधली है। जहाँ उसे एक देवी, माता जैसा अत्यंत उच्चतर स्तर दिया गया है एवं हमारा भारतीय मानचित्र भी एक स्त्री को प्रस्तुत करता है। जहाँ स्त्री के अनेक रूप है जैसे दुर्गा, काली, चंडी जो एक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। वह मन में भय और श्रद्धा दोनों जगाती है। वह रक्षा कर सकती है और भिन्न परिस्थितियों में विनाशलीला भी कर सकती है। प्रसन्न होने पर प्रत्येक इच्छा पूरी कर सकती है, क्रुद्ध होने पर वह अभूतपूर्व विभीषिका ला सकती है देवता उसके समक्ष स्वयं को असहाय पाते है और जब वह सक्रिय होने का निर्णय करती है तब वे हस्तक्षेप नहीं करते। उसकी कुछ विशेषताएं सभी स्त्रियों में सन्निहित मानी

जाती है। लेकिन स्त्री की एक और तस्वीर है और इसे भी धार्मिक लेखन तथा लोकगीतों में प्रबल समर्थन प्रदान किया गया है। और दूसरी और उसे चंचल और कमजोर माना जाता है। वह एन्द्रिक, बहकाने वाली मिथ्यावादी, मूर्खता, लालच, धूर्तता, अपवित्रता में प्रवृत्त तथा बिना विचारे काम करने वाली है। उसके इस तथाकथित असंगत चरित्र के कारण उसे कठोर नियंत्रण में रखना आवश्यक है।

प्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने अपनी एक बहुप्रसिद्ध चौपाई में स्त्री को, शूद्रों, गंवारों और ढोल के साथ रखा जाता है। जिन्हें जन्मार्ग पर रखने के लिए ताड़ना की आवश्यकता है।

ढोल गंवार सूद्र पसु नारी।

सकल ताड़ना के अधिकारी।।

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज रहा है जहाँ परिवार एवं समाज में पुरुषों का वर्चस्व रहा है पितृसत्ता पुरुष के प्रभुत्व और स्त्री की अधीनता को मान्यता देती है। पितृसत्ता सारी दुनिया की धरती और स्त्री देह यानी उत्पादन और उत्पत्ति के सभी साधनों पर पुरुषों का 'सर्वाधिकार सुरक्षित' है। उत्पादन के साधनों पर कब्ज़े के लिए उत्तराधिकार कानून और उत्पत्ति यानी स्त्री देह पर नियंत्रण के लिए विवाह संस्था की स्थापना (षड्यंत्र) बहुत सोच समझ कर की गई है। पितृसत्तात्मक समाज में अब तक पूँजी पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुरुषों को पुत्राधिकार में मिलती रही है। आगे भी मिलती रहेगी। पितृसत्ता एक ऐसी संस्था से जिसके ज़रिये अब संस्थाओ के एक खास समूह को पहचाना जाता है पितृसत्ता को सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है और वह उनका शोषण और उत्पीडन करते है।

भारतीय समाज में जो विवाह की परम्परा है उसमे स्त्री अपना घर छोड़ के पति के घर चली जाती है और वह उस घर की स्थायी सदस्य ही जाती है। विवाहसंस्था का मूल उद्देश्य स्त्री देह पर नियंत्रण है। विवाह में स्त्रियों का शोषण मूल रूप से किया जाता है है।

बाबल तेरा देस में, एक बेटी एक बैल।
हाथ पकड़के दीना जामे, परदेसी गैल।।[1] (- सादल्ला , मेवाती जन- कवि)

स्त्री को जागरूक करने के लिए राजा राम मोहन राय, दयानंद सरस्वती, बंगाल के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि ने अन्दोलन किये। जैसे सती उन्मूलन (1829), विधवा विवाह(1856), कन्या शिशु हत्या(1870), विशेष विवाह अधिनियम(1872) के तहत अंतरसमुदाय विवाहों की अनुमति, बाल विवाह विरुद्ध कानून बनाया गया(1929), मद्रास प्रान्त में स्त्रियों को मताधिकार मिला(1921) । यह सभी प्रयास स्त्री की दशा में सुधार लाने के लिए किया। ज्योतिरबा फुले ने स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया।

भारत में स्त्री शिक्षा पुरुषों के मुकाबले बहुत कम है। परिवार में बेटे की इच्छा को लेकर चलते हुए भ्रूण हत्या होती है। जिसमे बेटी कोई पैदा ही नही करना चाहता। सबको बेटा ही चाहिए। और भ्रूण हत्यायें होती हैं जिसके चलते लिंगानुपात असमान है। लड़की सबको बोझ लगती है। दहेज़- प्रथा के चलते भी कोई लड़की पैदा नही करना चाहता। लड़की हो जाये उसका विवाह जल्दी कराने की सोचते है। यही सोच बेमेल विवाह का एक कारण भी है। जिसमे कम उम्र की लड़की की शादी उससे अधेड़ उम्र के व्यक्ति से करवा दी जाती है। यदि हम इतिहास पर नज़र डाले तो पायेंगे की समाज- सुधारको ने समाज को जागरूक करने का निरंतर प्रयास किया है। जिसमे राजाराम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन ने एक बिल पास करवाया। बाल- विवाह निरोधक अधिनियम 1929 और हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा जिसमे दूल्हे की उम्र 21, लड़की की 18 ।

विवाह संस्था (धर्म) पत्नी, पति की संपत्ति भी और घरेलू गुलाम भी है। समाज में विवाह जिसमे स्त्री- पुरुष को विवाह के बंधन में बंधना होता है। यह स्त्री के लिए एक अनिवार्य शर्त है। विवाह की अपनी कुछ रीति- रिवाज़ है जैसे अनमेल विवाह, दहेज़-प्रथा, बाल- विवाह। प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'निर्मला', में भी विवाह

[1] पृष्ठ संख्या ४०, औरत होने की सज़ा, अरविन्द जैन, प्रकशन राजकमल पेपर बैक्स, संस्करण २००६

की समस्या को उजागर की है। अनमेल विवाह तो तो ऐसी समस्या है जो आज भी किसी न किसी रूप में बरकरार है। भारतीय ऐसा भारत के कई राज्य में होता है। और सबसे बड़ी बात इसको समाज की स्वीकृति प्राप्त है। अनमेल विवाह को लेकर भारतीय सिनेमा जगत में बहुत सी फिल्मे एवं धारावाहिक बने है। जिसमे बालिका वधू, बंदिनी, मोलकी आदि भारत में राजस्थान, हरियाणा, उत्तर- प्रदेश कुछ गाँवों में अनमेल विवाह होता है।

'नयी पौध' जो नागार्जुन द्वारा रचित उपन्यास है। हम भलीभांति परिचित है कि नागार्जुन एक प्रगतिशील लेखक है। तथा इनकी रचनाओं में प्रगतिशील चेतना दिखाई देती है। नयी पौध में नागार्जुन ने बेमेल विवाह की समस्या को उजागर किया है। इसमें द्वन्द दिखाया गया है प्राचीन विचार-धारा तथा नयी विचार धारा का।

'नयी पौध' 1953 में प्रकाशित हुई। जिसमे अनमेल विवाह की समस्या को दर्शाया गया है। किन्तु उसका निरूपण नई पीढ़ी के विजय के रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यास में मुख्य समस्या साठ वर्षीय चतुरानन चौधरी से 14 वर्षीय बिसेसरी के विवाह के तय होने से शुरू होता है। चतुरानन चौधरी नौ सो रूपये में सौदा कर चौदह वर्षीय बिसेसरी के साथ विवाह के सुन्दर सपने देखता है। खोखा पंडित ने अपनी छहों बेटियों को बेच डाला महेसरी 1100, भुवनेश्वरी 800, गुनेसरी 700, गुन्जेसरी 1000, वानेसरी 700, धनेसरी 900 किन्तु शादी के उपरान्त कोई सुखी नहीं थी। सबका शोषण किसी न किसी रूप में किया गया। किसी को जलाया, किसी को दहेज़ के लिए परेशान किया। परन्तु बिसेसरी का विवाह नवयुवको ने नहीं होने दिया। जो बमपाटी नाम से प्रसिद्ध है। इसी बमपाटी दल के नवयुवको ने इस अनमेल विवाह का विरोध किया। जिससे चतुरानन चौधरी को खाली हाथ लौटना पड़ा। इस उपन्यास की मूल समस्या ही नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष है। इस उपन्यास में एक और जहाँ नवयुवको के वर्चस्व को दर्शाया गया है। वही गाँव के मुखिया की देशभक्ति का यथार्थ रूप प्रकट किया गया है।

खोखा पंडित जो सामंती जीवन जीते है और अंग्रेजों का गुणगान करते है। इस उपन्यास में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध नई पीढ़ी को लेखक ने चित्रित किया है। नई पीढ़ी के नवयुवको ने गाँव में चल रही समस्त असामाजिक परम्पराओं का विरोध किया है। नई पीढ़ी के इस विद्रोही रूख को देखकर चौधरी संत्रस्त होकर पुरानी पीढ़ी के पराजय को विवश होकर स्वीकारते है। इस उपन्यास में मुखिया चतुरानन चौधरी, फतुरी ठाकुर जैसे चरित्रों के माध्यम से रचनाकार ने इन चरित्रों का पर्दाफाश किया है जो अपने चेहरे पर नकाब लिए रहते है। अपनी स्वार्थ सिद्धि ही जिनका उदेश्य रहता है। गाँव के विभिन्न स्तर और परिस्थितियों में जीते हुए लोग किस प्रकार धीरे- धीरे राजनीतिक चेतना की और अग्रसर हो रहे है। इसका उपन्यास में मार्मिक चित्रण किया है।

नई पीढ़ी के नवयुवको ने गाँव में चल रही समस्त असामाजिक परम्पराओं का विरोध किया। नई पीढ़ी के नवयुवकों के इस विद्रोही रूख को देखकर चौधरी संत्रस्त होकर पुरनी पीढ़ी के पराजय को विवश होकर स्वीकारते है। युवको के विद्रोही तेवर का कहीं विरोध नहीं हुआ ऐसा नहीं है। गाँव के तथाकथित स्थापितों ने इसका विरोध किया था। इन्हीं में घटकराज और खोखा पंडित थे। गाँव के ये नवयुवक लड़के जो आस- पास के गाँवों में पढ़ते लिखते थे और जिन्होंने गाँव में अपना दल बनाया था। जो नहीं चाहते थे इस तरह का अनमेल विवाह हो। गाँव के इन्हीं नवयुवको ने चीनी और केरोसिन के बंटवारे में धांधली करने वालो को सिखाया था। काला बाजारी करने वालों मुखिया के विरोध में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पास दरख्वास्त देकर अपने विरोधी तेवर का रूख बता दिया था। नवयुवको के बमपाटी दल की गाँव में काफी धाक थी और गाँव के 'गरीब- गुरबा' बड़ो की आँख बचाकर इन नवयुवको से बातचीत करने लगे थे। उपन्यास में ऐसे अनेक प्रसंग आयें है जहाँ पर गाँवों में चल रही पुरानी और नई पीढ़ी के संघर्ष को दर्शाते हुए नवयुवको के बढ़ते प्रभाव और वर्चस्व को बताया गया है।

अतः उपन्यास के नाम में ही प्रतीत होता है नयी पौध अर्थ हुआ नई विचारधारा का प्रस्फुटन। जो सामंती विचारों का खंडन करती है। यह विचारधारा तर्कों का हवाला देती है

यदि हम वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारत की स्थिति में विवाह को देखे तो आज भी यह समस्या विद्यमान है। आज यह नियम लागू है की किशोरी कन्या का विवाह 18 वर्ष से पूर्व नहीं हो सकता। परन्तु आज भी लड़की का विवाह कम उम्र कर दिया जाता है। भारतीय परिवारों की यह विडम्बना है की उनके लिए बेटी की शिक्षा से ज्यादा उनका विवाह जरूरी है। आज भले यह बड़े शहरों में ऐसा न हो पर गाँव में आज भी लोग पुरानी विचारों को लेकर चलते है। वह बेटियों को शिक्षित नही करना चाहते। विवाह के लिए वह आज भी उचित वर की तलाश नहीं करते है। लड़का लड़की से 20 साल बड़ा है, 30 साल बड़ा है, उसकी पहले भी शादी हो रखी है, वह बूढ़ा है आज भी बेटी के माता- पिता अपनी बेटी की शादी ऐसे लड़के से कर देते है।

अगर हम स्त्री की इस स्थिति का आंकलन करे तो पायेंगे की स्त्री की दयनीय स्थिति का मुख्य कारण उनकी आर्थिक स्थिति है। स्त्री आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण हमेशा कभी पिता, फिर पति, फिर बेटे पर निर्भर रहती है। 'मनुस्मृतिः' में कहा भी गया है।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥[1]

बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र स्त्रियों की रक्षा करे, स्त्री कभी स्वतंत्र न रहे॥

आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण आज भी स्त्री पुरुष पर किसी न किसी रूप में निर्भर है। अगर समाज में बेटी को भी आत्मनिर्भर बनाने की बात कही जाए तो शायद उनकी स्थिति कुछ बदले। उन्हें शिक्षित किया जाए ताकि वह अपने

[1] पृष्ठ संख्या २९३,मनुस्मृति, पण्डित रामेश्वरभट्ट कृत्या, सम्यक प्रकाशन, प्रथम संस्करण २०१५

पैरो पर खडी हो सके। पर उनको शिक्षित नही किया जाता। यदि वह शिक्षित हो तो कम से कम घरेलू हिंसा का शिकार कम हो।

जब हम शोषण की बात करते है तब हमे एक समुदाय, गुलाम- व्यवस्था, जाति- व्यवस्था, का उद्धरण दिखता है। किन्तु स्त्री शोषण आधी आबादी का शोषण है जिसका हर समुदाय, हर तबके, हर वर्ग में शोषण किया जाता है। आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण वह ऐसा जीवन जीने के लिए बाध्य है। इसलिए स्त्री 'अस्मिता' को लेकर सवाल आज भी उठ रहे है।

वर्तमान संदर्भ में यदि हम स्त्री की स्थिति देखे तो वो वह ज्यादा भिन्न नही है आज भी स्त्री का शोषण हो रहा है। आज भी दहेज़- प्रथा है, अनमेल विवाह है जिसमे एक लड़की का विवाह उससे उम्र-दराज व्यक्ति से करवा दिया जाता है। और यह सब जनसमुदाय को सही प्रतीत होती है। हालाकि समय- समय समाज- सुधारको ने जनसमुदाय कप जागृत करने का प्रयास किया। साहित्य जगत में भी प्रेमचंद, नागार्जुन जैसे लेखको ने समाज को को जागरूक करने का प्रयास भी किया। आज के समय में देखते हुए ऐसा लगता है कि यह व्यवस्था में ढल चुकी है लोग इसका खुद ही स्वीकार है।

भारतीय समाज में भी यदि स्त्री शिक्षा पर भी उतना दवाब दिया जाए जितना पुरुष की शिक्षा पर दिया जाता है। तो शायद भारतीय मानसिकता कुछ बदले।

संदर्भ सूची

आधार ग्रन्थ

1 . नयी पौध, नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 1988, छठा संस्करण 2018

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 . स्त्री- पुरुष कुछ पुनर्विचार, राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2000, 2007, आवृत्ति 2019

2 . भारतीय समाज, श्यामचरण दुबे, अनुवाद वंदना मिश्र,राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण ; 1985,

नौवी आवृति 2020

3 .औरत होने की सज़ा, अरविन्द जैन, राजकमल पेपरबैक्स, पहला संस्करण 1996, परिवर्द्धित संस्करण 2003

4 . नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, संपादन- साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, हिंदी माध्यम

कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्विद्यालय, प्रथम संस्करण 2001, पांचवा 2015

5 . नारीवाद, वी. एन.सिंह, जनमेजय सिंह, रावत पब्लिकेशन, संस्करण 2013

6. मनुस्मृति, पण्डित रामेश्वरभट्टकृतया, सम्यक प्रकाशन , प्रथम संस्करण 2015

पत्र एवं पत्रिकाएँ

समकालीन भारतीय साहित्य, साहित्य अकादेमी की द्वैमासिक पत्रिका, मई- जून, 2020

'माधवी': पुरुषार्थ और मान्यताएँ

मेघा
शोधार्थी पीएच.डी(हिंदी)
जामिया मिल्लिया इस्लामिया

शोध सार

साहित्य में समय, समाज और सृजन तीनों का समावेश होता है इसलिए किसी भी साहित्यिक रचना को समझने के लिए उसके पीछे छिपी रचना-दृष्टि की समझ एक प्रकार से वांछनीय हो जाती है। यह बात उस स्थिति में तो लाज़िमी हो जाती है, जब एक रचनाकार की रचना-दृष्टि के विकास में किसी विचारधारा से जुड़ाव का घोषित तौर पर सीधा असर रहा हो। हिंदी साहित्य में भीष्म साहनी एक ऐसे ही रचनाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। हिंदी साहित्य के सामाजिक-यथार्थवादी लेखन की 'प्रगतिशील लेखन परम्परा' में वे न केवल शामिल रहे बल्कि ताउम्र 'भीष्म' की तरह अविचल और अडिग भी रहे। विचारधारा उनके लिए कोरी बौद्धिक लफ़्फ़ाज़ी न हो होकर जीवन-दृष्टि की निर्धारक थी। भीष्म साहनी ने 'माधवी' नाटक की रचना 1984 में की। अपने पौराणिक कथानक के कलेवर में यह नाटक दरअसल स्त्री- पुरुष संबंधों को आधुनिक जीवन-संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। विमर्श की दृष्टि से देखा जाए तो यह एक 'नारीवादी नाटक' है।

बीज शब्द

साहित्य, समाज, स्त्री, नाटक, प्रश्न, विचारधारा, जीवन, विमर्श

शोध आलेख

विश्व के विभिन्न समाज में 'नारी की स्थिति' के इतिहास पर नज़र डालें तो सहज ही यह पाएगें कि सामाजिक विकास के विभिन्न चरणों में नारी की स्थिति चाहे अच्छी मानी गयी हो या बुरी मानी गयी हो, पर कहीं भी उसे पुरुषों के समतुल्य नहीं माना गया है। लिहाजा स्त्री और पुरुष के बीच समकक्षता या समतुल्यता के बौद्धिक विमर्शों से एक वैचारिक आन्दोलन का ठोस आधार तैयार हुआ। विकास की अगली कड़ी

में इस आंदोलन से कई धाराएं फूटीं, जिसने देश, काल और परिस्थितियों के मुताबिक अलग-अलग स्वरुप धारण किये।

स्त्रियों के लिए 'बराबरी वाली हक़दारी' की मांग करने वाले ये वैचारिक संघर्ष तकरीबन सभी बौद्धिक अनुशासनों में अपनी जगह बनाने में कामयाब भी हुए। ज़ाहिर है कि साहित्य भी इससे अछूता न रहा। बल्कि ऐसी स्थिति में साहित्य की भूमिका और भी अहम होती चली गयी। क्योंकि साहित्य अपने समय के सामाजिक यथार्थ का जीवन्त दस्तावेज़ होता है। समय सापेक्षता साहित्य को युगीन परिस्थितियों को जानने समझने का एक उपकरण तो बनाती ही है, साथ ही उसे अपने दौर में हो रही सामाजिक हलचलों में सक्रिय हस्तक्षेप करने का एक सशक्त माध्यम भी बनाती है।

चूँकि साहित्य में समय, समाज और सृजन तीनों का समावेश होता है इसलिए किसी भी साहित्यिक रचना को समझने के लिए उसके पीछे छिपी रचना-दृष्टि की समझ एक प्रकार से वांछनीय हो जाती है। यह बात उस स्थिति में तो लाज़िमी हो जाती है, जब एक रचनाकार की रचना-दृष्टि के विकास में किसी विचारधारा से जुड़ाव का घोषित तौर पर सीधा असर रहा हो। हिंदी साहित्य में भीष्म साहनी एक ऐसे ही रचनाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। हिंदी साहित्य के सामाजिक-यथार्थवादी लेखन की 'प्रगतिशील लेखन परम्परा' में वे न केवल शामिल रहे बल्कि ताउम्र 'भीष्म' की तरह अविचल और अडिग भी रहे। विचारधारा उनके लिए कोरी बौद्धिक लफ़्फ़ाज़ी न हो होकर जीवन-दृष्टि की निर्धारक थी। विचारधारा के संदर्भ में भीष्म साहनी की यह धारणा है कि 'यह जीवनदृष्टि को प्रभावित करेगी और मेरी रचनाएँ भी मेरी जीवनदृष्टि के अनुरूप होगी'।

उपन्यासकार एवं कहानीकार के रूप में एक लम्बी रचना-यात्रा के बाद भीष्म साहनी नाटकों की दुनिया में दाख़िल हुए। अपने स्वाभाव के मुताबिक बड़े ही शांत, संयत और सादगीपूर्ण तरीके से कुल 6 नाटकों की रचना की। निस्सन्देह उनके सभी नाटक अपने लक्षित वर्ग (पाठक और दर्शक दोनों) का ध्यान अपनी ओर खींचने में काफी हद तक सफल रहे हैं। वस्तुतः साहनी जी साहित्य को परिवर्तन का

एक ज़रिया मानते रहे हैं। उनकी निगाह में साहित्य का उद्देश्य महज आनंदित करना नहीं, बल्कि आंदोलित करना भी है। उन्होंने साहित्य को केवल अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित न रखकर सकारात्मक सामाजिक हस्तक्षेप का साधन बनाने का सफल प्रयास किया।

भीष्म साहनी ने 'माधवी' नाटक की रचना 1984 में की। अपने पौराणिक कथानक के कलेवर में यह नाटक दरअसल स्त्री- पुरुष संबंधों को आधुनिक जीवन-संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। विमर्श की दृष्टि से देखा जाए तो यह एक 'नारीवादी नाटक' है। 'वाद' शब्द को संक्षिप्त रूप में कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है, कि यह ('वाद') जिस विषय के साथ जुड़ता है, उस विषय में सुसंगत चिंतन, मनन, संघर्ष और सृजन की एक नयी परम्परा को जन्म देता है। जैसे-जैसे 'वाद' से विवाद और संवाद की क्रिया- प्रतिक्रिया बढ़ती है, वैसे-वैसे उसके संबंध में विभिन्न प्रकार के मत-अभिमत सामने आने लगते हैं। विचारों के बीच टकराहट की एक श्रृंखला जन्म लेती है जो अपने दायरे में क्रमिक विस्तार के साथ सृजनात्मक और संरचनात्मक परिवर्तनों को हमारे सामने लाती है।

'माधवी' का कथानक 'महाभारत' की एक कथा पर आधारित है। तकरीबन 5000 वर्ष पुरानी इस कथा के केंद्र में तीन पुरुष ययाति, गालव और विश्वामित्र हैं जो पितृसत्तात्मक समाज के प्रतिनिधि के रूप में मौजूद हैं वही दूसरी तरफ केंद्रीय पात्र माधवी है जो परंपरागत 'आदर्श भारतीय नारी' का प्रतिनिधित्व करती है। नाट्य-कथा की केंद्र बिंदु 'माधवी' है जिसके इर्द गिर्द पुरुष प्रधान सत्ता का पूरा ताना-बाना फैला हुआ है। नाटक की कथा वस्तु का आधार महाभारत है, जिसमें ययाति की पुत्री माधवी का प्रसंग है जिसे ययाति द्वारा विश्वामित्र के शिष्य गालव को दान कर दिया जाता है। जिसके माध्यम से वो अपनी गुरुदक्षिणा चुका सके। गालव, जिसका घमंड तोड़ने के लिए विश्वामित्र एक असंभव शर्त रखते हैं, कि वह 800 अश्वमेधी घोड़े ले आए। अंत में असफल और निराश मन से वह आत्महत्या करने पहुंचता है तो विष्णु उसे बचाने के लिए गरुड़ को ब्राह्मण बनाकर भेजते है। गरुड़, गालव को समझाता है कि वानप्रस्थ ले चुके ययाति इतने दानवीर हैं कि हर हाल में

तुम्हारी मदद करेंगें। ऐसे में जबकि पूरे आर्यावर्त में किसी एक राजा के पास 800 अश्वमेधी घोड़े मिलना मुश्किल था। अपनी दानवीरता और महानता पर आंच न आने देने के लिए ययाति अपनी इकलौती पुत्री माधवी को दान कर देते हैं। माधवी को यह वरदान प्राप्त है, की उसकी कोख़ से पैदा होने वाला पुत्र चक्रवर्ती सम्राट होगा। उससे भी बड़ी बात यह है कि संतान जन्म के बाद माधवी फिर से अनुष्ठान करके कुमारी हो सकती है और अपने रूप यौवन को प्राप्त कर सकती है। वह तीन राजाओं के रनिवास में रहती है, उन्हें पुत्र और यौन सुख देती है और बदले में गालव को अश्वमेधी घोड़े मिलते हैं। अंत में बचे हुए 200 घोड़ों से ऋण मुक्त होने के लिए माधवी स्वयं को विश्वामित्र को सौंप देती है और विश्वामित्र भी उसे अपने आश्रम में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार गालव गुरु दक्षिणा से मुक्त होता है। माधवी अंत में ययाति द्वारा रचाए स्वयंवर में पूर्व अनुष्ठान करके फिर से कौमार्य नहीं प्राप्त करती है।

ययाति द्वारा माधवी को दान देने वाली घटना 'पितृसत्ता' की उस धारणा की ओर इशारा करती है, जो परिवार को पितृसत्ता की मुख्य संस्थागत इकाई मानती है। सीमोन द बोउवार 'The Second Sex' की भूमिका में कहती है- " Woman is losing her way, woman is lost… one wonders if women still exist. If they will always exist… whether or not it is desirable that they should. What place they occupy in the world, what these place should be...what has become of women?"

'माधवी' नाटक को स्त्रीवादी विमर्श के आईने में समझने का प्रयास करें तो कई अर्थ-संदर्भ हमारे सामने आते हैं। सर्वप्रथम स्त्री देह पर 'वस्तुपरक राजनीति' को समझना समीचीन होगा। जिसकी झलक नाटक के प्रारंभ में ययाति के माध्यम से होती नज़र आती है। पिता ययाति द्वारा स्वयं को दान कर दिए जाने पर माधवी अपने पिता से प्रश्न करती है- "यह क्या है पिता जी, क्या आप नहीं चाहते कि मैं आपके साथ रहूँ?"[1] ययाति इसका उत्तर देते हैं- "बेटी यज्ञ में दी जानेवाली आहुति

साधरण आहुति नहीं होती"।[1] अपने पिता के इस उत्तर पर माधवी क्रोधित नहीं होती, न चीखती-चिल्लाती है। बस वह एक सवाल ययाति से पूछती है- "आज माँ होती तो क्या वे भी मुझे इस तरह दान में दे देती"। ययाति द्वारा अपनी पुत्री माधवी को दान कर देना स्त्री देह की वस्तुपरक राजनीति का एक सन्दर्भ बिंदु है।

स्त्री देह की वस्तुपरक राजनीति को श्रेणियों में बाँट कर समझा जा सकता है। मसलन, किसी स्त्री का अपने देह पर कितना अधिकार है? स्वयं के निर्णय पर कितना अधिकार है? परिवार में उनकी भूमिका और उनकी निजी स्वतंत्रता को कितना स्पेस प्रदान किया गया है? पिता ययाति अपने धर्म रक्षा के लिए अपनी पुत्री के सारे अधिकारों को एक झटके में खारिज़ कर कठपुतली बना देते हैं और माधवी की खुद की भूमिका शून्य रह जाती है। हमारे समाज ने वीरताओं का यशोगान, कीर्ति गाथाओं का प्रचार, धर्मरक्षकों का छवि निर्माण करते हुए एक सुचिंतित रणनीति के तहत पुरुष सत्ता का निर्माण किया है। इस परंपरा में अपने अधिकारों, अपनी पहचान और प्राथमिक भूमिका से वंचित होना 'स्त्रियों की दुनिया' के हिस्से रसीद कर दिया जाता है। 'माधवी' के सन्दर्भ पर लौटते हुए यहाँ एक सामान्य सा सवाल पैदा होता है कि उस परिवार में माधवी की माँ उपस्थित रहती तो उनका निर्णय अपने पति के धर्म रक्षा के तरफ के तरफ झुकता या वह अपनी पुत्री के भविष्य के बचाव के लिए साथ खड़ी रहतीं? परिवार में मातृसत्ता को नियामक रूप में देखा जाना ही काफी कम होता है। दरअसल पुरुष कहीं न कहीं स्त्रियों की स्वतंत्रत सत्ता से डरता है, लिहाजा उसने इसे अपनी मनोवृत्ति में हमेशा से 'आक्रमण का केंद्र' बनाने का प्रयास किया है। अनादिकाल से इतिहास के काल खण्डों में झाँका देखा जाए तो बड़ी सहजता से स्त्री सदानीरा नदी की भाँति बहती सी नज़र आती है और वरदानों की जितनी भी परम्पराएं रही हैं, उनमें केवल उसके शोषण की गाथाएँ ही छिपी नज़र आती है।

कर्तव्यपरायणता के विषय में देखा जाए तो ययाति ने अपनी पुत्री को दान में दे कर अपना कर्तव्य निभाया और माधवी एक वस्तु मात्र बन कर रह गयी। पिता

के आदेशों को पालन करके उसने अपने लिए कर्तव्यपरायण होने का तमगा हासिल किया। ग़ौर से देखा जाए तो स्पष्ट रूप से यहाँ एक स्त्री का अपने देह पर अधिकार, उसके निर्णय का अधिकार, परिवार में उनकी भूमिका और उसकी निजी स्वतंत्रता पुरुष सत्ता के अधीनस्थ दिखती है।

भीष्म साहनी ने माधवी पात्र के बहाने कथानक को अपनी सर्जनात्मक, वैचारिक और प्रतिरोधात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। साहनी के नाटकों में स्त्री पात्रों को देखा जाए तो वे आक्रमक रूप में प्रस्तुत नहीं होतीं, पर उनका चरित्र गंभीरता से प्रतिरोध दर्ज़ कराता हुआ सामने आता है। अरस्तू ने स्त्री पात्र की परिभाषा यह कहकर दी कि "औरत कुछ गुणवत्ताओं की कमियों के कारण ही औरत बनती है"। सृष्टि में स्त्री चरित्र की रचना में स्त्रियों के हिस्से चुप्पी ही आयी हैं। स्त्रियों के शब्दकोश में वे मुहावरे नहीं हैं, जिनके माध्यम से वे असंतोष व्यक्त कर सकती हों। अभिव्यक्ति के उसके सारे साधन खामोश रहते हैं। जब ये ख़ामोशी चीख-चीख कर टूटने लगती है तो वो कुछ ऐसा अभिव्यक्त करती है जिसे अब तक शब्दकोशों ने परिभाषित नहीं किया गया है। ऐसी अभिव्यक्ति को 'प्रतिरोध' के रूप में रेखांकित किया जाता है। हमारे इतिहास में जिन स्त्रियों ने सती सावित्री का रूप लेकर प्राण त्याग दिए उन्हें आदर्श माना गया और जिन स्त्रियों ने क्रांति की, उनको अपवाद के रूप में देखा गया।

संदर्भित नाटक में माधवी अपने आसपास निर्मित होने वाली परिस्थितियों से पूरी तरह वाकिफ थी। उसके व्यवहार में जगह-जगह बदलाव आना, कभी प्रेम से दुखी होना तो कभी असमंजस में पड़ जाना, कभी खुश हो जाना तो कभी क्षुब्ध हो जाना कहीं न कहीं प्रतिरोध दर्ज कराने की कातर कोशिशें हैं। नाटक के उत्तरार्द्ध में बहुत ही सीमित शब्दों में वो गालव को कह जाती है कि-" मुझे तुम्हारा आदर नहीं चाहिए, न ही कृतज्ञता। मुझे जो चाहिए था, वो तुम्हारे पास नहीं है।"[1] नाटक का यह संवाद अंतिम दृश्य में है पर यह आधी दुनिया की आबादी के लिए 'फ्रेम ऑफ़

रिफरेन्स' की तरह उभर कर सामने आता है। तकरीबन हर पुरागाथा में नारी की स्थिति को गौण या कमतर ही रखा गया है, पर भीष्म साहनी ने अपने इस नाटक माध्यम से एक नारी (माधवी) पूर्ण चरित्र के रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

स्त्री के निर्माण में केवल जैविक प्रक्रिया ही भूमिका नहीं निभाती है। बल्कि, विभिन्न सभ्यताओं का इतिहास हमें बताता है कि परम्पराओं-मान्यताओं की आड़ लेकर सामाजिक ढाँचे में ढलते हुए स्त्री-निर्माण की प्रकिया मुकम्मल होती है। समाज में एक स्त्री को अपने आप में सम्पूर्ण नहीं माना जाता, उसकी सम्पूर्णता को पुरुषों के साथ रखकर मान्यता दी जाती है। उसके जीवन में पुरुषों का हस्तक्षेप अनिवार्य समझा जाता है। मसलन बचपन में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के द्वारा हस्क्षेप को एक स्वाभाविक परिघटना के तौर पर देखा जाता है। माधवी का जीवन भी पिता ययाति, तीन राजा, और गालव के नियंत्रण में संचालित हो रहा था। नाटक में स्त्री-पुरुष संबंधों के विषय में यह कहा गया है कि- "पुरुष को भगवान ने धीर गंभीर बनाया है पर स्त्री के स्वभाव में चंचलता होती है। इसलिए कहा गया है कि नारी की चंचलता पर पुरुष का अंकुश सदा बने रहना चाहिए।" स्पष्टतः माधवी की कथावस्तु स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को आधुनिक संदर्भों में परिभाषित करती है। ग़ौरतलब है कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को सर्वप्रथम विवाह संस्था के माध्यम से स्थापित किया जाता है। यह एक ऐसी संस्था है जिसके माध्यम से स्त्रियों पर नियंत्रण रखा जाता है। डी.एच.लारेस के अनुसार "औरत न मनोरंजन का साधन है और न पुरुष की वासना का शिकार है। वह व्यक्ति की चाह की वस्तु नहीं है, बल्कि वह तो पुरुष का दूसरा ध्रुव है। उसका अस्तित्व पुरुष का अनिवार्य पूरक है।" इस तथ्य को गालव और तीन राजाओं द्वारा समझा जाना अपेक्षित था। प्रारंभ से ही नारी की स्वतंत्र सत्ता को समाज अस्वीकृत करता हुआ आया है और पौराणिक कथाओं से लेकर वर्तमान कथा को देखा जाए तो पुरुषों की श्रेष्ठता का अंत नज़र नहीं आता है।

'आदम-हव्वा' के किस्से में हव्वा का जन्म भी आदम का मन बहलाने के लिए हुआ था। मानव सभ्यता के उत्पत्ति काल में ही हव्वा के बहाने नारी-अस्तित्व का वस्तुकरण कर दिया गया। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के समीकरणों का विकास

ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया पर निर्भर करता है। इस नाटक के परिप्रेक्ष्य में देखें तो कर्तव्यपरायणता, दान, धर्म, प्रेम, स्त्री भोग जैसे लोकधर्मों का अन्वेषण पुरुषों ने किया। वहाँ उसकी आधिपत्य की इच्छा का अनुचिंतन है।

नाटक के तीनों अंक में स्त्री-पुरुष संबंध को दर्शाया गया है जिसके परिणामस्वरूप पुरुष सत्ता के अधीनस्थ स्थिति उत्पन्न होती है, वो स्थिति पुरुषों के द्वारा ही बनायी गयी है । नाटक के प्रथम दृश्य में ही कहा जाता है कि- "धर्मग्रंथों में, स्त्री की तुलना पृथ्वी के साथ की गयी है। जिस भांती पृथ्वी संसार भर का बोझ वहन करती है, वैसे ही स्त्री सभी दायित्वों का भार वहन करती ही, उसकी शक्ति सेवा में है। पुरुष महत्वकांक्षी होता है पर स्त्री का प्रमुख गुण, त्याग, सेवा है। स्त्री अपने इसी गुण के माध्यम से पुरुषों के नियंत्रण में रहती है।"[1] पुरुषों के भांति अगर स्त्रियाँ महत्वाकांक्षी हो जाती हैं, तो उन्हें स्वार्थी मान लिया जाता है। माधवी के जीवन में कई पुरुष थे जिनके साथ उसके अलग-अलग संबंध थे। संसार ययाति को दानवीर, गालव को तपस्वी साधक कहेगा पर माधवी को? वह इसी त्याग सेवा गुण से गुणवान्तित होकर चंचल वृति की नारी कहलाएगी। गालव की परीक्षा ज़ायज थी कि वो ऋण मुक्त होने के लिए प्रयास कर रहा था, पर माधवी नैतिकता के दोहरेपन से गुज़र रही थी।

पितृसत्ता के तहत आदर्श स्त्री की छवि को प्रेम, दया, त्याग, मातृत्व, सेवा जैसी भावनाओं के साथ प्रशिक्षित किया जाता है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की पवित्रता पर काफी जोर दिया जाता है इसलिए माधवी को भी इस पवित्रता को बनाए रखने का वरदान प्राप्त था कि वो अनुष्ठान के बाद अपनी कौमार्यता को पुन: प्राप्त कर सकती है। यहाँ पर देह की गुलामी के साथ मानसिक गुलामी भी प्रारम्भ हो जाती है। स्त्री की प्रजनन क्षमता उसकी दासता का मूल कारण बनी है। तीनों राजा हर्यश्व, दिवोदास और उशीनगर नरेश पुत्र के लाभ और काम-क्रीडाओं के कारण गालव का

प्रस्ताव स्वीकार करते हैं। कौमार्यता के कारण माधवी का वस्तुकरण किया गया और जब वो अंत में अनुष्ठान के बिना गालव से अपने वास्तविक रूप में विवाह करना चाहती है। इस प्रस्ताव से ही गालव के प्रेम का मोहभंग हो जाता है। भीष्म साहनी नाटक के बहाने माधवी के माध्यम से पितृसत्ता के मानदंड और स्त्री यौनिकता के पूर्वाग्रह ग्रसित धारणाओं का प्रतिरोध करते है और अंत में माधवी, स्त्री को गढ़ने वाले हर धारणाओं से मुक्त हो जाती है। यहाँ भीष्म साहनी ने माधवी को 'ऑब्जेक्ट' से 'सब्जेक्ट' बनाने का प्रयास किया है, जहाँ वो पूर्णत: सफल हुए। केट मिलेट की पुस्तक 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' में यह बात कहा भी गया है कि समस्त समाज पितृसत्तात्मक है। स्त्री पुरुष के तमाम सम्बन्ध मूलत: राजनीतिक है। नॉम वुल्फ की पुस्तक 'द ब्यूटी मिथ: How the image of beauty are used against Women' में यह उल्लेखित भी किया गया है कि सौन्दर्य नारी को निष्क्रिय भोगवस्तु बनाने का एक निकृष्ट तरीका है। माधवी को मिला कौमार्यता का वरदान मिथ नहीं है बल्कि यह सोची समझी एक सामाजिक संरचना है जिसके तहत माधवी को रखा गया है।

स्त्री के शरीर और यौनिकता पर नियंत्रण प्रजनन संबंधी स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण पक्ष है। माधवी के कोख से जन्म लेने वाला बच्चा चक्रवर्ती सम्राट होगा, यहाँ पुत्र की अभिलाषा रखना एक संकुचित समाज को दिखा रहा है जहाँ पितृसत्तात्मक का नियंत्रण अभिव्यक्त होता है। नारीवाद आंदोलन की दूसरी लहर 'आवर बॉडी आवर सेल्व' के प्रति सक्रिय था। स्त्रीवाद के द्वितीय चरण में यौन राजनीति, यौन-भ्रांति या यौन-मुक्ति को सम्मान से देखा गया है जिसके अंतरगर्त स्त्री के गर्भधारण, गर्भपात के फैसलों को रखा गया है। यहाँ माधवी को इन अधिकारों से वंचित रखा गया था। यही नहीं माधवी अपने नवजात शिशु को पैदा के बाद छोड़ आती है। मातृ प्रेम पर भी गालव का नियंत्रण था। संतान से बार-बार बिछड़ना उसे विचलित कर गया था जिस कारण उसने स्वयं को एक सत्ता के अधीन ही पाया । अपने ही पुत्र के प्रति कोमल हो जाना उसे दुर्बल बना दिया था। नाटक में एक संवाद में गालव कहता भी है- 'मैं नहीं जानता था कि संतान पैदा हो जाने पर तुम इतनी

दुर्बल हो जाओगी। इसलिए शायद स्त्रियाँ जोखिम के काम नहीं कर सकती, किसी बड़े काम का दायित्व वहन नहीं कर सकती'। यहाँ उस चरित्र को दुर्बल कमजोर माना जा रहा जिसके माध्यम से पिता ययाति और मुनि गालव के कर्तव्य पूर्ण हो रहे हैं। उसी दुर्बलता का यह परिणाम है कि ययाति दानवीर बन गया और गालव आदर्शवादी पर यह दोनों कर्तव्य जिसके माध्यम से पूर्ण हो रहे है वो दुर्बल घोषित हो जाती है। बोउवा कहती है कि- "औरत पैदा नहीं होती, बनाई जाती है। उनके आस- पास ऐसी स्थितियाँ बना दी जाती है, जिससे वो स्वयं को पुरुषों से दुर्बल समझने लगती है।

वर्तमान समाज में दूषित व्यवस्था के कई ऐसे पहलू हैं जिसने स्त्रियों की बोधशक्ति को बाधित कर उनकी ऐन्द्रियता को तुच्छ बनाकर उसको दास बना दिया है। यहाँ स्त्री पर पुरुष का अधिकार केवल न सिर्फ उसके यौनत्व और प्रजनन क्षमता के संबंध में है बल्कि स्त्री की पवित्रता का आकलन भी किया जाता है। नाटककार ने विभिन्न पहलुओं से शोषण, उपयोग और उपभोग की परम्परा को उजागर किया है।

स्त्री के समानार्थक शब्द अधिक है, पर उसके छवि के समर्थन में शब्द कम पड़ जाते है। महाभारत में एक श्लोक है- 'न स्त्री स्वातंत्रमर्हती:'[1]अर्थात् स्वतंत्रता पर नारी का कोई अधिकार नहीं है। पूरी बेबाकी से कहें तो वह योनि की स्वतंत्रता से भी वंचित रहती है। नाटक में एक पक्ष सेरोगेसी से भी जुड़ता है। 'सेरोगेसी' अर्थात् 'किराये की कोख'। किराये की कोख से अर्जित सम्पत्ति में भी माधवी की हिस्सेदारी नहीं रहती है जबकि अपने श्रम का भुगतान भी वह खुद ही अपने शारीरिक और भावनात्मक रूप से कर रही है। एक दृष्टि से देखें तो माधवी, शोषण की एक जीती-जागती उपकरण थी। जो तीन राजाओं को अपनी कौमार्यता के कारण चक्रवर्ती सम्राट बेमोल कीमत पर दे रही थी जिसमें वो पुत्र मोह की वशीभूत हो कर भावनात्मक रूप से क्षत-विक्षत हो गयी थी। मातृ सुख पाकर भी वह अपनी सभी संतानों के लिए मात्र एक कोख बनकर रह गयी थी। माधवी की सारी पूँजी और सारे निर्णय पर नियंत्रण

गालव का था। माधवी, गालव के लिए ऐसी संपत्ति थी जिस पर गालव ने कभी कोई भौतिक या भावनात्मक निवेश नहीं किया।

नाटककार भीष्म साहनी ने नाटक में पुरुष सत्ता के नियंत्रण पर ही बात नहीं की बल्कि प्रेम में समानता के मूल्य को भी स्पष्ट किया है। गालव का प्रेम ही माधवी के लिए शोषण का कारण बन गया था क्योंकि गालव का प्रेम माधवी की कौमार्यता के अनुष्ठान तक ही सीमिति रह गया था। दरअसल गालव के लिए माधवी निमित्त मात्र थी। गालव के स्वार्थ ने बस स्वयं से ही प्रेम किया था। माधवी के जर्जर, ढलते यौवन शरीर के बावजूद भी पुन: अनुष्ठान न करा पाने की स्थिति को वह स्वीकार नहीं कर पाया। यह प्रेम एक व्यावसायिक शारीरिक प्रेम से जुड़ा हुआ था। स्त्री पुरुष दोनों में ही यौवन प्रणय के वंसत का अवसान होता है, पर समय के साथ साथ यह संवेदना में बदल जाता है। माधवी ने अंत तक अपने प्रेम को सर्वोपरि रखा था। उसने प्रेम को यथार्थ के धरातल से देखा था पर अब वह स्वार्थी प्रेम के अधीन होकर गुलाम नहीं रह रह सकती थी। गालव ने प्रेम के रूप में माधवी से प्रणया स्त्री होने के कारण उसके सारे अधिकारों से ही उसे वंचित कर दिया था। जबकि माधवी ने प्रेम के रूप में मात्र गालव की अभिलाषा की थी।

पूरे नाटक का पर गंभीर दृष्टि डालते हुए स्त्री की अधीनता की पड़ताल करने वाली प्रारंभिक नारीवादी चिन्तक मेरी वुल्सनक्राफ्ट का यह तर्क बेहद प्रासंगिक मालूम पड़ता है- "पूर्व धारणाओं की विनम्र दास बनने के बजाए तर्क की सत्ता के समक्ष झुका जाए और पुरुषों के साथ सुंदर और प्रीतिकर छवि में ही न बंधा जाए।"

अपनी सीमाबद्ध चेतना के बाद स्त्री उभार का एकमात्र सरोकार रहा है- 'पुरुष वर्चस्व से मुक्ति'। हमारे यहाँ स्त्री की मुक्ति कामना जहाँ पौराणिक कथा में माधवी करती है वहीं आधुनिक साहित्य की दुनिया में नारी स्वातंत्र्य का सपना रुकैया सखावत हुसैन 'सुलताना का सपना'(1905) के माध्यम से देखती हैं। राहुल सांकृत्यायन का यह मानना है कि 'रूढ़ियों को लोग इसलिए मानते हैं, क्योंकि उनके सामने रुढ़ियों को तोड़ने वालों के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं।' भीष्म साहनी ने माधवी के बहाने

हमें उन रुढ़ियों से परिचित कराने का प्रयास किया है जिसके अधीन स्त्री रह जाती है। माधवी अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक और प्रगतिशील होती है, तभी वह स्वतंत्र होती है। नाटककार ने अंत में शांतिपूर्ण प्रतिरोध के माध्यम से माधवी को नायकत्व प्रदान किया है। हर दृश्य में कई सवालों के घेरे में अस्तित्व की तलाश की गयी है। इस नाटक में यौनिक पवित्रता से जुड़ा दुःख पुरुषवादी परम्परगत अवधारणा को प्रकट करता है। साथ ही स्त्रियों की पुनरुत्पादन क्षमता, यौनिकता तथा यौनिक आकांक्षाओं को ख़ारिज करता है। जिस स्वतंत्र अस्मिता की तलाश में माधवी को प्रस्तुत किया गया, नाटक के अंत में वह खोज उसके चरित्र के रूपांतरण के माध्यम से पूरी होती नज़र आती है।

संदर्भ सूची-

1.नया पथ, अंक- अप्रैल-सितम्बर, पृ.31, 2015.

2. The Second Sex, Simone de Beauvoir, page 18, Vinatge Books, New York.

3. माधवी, भीष्म साहनी, पृ. 21, राजकमल प्रकाशन, 2018.

4. वही, पृ. 21

5. स्त्री उपेक्षिता, प्रभा खेतान, पृ. 23, हिन्द पॉकेट बुक्स, 2002.

6. माधवी, भीष्म साहनी, पृ. 117, राजकमल प्रकाशन, 2018.

7. वही, पृ. 91

8. स्त्री उपेक्षिता, प्रभा खेतान, पृ. 122, हिन्द पॉकेट बुक्स, 2002.

09. औरत के हक में, तसलीमा नसरीन, पृ. 20, वाणी प्रकाशन, 2007.

10. स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, मेरी वोल्सटनक्राफ्ट, राजकमल प्रकाशन, 2003.

11. स्त्री मुक्ति के प्रश्न, देवेन्द्र इस्सर, संवाद प्रकाशन,2009.

12. लिंग भाव का मानववैज्ञानिक अन्वेषण : प्रतिच्छेदी क्षेत्र, लीला दुबे, वाणी प्रकाशन, 2004

13. भारतीय समाज, श्यामचरण दुबे, अनुवाद वंदना मिश्र, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2020

14. आदमी के निगाह में औरत, राजेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, 2015

15. भीष्म साहनी सादगी का सौन्दर्यशास्त्र, सम्पादक हरियश राय, वाणी प्रकाशन, 2020

16. The SUBJECTION OF WOMEN, JOHN STUART MILL,VAANI PRKASHAN,2015

17. नारीवादी राजनीति संघर्ष और मुद्दे, संपादक. साधना आर्य, निवेदिता मेनन,जिनी लोकनीता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय,2015

पत्रिका

1. बनास जन, शताब्दी स्मरण: भीष्म साहनी, जुलाई-सितम्बर,२०१५,अंक-१२
2. नया पथ, भीष्म साहनी जन्मशताब्दी विशेषांक, अप्रैल- सितम्बर २०१५, अंक-२-३
3. स्त्रीकाल, स्त्री विमर्श का त्रैमासिक,विशेषांक स्त्रीवादी साहित्य और सरोकार, जनवरी- मार्च, २०२०, अंक-१

रूसो की शिक्षा संबंधी चेतना; संपूर्ण विकास की परिकल्पना

डॉ. मायानंद उपाध्याय
शोध निर्देशक, एसो. प्रो.,विभागाध्यक्ष शिक्षा विभाग
राजा श्री कृष्ण दत्त पी जी कॉलेज जौनपुर सम्बद्ध वी बी एस पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर
अंकुर सहाय श्रीवास्तव
शोधार्थी, पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर

शोध सार

रूसो का पूरा नाम जीन जैक्स रूसो है। रूसो एक प्रसिद्ध प्रकृतिवादी शिक्षा दार्शनिक थे। रूसो की शिक्षा का प्रभाव यूरोपीय शिक्षा की 19वीं सदी में दिखाई देता है। 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रूसो ने जिन विचारों का प्रसार किया उनका प्रभाव 19वीं सदी की शिक्षा की तीन प्रवृत्तियों में दिखाई पड़ता है मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और सामाजिक । रूसो ने बाल मनोविकास या बाल मनोविज्ञान के संबंध में जितने भी विचार व्यक्त किए उनके पीछे उसका प्रकृतिवाद था । इस प्रकार रूसो की शिक्षा का एक प्रभाव मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के रूप में दिखाई देता है इस प्रवृत्ति के पोषकों तथा प्रचारकों में पेस्टोलॉजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल के नाम उल्लेखनीय हैं ।

बीज शब्द

रूसो, शिक्षा, मनोविज्ञान, वैज्ञानिक, सामाजिक, प्रकृति, प्रचारक

शोध आलेख

रूसो का पूरा नाम जीन जैक्स रूसो है ।रूसो एक प्रसिद्ध प्रकृतिवादी शिक्षा दार्शनिक थे इनका जन्म 28 जून सन 1712 ईस्वी को स्विट्जरलैंड के जिनेवा नामक नगर में एक सम्मानित परिवार में हुआ था उनके पिता एक फ्रांसीसी घड़ी साज थे । जन्म के तुरंत बाद मां की मृत्यु होने के कारण इनकी देखभाल इनकी चाची ने किया ।12 वर्ष की अवस्था में घर से भागकर छोटी-मोटी नौकरी यह करने लगे। रूसो को सर्वप्रथम प्रसिद्धि तब प्राप्त हुई जब उसने डिजान निबंध प्रतियोगिता में सफलता हासिल की । इनका दूसरा निबंध संपूर्ण यूरोप में प्रसिद्ध हो गया और इसप्रकार रूसो जो कि कल

तक का भटकता इंसान था अनायास ही प्रसिद्ध हो कर एक प्रकृतिवादी दार्शनिक के रूप में स्थापित हो गया।

रूसो की शिक्षा का प्रभाव यूरोपीय शिक्षा की 19वीं सदी में दिखाई देता है। 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रूसो ने जिन विचारों का प्रसार किया उनका प्रभाव 19वीं सदी की शिक्षा की तीन प्रवृत्तियों में दिखाई पड़ता है मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और सामाजिक।

रूसो ने बाल मनोविकास या बाल मनोविज्ञान के संबंध में जितने भी विचार व्यक्त किए उनके पीछे उसका प्रकृतिवाद था। इस प्रकार रूसो की शिक्षा का एक प्रभाव मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के रूप में दिखाई देता है इस प्रवृत्ति के पोषकों तथा प्रचारकों में पेस्टोलॉजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल के नाम उल्लेखनीय हैं।

रूसो की शिक्षा का दूसरा प्रभाव वैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास में सहायक हुआ उन्होंने शिक्षा में प्राकृतिक वातावरण को बालक की जिज्ञासा और खोज की प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए स्थान दिया।

रूसो की शिक्षा सामाजिक प्रवृत्ति के विकास में भी सहायक हुई रूसो ने व्यक्ति को सामाजिक प्राणी कहा, इतना ही नहीं रूसो ने बुद्धि के बदले हृदय को स्थान देकर जन सामान्य के हित का समर्थन किया। शिक्षा में उद्योग धंधों को सम्मिलित कर उसने सामाजिक जीवन को अपनाया। इसलिए रूसो की शिक्षा व्यक्तिवादी होते हुए भी सामाजिक प्रवृत्ति के विकास में सहायक सिद्ध हुई।

रूसो ने व्यक्तित्व के सहज विकास के लिए शिक्षा की भूमिका पर जोर देते हुए उसके स्वरूप और प्रणालियों में क्रांतिकारी परिवर्तन के सुझाव दिए। वह रूसो ही थे जिन्होंने शिक्षा के बारे में बाल केंद्रित नजरिए से सोचने की नींव डाली।

रूसो के सिद्धांत ने राज्य एवं धर्म संबंधी विचारों को मूलभूत रूप में ही बदल दिया। अपनी 'एमिल' नामक कृति में रूसो ने शिक्षा के प्रति एक बिल्कुल भिन्न और मौलिक विचार का प्रतिपादन करते हुए बालक के स्वाभाविक आवेगो और वृत्तियों का दमन न करने का आग्रह किया। रूसो ने अपने जीवन काल में समाज के संपर्क में आने के

पश्चात जो भी अपार अनुभव किए उन्हीं अनुभव को अपने जीवन दर्शन का आधार बनाकर शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करने का सफल प्रयास किया। रूसो ने अपने शिक्षा संबंधी विचारों को 'एमिल', द न्यू हैलायज, द सोशल कान्ट्रैक्ट, तथा कंसीडेरेशन ऑन द गवर्नमेंट ऑफ पोलैंड में दिए हैं। 'एमिल ' में उसने एमिल को एक काल्पनिक पुरुष के रूप में लिया है जिसको शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक आयु के अनुसार विभिन्न विधियों से शिक्षा देने की सिफारिश वह करता है एवं स्त्री शिक्षा के लिए उसने एमिल के पांचवें खंड में 'सौफी' को लिया है जिसे उसने एमिल की भावी पत्नी के रूप में परिणत कर उसको एमिल के लिए एक आदर्श पत्नी बनाने के लिए रूढ़िवादी एवं सविधिक शिक्षा देना चाहता है प्रकृतिवादी होने के कारण वह शिक्षा का वातावरण भी प्राकृतिक मानता है। उसकी कृति 'एमिल' ने शिक्षा के क्षेत्र में एक नई क्रांति को जन्म दिया। 'एमिल ' के बारे में रस्क ने ठीक ही कहा है- " जिस दृढ़ता से रूसो ने 'एमील' में अपने विरोधियों की रूपरेखा प्रस्तुत की है , वह आकर्षक है और उसने शैक्षिक साहित्य में इसका स्थायी स्थान बना दिया है।"

रूसो ने बाल केंद्रित शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया उसने अध्यापक को केवल मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार किया है उसके अनुसार - अध्यापक वह है जो बालक के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करता है वह बालक को प्रारंभ से नैतिक शिक्षा नहीं अपितु प्रकृति में रहकर प्राकृतिक शिक्षा देना चाहता है।

रूसो अपने सामाजिक समझौता सिद्धांत (सोशल कांट्रैक्ट) नामक पुस्तक की शुरुआत इस कथन से करता है कि " मनुष्य स्वतंत्र जन्मा है मगर हर तरफ से यह जंजीरों में बंधा रहा " उसके इस कथन की व्याख्या के लिए उसके प्राकृतिक अवस्था एवं सामाजिक समझौता संबंधी सिद्धांत का विवेचन आवश्यक है। हॉब्स और लॉक की तरह रूसो ने भी सामाजिक समझौते के पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था की व्याख्या की है जो कि हॉब्स द्वारा चित्रित अवस्था की तरह न तो अंधकारमय एवं कष्टमय है और ना ही लॉक द्वारा वर्णित अवस्था की तरह आदर्श है।

प्राकृतिक अवस्था को रूसो ने प्रारंभिक काल कहा है प्रारंभिक काल अर्थात उनका जीवन पूर्णता प्राकृतिक था अर्थात उसकी आवश्यकता और आकांक्षाएं कम थीं। विवेक और बुद्धि का विकास नहीं हुआ था। प्राकृतिक अवस्था के दूसरे काल को जब जनसंख्या में वृद्धि तथा लोगों के मन में निजी संपत्ति का भाव उत्पन्न होने लगा , रूसो ने पतन की अवस्था बताया है।

रूसो दो तरह की शिक्षा व्यवस्था की बात करता है - पब्लिक या सार्वजनिक जो बहुतों के लिए समान है तथा दूसरा प्राइवेट या घरेलू पब्लिक शिक्षा का संचालन सरकार करती है क्योंकि यह लोकप्रिय सरकार की मूल आवश्यकता है दि न्यू हेलौज में रूसो प्राइवेट या निजी शिक्षा अथवा घरेलू शिक्षा का वर्णन करता है इस घरेलू शिक्षा में मां मुख्य अध्यापिका है रूसो का विद्यार्थी कोई विशेष बालक नहीं बल्कि सामान्य बालक है। रूसो पहला शिक्षा शास्त्री है जो सार्वजनिक शिक्षा पर जोर देता है।

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव को प्रकृति के अनुरूप जीवन जीने के योग्य बनाना है। शिक्षा द्वारा मानव संसर्ग के परिणाम स्वरूप जो कृत्रिमता उसमें आती है उससे उसकी रक्षा करता है। रूसो सामाजिक संस्थाओं और उनमें विद्यमान रूढ़ियों के कटु आलोचक हैं।

रूसो की शिक्षा का व्यावहारिक प्रभाव ना तो फ्रांस में पड़ा और ना ही इंग्लैंड में फ्रांस की सरकार और धर्माधिकारी पुरुषों के रूसो के शिक्षा संबंधी विचारों के समर्थक नहीं थे इंग्लैंड के लोगों का दृष्टिकोण सदा व्यवहारिक रहा अतः उन लोगों को रूसो की शिक्षा व्यवहारिकता के अभाव के कारण पसंद नहीं आई लेकिन जर्मनी ने में रूसो की शिक्षा का स्वागत किया गया क्योंकि वहां के शिक्षा शास्त्री रूसो की मौलिकता समझते थे मुख्य रूप से रूसो द्वारा प्रदत्त शिक्षा को व्यवहारिक रूप देने का प्रयास जर्मनी में किया गया।

संपूर्ण शिक्षा जगत में महान पाश्चात्य दार्शनिक रूसो को एक महान युग का प्रवर्तक माना जाता है। व्यापारिक दर्शन के क्षेत्र में उसे आधुनिक प्रजातंत्रवाद का यदि जनक

कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। राजनीतिक दर्शन, साहित्य के कलात्मक आंदोलन, बाल मनोविज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में सार्वभौमिक रूप से रूसो को एक महान व्यक्ति स्वीकार किया गया है। शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक जगत में बालक के सम्पूर्ण विकास के अध्ययन के लिए रूसो को जानना और समझना बहुत आवश्यक है।

संदर्भ सूची -

1. विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री , विनोद पुस्तक मंदिर ,आगरा
2. शिक्षा के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, विनोद पुस्तक मंदिर,आगरा
3. शिक्षा एवं शिक्षण सिद्धांत, आगरा ,साहित्य प्रकाशन हॉस्पिटल रोड
4. शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार डॉ.माथुर विनोद पुस्तक मंदिर आगरा
5. बंदे ,"रूसो का जीवन परिचय ,रूसो का शिक्षा दर्शन" 2019 अधिकारिक वेबसाइट www.scotbuzz.org
6. दर्शनशास्त्र- एक समग्र अध्ययन , डॉ. अवधेश यादव चौखंभा प्रकाशन
7. विश्व के महान शिक्षा शास्त्री , पाठक आर. पी. दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन
8. हर्षद पटेल, " जीन जैक्स रूसो की जीवनी " 2018 ,अधिकारिक वेबसाइट www.scotbuzz.org

'यमदीप' उपन्यास में अभिव्यक्त किन्नर समाज का यथार्थ

कृतिका चौधरी
शोधार्थी, हिंदी विभाग
केंद्रीय विश्वविद्यालय हिमाचल प्रदेश
धर्मशाला-176215
सम्पर्क-7018378556
ईमेल-kritikachd1994@gmail.com

शोध सार

हमारा सम्पूर्ण समाज दो स्तंभों पर टिका है, 'पुरुष एवं स्त्री'। स्त्री के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है और पुरुष के बिना भी समाज का निर्माण असंभव है। मानव समाज में इन दो लिंगों के अतिरिक्त एक-अन्य लिंग का भी अस्तित्व है, जिसे हम किन्नर कहते हैं। ये न तो पूर्ण रूप से स्त्री होते है, न पुरुष होते हैं। इसी वर्ग में हम उन व्यक्तियों को भी समाहित करते हैं, जिनका जन्म तो पुरुष जननांग के साथ हुआ है, किंतु उनके भीतर स्त्री छुपी हुई है, वह पुरुष वर्ग में असहज महसूस करते हैं। ये वर्ग सदियों से तिरस्कृत, अपमानित व दर्द भरा जीवन जीने को मजबूर है। साहित्य किसी भी समस्या को उजागर करने का सशक्त माध्यम है। साहित्य के द्वारा ही उन पक्षों पर चर्चा संभव हो पायी है, जो कभी मुख्यधारा से अलग हाशिए पर थे। यदि किन्नर साहित्य की बात की जाए तो इसकी शुरूआत नीरजा माधव कृत 'यमदीप' उपन्यास से मानी जाती है। इसी उपन्यास ने इस विमर्श को बल दिया है तथा यह उपन्यास विभिन्न साहित्य में मील का पत्थर सिद्ध हुआ है।

बीज शब्द

समाज, स्त्री, पुरुष, किन्नर, साहित्य, वर्ग, संघर्ष, उपन्यास

शोध आलेख

हमारा सम्पूर्ण समाज दो स्तंभों पर टिका है, 'पुरुष एवं स्त्री'। स्त्री के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है और पुरुष के बिना भी समाज का निर्माण असंभव है। मानव समाज में इन दो लिंगों के अतिरिक्त एक-अन्य लिंग का भी अस्तित्व है, जिसे हम किन्नर कहते हैं। ये न तो पूर्ण रूप से स्त्री होते है, न पुरुष होते

हैं। इसी वर्ग में हम उन व्यक्तियों को भी समाहित करते हैं, जिनका जन्म तो पुरुष जननांग के साथ हुआ है, किंतु उनके भीतर स्त्री छुपी हुई है, वह पुरुष वर्ग में असहज महसूस करते हैं, 'तृतीय लिंग विमर्श' पुस्तक में डॉ. हेमन्त कुमार लिखते हैं- ''लेकिन हमारे समाज में मानव प्रजाति के इन दो लिंगों के अलावा भी एक और प्रजाति का अस्तित्व है। जो न पुरुष होता है न स्त्री। न तो नर है न नारी। जो न संभोग कर सकता है, न ही गर्भ धारण कर सकता है। जिसे हमारा समाज किन्नर, हिजडा या छक्का कहता है। जिसे आदिकाल से ही हमारे मानव समाज ने उपहास का पात्र या मनोरंजन का साधन बना रखा है। जिसे इस समाज से हमेशा उपेक्षा मिली है। बावजूद इस उपेक्षा, उपहास के इस तीसरी योनि का अस्तित्व हमारे समाज में है और हमेशा रहेगा।''1ये वर्ग सदियों से तिरस्कृत, अपमानित व दर्द भरा जीवन जीने को मजबूर है।

किन्नर के अतिरिक्त इन्हें पावैया शिव शक्ति, मंग्लामुखी, अर्द्धनारिश्वर, तृतीय लिंगी आदि कई नामों से जाना जाता है, परंतु आम जनमानस द्वारा उन्हें 'हिजड़ा' कहकर ही अभिहित किया जाता है। इन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया है जिसमें नीलिमा, मनसा, हंसा, बुचरा प्रमुख है। बुचरा ये जन्मजात से हिजड़े होते है। नीलिमा, ये किसी कारणवश इस समुदाय में शामिल होते हैं। मनसा ये अपने शरीर के प्रतिकूल लिंग भाव का व्यवहार करते हैं तथा जो शारीरिक कमी के कारण इस समुदाय में आते हैं, उन्हें हंसा कहा जाता है।

यह तो सर्वविदित है कि साहित्य किसी भी समस्या को उजागर करने का सशक्त माध्यम है। साहित्य के द्वारा ही उन पक्षों पर चर्चा संभव हो पायी है, जो कभी मुख्यधारा से अलग हाशिए पर थे। यदि किन्नर साहित्य की बात की जाए तो इसकी शुरूआत नीरजा माधव कृत 'यमदीप' उपन्यास से मानी जाती है। इसी उपन्यास ने इस विमर्श को बल दिया है तथा यह उपन्यास विभिन्न साहित्य में मील का पत्थर सिद्ध हुआ है।

इस उपन्यास के मुख्य पात्र-नाजबीबी, मेहताब गुरु तथा सोना है। पूरा उपन्यास इन्हीं के इर्द-गिर्द घुमता है। इस उपन्यास में किन्नरों का मार्मिक यथार्थ देखने

को मिलता है। बहुत से अनछुए पहलुओं को भी उजागर किया गया है। सदियों से चली आ रही भ्रांतियों पर कुठाराघात किया गया है। इनकी जीवन शैली को भी तकसील से दिखाया गया है। वह जिन दुःख-दर्द व तकलीफों का सामना आजीवन करते हैं, उन का चित्रण किया गया है। परंतु आज भी इस समुदाय के साथ भेदभाव बदस्तूर जारी है तथा ये आज भी करूणामयी स्थिति में है।

'यमदीप' उपन्यास के शीर्षक की बात करें तो शीर्षक प्रतीकात्मक है। यम का दीपक दिवाली से एक दिन पहले कूडे के ढेर पर जलाया जाता है। दीपक जलाने के बाद पीछे मुड़कर नहीं देखना होता है। ठीक यही स्थिति किन्नरों की भी है। यदि एक बार घर से निकाल दिए गए तो आजीवन कोई पीछे मुड़कर यह नहीं देखता कि वह जीवित है या मर गए। यह स्थिति बेहद करुणामयी है, जब आपके द्वारा कहे जाने वाले अपने ही आपके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। कभी माता-पिता स्वीकार कर भी ले तो समाज इनका उपहास उड़ाता नहीं थकता है, इन्हें आजीवन एक समुदाय में बंधकर रहना पड़ता है। जहाँ के अपने कायदे-कानून होते हैं, जिन्हें इन्हें मानना पड़ता है। अवहेलना करने पर दण्ड का भी प्रावधान भी होता है। स्वतंत्र रूप से तो इन्हें जीवन यापन का अधिकार ही नहीं होता है। वह सदियों से चली आ रही परम्परा को निभाते हुए शुभअवसरों पर नृत्य करते हैं, तालियाँ बजाते तथा नेक लेकर ही अपना भरण-पोषण करते हैं।

एक किन्नर की केवल यही इच्छा होती है कि उसे भी सामान्य मनुष्य की भाँति जीवन जीने का अधिकार हो, उसे भी एक सामान्य मनुष्य समझा जाए न कि उसे भेद-भाव की दृष्टि से न देखा जाए। किन्नर नेक व इज्जत के भूखे होते हैं तथा सम्मान से जीवन यापन करना चाहते हैं। संविधान ने तो इन्हें अधिकार मय्यसर करवा दिए हैं परंतु मानव आज भी इन्हें हेय की दृष्टि से देखता है। कोई इनसे सामाजिक सम्पर्क रखना पसंद नहीं करता है। इसलिए ये अपने जीवन से हताश हो जाते हैं।

इस उपन्यास के द्वारा किन्नर समाज से जुड़ी बहुत सी भ्रांतियों को तोड़ता गया है। ''हाय-हाय बेचारी दरद से तड़प रही है।''2 ये शब्द अंतर्मन तक गहरी संवेदना

पैदा करते हैं। इन शब्दों के द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया है कि किन्नरों में भी हृदय होता है तथा वह भी दूसरों के दुःख में दुःखी होते हैं। प्रसव वेदना से कराह रही स्त्री की मदद के लिए जब कोई आगे नहीं आता है तो किन्नर ही आगे आकर उस स्त्री की सहायता करते हैं। जब वह स्त्री प्रसव वेदना से मर जाती है तो नवजात शिशु का पालन-पोषण भी वह स्वयं करते हैं। यहाँ इंसानियत शर्मसार होते हुए दिखाई देती है। मानवीय संवेदनाएँ कहीं न कहीं दम घोंट रही है परंतु इस वर्ग में अभी भी संवेदनाएँ जीवित है। किन्नर उस बच्ची (सोना) को शिक्षित करना चाहते हैं ताकि वह आत्मनिर्भर बन सकें। ये वही लोग हैं, जिन्हें वह नपुसंक कहकर मजाक उड़ाते हैं।

भारतीय समाज में किन्नरों को हाशिए पर रखा गया हैं और समाज की मुख्यधारा से अलग कर दिया गया है। इनके प्रति समाज में भी बहुत सी गलत धारणाएँ प्रचलित हे। इनके बारे में कहा जाता है कि ये बच्चों को उठाकर ले जाते हैं तथा ऑपरेशन कर अपने समुदाय में शामिल कर लेते हैं। ''डॉक्टरी खोले बैठे हैं क्या इस कोठरिया में''3 इस वक्तव्य द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि इनके पास खुद के रहने के लिए ढंग का घर नहीं है। ये खुद के लिए दो वक्त का अन्न जुटाने के लिए तालियाँ पीटने को मजबूर हैं। ये कैसे किसी का ऑपरेशन कर उसका लिंग परिवर्तन करवा सकते हैं? शल्य चिकित्सा द्वारा लिंग परिवर्तन बेहद खर्चीला है।अगर उनके पास इतना ही धन होता तो वह स्वयं का उद्धार कर लेते।

शिक्षा ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा किन्नरों का उद्धार किया जा सकता है, इन्हें मुख्य धारा में लाया जा सकता है। वह स्वयं भी इस बात को मान चुके हैं कि शिक्षा से ही वह समाज में सम्मान पा सकते हैं। महताब गुरु का वक्तव्य दृष्टव्य है ''हम खुद नहीं पढ़ पाए ये हमारी मजबूरी है परंतु सोना तो'' यहाँ उनकी न पढ़ने की विवशता को दिखाया गया है। तथा शिक्षा उनके लिए कितनी आवश्यक है इस तथ्य को भी स्वीकारा गया है। शिक्षा के द्वारा ही हमारा बौद्धिक विकास संभव है तथा शिक्षा ही आजीविका का साधन है। शिक्षा ही वह साधन है जिसके द्वारा वह समाज में मान-सम्मान पा सकते हैं, जिसका अधिकार सबको प्राप्त है, परंतु यह वर्ग शिक्षा से अभी कोसो दूर है, कभी परिवार वाले इन्हें पढ़ाना नहीं चाहते तो कभी समाज इन्हें

ताने दे देकर घर बिठा देता है। वह जिस बच्ची (सोना) को पालते हैं, उसके साथ वह ऐसा नहीं होने देना चाहते हैं। वह उसे स्कूल भेजना चाहते हैं ताकि वह आत्मनिर्भर बन सके। ये उनकी दूरदर्शिता को दर्शाता है। ये वर्ग अपने माता-पिता की पद-प्रतिष्ठा के लिए स्कूल छोड़ देता है और अपने समुदाय में आकर रहने लगता है। यदि इन्हें शिक्षा मिल जाए तो ये अपना जीवन यापन स्वतंत्र रूप से कर सकते हैं। इन्हें किसी गुरु या नायक के सान्निध्य की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। नाज बीबी के माध्यम से यह सवाल उठाने का प्रयत्न किया गया है कि नाज बीबी के अभि भावक उनसे प्रेम करते हें तथा उसे पढ़ा-लिखा कर आत्मनिर्भर बनाना चाहते हैं परंतु महताब गुरु ये स्पष्ट करते हैं कि ‘‘कभी किसी हिजडे को पढ़ते-लिखते देखा है या पुलिस में, क्लेक्टरी में अथवा मास्टरों में कहीं इन्हें देखा है?’’4 कोई भी इनके लिए चिंतित नहीं है। कोई इन्हें मुख्यधारा में लाने का प्रयास नहीं करता है। कहीं न कहीं इनकी दयनीय दशा के लिए जिम्मेदार हम स्वयं है। हमने ही इन्हें तालियाँ पीटने को मजबूर किया है। परंतु अब वक्त आ गया है कि हमें अपना नजरिया बदलना होगा। हमें इनके प्रति भी वही मान-सम्मान तथा प्रेम का भाव रखना होगा, जो हम सामान्य मानव के लिए रखते हैं। इनके लिए स्कूलों में अलग से शौचालय की व्यवस्था करनी होगी। अध्यापकों को भी इनके प्रति स्नेह तथा सम्मान की दृष्टि रखनी होगी ताकि ये शिक्षा प्राप्त कर आत्मनिर्भर बन सके या सम्मान से जीवन जी सकें।

जब भी किसी परिवार में किन्नर का जन्म होता है, तो उसे कलंक माना जाता है। उस से जल्द से जल्द छुटकारा पाने के प्रयास किए जाते हैं। सामान्य बच्चे को परिवार का सदस्य माना जाता है। उसे वह सब सुख-सुविधाएँ मुहैया करवाई जाती है, जो जीवन-यापन करने के लिए आवश्यक हैं- वहीं दूसरी ओर किन्नर को परिवार से विस्थापित कर दिया जाता है तथा आजीवन उसकी खबर तक नहीं ली जाती है। यदि संतान शारीरिक व मानसिक रूप से अपाहिज है तो वह स्वीकार्य है परंतु यदि संतान पूर्ण स्वस्थ है। केवल उसमें यौनिक विकलांगता है तो भी वह उन्हें स्वीकार्य नहीं है। नाज बीबी का यह कहना कि ‘‘यदि मैं लगड़ी लूली होती तो वह रख लेते परंतु मैं हिजडी हूँ’’5यहाँ यह वक्तव्य सार्थक सिद्ध होता है कि हिजड़ों का बाप

कहलाना कोई नहीं चाहता है। इसीलिए इन्हें परिवार द्वारा बहिष्कृत कर दिया जाता है। कोई इनके साथ संबंध व सम्पर्क नहीं रखना चाहता है। इनका हिजड़ा होना इनके लिए श्राप बन जाता है। कहा जाता है कि व्यक्ति की सबसे बड़ी ताकत परिवार ही होती है परंतु इन्हें तो परिवार का साथ कभी मिलता है। वह परिवार के प्रेम के लिए आजीवन तरसते रहते हैं। परिवार से मिलने की चाह हमेशा इनके मन में रहती है। नाज बीबी के मन में भी अपने परिवार के प्रति प्रेम एवं संवेदनाएँ हैं परंतु वह समाज की झूठी शानो-शौकत, खानदान की इज्जत एवं मर्यादा आदि के लिए अपनों से संबंध विच्छेद कर लेती है। इन्हें बिना किसी गुनाह के ऐसी सजा को भुगतना पड़ता है, जो इन्होंने किया ही नहीं। वंश खानदान, मर्यादा के नाम पर इन मासूमों की बलि चढ़ा दी जाती है। यहाँ यह भी दिखाया गया है कि कई बार परिवार इन्हें बहिष्कृत इसलिए भी कर देता है क्योंकि वह समाज द्वारा मजबूर कर दिए जाते हैं तथा मजबूरन उन्हें अपने बच्चे का त्याग करना पड़ता है।

नारियों की स्थिति को भी उपन्यास में चित्रित किया गया है। नारी गृह उद्धार के नाम पर 'रीता' जैसे समाज सेवी लोगों को मूर्ख बना रहे हैं तथा बच्चियों का शोषण कर रहे है। ऐसी औरते समाज को गर्त की खाई में धकेल रही है। वह उद्धार के नाम पर उन्हें नर्क में भेज रही है। ऐसे लोग रक्षक के नाम पर भक्षक हैं। नाज बीबी का वक्तव्य यहाँ सार्थक सिद्ध होता है। ''सोच रही हूँ मैंने साहब कि भगवान ने हिजड़ा बनाकर ठीक किया। अगर वह यह न बनता तो जरूर मुझे औरत बनाता, तब ये सारे अत्याचार मुझे भी झेलने पड़ते।''6 जिस समाज में नारियों का ही सम्मान नहीं है वहाँ किन्नर की दशा तो दयनीय होगी। हमारे समाज में नारी ही सुरक्षित नहीं है तो किन्नरों की सुद तो बहुत दूर की बात है।

उत्पादन एवं उपयोगिता का प्रश्न इस उपन्यास का केंद्र बिंदु है। ''जरूरत पड़ी तो भ्रष्ट लोगों के खिलाफ हथियार भी उठाऊँगी, हर गंदगी को जड़ से साफ कर दूँगी। दुनिया में शन्ति रहे और क्या चाहिए किसी को?''7 लेखिका इस वर्ग को सत्ता में आने के लिए प्रेरित कर रही हैं। ताकि वह अपने अधिकारों के लिए आवाज बुलंद कर सके। यह हमें शबनम मौसी, मेयर मधु, आशा जान, लक्ष्मी त्रिपाठी जैसी

राजनीतिक हस्ताक्षर की भी याद दिलवाता है। ये लगातार इस वर्ग को रूढ़ियों से निकालने के लिए प्रयास कर रही है, ताकि ये वर्ग तालियाँ पीटने की संस्कृति से बाहर आ सके। राजनीति को यहाँ विकल्प के तौर पर उभारा गया है। ताकि उन्हें वह सब अधिकार मिले जो जीवन यापन के लिए आवश्यक हैं जैसे- राशन कार्ड की सुविधा, बैंक खाता, आधार कार्ड, पैन कार्ड, शौचालय की सुविधा, 60 वर्ष के बाद पेंशन की सुविधा आदि। किन्नरों का सशक्तिकरण कर ही इस वर्ग को मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता है। 'नाजबीबी' द्वारा उपन्यास के अंत मं चुनाव का नामांकन भरा जाता है, जो कि इस ओर इशारा करता है कि सत्ता द्वारा ही सत्ता की आवाज बेहतर सुनती है।

समाज को भी इनके प्रति संवेदनशील का परिचय देना चाहिए। शिक्षा द्वारा ही इन्हें मुकान दिया जा सकता है। मीडिया को भी आगे आकर इस वर्ग के अधिकारों की पैरवी करनी होगी। शिक्षा एवं संवेदनशीलता ही ऐसे हथियार है, जो इन्हें गर्त की खाई से निकाल सकते हैं। समाज को किन्नर समुदाय के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखना होगा तभी उनका आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक विकास संभव है।

संदर्भ सूची

1. भारतीय साहित्य एवं समाज में तृतीय लिंग विमर्श, सं. विजेंद्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गोड, अमन प्रकाशन, कानपुर 2016
2. किन्नर गाथा, शीला डागा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2020
3. थर्ड जेंडर विमर्श, सं. शरद सिंह, सामयिक प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2020
4. नीरजा माधव, यमदीप, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
5. वही, पृष्ठ 10
6. वही, पृष्ठ 167
7. वही, पृष्ठ 47

मीडिया साक्षरता की आवश्यकता

राजेन्द्र सिंह क्वीरा
असिस्टेंट प्रोफेसर, पत्रकारिता विभाग
उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी (नैनीताल)
ईमेल-rkweera@uou.ac.in
संपर्क- 9837326427

शोध सार

हमें सूचनाओं के नये युग में नये ज्ञान कौशल को स्थापित करना ही पड़ेगा, अन्यथा भ्रम, अविश्वास, शंका, अतिवाद के बीच पाठक (CONSUMER) भटककर रह जायेंगे। मीडिया साक्षरता कौशल विकास की तकनीक है, जिसके माध्यम से सूचना के सही स्वरूप व्याकरण की दृष्टि नहीं बल्कि जो प्रेषित किया गया है उसका स्वरूप स्पष्ट रूप से समझ पाना है। पश्चिम (WEST) जगत में मीडिया साक्षरता बहुत पहले शुरू हो गयी थी। जबकि एशियन जगत में पिछले दो दशक से ही इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। जिसे ऐलिस वाई.एल.ली. द्वारा कहा गया कि-1 "Media Education has been well developed in the west but in the recent years Asia regions such as Hong Kong, Tiwan, Mainland China and Japan are going their momentum".[1] जिस प्रकार अर्थशास्त्र विषय एक सजग जागृत उपभोक्ता की कल्पना करता है, उसी प्रकार मीडिया साक्षरता विषय एक सजग जागृत उपभोक्ता की कल्पना करता है। जिससे समाज में वह अपना व अपने संपर्क के साथ सही सूचना सम्प्रेक्षित कर सके।

बीज शब्द

उद्देश्यपरक, विविधता, सूचना सम्प्रेक्षित, प्रदाता, मीडिया साक्षरता, अविश्वसनीय, वास्तविकता, "ब्लू-व्हेल"।

शोध आलेख

भारत जैसे विविधताओं से परिपूर्ण लोकतांत्रिक विकासशील राष्ट्र के लिए नवाचार अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही ऐसे राष्ट्र में मीडिया साक्षरता और

अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, जहां सूचना प्रौद्योगिक के बढ़ते प्रयोग व अन्य सूचना माध्यमों के प्रकारों जैसे डिजीटल फ्लैक्सी या लेड (LED) डिसप्ले बिल बोर्ड, पोस्टर, होल्डिंग, पम्पलेट, दीवारों पर लिखना/छापना, झंडे, बैनर, पताकाएं, टी-शर्ट/कपड़ों पर लिखना इत्यादि का प्रयोग दिनो- दिन बढ़ता जा रहा है। जो उद्देश्यपरक होते हैं व एक संदेश छोड़ते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेस पुस्तक, मैग्जीन, हैण्डबुक, अखबार, सोशल मीडिया, ट्वीटर, फेसबुक, इंस्ट्राग्राम, वाट्सएप, समाचार, फिल्म, खेल, विज्ञापन इत्यादि। सूचनाओं की आसान प्राप्ति उद्देश्य को पूर्ण नहीं करता, उद्देश्य तब पूर्ण होता है जब सूचना का सही प्रयोग (उपयोग) हो। चिन्ता तब बढ़ जाती है जब डिजिटल मंच का प्रयोग प्रत्येक आयु वर्ग की पहुंच में आसान हो जाए। भारत में भी डिजिटल मंच का प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है। जहां सभी आयु वर्ग के लोग अपना अधिकांश समय इसमें व्यतीत करते हैं। जैसे बच्चों द्वारा ऑनलाइन क्लास, गेम्स, यू-ट्यूब व सोशल मीडिया का प्रयोग आदि तेजी से बढ़ रहा है। भारत में इस क्षेत्र में बहुत अधिक शोध कार्य नहीं हुए है। किन्तु पश्चिमी देशों में इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया गया और निरंतर जारी है। जैसे-[2] "18 वर्ष की आयु का औसत अमेरिकन बच्चा दो लाख हिंसात्मक कार्यक्रम देख चुका होता है। और इसी आयु वर्ग का अमेरिकन बच्चा कम से कम 16000 हत्याओं को टेलीविजन पर देख चुका होता है"। हिंसा के अतिरिक्त बहुत सारे ऐसे मुद्दे है, जिनका कुप्रभाव बहुत घातक हो सकता है। जैसे- "पोर्नोग्राफी, रेप, चोरी, धार्मिक-सामाजिक घृणा, आत्महत्या, अवसाद इत्यादि"। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति यह कहे कि वह पूर्ण मीडिया साक्षर है, बहुत मुश्किल है।

जैसा कि "हिन्दुस्तान अखबार" में 2 जून 2021 को नई दिल्ली से एक खबर छपी, जिसमें दावा किया गया था कि "90 फीसदी स्मार्ट लोग फेक न्यूज को नहीं पहचान पाते। जो लोग खुद को स्मार्ट समझते है, ऐसे लोगों में से 90 फीसदी फर्जी खबरों के झांसे में पड़ जाते हैं। यह दावा अमेरिका के प्रोसिडिंग्स

ऑफ नेशनल अकेडमी ऑफ साइन्स में प्रकाशित अध्ययन में किया गया। जिसके तहत 82 सौ अमेरिकी प्रतिभागियों पर शोधकर्ताओं द्वारा अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला गया। इन प्रतिभागियों की फेसबुक फीड़ में वास्तविक और फर्जी खबरें प्रसारित की गयी। वहां के यूटा विश्वविद्यालय जनसंचार विभाग के प्रो. ब्रेन लॉयन्स ने बताया कि शोध के दौरान हमने प्रतिभागियों से इस बात की रेटिंग करने को कहा कि खबरों की वास्तविकता जानने में अपने आपको कितना समर्थ पा रहे थे। शोध में पाया गया कि लोग खुद को फर्जी सूचनाओं के प्रति सहज मानते हैं, वे ही ऐसी खबरों के सच को जान ही नहीं पाये। यह भी देखने को मिला कि फेक न्यूज को पहचान पाने के अति आत्मविश्वास से भरे हुए लोग ही अविश्वसनीय स्रोतों वाली वेबसाइटों पर सबसे ज्यादा सर्च करते हैं। साथ ही यह भी पाया गया कि ऐसे लोगों को फर्जी सूचनाएं इतनी ज्यादा अपील करती है कि वह उन्हें सबसे ज्यादा लाइक और शेयर करते है। यह भी पाया गया कि फर्जी सूचनाओं के चंगुल में धुर दक्षिणपंथी विचारधारा के रिपब्लिक लोग ज्यादा फंसे हैं"।[3] जबकि डेमोक्रेट दल को समर्थन देने वाले लोग फर्जी सूचनाओं को बेहतर ढंग से पहचानने में सफल रहे। शोधकर्ता मानते है कि इसके पीछे एक अहम कारण यह हो सकता है कि अतिवादी विचारधारा के लोगों के विचार करने की क्षमता तथ्य और तर्क आधारित नहीं होती, वे मान्यताओं पर ज्यादा भरोसा करते है। निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा हम मीडिया साक्षरता की आवश्यकता को विस्तृत ढंग से जान सकेंगेः

1- निष्पक्ष समझ विकसित करने हेतु मीडिया साक्षरताः- आज हम अपने जीवन काल का एक बड़ा हिस्सा संचार माध्यमों में व्यतीत कर रहे है। चाहे ऑनलाइन क्लास हो, ऑफिस का कार्य या समाचार, मनोरंजन हर आयु वर्ग मानव अपना अधिकतर समय इसमें व्यतीत कर रहा है। ऐसे में यह समझ होना नितान्त आवश्यक हो जाता है कि जिस वस्तु को आप एक उपभोक्ता के रूप में उपयोग कर रहे हैं क्या व विशेष वर्ग के पक्ष में बात रख रहा है। जबकि अन्य के वर्ग को

कम आंकने का प्रयास हो रहा है या भ्रम पैदा करने का प्रयास तो नहीं इत्यादि बातों को समझने के लिए मीडिया साक्षरता को समझना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि हम पूर्वाग्रह से ग्रसित होते है कि जो समाचार सूचनाएं, लेख इत्यादि प्रिन्ट या इलैक्ट्रॉनिक मंच में प्रस्तुत किये गये है ये सभी सत्य होते है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रायटर्स, पीटीआई, आईएएनएस, एएनआई हिन्दी न्यूज जैसी बड़ी न्यूज एजेंसियां है, जो विभिन्न संचार माध्यमों को सूचनाएं बेचती हैं। एक स्वतंत्र पत्रकार/लेखक जोनेथन फोंबी (JONATHAN FENBY) ब्रिटिश लेखक ने विकीपीडिया पर जर्नलीस्टिक ऑब्जेक्टिविटी में कहा है कि "ज्यादातर समाचार पत्र, टीवी स्टेशन, न्यूज एजेंसियों पर निर्भर रहते है। ये सूचनाओं के मंच स्वयं को विवादों से बचाये रखने के लिए एजेंसी समाचारों का सहारा लेते है"।[4] किन्तु भारत के परिपेक्ष में देखा जाए तो आज समाचार चैनल अधिकांश समय वाद-विवाद में निकालने का प्रयास करते है। इनके चलते असल समाचारों का संकट दिखाई देता है। संचार माध्यमों के द्वारा वाद-विवाद एवं परिचर्चाओं के द्वारा दर्शकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे एक विशिष्ट परिणाम (Specific outcomes) निकाल कर एक सोच बना सकें। सूचनाओं की बढ़ती बाढ़ में यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक दर्शक यह सोच सके कि सूचना का वास्तविक स्वरूप क्या है। जैसे यदि हम सोशल मीडिया मंच को देखें तो, इसमें भी उपभोक्ता की जिम्मेदारी मीडिया साक्षर होने के नाते यह बनती है कि वह फेक न्यूज को छोड़कर आगे बढ़ने के बजाय उसे जांचे। जांच जैसे-"Factcheck.org, Hoaxy, Politifact, TinEye Snopes.com Washington Post.com/news/fact-checker Factcheck.org."[5] इत्यादि। दूसरी नैतिक जिम्मेदारी यह बनती है कि हमें इसके फैलाव को रोकना चाहिए, जिससे विभिन्न सूचनाओं के प्रति स्वयं की निष्पक्ष समझ विकसित कर सकें।

2. अतिवाद/चरमवाद से बचाव हेतु मीडिया साक्षरताः भारत एक विविधताओं वाला राष्ट्र है अनेक बोली-भाषा रीति-रिवाज, खान-पान, धर्म-जाति इत्यादि में

अनेक अन्तर दृष्टि गोचर है। समाचार संचार माध्यम एक ऐसा साधन है जो सबको एक दूसरे की सूचनाएं बृहद स्तर पर प्रदान करता है। कई बार गलत बयानी,भ्रामक, जानबूझकर ऐसे तथ्यों को प्रस्तुत किया जाता है, जिससे वर्ग विशेष में असुरक्षा अन्याय का भाव घृणा और द्वेष जैसे भाव पनपने लगते है। जिससे बड़ी गम्भीर सामाजिक अव्यवस्था पैदा हो जाती है। जबकि वास्तव में मामला बहुत ही सामन्य होता है। इसका प्रभाव अतिवाद के रूप में दिखायी देता है। जैसे- मॉब लिंचिंग (Mob lynching) एक आम समस्या है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी बहुत सी ऐसी घटनाएं सुनने और देखने को मिलती है जो परस्पर घृणा को बढ़ाने का काम करते है। नस्लभेद पश्चिमी जगत में अतिवाद और चरमवाद का उदाहरण है। जिसमें लोग हिंसा पर उतारू हो जाते है और आक्रामक रूप धारण कर लेते है। मीडिया साक्षरता व्यक्ति को यह समझने में सक्षम बनाती है कि प्राप्त सूचना किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व क्यों बनायी गयी है। इसमें सत्यता का प्रतिशत लगभग कितना है व तार्किक विवेचना के आधार पर स्वयं को अनियंत्रित होने से बचाती है व एक स्वस्थ्य मानसिक विचारधारा को समझने में सहायता प्राप्त करती है। जैसे अतिवाद का उदाहरण एक वीडियो गेम भी है जिसे "ब्लू-व्हेल" के नाम से जाना जाता है। जिसे भारत सरकार के सूचना-प्रसार तकनीकी मंत्रालय द्वारा गूगल, फेसबुक, याहू को पत्र लिखकर इसे बंद करने का आग्रह किया। क्योंकि इसकी वजह से सन् 2017 में भारतीय बच्चों में आत्महत्या, स्वयं को हानि पहुंचाने की अनेक घटनाएं सामने आने लगी थी। जिसे किलर गेम भी कहा गया, जबकि इसे पहले ही सन् 2016 में रूस में प्रतिबंधित कर दिया गया था। इससे भारत समेत विभिन्न देशों से लगभग 100 मौते होने की रिपोर्ट आयी। सार्वजनिक मंच कई बार एक पाठकों व उपभोक्ताओं को किसी एक सुनिश्चित दिशा की ओर ले जाने का प्रयास करते है। जिसे मीडिया साक्षरता द्वारा रोका जा सकता है।

3. डिजिटल लाइफ की समझ के लिए मीडिया साक्षरताः- जब तकनीकी विकास तीव्र होता है तो तकनीकों का प्रयोग जीवन में बड़ जाता है व स्वंय डिजिटल मंच जीवन का हिस्साबन जाता है। जैसे फेसबुक, व्हाट्सएप, इंस्ट्ग्राम, यू-ट्यूब आदि पर लोगों के बहुत से प्रशंसक एवं मित्र होते है जो लगातार एक-दूसरे के सम्पर्क में रहते है, किन्तु वास्तव में वे अकेले होते हैं। हम कई बार अपने परिचितों व मित्रों की कोई पोस्ट या फोटो देखते है तो वास्तविकता से कई गुना अधिक आकर्षक होती है जिसे देखकर हम बहुत अधिक आकर्षिकत हो जाते है या अधिक दुखी हो जाते है। भूल जाते है कि डिजिटल मंच पर फोटो को आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तित कर मनचाहा रूप दे सकते है। इससे पीछे का चित्र मस्तिष्क पर लाये तो व्यक्ति कई फोटो में से सर्वाधिक सुन्दर एवं आकर्षक दिखने वाली फोटो को ही पोस्ट करता है। जिसमें लाईक की उम्मीद अधिक की जाती है। बहुत से कार्यक्रमों में लोगों का ध्यान केवल इस बात पर रहता है कि वह कार्यक्रम के उद्देश्य को भूलकर आकर्षक फोटो खींचने में व्यस्त रहते है। वह उसे अपने जीवन में इस प्रकार शामिल कर लेते हैं कि मोबाइल के बिना क्षणभर भी अलग नही रह सकते हैं। वे समाज में अकेलेपन की समस्या से ग्रसित होते चले जाते है। ऐसे लोगों की मानसिकता को समझना और सोशल मीडिया मंच पर स्वयं को डिजिटल युद्ध से बचाये रखने में मीडिया साक्षरता की अहम भूमिका है। आज के बच्चे वीडियो गेम और युवा सोशल साइट्स पर अपना अधिकतर समय व्यतीत करते है व एक वचुर्अल जीवन को जीने लगते हैं। इसी वचुर्अल जीवन को जैसे अनेक विज्ञापनों, कार्टून चरित्रों को जीता हुआ देख सकते हैं। (जैसे बच्चा अपने आपको छोटा भीम, स्पाइडरमैन आदि कहलाना पसंद करता है व उसी प्रकार के कार्यकलाप करता है।) बच्चें कई बार विज्ञापन में दिखाई गयी वस्तुओं को लेकर भी जिद करते है। जिससे अभिभावक यह जानकर आश्चर्य होते हैं कि वस्तु का नाम रंग उपयोग आदि बच्चे को रटे हुए होते है। जिसे मीडिया साक्षरता द्वारा ही स्पष्ट रूप से समझा व जाना जा सकता है।

कमोवेश यही स्थिति युवाओं की भी है। भारतीय सिनेमा जगत इसका एक अच्छा उदाहरण है। जब एक युग में लोग (दर्शक) एक रील जीवन को जीते थे, वे इस कदर सिनेमा के वशीभूत थे कि स्वयं को एक फिल्म का चरित्र समझने लगते है। वैसा ही व्यवहार करते है और इसी भ्रम में वे अपना वास्तविक जीवन एक रील लाइफ में जीने का संघर्ष करते है।

4. डिजिटल ढंग से सोचने का अभ्यास करने हेतु मीडिया साक्षरताः– मीडिया साक्षरता सामान्य सी प्रतीत होने वाली सूचनाओं को जटिल तरीके से सोचने के अभ्यास को मजबूती प्रदान करता है। यह तरीका धीरे-धीरे हमारे व्यवहार में शामिल होने लगता है जो सूचना को स्पष्ट साकार रूप में देखने में हमें मदद करता है। जैसे एक बीमा कम्पनी द्वारा एक विज्ञापन जारी किया जाता है, जिसमें एक फोटो के साथ कुछ शर्तें लिखी हुई है। फोटो काफी जगह लिए हुए है, फोटो में एक हसंता खेलता परिवार है जो समुद्र के किनारे बच्चों (लड़का व लड़की) के साथ अपना स्वयं पत्नी के साथ साइकिलिंग करते खिलखिलाते हुए अपना समय व्यतीत कर रहा है। जिन्होंने हाथ में रंग-बिरंगे गुब्बारे पकड़े हुए हैं और परिवार मध्यम या उच्च मध्यम सा प्रतीत होता है। सामान्य सा यह दिखने वाला चित्र कई बिन्दुओं पर आकर्षित करने वाला है। इसको गहराई से समझे तो सामान्यः एक नौकरी पेशा या मध्यम/उच्च मध्यम वर्गीय परिवारों में सदैव ऐसी चाह रहती है कि वे अपने बच्चों के साथ छुट्टियों में मौज-मस्ती करें। परिवार में एक बेटा व एक बेटी का होना सन्तुलन की चाह को दर्शाता है। अब हम मीडिया साक्षरता के दृष्टिकोण से सोचे तो स्थिति संदेश अधिक स्पष्ट हो जायेगा। इसके लिए हमें कुछ प्रश्न करने होंगे (1)- किस आयु वर्ग के लिए क्यों बनाया गया है? तो उत्तर मिलेगा बच्चों के माता-पिता को लक्षित किया गया है, क्यों किया गया हैं इसका उत्तर है क्योंकि बीमा कराने वाले लोग यहीं है। (2) तर्क को पहचानकर मूल्यांकन करें जैसे- इस विज्ञापन में तर्क (संदेश) छिपा है कि बीमा करा दिया जाए तो व्यक्ति का जीवन खुशियों से भर जायेगा। फोटो में दिये गये परिवार की

तरह ही खुशहाल हो जायेगा, वह व्यक्ति फोटो वाले परिवार की तरह स्वयं भी सुखी रहने की कल्पना बलवती होने लगती है। परन्तु इसमें तार्किक पहलु देखे तो बीमा करने मात्र से परिवार सुखी नही हो सकता, इसके लिए अनेक अन्य कारक जिम्मेदार है। मूल्यांकन करें तो बीमा करने से पैसा जेब से निकलेगा व भार बढ़ेगा। (3) तर्क में विसंगतियों को पहचानकर त्रुटियों को जानेः इस विज्ञापन में एक तरफ जेब से पैसे जा रहे है, तो दूसरी ओर विज्ञापन जता रहा है कि यह सब आपकी खुशियों के लिए ही किया जा रहा है, जिससे आप आजाद महसूस करें। यह बिल्कुल जरूरी नही है कि आपकी पत्नी या पति छरहरे व बच्चें आठ से दस आयु वर्ग के बीच ही रहे। यह भी जरूरी नही है कि आपका पहनावा मॉडन समाज के अनुरूप हो, जबकि चित्र में ऐसा दर्शाया गया है। ये सभी एक आदर्श व खुशहाल परिवार को प्रस्तुत करते हैं। मीडिया साक्षरता कभी भी सूचना के गलत या सूचना गलत या सही होने की जांच नहीं करता, बल्कि सूचना को स्पष्ट रूप से जानने की कला का विकास करता है। जैसा कि उपरोक्त तर्क से यह स्पष्ट नहीं होता है कि बीमा करना गलत या सही है। किन्तु यह बताने का प्रयास किया गया है कि फोटो के पीछे छिपे हुए मनोविज्ञान को जानकर स्वयं निर्णय लेने में समर्थ बन सके कि वह शर्तों और नियमों की जांच करने का तर्कपूर्ण निर्णय ले सकें। जिससे हम सुसंगत व्यवस्थित तरीके से सूचना को पहचान सकें।

5. पर्दे के पीछे के सच को जानने हेतु मीडिया साक्षरताः- भारत में राष्ट्रीय स्तर पर टीवी प्रसारण कार्यक्रमों में महाभारत व रामायण के प्रसारण ने अपना एक रिकार्ड कायम किया। ये प्रसारण कार्यक्रम भारतीय समाज में लोगों के दिलों-दिमाग पर रच-बस गये। बहुत से लोग नाटक के इन पात्रों को भगवान के समान सम्मान आदर देने लगे। कई ऐसे उदाहरण है जहां लोग कलाकारों से भी भगवान के सम्मान, आचरण की अपेक्षा करने लगे। अपेक्षाकृत आज स्थिति में थोड़ा बहुत अंतर आया है। आज के समय में तकनीकी विकास होने से लोगों के हाथों

में मोबाइल आया है। आज दर्शक स्वयं सूचना एवं मनोरंजन प्रदाता की भूमिका में है। आज भी बहुत से लोग केवल सूचना के अंश पर ध्यान केन्द्रीत करते है। जबकि वे इस ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते हैं, जैसे- आकर्षक तेज रंगों का प्रयोग धीमा मधुर संगीत डरावना या तेज संगीत आकर्षक वस्त्र सज्जा व विभिन्न प्रकार के प्रकाशों का प्रयोग इत्यादि। ये सभी हम किसी एक वीडीओ/चित्र में आंखों से देख सकते है। किन्तु कभी-कभी हमारा ध्यान इस ओर नही जाता कि इस फिल्म या सूचना का विडिओ कौन बना रहा होगा व क्या परिस्थितियां होंगी। लगभग कितने लोगों की टीम ने मिलकर यह काम किया होगा। मैन वर्सेज वाइल्ड एक टीवी शो है, जिसमें बेयरग्रिल्स को ऐसा प्रस्तुत किया गया है जैसे कि वह जंगल में अकेला है। जबकि उसके साथ कैमरामैन के अलावा एक छोटी सी टीम शामिल थी, जिन्हें कैमरे के पीछे रखा गया था। कैमरे के आगे केवल बेयरग्रिल्स को रखा गया है। यदि हम कैमरे के पीछे के लोगों की कल्पना का दृश्य चित्रण करें तो हमें स्पष्ट हो जायेगा कि बेयरग्रिल्स अकेले नही है, उनके आसपास लोग है। तो हमारे अकेलेपन का भय खत्म हो जायेगा साथ ही शो को देखने का दृष्टिकोण भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा। कई बार दर्शकों में सनसनी पैदा करने के लिए या और अधिक आकर्षक बनाने के लिए ग्राफिक्स व विजुवलाइजेशन का प्रयोग होता है। इन तकनीकी प्रयोग को जोड़कर देखने में व अलग करके देखने में स्थितियां स्पष्ट हो जाती है, साथ ही एक निर्णय निर्माण की स्थिति भी आसान हो जाती है।

6. लेखक के दृष्टिकोण को समझने हेतु मीडिया साक्षरताः- प्रिंट मीडिया हो या इलैक्टॉनिक मीडिया इसमें लेखकों की भूमिका महत्वपूर्ण है। एक समय था जब अखबारों के मध्य में छपने वाला पेज सम्पादकीय बढ़े चाव से पढ़ा जाता था। गंभीर लेखों के माध्यम से गंभीर मुद्दों पर मंथन होता था। किन्तु पीत पत्रकारिता के चलते गंभीर मुद्दे भी शंका की दृष्टिकोण से आधे मन से स्वीकारे जाने लगे है। यदि हम डिजिटल प्लेटफार्म की बात करें तो बहुत से ऐसे वाक्ये सामने आये है,

जिससे यह सोच पैदा होती है कि ये कौन व्यक्ति है जो ऐसे विचार को समाज के बीच लाने का प्रयास कर रहा है व इसकी विचारधारा आम विचारधारा से अलग क्यों है? और क्या संदेश देना चाहता है? एक लेखक/कहानीकार के रूप में पर्दे के पीछे से किसके विचार विभिन्न चरित्रों के रूप में चित्रित हो रहे है। मीडिया साक्षरता हमें इस तथ्य की समझ प्रदान करती है कि पटल पर क्या कहने का प्रयास हो रहा है एवं लेखक अपना दृष्टिकोण प्रथम, द्वतीय व तृतीय बचनों के माध्यम से कहता है। यह दृष्टिकोण क्या है इसे मीडिया साक्षरता द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

निष्कर्ष : एक जागरूक उपभोक्ता बनने हेतु मीडिया साक्षरता के लिये नये प्रकार की शिक्षा जगत अथवा उन्नत तकनीकी जगत में एक जागरूक उपभोक्ता होना नितान्त आवश्यक है। मीडिया शिक्षा, साक्षरता एक नवीन ज्ञान की शाखा है जिसे आज के उपभोक्ता को समझना बहुत जरूरी है कि क्या फेक न्यूज है, क्या आप खबरों के आदि (लती) तो नही बनते चले जा रहे है। नई जगमग दुनियां में अपने अस्तित्व, विचार, दर्शन को कैसे मजबूत बनाये रखते हुए तकनीकों का प्रयोग करते हुए आगे बढ़ना है। चाहे वह फिल्म हो वीडियो गेम हो या सोशल साइट्स हो, जिसमें लोग अपना घंटों समय बीता देते है। अंत में लगभग पांच या दस प्रतिशत ही उपयोगी सामग्री प्राप्त करते है, बाकि अन्य समय की बर्वादी होती है। आज भारत में स्र्वाधिक युवा वीडियो गेम में अपना समय व्यतीत कर जागरूकता से कोसों दूर है। एक सर्वे के मुताबिक यह चयन की योग्यता है कि बहुत से दर्शक पूर्व से यह सुनिश्चित नही करते है कि उन्हें टीवी पर या सोशल साइट्स पर क्या देखना है? वे अपना बहुत सा समय अलग-अलग चैनलों व साइटों में प्रवेश करते जाते है। कई बार उन्हें स्पष्ट रूप से अन्य कार्यक्रम देख लेने के बहुत बाद में याद आता है कि वह क्या देखना चाहते थे। कई बार बोलने वाले की भाव-भंगिमा इस ओर इशारा करती है कि वह झूठ बोल रहा है। ऐसा

हमें बहुत से साक्षात्कारों में देखने को मिलता है। मीडिया साक्षरता एक जिम्मेदार सोच को तैयार करने का कोशल पैदा करती है, जो अतिवाद व जड़ता से बचाते हुए कुशाल उपभोक्ता व प्रदाता बनने में सहायक होती है।

संदर्भ सूची:

1. New Horizone in education VoL-58, NO-3, Dec-2010 - ALICE YLLEE Hong Kong Bapstist University.
2. Media Lit racy Part-4 Page no. 449 Silverblalt Andrew smith, Don Miller and – nikole Broun.
3. हिन्दुस्तान अखबार 2 जून 2021, नई दिल्ली।
4. https://en.m.wiikipedia.org/wiki/Journalistic-objectivety.
5. Media Literacy: know your sources and Media Bias. CMAC –https://youtu.be/dt2CaHxugwu. \
6. PTI :- प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, IANS :- इण्डो एसियन न्यूज सर्वस, ANI :- एसियन न्यूज इन्टरनेशनल, HN9 :- हिन्दुस्तान न्यूज 9
7. श्रीवास्तव राजेन्द्र (2006) पत्रकारिता के विविध आयाम, सुमित इण्टरप्रइजेज नई दिल्ली।
8. मल्होत्रा (2007) हिन्दी पत्रकारिताः कल आज और कल, संजय प्रकासन दिल्ली।
9. कुमार अमरेन्द्र (2006) 21वीं सदी और हिन्दी पत्रकारिता, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली।
10. एनसी पंत (2005) मीडिया लेखन के सिद्धांत, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली।

11. चतुर्वेदी जगदीश प्रसाद, (2011) हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली।
12. प्रेमनाथ (2009) जनसंचार माध्यम एवं पत्रकारिता, लोक शक्ति प्रकाशन नई दिल्ली।
13. Singh Priyanka (2013) Professional Communication, Atlantic, New Delhi.
14. इंडियन न्यूज पेपर सोसायटी, प्रेस हैण्डबुक।

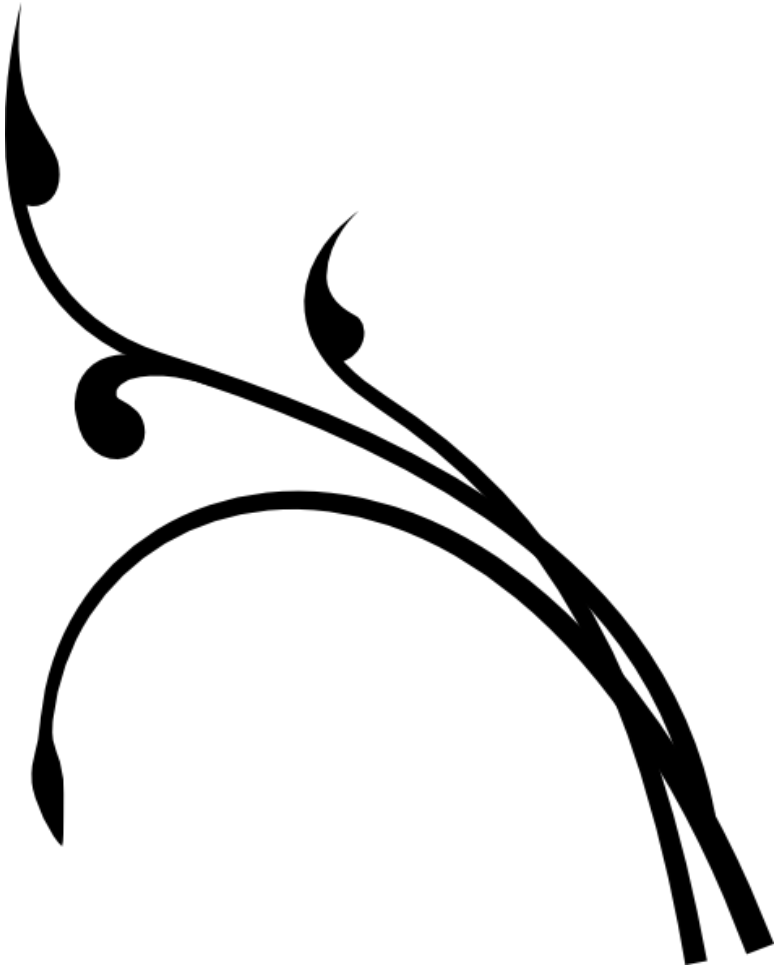

भारत-इजरायल द्विपक्षीय संबंध: बदलते सुरक्षा आयाम

अमित कुमार सिंह
झारखण्ड केन्द्रीय विश्वविद्यालय
राँची झारखण्ड- 835205
Amit.singh@cuj.ac.in
9415272328

शोध सार

यह शोध पत्र भारत और इज़राइल के बीच सुरक्षा सहयोग की दिशा में प्रतिनिधित्व करता है जो एक व्यावहारिक भारतीय विदेश नीति का सबसे महत्वपूर्ण घटक है। शीत युद्ध के बाद की विश्व व्यवस्था, दोनो देशों के बीच व्यवहार में भारतीय राजनीति का एक सफल उदय हुआ। फ़िलिस्तीन के संबंधों से कहीं ज़्यादा भारत के संबंध इज़रायल से मज़बूत हुए हैं तथा बढ़ते रणनीतिक महत्व में योगदान दिए हैं। दोनों राष्ट्रों के मध्य सुरक्षात्मक दृष्टिकोण को लेकर काफ़ी अभिसरण किया है, इसके अलावा अंतरिक्ष, प्रौद्योगिकी, साइबर सुरक्षा, फार्मास्यूटिकल्स, कृषि नवाचार, जल प्रबंधन, ऊर्जा आदि क्षेत्रों में भी अभिसरण हुए हैं। इस पेपर में हम २१वीं सदी में भारत इज़रायल के सम्बन्धों के बीच सुरक्षात्मक दृष्टिकोण को लेकर कितना बदलाव हुआ है ? सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से दोनों राष्ट्र कितना मज़बूत हुए हैं ? भारत तथा इज़रायल की विश्व पटल पर अपनी मित्रता को लेकर आगे बढ़ने की रणनीति क्या होगी ? इन बुनियादी सवालों पर विचार किया गया है।

बीज शब्द- *सुरक्षा, आतंक, भारत, यहूदी, इज़रायल, विभाजन, रणनीति।*

शोध आलेख

भारत तथा इज़रायल के ऐतिहासिक एवं समृद्ध सभ्यतागत के सम्बंध की बात करें तो एक विश्व पटल के राजनीति पर उल्लेख मिलता है, जो 562 ईसा पूर्व भारत में यहूदियों के आने से शुरू हुआ I एक समान औपनिवेशिक जो ब्रिटिश साम्राज्य का अतीत था, उससे उपनिवेशित किया जा रहा था। इसके साथ ही ये दोनो राष्ट्र कई समानताओं में एक दूसरे के साथ पूरे ज़ोर शोर से कदम ताल मिलाकर चलते आए हैं, विभाजन जैसे एक बुरे सपने का दौर हो या फिर लोकतांत्रिक आदर्शों की पालन करने की बात

हो इसके अलावा शत्रुतापूर्ण पड़ोसियों के अधीन तथा सीमा पार आतंकवादी गतिविधियों से ग्रसित होना दोनो के लिए एक गहरे ज़ख़्म जैसे थे। भारत ने अधिकारिक रूप से 1950 में इज़राइल को मान्यता दी, दोनों को औपचारिक रूप से अपने राजनयिक संबंधों को शुरू करने में चार लंबे दशक लग गए। और भारत ने 1992 में पूर्ण राजनयिक संबंधों के साथ दूतावास खोला था।

भू-राजनीतिक तथा सुरक्षा दृष्टिकोण से इज़रायल का महत्त भारत के लिए निकटता से समझना महत्वपूर्ण है। क्योंकि सामान्य कानून संरचना, लोकतांत्रिक प्रथाएं, औपनिवेशिक अतीत तथा सभ्यतागत संबंध जैसी समानताएँ दोनों राष्ट्रों को एक दूसरे के नज़दीक लाई हैं। ऐसे कई कारकों ने रणनीतिक रूप से महत्वपूर्ण संबंधों को परिपक्व होने में मदद की। इज़रायल हमेसा से भारत के संकट में उसके साथ खड़ा रहा है, उसे हथियार तथा सहयोग प्रदान कर रहे हैं। भारत तथा इज़रायल शत्रुतापूर्ण, परमाणु सशस्त्र पड़ोस, अलकायदा आईएसआईएस, आदि जैसे अंतरराष्ट्रीय आतंकवादी समूहों से घिरा हुआ है। भारत तथा इज़राइल दोनो राष्ट्र इन आतंकी समूहों के लक्ष्य बने हुए हैं। भारत की प्रतिभा तथा कौशल इज़रायल के नवाचार और प्रौद्योगिकी के पूरक हैं। इनसे विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, अंतरिक्ष, दवाओं, नैनो प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में सहयोग संभव हुआ है। इजरायल के साथ भारत के संबंधों को लगातार मजबूत करना पूर्ण सार्वजनिक दृष्टिकोण से मदद मिली है । इस द्विपक्षीय संबंध ने सितंबर 2003 में किसी सत्तारूढ़ इजरायली प्रधान मंत्री एरियल शेरोन कि पहली भारत यात्रा के साथ एक पूरी तरह से नया गति ग्रहण किया। राष्ट्रीय सुरक्षा तथा अर्थशास्त्र किसी भी देश की विदेश नीति के दो प्रमुख निर्धारक होते हैं। हालाँकि, भारत-इज़राइल संबंधों के मामले में, राष्ट्रीय सुरक्षा निर्धारक उनके राष्ट्रीय सुरक्षा हितों के अभिसरण के कारण प्रमुख कारक के रूप में विकसित हुए हैं। उनके बढ़ते संबंधों में महत्वपूर्ण बनाने की क्षमता है, विशेष रूप से दक्षिण एशिया तथा मध्य पूर्व में शक्ति संतुलन को बदलकर वैश्विक राजनीति पर प्रभाव।

उभरती सुरक्षा चुनौतियाँ

भारत और इसराइल विभिन्न प्रकार की चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। इज़रायल चरमपंथी/आतंकवादी संगठनों कि बढ़ती गतिविधियां को रोकने के लिए हथियारों की ख़रीद फ़रोख़्त कहीं न कहीं उसके रक्षा खर्च और सीमा सुरक्षा खर्च को बढ़ा रहा है। भारत के लिए भी सीरिया, इराक और मध्य पूर्व के अन्य हिस्सों में होने वाली घटनाएं गंभीर चिंता का विषय हैं। भारत न केवल अपनी ऊर्जा के लिए मध्य पूर्व पर बहुत अधिक निर्भर करता है, बल्कि बड़ी संख्या में भारतीय कामगारों पर भी निर्भर करता है जो क्षेत्र में रह रहे और काम कर रहे हैं। आतंकवाद, भारत और इज़रायल दोनों के सामने अनेक चुनौती है। दोनों देशों को अलग-अलग आतंकियों से खतरे का सामना करना पड़ रहा है। लेकिन मध्य पूर्व और अफगानिस्तान-पाकिस्तान क्षेत्र में होने वाली घटनाएं इन खतरों को और भी जटिल तथा निपटने में मुश्किल बना सकती हैं। इराक-सीरिया में इस्लामिक स्टेट (IS) के उदय का इजरायल पर सीधा प्रभाव पड़ा है। भारत के लिए खतरा आईएस और अल कायदा (क्यूए) से प्रेरित वैश्विक जिहाद की ओर भारतीयों युवाओं का आकर्षित होना है, जैसे कश्मीर में जिहाद के पुनरुत्थान की संभावना को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। कई समूह जो 1990 के दशक में कश्मीर जिहाद का हिस्सा थे, जैसे जैश-ए-मोहम्मद हाल के दिनों में फिर से उभरे हैं। गिरफ्तार किए गए इंडियन मुजाहिदीन के नेताओं ने निकट भविष्य में भारत में आतंकवादी गतिविधियों और हमलों को अंजाम देने के लिए AQ या अन्य अंतरराष्ट्रीय आतंकवादी समूहों के साथ सहयोग की संभावना का संकेत दिया है। दोनों देशों के लिए बड़ी चुनौती यह है कि इन खतरों का जवाब कैसे दिया जाए? यह भारतीय संदर्भ में अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि पाकिस्तान एक परमाणु हथियार शक्ति है और अक्सर भारतीय पारंपरिक सैन्य श्रेष्ठता का मुकाबला करने के लिए परमाणु हथियारों को तैनात करने की धमकी देता है। हालांकि यह वर्तमान में इज़राइल के मामले में प्रासंगिक नहीं हो सकता है, पारंपरिक जवाबी हमलों को खत्म करने के लिए रासायनिक, रेडियोलॉजिकल, जैविक और परमाणु सामग्री का उपयोग करने वाले आतंकवादियों की संभावना एक स्पष्ट संभावना बनी हुई है।

रक्षा संबंध तथा आतंकवाद विरोधी सहयोग

भारत-इजरायल रक्षा संबंध लगातार बढ़ रहे हैं। इज़रायल तथा भारत दोनों क्रमशः मध्य पूर्व और दक्षिण एशिया की चुनौती रहित सैन्य शक्ति बनने की इच्छा रखते हैं। 1962 में चीन के खिलाफ तथा 1965, 1971 में पाकिस्तान के खिलाफ युद्ध में इजरायल ने भारत की मदद की। कारगिल संकट के दौरान इज़रायल ने भारत की मदद करके उसके पक्ष में बदल दिया। वहीं भारत ने 1967 के मध्य पूर्व संघर्ष के दौरान इजरायल को गुप्त रूप से सैन्य उपकरण भेजकर इजरायल की मदद की। हालांकि इसे सार्वजनिक रूप से कभी स्वीकार नहीं किया गया, लेकिन इस सहयोग ने एक साझा सुरक्षा समझ का संकेत दिया। 1963 में, इज़रायल के सेनाध्यक्ष जनरल शाल्टियल ने अपने भारतीय समकक्ष के साथ बैठक के लिए भारत का दौरा किया। 1979 में, भारतीय प्रधान मंत्री मोराजी देसाई ने इजरायल के रक्षा मंत्री मोशे दयान को आमंत्रित किया। इंदिरा गांधी ने इजरायल के साथ संबंधों की नीति जारी रखी और यहां तक कि भारतीय खुफिया एजेंसी, रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (रॉ) तथा मोसाद के बीच सहयोग की अनुमति दी। इंदिरा गांधी की हत्या के बाद, इजरायली सुरक्षा सेवाओं से सुरक्षा तंत्र सहायता के लिए अनुरोध किया गया था। 1980 के दशक में, यह संदेह था कि इज़राइल तथा भारत गुप्त रूप से कहुता में पाकिस्तानी परमाणु सुविधा के खिलाफ एक संयुक्त अभियान शुरू करने की योजना बना रहे थे। हालाँकि, भारतीय परमाणु सुविधाओं पर जवाबी हमले की आशंका के कारण ऑपरेशन को बंद कर दिया गया था। इसके अलावा, यह भी माना जाता था कि सीआईए ने इन योजनाओं के बारे में पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरल जिया-उल हक को सूचना दी थी।

भारत-इजरायल सैन्य, खुफिया और आतंकवाद विरोधी सहयोग बेहद करीबी है। पिछले कई वर्षों में, भारत ने इज़राइल से अरबों डॉलर के सैन्य उपकरण खरीदे हैं, जिसमें इज़राइल की एरो एंटी-बैलिस्टिक मिसाइल बैटरी द्वारा नियोजित ग्रीन पाइन्स रडार सिस्टम भी शामिल है। इजरायल से भारत की रक्षा संबंधी खरीद सालाना करीब 1.5 अरब डॉलर है। इस संबंध का इजरायल की अर्थव्यवस्था पर बहुत सकारात्मक प्रभाव पड़ा है जो उसके रक्षा उद्योग पर निर्भर है। रक्षा सौदों से देश के अनुसंधान और

उन्नत हथियारों के विकास में मदद मिलती है, जिसमें मिसाइल रोधी प्रणालियों से लेकर हाई-टेक राडार और ड्रोन से लेकर नाइट विजन उपकरण तक है, भारत-इजरायल रक्षा सहयोग की कोई सीमा नहीं रही है। इजरायल के रक्षा मंत्रालय द्वारा जारी आंकड़ों के अनुसार, भारत इजरायल के सैन्य निर्यात का 50 प्रतिशत हिस्सा है। भारत-इजरायल सैन्य संबंध एक खरीदार-विक्रेता से संयुक्त उत्पादन और अनुसंधान में बदल गया है। दोनों देश अपनी मौजूदा हथियार प्रौद्योगिकियों के उन्नयन और नई प्रौद्योगिकियों के विकास के लिए काम कर रहे हैं। हिंदुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड और इज़राइल एयरोस्पेस इंडस्ट्रीज के मानव रहित वायु वाहन डिवीजन, मालत द्वारा एक मानव रहित हेलीकॉप्टर के विकास पर काम पहले ही शुरू किया जा चुका है। जुलाई 2007 में, प्रधान मंत्री मनमोहन सिंह की अध्यक्षता में सुरक्षा पर भारत की कैबिनेट समिति ने भारत के रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन द्वारा 70 किलोमीटर की दूरी पर विमान और अन्य हवाई लक्ष्यों को बाधित करने में सक्षम मिसाइलों के विकास के लिए इज़रायल के साथ 2.5 बिलियन की रक्षा परियोजना को मंजूरी दी। यह इज़रायल से जुड़ा सबसे बड़ा एकल सौदा है। G-550 'कन्फॉर्मल'AWAC (एयरबोर्न वार्निंग एंड कंट्रोल सिस्टम), एयरो इंडिया 2009 शो के दौरान इजरायली कंपनियों द्वारा प्रस्तुत नवीनतम पेशकश, मुख्य आकर्षणों में से एक थी। परमाणु क्षेत्र में सहयोग भारत-इजरायल संबंधों का एक और महत्वपूर्ण आयाम है, जिसका उपयोग पाकिस्तान पर गुणात्मक श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए किया गया है। मोदी सरकार के सत्ता में आने के कुछ ही महीनों बाद सितंबर, 2014 में भारत ने इजरायली एयरोस्पेस इंडस्ट्री की बराक-एक एंटी मिसाइल डिफेंस सिस्टम खरीदने की घोषणा की थी, यह सबसे महत्वपूर्ण समझौतों में एक है I भारत तथा इज़रायल के बीच इस समझौते को लेकर करीब 965 करोड़ रु की बात हुई। भारत और इज़रायल के बीच परमाणु क्षेत्र में गुप्त सहयोग का पता 1962 में लगाया गया जब इज़राइली परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष ने भारत का दौरा किया। भारत अपने परमाणु आयुध कार्यक्रम का विस्तार करना चाहता था और इस संबंध में इज़रायल के पास सबसे उन्नत तकनीकी जानकारी थी। दूसरी ओर, इज़रायल के पास आवश्यक कच्चे माल की कमी थी और भारत के पास दुनिया में थोरियम का सबसे बड़ा भंडार था। स्विट्जरलैंड में यहूदी फाइनेंसरों के

एक समूह ने इजरायल द्वारा सुविधाओं और उसके उत्पादों के उपयोग के बदले में भारत में एक निष्कर्षण संयंत्र के लिए ढाई मिलियन पाउंड की परियोजना को वित्तपोषित करने पर सहमति व्यक्त की। यह निष्कर्षण संयंत्र जादूगुड़ा में स्थापित किया गया था। यह भी अनुमान लगाया गया है कि मई 1998 के भारतीय परमाणु परीक्षण वास्तव में इजरायल की परमाणु तकनीक का परीक्षण करने के लिए किए गए थे, क्योंकि इजरायल के क्षेत्र में कोई परीक्षण आधार उपलब्ध नहीं हैं। भारत-इजरायल संबंधों ने एक और मील का पत्थर देखा जब भारत ने मुस्लिम देशों, विशेष रूप से पाकिस्तान और ईरान के संकट के लिए एक इजरायली जासूसी उपग्रह को अंतरिक्ष में लॉन्च किया। TecSar उपग्रह, जिसे पोलारिस भी कहा जाता है, के बारे में कहा जाता है कि इसमें उन्नत फुटेज तकनीक है जो इसे दिन और मौसम की स्थिति की परवाह किए बिना छवियों को प्रसारित करने की अनुमति देती है।

भारत-इजरायल रक्षा संबंध तथा आक्रामक यथार्थवाद

आक्रामक यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार, शक्ति संतुलन बनाकर एक दूसरे के प्रति आक्रामक रूप से कार्य करना केवल विकास की सीढ़ी चढ़ने के लिए ज़रूरी नीति है बल्कि अपने आप को जीवित रखकर विकास के तरफ़ की बढ़ाता है तथा अधिक से अधिक लाभ के तरफ़ बढ़ना भी चाहिए I जिससे की महान शक्तियों के बीच संघर्ष तथा युद्ध स्वाभाविक रूप से अपरिहार्य हों। मियरशाइमर के आक्रामक यथार्थवाद सिद्धांत में पाँच बुनियादी सिद्धांत शामिल हैं। पहली परिकल्पना यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अराजक है यानी कोई पदानुक्रमित श्रेष्ठता, सम्मोहक शक्ति नहीं है जो राज्य एक दूसरे के बीच व्यवहार को नियंत्रित कर सकते हैं और अपनी सीमाओं की बाध्यता दे सकते हैं। दूसरी धारणा यह है कि सभी महान शक्तियों के पास आक्रामक सैन्य क्षमताएं हैं जिनका उपयोग वे अन्य राष्ट्रों के खिलाफ कर सकते हैं। तीसरा यह है कि वे कभी भी आश्वस्त नहीं होंगे कि कोई भी राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के खिलाफ अपनी आक्रामक सैन्य क्षमताओं का उपयोग करेंगे। चौथी परिकल्पना यह है कि राज्य का मूल लक्ष्य जीवित रहे जिससे की संप्रभुता की सुरक्षा। जो सबसे बुनियादी कारक है वो राज्यों को सक्रिय करती रहे। अंतिम यह है कि राज्य तर्कसंगत कर्ता हैं इसलिए,

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में जीवित रहने के लिए राज्यों को रणनीतिक रूप से कार्य करना चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अराजक स्थिति और अन्य राज्यों के इरादों और क्षमताओं के बारे में अनिश्चितता ने भारत को हिंद महासागर क्षेत्र में एक प्रमुख शक्ति बनने के लिए मजबूर कर दिया है, और इसने आसपास के देशों पर अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने के तरीकों की खोज की है। मियर्सहाइमर का विचार है कि सभी महान शक्तियों के पास आक्रामक सैन्य क्षमताएं हैं, और वे अन्य राज्यों के खिलाफ उपयोग करने में सक्षम हैं। इसी वजह से भारत अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान से काफी परेशान है, जो कई तरह की समस्याओं का सामना कर रहा है. भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर मुद्दा अभी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है, जिसका समाधान अभी तक नहीं हुआ है। पाकिस्तान उस क्षेत्र में किसी भी टकराव के लिए सैन्य क्षमता बढ़ा रहा है। सीमा पार पर नियंत्रण के लिए, पड़ोसी की सैन्य गतिविधियों पर नजर रखने के लिए, भारत इजरायल की मदद से एक नई निगरानी प्रणाली स्थापित कर रहा है। अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली राज्यों के इरादों के बारे में अनिश्चितता से भरी हुई है, स्वाभाविक रूप से, राज्य अपनी सैन्य क्षमताओं को बढ़ाने के लिए प्रयास कर रहे हैं, और यह कभी-कभी अन्य राज्यों के साथ साझेदारी स्थापित करना अनिवार्य बना देता है। अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए सुरक्षा चाहने वाले राज्य संघर्ष में शामिल होने के लिए मजबूर हैं। भारत पाकिस्तान के परमाणु खतरे से वाकिफ है। इस खतरे को हराने और सुरक्षित रहने के लिए, भारत नई तकनीक के हथियारों के लिए शोध कर रहा है, जैसे हवा से हवा में मिसाइल और इजरायल के साथ हथियारों के व्यापार को मजबूत करना चाहिए ।

आर्थिक तथा व्यापारिक संबंध

रक्षा तथा आतंकवाद विरोधी क्षेत्र में एक दूसरे के सहयोग ने भारत तथा इज़राइल को करीब ला दिया है, दोनों राष्ट्र इस संबंध में विविधता लाने के लिए भी ठोस प्रयास कर रहे हैं, इसी कारण औद्योगिक तथा तकनीकी क्षेत्र में दोनो राष्ट्रों ने द्विपक्षीय

सहयोग के लिए कई द्वार खोले हैं। 1990 के दशक से लेकर वर्तमान समय तक इज़राइल तकनीक उद्योग में एक अभूतपूर्व विकास किया है। जो वर्तमान में स्टार्ट-अप राष्ट्र के रूप में जाना जा रहा है। जिसमें दूरसंचार, कंप्यूटर, सूचना प्रणाली, दवाएं, प्रकाशिकी, उपभोक्ता सामान तथा सॉफ्टवेयर क्षेत्रों की कई जानी मानी कम्पनियाँ हैं। पिछले एक दशक में इजरायल-भारत के व्यापार में छह गुना वृद्धि हुई है। इजराइल से बड़ी संख्या में हीरे काटने तथा पॉलिश करने के लिए भारत आते हैं, जिससे उनका मूल्य बढ़ जाता है। कई इजरायली कंपनियां भारत के साथ हीरे के व्यापार पर निर्भर हैं। इन दोनो राष्ट्रों के मध्य हीरा का व्यापार प्रमुख व्यापार के रूप में माना गया है। इसके अलावा सुजुकी तथा फोर्ड जैसे कुछ कार निर्माता भारत में अपने कारखानों का उपयोग इज़राइल को कारों की आपूर्ति करने के लिए करते हैं। इज़राइल-भारत भी दक्षिण सूडान और वियतनाम जैसे देशों में व्यापार संचालन की स्थापना में समान हित साझा करते हैं। इसलिए दोनों राष्ट्र तीसरे देश के बाजारों में उद्यमों के लिए अपने-अपने देशों में व्यापारिक समुदायों के बीच अधिक से अधिक बातचीत को बढ़ावा देने से लेकर सुविधाजनक बनाने के लिए मिलकर काम कर रहे हैं। रक्षा क्षेत्र में इस तरह से अधिक से अधिक प्रत्यक्ष रूप से विदेशी निवेश (FDI) हो सकता है, जो दोनों राष्ट्रों के हित के लिए लाभदायक तथा व्यवहार्य होगा। निजी क्षेत्र के मंच के माध्यम से कृषि में सहयोग बढ़ाया जा सकता है। मुक्त व्यापार समझौते से व्यापार संबंधों में वास्तविक वृद्धि हासिल की जा सकती है। इजरायल का मानना है कि समझौता तीन से पांच वर्षों में व्यापार की मात्रा को 10-15 अरब डॉलर तक बढ़ा सकता है। यह व्यापार तथा निवेश का ध्यान उन क्षेत्रों में स्थानांतरित करने में मदद करेगा, जिसमें आईटी, बायोमेडिसिन और नवीकरणीय ऊर्जा शामिल हैं। इन दोनो राष्ट्रों के मध्य उत्पादों की टोकरी की विस्तार की संभावना है।

भारतीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी के नेतृत्व ने यह साबित किया है कि न्यू इंडिया का विजन घरेलू क्षेत्र तक ही सीमित न होकर विदेशी मामलों तक भी फैली हुई है। हथियारों के बाजार में विक्रेताओं और खरीदारों के रूप में उनके हितों के

अल्पकालिक अभिसरण से परे होने के कारण जेरूसलम तथा नई दिल्ली के बीच संबंध स्थिर प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष

भारत और इसराइल 21वीं सदी में सुरक्षा और सामरिक सहयोग के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण भागीदार हैं। साथ-साथ, भारत एक बहुत ही बृहद रूप से आर्थिक बाजार बना है, जिसके कारण 2010 में यहाँ व्यापार एक ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था रूप में बन कर उभरी है। जिससे इज़राइल को कई आर्थिक लाभ हुए हैं। यह संबंध भारत के लिए सैन्य और आर्थिक दृष्टि से समान रूप से फायदेमंद है। दोनों राज्यों ने द्विपक्षीय संबंधों को पटरी पर लाने और विवाद की संभावना पर काबू पाने के लिए सही दृष्टिकोण पाया है। भारत तथा इज़रायल राष्ट्रीय सुरक्षा की चुनौतियों को लेकर काफ़ी गम्भीर हैं, इसीलिए दोनों राजधानियों का रणनीतिक फोकस संबंधों को मजबूत करने के तरफ़ अग्रसर है। इस संबंध के व्यापक भू-रणनीतिक निहितार्थ हैं जो इन दो क्षेत्रीय शक्तियों को शक्ति प्रदान करते हैं। यह अरब देशों की अनिच्छा से इजरायल को एक विश्वास के रूप में स्वीकार करता है और प्रतिरोध को बढ़ाता है, भारत की क्षमता यथास्थिति की शक्ति और इसलिए दक्षिण एशिया में स्थिरता से ही सम्भव हो पाया है। इस संबंध से उत्पन्न राजनयिक यातायात भी पश्चिम, मध्य और दक्षिण एशिया के बीच संबंधों को मजबूत करता है, जिससे ग्रेटर मध्य पूर्व की धारणा को अधिक मज़बूती मिलती है। वाशिंगटन के पास भारतीय-इजरायल सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिए अच्छे आधार हैं, क्योंकि हिंद महासागर में उसके अपने हित बढ़ने की संभावना है। हिंद महासागर ने भू-राजनीतिक महत्व प्राप्त कर लिया है, क्योंकि डब्ल्यूएमडी, इस्लामी कट्टरपंथ, आतंकवाद और नशीले पदार्थों की तस्करी सहित कई मुद्दे इसके तट पर मिलते हैं। इसके अलावा, वाशिंगटन को एशियाई लोकतंत्रों के बीच घनिष्ठ सहयोग को बढ़ावा देने के लिए भारतीय-इजरायल के एंटेंटे को भुनाना चाहिए, जो अमेरिकी प्रतिद्वंद्वियों से तुलनीय सुरक्षा चुनौतियों-आतंकवाद, बैलिस्टिक मिसाइलों और WMD- का सामना करते हैं। इस तरह के व्यापक सुरक्षा ढांचे में तुर्की, ताइवान, जापान और दक्षिण कोरिया इजरायल और भारत के लिए

प्रमुख संभावित परिवर्धन हैं। इज़राइल के दृष्टिकोण से, भारत के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाना एक रणनीतिक प्राथमिकता है।

संदर्भ सूची

1- Abhyankar, R. M. (2012). The evolution and future of India-Israel relations. S. Daniel Abraham Center for International and Regional Studies, Tel Aviv University.

2- Azhar, S. M. (2015). India-Israel Bilateral Relations. Journal of the International Relations and Affairs Group, Volume V, Issue I, 121.

3- Ben-Josef Hirsch, M., & Miller, M. C. (2021). Otherness and resilience in bilateral relations: the cases of Israel–Germany, India–Russia, and India–Israel. Journal of International Relations and Development, 24(2), 356-380.

4- Cheema, S. A. Indo-Iranian Relations: The Israeli Dimension. Obama, Bush, and Latin American Coups 237, 344.

5- Gogate, C. U., & Arya, E. The evolution of Indian foreign policy towards Israel & Palestine.

6- Inbar, E. (2004). The Indian-Israeli Entente. Orbis, 48(1), 89-104.

7- Kapur, A. (2006). India-from regional to world power. Routledge. Pradhan, B. (2004). Changing dynamics of India's West Asia policy. International Studies, 41(1), 1-88.

8- Khan, Z. A. (2020). Development in Indo-Israel Defense Relations Since 9/11: Pakistan's Security Concern and Policy Options. South Asian Studies, 26(1).

9- Kumar, T. (2015). India and Israel: Reinforcing the partnership.

10- Kumaraswamy, P. R. (2002). India and Israel: emerging partnership. Journal of Strategic Studies, 25(4), 192-206.

11- Kumaraswamy, P. R. (2010). India's Israel policy. In India's Israel Policy. Columbia University Press.

12- Levy, J. (2018). India and Israel: Strategic Partners on the Move-By S. Samuel C. Rajiv-EXECUTIVE SUMMARY: India and Israel elevated their bilateral.

13- Pant, H. V. (2011). India's Relations with Iran: Much Ado about Nothing. The Washington Quarterly, 34(1), 61-74.

14- Shay, S. (2017). Israel and India celebrating" silver jubilee". Retrieved February, 15, 2019.

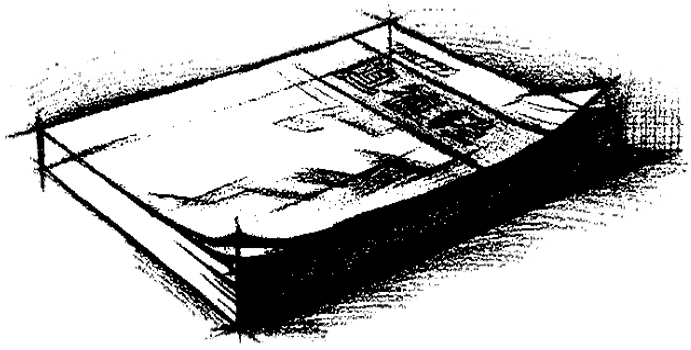

अनुच्छेद 370 - भारत पर पहले और बाद में प्रभाव और अनिवार्यताएं

रवि कुमार
झारखण्ड केन्द्रीय विश्वविद्यालय
राँची झारखण्ड- 835205
ईमेल ravikumar0017ds@gmail.com

शोध सार

यह शोध पत्र मुख्य रूप से धारा 370 और इसके पहले और बाद में भारत पर पड़ने वाले प्रभावों और अनिवार्यताओं पर केंद्रित है। इस शोध पत्र में भारत के एकीकरण और भारतीय एकीकरण की समस्याओं पर चर्चा की गई। बाद में, इसने कश्मीर पर अनुच्छेद 370 के प्रभाव और धारा 370 के उन्मूलन से पहले और बाद में धारा 370 के तुलनात्मक प्रभावों पर चर्चा की। इस शोध पत्र में पर्यावरण की स्थिति और कश्मीर में युवाओं की स्थिति पर चर्चा की गई है। धारा 370 के उन्मूलन के बाद। इस शोध लेख में धारा 370 के उन्मूलन के बाद कश्मीर के विकास पर भी चर्चा की गई है। इस शोध पत्र में लोगों के प्रवास, आतंकवाद और दक्षिण एशियाई राज्यों पर इसके प्रभाव पर भी चर्चा की गई है।

बीज शब्द - *जम्मू कश्मीर, भारतीय संविधान, पर्यावरण की स्थिति, आतंकवाद, विकास, मानव सुरक्षा*

शोध आलेख

आजादी के बाद का भारत विभाजन का इतिहास और आतंकवाद का इतिहास है जहां कश्मीर केंद्र में है। भारतीय इतिहास कश्मीर और धारा 370 के बिना नहीं लिखा जा सकता है। स्वतंत्रता के समय, भारत प्रांतों, ब्रिटिश उपनिवेशों और भारत में शासन करने वाले अन्य भारतीय शासकों में विभाजित था। भारत पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक 589 भागों में विभाजित था। भारत से पाकिस्तान का विभाजन भारतीय स्वतंत्रता पर एक आघात था, जिसकी भरपाई कभी नहीं की जा सकती। भारतीय स्वतंत्रता के समय, समय ने यह भी कहा कि भारत एक राज्य नहीं बल्कि एक राज्य बन रहा है।

भारत के विभाजन के बाद, भारतीय नेताओं के सामने सबसे बड़ी चुनौती सभी राज्यों और प्रांतों को एक साथ मिलाकर भारत बनाने की थी। एकीकरण की यह जिम्मेदारी

सरदार पटेल को दी गई थी, जो उस समय भारत के उप-प्रधानमंत्री थे और भारत के लौह पुरुष के रूप में भी जाने जाते थे। एकीकरण का प्रश्न तब उभरा जब तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड माउंटबेटन ने भारत के विभाजन की घोषणा की, कि दो राज्य होंगे, भारत और पाकिस्तान, और अन्य सभी राज्य जो ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा थे, या तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हो सकते हैं या कर सकते हैं स्वतंत्र रहें और एक स्वतंत्र राज्य के रूप में अपनी संप्रभुता का आनंद लें। हम जानते हैं कि मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा प्रस्तावित द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के आधार पर भारत का विभाजन हुआ था। द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के अनुसार, जिन्ना का तर्क है कि भारत में मुसलमानों के हितों को कभी नहीं बचाया जा सकता क्योंकि भारत में बहुसंख्यक आबादी हिंदू है। भारत हिंदुओं का देश है, और बहुसंख्यक हिंदुओं के बीच मुसलमान सुरक्षित नहीं हैं, जिन्ना ने शिमला सम्मेलन में कहा कि यह मुसलमानों के हित के लिए सुरक्षित नहीं है और भारत में हमेशा धमकी और संकुचित रहेगा। शिमला सम्मेलन में जिन्ना के इस बयान ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मुस्लिम नेताओं को आहत किया। शिमला सम्मेलन में जिन्ना के बयान ने अबुल कलाम आज़ाद जैसे मुस्लिम नेताओं की भूमिका को कम कर दिया, जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में भी काम किया। मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा पाकिस्तान की मांग ने उन्हें इस्लाम का शुभचिंतक और भारत में मुसलमानों का शुभचिंतक बना दिया। आजादी के बाद जिन्ना ने सभी मुस्लिम शासकों को पाकिस्तान में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया। जिन्ना की इस कहावत ने दोनों पक्षों के नेताओं को अपनी तरफ से अलग-अलग राज्य और प्रांतीय राज्यों को एकजुट करने के लिए उकसाया। जिन क्षेत्रों में ज्यादातर मुसलमानों का वर्चस्व था, उन्हें पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान का हिस्सा बनना था। इसके अलावा, साथ ही, जिन्ना ने भारतीय राज्यों के बीच एक गलियारे की भी मांग की जो पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान दोनों को जोड़ सके, जिसे भारतीय नेताओं ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि यह जल्द ही दोनों देशों के बीच विवाद की हड्डी बन जाएगा। साथ ही जिन्ना भी जूनागढ़, हैदराबाद को मनाने की कोशिश कर रहे थे और कश्मीर को पाकिस्तान में मिलाने की कोशिश कर रहे थे क्योंकि इन राज्यों में जूनागढ़ और कश्मीर में मुस्लिम आबादी का वर्चस्व था और हैदराबाद पर मुस्लिम शासक

का शासन था। भारत की ओर से भारत के एकीकरण के लिए बनी समिति के मुखिया सरदार पटेल थे। वप्पला पंगुन्नी मानोन (राज्य मामलों के मंत्रालय में भारत सरकार के सचिव) की मदद से, सरदार पटेल ने भारतीय राज्यों को एकजुट किया। पटेल सभी भारतीय राज्यों को एकजुट करने में सफल रहे, लेकिन तीन राज्य हैदराबाद जूनागढ़ और कश्मीर भारत के एकीकरण के वाहन में फंस गए। यह भी कहा गया कि वे जिन्ना के संपर्क में थे और पाकिस्तान में विलय करना चाहते थे। साथ ही, कश्मीर स्वतंत्र और उसकी संप्रभुता चाहता था। सरदार पटेल ने रक्षा कार्रवाई और जनमत संग्रह के साथ दो राज्यों हैदराबाद और जूनागढ़ को एक भारतीय राज्य में मिला दिया, लेकिन साथ ही, कश्मीर दोनों राज्य से स्वतंत्र होना चाहता था और अपने संप्रभु राष्ट्र की स्थापना का प्रयास करना चाहता था। राजा हरि सिंह, जो कश्मीर के राजा थे, ने किसी भी राज्य में कश्मीर के विलय से इनकार किया। यह तब था जब राज्य के मुखिया, गवर्नर-जनरल और लॉर्ड माउंट बैटन ने खुद देश को स्वतंत्र रहने दिया, इसलिए भारत चुप था। फिर भी, साथ ही, पाकिस्तान में हैदराबाद और जूनागढ़ के उदय में जिन्ना की अक्षमता ने उन्हें पठान कबीला को कश्मीर पर हमला करने के लिए प्रशिक्षित करने के लिए मजबूर किया, क्योंकि मुस्लिम बहुल आबादी के कारण कश्मीर को पाकिस्तान में जबरन विलय कर दिया गया था। जिन्ना ऐसा करने में विफल रहे क्योंकि कश्मीर के राजा हरि सिंह ने भारतीय समकक्ष से मदद मांगी, लेकिन भारतीय लोकतंत्रवादियों ने यह कहकर मदद करने से इनकार कर दिया कि कश्मीर भारत का हिस्सा नहीं है और भारतीय किसी अन्य राष्ट्र की संप्रभुता का अतिक्रमण नहीं कर सकते। अगर कश्मीर भारत से मदद चाहता है, तो हरि सिंह को पहले विलय के दस्तावेज पर हस्ताक्षर करना चाहिए। तभी भारत पाकिस्तान के खिलाफ कश्मीर में प्रवेश करेगा क्योंकि यह भारत की संप्रभुता की सुरक्षा का मामला है। हरि सिंह ने भारत के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और विलय के दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिए, और 24 अक्टूबर 1947 को भारतीय सेना को कश्मीर में हवाई माध्यम से तैनात किया गया, और उन्होंने काबिलाई आतंकवादियों का बहादुरी से मुकाबला किया। विलय के दस्तावेज पर हस्ताक्षर के साथ, भारतीय संविधान में अनुच्छेद 370 के साथ एक नया अनुच्छेद 35 जोड़ा गया है, जो भारत में कश्मीर का एक विशेष जुलूस

देता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 35a के अनुसार, जम्मू कश्मीर ने अस्थायी, संक्रमणकालीन और विशेष प्रावधान दिए हैं, जिसके अनुसार अनुच्छेद 370 कश्मीर में काम करता है। इस लेख को 1954 के राष्ट्रपति के आदेश के माध्यम से संविधान में जोड़ा गया था। इस लेख में परिभाषित किया गया था कि जम्मू और कश्मीर राज्य के निवासियों को विभिन्न कानूनों के तहत शासित किया जाएगा। इसमें अन्य भारतीय राज्यों की तुलना में नागरिकता, संपत्ति का स्वामित्व और मौलिक अधिकार भी शामिल हैं। जम्मू और कश्मीर में अनुच्छेद 370 के कार्यान्वयन ने इस क्षेत्र में भारत सरकार की भूमिका को सीमित कर दिया। दवा, परिवहन, सुरक्षा आदि जैसे सीमित क्षेत्रों में इसे निचोड़ा गया था। यह लेख कश्मीरियों को विशेष विशेषाधिकार देता है। इसके अनुसार, कश्मीर का अपना झंडा है, उनकी नागरिकता का पैटर्न है, अनुच्छेद 19 के खिलाफ उन्हें किसी अन्य राज्य के लोगों को कश्मीर में बसने की अनुमति नहीं थी। इसके अलावा, यह भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 के भी खिलाफ था, जो कहता है कि भारत, भारत, राज्य का एक संघ होगा। उनका चुनाव पैटर्न भी अलग था, और उनके छह साल के विधानसभा चुनाव थे। जम्मू और कश्मीर में अनुच्छेद 370 का नियमितीकरण राज्य के विकास को नुकसान पहुँचाता है और भारत के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रमुख मुद्दों में से एक बन जाता है।

दक्षिण एशिया के लोगों को यह अच्छी तरह से पता है कि कश्मीर भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद की हड्डी है, जो इस क्षेत्र के लोगों के विकास को नुकसान पहुंचाता है और दक्षिण एशियाई क्षेत्र के राज्यों के विकास को नुकसान पहुंचाता है। कश्मीर के कुछ बड़े हिस्से पर नियंत्रण रखने वाला पाकिस्तान कुछ हिस्सा चीन को देता है और इस विवाद में चीन को पक्षकार बनाता है. पाकिस्तान जानता है कि दक्षिण एशिया में चीन की सहमति और मदद के बिना अकेले कश्मीर पर अवैध रूप से कब्जा करना संभव नहीं है, और साथ ही, पाकिस्तान के पास एक अच्छा अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं है। पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर क्षेत्र में चीन का अवैध प्रवेश दक्षिण एशिया में पाकिस्तान की पकड़ और मनोबल को मजबूत करता है और कश्मीर में अपना दबदबा मजबूत करता है, पाकिस्तान चीनी सरकार को इस विवादित क्षेत्र में

सड़कें और बांध बनाने की अनुमति देता है। चीन सीपीईसी और ओबीओआर जैसी परियोजनाओं पर चीन में काफी पैसा खर्च करता है, जो अंतरराष्ट्रीय कानूनों और परंपराओं के खिलाफ है। चीन नहीं चाहता कि भारत इस क्षेत्र में दखल दे। इस ओबीओआर परियोजना के माध्यम से चीन पाकिस्तान के रास्ते रेशम मार्ग को पुनर्जीवित करना चाहता है, जो सीधे मध्य पूर्व को जोड़ सकता है और मध्य पूर्व तक चीन की पहुंच आसान होगी। इसके अलावा, हम सभी जानते हैं कि अफ्रीकी देशों में अपने व्यापार का विस्तार करने के बाद अब चीन ने मध्य पूर्व क्षेत्र में प्रवेश किया, जो यूरेनियम, थोरियम आदि जैसे कई रेडियोधर्मी पदार्थों का बिजलीघर है। रेशम मार्ग के पुनरुद्धार के साथ, चीन कच्चे माल का आसानी से दोहन कर सकता है। मध्य पूर्व से, इसकी परिवहन लागत को कम करते हुए। चीन के गहरे जाल की नीति के कारण चीन का क्लोन बन चुके पाकिस्तान के वर्तमान परिदृश्य को देखते हुए, पाकिस्तान चीनी सरकार के खिलाफ उंगली उठाने की स्थिति में भी नहीं है। कश्मीर में भारत को रोकने के लिए चीन पाकिस्तानी सेना को हथियार और गोला बारूद की आपूर्ति करता है और आतंकवादी संगठनों को पैसे से मदद करता है। चीनी सरकार भारत सरकार को इन गतिविधियों में शामिल करना चाहती थी, जो बेकार है। चीन की मदद से पाकिस्तान न सिर्फ अपने ही देश में पाकिस्तानी आतंकी को टैन कर रहा है बल्कि जिहाद के नाम पर कश्मीरी युवाओं को बढ़ावा दे रहा है और भारत में भी उन्हें ट्रेनिंग दे रहा है. कश्मीर घाटी में इंडियन मुजाहिदीन जैसे आतंकी संगठन सक्रिय हैं। पाकिस्तान, जो एक तरफ कश्मीर के मामले में चीन की मदद लेने वाला मुस्लिम देश है, और चीनी सरकार ने अपने क्षेत्र के मुसलमानों को अपने वश में कर लिया। इसके अलावा, पूरी दुनिया उइगर मुसलमानों के उत्पीड़न के कारण मानवाधिकारों के नाम पर चीनी सरकार के खिलाफ लगा रही है। चीन में मुसलमानों के मानवाधिकारों पर सवाल उठाने के बजाय, पाकिस्तान पाकिस्तान में चीन से मदद लेता है। साथ ही, पाकिस्तान भी दक्षिण एशिया में खुद को इस्लाम के तारणहार के रूप में घोषित करता है। जबकि भारत में पाकिस्तान से ज्यादा मुस्लिम आबादी है। धारा 370 के नाम पर पाकिस्तान हमेशा कश्मीरी युवाओं को गुमराह करने की कोशिश करता है. यह धारा 370 का निष्क्रिय प्रभाव है क्योंकि कश्मीर के लोग बेरोजगार थे, साक्षरता दर कम

थी, आतंकवादी संगठनों ने उन्हें धन और धर्म के नाम पर गुमराह किया। उन्हें गुमराह किया गया था कि कश्मीर भारत का हिस्सा नहीं है, जबकि भारत अवैध रूप से कश्मीर को नियंत्रित करता है, और हमें इसे भारत से मुक्त करना होगा। भारतीय सेना पर पत्थर फेंकना और भारत "तेरे टुकड़े होंगे" का नारा लगाना धारा 370 के निष्फल परिणाम थे। यह लेख कश्मीरी लोगों को शेष भारत से अलग करता है। इससे यह भी अहसास होता है कि उनका अलग संविधान उन्हें भारतीय राज्यों से अलग बनाता है। अधिनियम के तहत नागरिकता नीति किसी बाहरी व्यक्ति को कश्मीरी क्षेत्र में अपना व्यवसाय स्थापित करने की अनुमति नहीं देती है। तो, कश्मीर घाटी पर्यटन उद्योग पर निर्भर थी, लेकिन कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियों ने इस उद्योग को नष्ट कर दिया, और उन्होंने धरती पर स्वर्ग को सबसे खतरनाक जगह में बदल दिया। इसने पूरे कश्मीर में रक्तपात फैला दिया और बड़ी संख्या में कश्मीरी लोगों को भूख और भय में छोड़ दिया|धारा 370 के कारण कश्मीर हथियारों और गोला-बारूद का सबसे बड़ा बाजार बन गया है। कश्मीरी लोग अपने बच्चे को अच्छी शिक्षा देने की बजाय फौजी पर पत्थर फेंक कर पैसे कमाने के लिए अपने बच्चे के हाथों में पत्थर देने लगते हैं। लेकिन कश्मीर से 370 हटने के बाद. पाकिस्तान और चीनी सरकार दोनों ही भारत के प्रति बहुत आक्रामक थे। इतने सालों के बाद देखा जा रहा है कि 2020 में भारतीय और चीनी सेना के बीच संघर्ष हो रहा है। कश्मीर में आतंकवादी गतिविधि भी एक साल में ही कम हो जाती है। कश्मीर में भारतीय सेना द्वारा लगभग 200 आतंकवादी मारे गए। पाकिस्तान ने संयुक्त राष्ट्र में भी इस मुद्दे को उठाया था, लेकिन संयुक्त राष्ट्र में भारत के खिलाफ उनके तर्क को नजरअंदाज कर दिया गया था। कई देश भारत के साथ खड़े हैं और तर्क देते हैं कि कश्मीर भारत का एकीकृत हिस्सा है, और अपने संप्रभु क्षेत्रों के तहत किसी भी कानून को बनाना और समाप्त करना संप्रभु राज्य का मामला है। यह किसी भी देश का आंतरिक मामला है, इसलिए हम भारत के आंतरिक मामले में दखल देने के लिए अधिकृत नहीं हैं। साथ ही, 370 का उन्मूलन कश्मीर घाटी में आतंकवादी गतिविधियों को कम करता है और कश्मीरी लोगों को भारतीय विविधता से जुड़ने की अनुमति देता है। यह कश्मीरी लोगों को उनके अस्तित्व के लिए आतंकवादी समूह में शामिल होने से रोकता है। इसके बजाय, उन्हें भारतीय सेना

में शामिल होना चाहिए और अपने देश की सेवा करनी चाहिए। यह यूपीएससी जैसे विभिन्न परिणामों में देखा जा सकता है, और सशस्त्र बलों के परिणामस्वरूप हर जगह कश्मीरी लोगों की संख्या बढ़ रही है। इसने उन्हें विभिन्न बलों और नौकरियों में सेवा करने का मौका दिया है, लेकिन यह कश्मीरी लोगों को अपने राज्य का नेतृत्व करने, अपने राज्य की समस्या को उठाने, सक्रिय राजनीति में शामिल होने और रूढ़िवादी मानसिकता वाली कश्मीरी परंपराओं को खत्म करने का प्रशिक्षण भी दे रहा है। यह युवाओं को सक्रिय राजनीति से जोड़ रहा है और भाई-भतीजावाद और लोकतंत्र के अभिजात्य सिद्धांत के युग को समाप्त कर रहा है। अनुच्छेद के समाप्त होने के बाद अब राजा के परिवार का सदस्य राजा नहीं बन सकता था, लेकिन अब एक किसान का बेटा भी कश्मीर का मुख्यमंत्री बन सकता है। हालाँकि, अनुच्छेद 370 के समय, केवल दो परिवारों ने लोकतांत्रिक लोकाचार और भारतीय संसदीय प्रणाली के खिलाफ कश्मीरी राजनीति पर अपना दबदबा कायम रखा, जिससे एक चाय वाला (चाय वाला) भी भारत का प्रधान मंत्री बन गया। अब कश्मीर में एक विशेष धार्मिक समुदाय का शासन समाप्त हो जाता है, और भारतीय संविधान का धर्मनिरपेक्ष लोकाचार भी वहां प्रचलित है। जम्मू-कश्मीर से अनुच्छेद 370 को खत्म करने और केंद्र शासित प्रदेश को उनका दर्जा देने से कश्मीरी लोगों को विकास में मदद मिलेगी। यह देखा गया है कि कश्मीर में दशकों के डीडीसी चुनाव के सफलतापूर्वक संपन्न होने के बाद, बड़े पैमाने पर लोग डीडीसी चुनाव में भाग लेते हैं और यह देखा जाता है कि चुनाव में युवाओं का एक समूह निर्वाचित हुआ और भारत की स्वतंत्रता के बाद पहली बार लोकाचार का लोकाचार हुआ। कश्मीर में धारा 370 हटने के बाद लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता नजर आती है| अनुच्छेद 370 के समय, अन्य राज्यों के लोगों को कश्मीर में जमीन खरीदने की अनुमति नहीं थी, और यहां तक कि कश्मीर की लड़कियों को भी शादी के बाद अपने पिता की संपत्ति का मालिक बनने की अनुमति नहीं थी। इसके लिए प्रमुख व्यवसायी कोई व्यवसाय स्थापित करने के कारण कश्मीर में प्रवेश नहीं कर रहे थे। प्राथमिक आवश्यकता भूमि है कुछ समय राजनेताओं ने यह भी तर्क दिया कि धारा 370 कश्मीर के पर्यावरण का सुरक्षा वाल्व था, लेकिन यह देखा गया है कि कश्मीर में, पर्यावरण पर सबसे हानिकारक प्रभाव धारा 370 के

समय हुआ था। कश्मीर है दुनिया में केसर की खेती के लिए जाना जाता है, जो अपने आप में वीरता और ताकत का रंग है, लेकिन साथ ही कश्मीर की जमीन को कश्मीरी आबादी के युवाओं के खून से सींचा गया।

कश्मीरी पंडितों की कहानी को भी नहीं भुलाया जाएगा कि ज्यादातर कश्मीरी आबादी कश्मीरी पंडित थे, और धारा 370 के उन्मूलन के बाद कश्मीरी पंडितों ने इसे एक सकारात्मक संकेत के रूप में देखते हुए कश्मीर से पलायन करने के लिए मजबूर किया, और अब वे भी उम्मीद कर रहे हैं उनके जन्मस्थान में पुनर्वास के लिए। अब कश्मीर के विकास को देखकर लगता है कि सालाना बजट में कश्मीर पर खास ध्यान दिया गया. यह देखा जाता है कि देश के कई हिस्सों में सड़कों और रेलवे का निर्माण विकास का मुख्य स्रोत है। अब सरकार इन इलाकों की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए सुरंग बनाना शुरू कर देती है, क्योंकि सर्दी के मौसम में कश्मीर का तापमान -45 डिग्री से भी नीचे चला जाता है. इसके अलावा, भारी हिमपात के कारण सभी सड़कें बंद कर दी गईं और एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक संचार काट दिया जाएगा। लेकिन सुरंग के निर्माण से वे आसानी से एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में परिवहन कर सकते हैं।

अंत में, हम कह सकते हैं कि कश्मीर से अनुच्छेद 370 के उन्मूलन से उन्हें कश्मीरी लोगों को उनका उचित हक मिलेगा, और उनकी ऊर्जा सही दिशा में प्रवाहित होगी, वे भारत के अन्य हिस्सों के लोगों से सीधे जुड़ सकते हैं और जब वे संपर्क में आते हैं। अलग-अलग क्षेत्र के लोगों का कश्मीरी लोगों के प्रति लोगों का रुझान बदल जाएगा। उनके प्रति उनकी मानसिकता भी बदलेगी। अनुच्छेद के समाप्त होने से कश्मीरी लोगों को भारतीय लोगों के प्रति अपनापन महसूस होगा और भारतीयों के प्रति उनका दृष्टिकोण भी बदलेगा। यह न केवल जम्मू और कश्मीर क्षेत्र की मदद करता है बल्कि भारत की अंतरराष्ट्रीय राजनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों को भी प्रभावित करता है। अनुच्छेद 370 के हटने से अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विषय बदल जाएंगे। अनुच्छेद 370 के उन्मूलन ने दक्षिण एशियाई क्षेत्र की आंतरिक गतिशीलता और दक्षिण एशिया की आंतरिक राजनीति को भी बदल दिया। यह जम्मू और कश्मीर में विविधता की अनुमति देता है और फिर से कश्मीर में कश्मीरी पंडितों को बसाने में

मदद करता है जो अपने ही देश में शरणार्थी बन जाते हैं। भारतीय संविधान के मौलिक अधिकार, अनुच्छेद 19 की तरह, कश्मीर में लागू हैं, और भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 को अब इसकी मूल वैधता प्राप्त है। अब केंद्र सरकार को जम्मू-कश्मीर में हो रही सभी गतिविधियों की जांच करनी चाहिए और ऐसे सभी उपाय और पहल करनी चाहिए जो कश्मीरी लोगों को मुख्यधारा में लाने में मदद करें। उन्हें कश्मीर के सभी स्कूलों को भारत संघ के अनुसार अपने पाठ्यक्रम को संशोधित करने की अनुमति देनी चाहिए, और उनका पाठ्यक्रम उनकी परंपरा और संस्कृति के अनुसार तैयार किया जाना चाहिए ताकि वे वैश्वीकरण के चरण में अपनी पहचान न खोएं। इन सबसे ऊपर, आतंकवादी गतिविधियों की जाँच होनी चाहिए ताकि यह टेररिस्तान की आतंकवादी मानसिकता का हिस्सा न बने।

संदर्भ सूची

1. Kapur, Manvi, "A timeline of key events that shaped the unique identity of Kashmir within India," Quartz India,2019, [online web] https://qz.com/india/1682124/a-timeline-of-jammu-kashmirs-modern-history-and-article-370/ Accessed on 12 Aug 2019.
2. Thapliyal, Sheru Maj Gen, “Art370: The untold story”, Indian Defence Review, Issue Vol 26.1, Jan-march 2011, [online web] http://www.indiandefencereview.com/news/article-370-the-untold-story/, accessed on 26 Aug 2019.
3. Noorani, A. G. (2014). *Article 370: A constitutional history of Jammu and Kashmir*. Oxford University Press.
4. Samanta, Siddhartha, “The final transfer of power in India 1937-1947 A close look”, Scholars work UARK,2011, [online web]

https://scholarworks.uark.edu/cgi/viewcontent.cgi?article=1257&context=etd. They are accessed on 17 Sept 2020.

5. Report of the state's reorganization commission,1955,[online web] https://www.mha.gov.in/sites/default/files/State%20Reorganisation%20Commisison%20Report%20of%201955_270614.pdf. Accessed on 22 Sept 2020.
6. Ikram, S. M. (1995). *Indian Muslims and partition of India*. Atlantic Publishers & Dist.
7. Balasubramanian Teaching, T., & Balu, A. SARDAR VALLABH BHAI PATEL ACHIEVEMENTS AND POLITICAL STUDIES.
8. Menon, J. (2013). *The performance of nationalism: India, Pakistan, and the memory of partition*. Cambridge University Press.
9. Hassan, M. (2020). The Two Nation Theory and the Creation of Pakistan. *Asian Journal of Social Sciences and Management Studies*, *7*(2), 80-88.
10. Moore, R. J. (1983). Jinnah and Pakistan demand. *Modern Asian Studies*, *17*(4), 529-561.
11. Zakaria, R. (2004). *Indian Muslims: where have they gone wrong?* Popular Prakashan.
12. Casci, S. (1998). MUSLIM SELF-DETERMINATION: JINNAH CONGRESS CONFRONTATION, 1943-44. *Il Politico*, 67-85.
13. Nanda, B. R. (2013). *Road to Pakistan: the life and times of Mohammad Ali Jinnah*. Routledge.

14. Madras (India: State). Legislature. Legislative Assembly. (1953). Madras Legislative Assembly debates. DOI: 10.2307/saoa.crl.27485064.
15. Krishna, B. (2007). *India's Bismarck, Sardar Vallabhbhai Patel*.
16. Indus Source. Ganguly, Š. (2002). *Conflict unending: India-Pakistan tensions since 1947*. Columbia University Press.
17. Bose, S. (2009). *Kashmir: Roots of Conflict, paths to peace*. Harvard University Press.
18. Ahmed, Z. S. (2016). *Regionalism and regional security in South Asia: The role of SAARC*. Routledge.

Status of Women in Panchayati Raj System: A Case Study of Jharkhand

Dr. Suchi Santosh Barwar
Assistant Professor
Department of Political Science
Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi
Email: s_barwar09@rediffmail.com

Abstract:

In every society women play a significant role. But as studies suggest that not only in India but also across the globe there is not a single country where women are given equal status with men in matter of governance. In this regard the provision of reservation under 73rd Amendment Act 1992 has been a landmark initiative facilitating equal presence and participation of women in the three tiers Panchayati Raj system in India. The reservation policy for women is widely accepted in many states and is in fact 21 states have introduced 50% reservation for women including Jharkhand. But it is imperative to study that whether women are enjoying their roles and responsibilities or whether they are just acting like rubber stamp. The objective of this study is to examine political status of women in the local institutions of Jharkhand.

Keywords: *Women, 73rd Amendment, Jharkhand, Panchayati Raj*

Introduction

Empowerment and Autonomy of women and the improvement of their social economic and political status are essential for the achievement of transparent and accountable government and sustainable development. The United Nations Organisation adopted Convention on the Political Rights of women in 1952 . UNO had organised four world conferences on women. Fourth was held in Beijing in 1995 and it declared that women's equal participation in decision making is not only a demand for simple justice or democracy but can also be seen as a necessary

condition for women's interests to be taken into account[1]. The year 2020 is of historical significance for the women's movement worldwide as it marks the 25th anniversary of the '4th World conference on Women' in Beijing (1995). It was a watershed moment where women's right were placed squarely on the human right agenda. Hillary Clinton in her address at Beijing stated "if there is one message that echoes forth from this conference let it be that human rights are women's right and women's rights are human rights, once and for all"[2]. 4th world conference was an extension of other large international conferences organised under UN initiative over the past 15 years. The Beijing platform of action aims to remove all obstacles to women's active participation in all spheres of public and private life through a full and equal share in political decision making. It also affirmed that women should have at least a 30% share of decision-making position[3].

However, participation of women in general in politics and public life in India has been abysmally low. There is a huge gap between men and women in political activities beyond voting. Participation of women at the higher level is lower in comparison to their participation at the lower level of governance structure. In the democratic arena leadership and managerial skills of women are silently recognised however, they are not given space in the public arena. While other marginalised communities such as Schedule Caste and Scheduled Tribes got reservation in the Parliament and State Legislative Assemblies, no reservation for women was given in the Constitution of India in the beginning which restricted their political empowerment[4].

Panchayati Raj Institutions have completed 62 years in India and 28 years as Constitutional bodies in 2021. The 73rd Constitutional amendment act, 1992 through its reservation policy brought more than 1 million women to the fore as members and chairpersons of local bodies. There have been many remarkable changes in the society under the leadership of women. In each state we can find such women as elected leaders at the Panchayat levels who have contributed enormously to the development process.

History of women's representation in PRI's

To protect and promote the right of women some international covenants have been passed. The Universal Declaration of Human Rights 1948, The International Covenant on Political and Civil Rights 1966, The UN Covenant on Economic, Social and Cultural rights 1966 etc. The United Nation initiatives namely UN Convention on Elimination of All Form of Discrimination Against Women (CEDAW) is another important international initiative instrumental for determining women centred policy measures by all the countries of world including India[1].

In India important initiative have been undertaken by the government to ensure equal status of women in the country. The Committee on the Status of Women in India (CSWI) was set up in the year 1971 to look into different aspects of status of women including their political participation and released its report in 1974. The report noted the ineffectiveness of the representation of women in Panchayat's governance system and it recommended for a statutory ' All Women's Panchayat' at the village level to ensure better and greater participation of women in the rural local self- governance[2].

Women's participation in the local governance was started with the recommendations of Balwant Rai Gopal Ji Mehta's team report. The committee recommended that two women should be co-opted in all the three-tier of the Panchayati Raj system. This was the first time when women were able to have a role in Panchayati Raj. The Balwant Rai Mehta Committee was followed by Ashok Mehta Committee, which was appointed in December, 1977. The Ashok Mehta Committee recommended for 2 tier of local self- government at Mandal and Zila levels[1]. The committee also recommended for the co-option of two women as members of both at Zila and Mandal level. They also recommended for reservation of two seats for women in Panchayats and two co-option women members in case they did not come through elections. The Committee also suggested for a committee of women to be set up within Panchayats to operate specific programs for women and children. The Ashok Mehta Committee was followed by G.V.K Rao Committee in the year 1985 and L.M. Singhvi Committee in 1986 which also tried to make PRI's more viable and effective with the popular participation of both men and women. Finally the revival of rural governance system culminated into giving the desired Constitutional status through the Constitutional (64th Amendment) Bill, 1989 which was an attempt to amend the Constitution of India to give constitutional status to the PRI's and to encourage the participation of women in the rural governance system through the provision of the reservation of seats in all the 3-tiers of rural local governance system. But unfortunately the bill was defeated in the Rajya Sabha and could not take a shape due to political reasons.

However, these gradual changes did begin to encourage women's representation in some of the states as state like

Karnataka (1985) introduced 25% reservation for women in the Mandal Panchayat, Andhra Pradesh in 1986 provided 20 to 25% reservation for women for the gram panchayat to be co-opted in the Panchayat Samities in addition to the elected women members. In 1989, nine villages in the Western state of Maharashtra had elected all women gram panchayats reportedly as an outcome of the campaign of an independent farmer's organisation Shetkari Sanghatana[1]. All women Panchayat was also elected in Andhra Pradesh in the 70s and another in the 80s. After the passing of the 73rd Constitutional Amendment Act, West Bengal also got its all women gram panchayat in May, 1993[2].

The 73rd Amendment created a revolutionary transformation in democratic decentralisation in India. The act mandated reserving one third of the total seats for women including among those seats reserved for members of the Dalit and Adivasi communities in the three- tiers Panchayati Raj Institutions. The act also mandated one third of the positions of chairperson in all the three tiers of PRI's to be reserved for women[3].

Over the period there were many discussions and debates held at the state and national level to bring gender equality at the PRI level. These efforts eventually culminated in the introduction of the 110th Amendment Bill, 2009 in the Lok Sabha by the then Minister of Panchayati Raj, Shri C.P. Joshi to amend article 243-D of the Constitution. The bill sought to amend the article to enhance the proportion of reservation for women from one third to half of the total seats in the Panchayat[4]. There are many states which already provided 50% reservation for women in

Panchayats by amending their Panchayati Raj Act at the state level.

Table:1 shows the 21 states as per 2020 data those who had actually implemented 50% reservation for women in Panchayati Raj Institutions[1]

S.No.	Total PRI Representatives	Elected Women Representatives (EWRs)	Percentage	STATE
1	156050	78,025	50	ANDHRA PRADESH
2	26754	14,609	54.6	ASSAM
3	136573	71,046	52.02	BIHAR
4	170465	93,392	54.78	CHATTISGARH
5	144080	71,988	49.96	GUJRAT
6	70035	29,499	42.12	HARYANA
7	28723	14,398	50	HIMACHAL PRADESH
8	**59638**	**30,757**	**51.57**	**JHARKHAND**
9	101954	51,030	50	KARNATAKA
10	18372	9,630	52.41	KERALA
11	392981	196490	49.99	MADHYA PRADESH

12	240635	128677	53.47	MAHARASHTRA
13	107487	56,627	52.68	ODISHA
14	100312	41,922	41.8	PUNJAB
15	126271	64,802	51.31	RAJASTHAN
16	1153	580	50	SIKKIM
17	106450	56,407	52.98	TAMILNADU
18	103468	52,096	50.34	TELENGANA
19	6646	3,006	45.23	TRIPURA
20	62796	35,177	56	UTTARAKHAND
21	59229	30,458	51.42	WEST BENGAL

Women Participation in PRIs of Jharkhand

In Jharkhand, Panchayati Raj elections were held for the first time in 2010, 2nd in 2015 and 3rd in 2022 in place of 2020 due to covid19, although the state was formed in 2000. Last Panchayat polls in the state was held in 1978 when it was a part of Bihar. Over the last 10 years, time and again there were attempts to hold the election, but social tensions engineered by different ruling parties and intervention by the Judiciary came to act as a hurdle in the way. Basically the bone of contention had been the Panchayat Extension To Scheduled Area Act (PESA) under the 5th Schedule as amended in 1996. An Act that seeks to ensure a decisive role of the tribal people in panchayat elections in tribal dominated districts and pockets. Finally the Supreme Court ordered the Panchayat polls in Jharkhand are to be held on the basis of PESA. With 50% reservation for women, 1st Panchayat election held on December, 2010 for the post of 4,423 Mukhiyas,

43,916 posts for Ward members, 4,423 posts for Panchayat samiti members and 445 posts for Zila Parishad members[1].

Local bodies Statistics at a Glance as per 2019 data of MoPR[2]

TABLE 2

S.N	Name of the States/UTs	District Panchayats	Intermediate Panchayat	Village Panchayats
1	Andaman Nicobar	3	9	70
2	Andhra Pradesh	13	660	12918
3	Arunachal Pradesh	22	177	1785
4	Assam	26	191	2201
5	Bihar	38	534	8386
6	Chandigarh	1	1	1
7	Chhattisgarh	27	146	10978
8	Dadra Nagar Haveli	1	NA	20
9	Daman & Diu	2	NA	15
10	Delhi	NA	NA	NA
11	Goa	2	NA	191
12	Gujrat	33	248	14292
13	Haryana	21	126	6197
14	Himachal Pradesh	12	78	3226
15	Jammu & Kashmir	22	306	4482
16	**Jharkhand**	**24**	**263**	**4370**
17	Karnataka	30	176	6021

18	Kerala	14	152	941
19	Lakshadweep	1	NA	10
20	Madhya Pradesh	51	313	22817
21	Maharashtra	34	351	27870
22	Manipur	6	NA	161
23	Meghalaya	NA	NA	NA
24	Mizoram	NA	NA	NA
25	Nagaland	NA	NA	NA
26	Odisha	30	314	6798
27	Puducherry	NA	10	98
28	Punjab	22	147	13279
29	Rajasthan	33	295	9892
30	Sikkim	4	NA	185
31	Tamil Nadu	31	385	12523
32	Telangana	9	438	13057
33	Tripura	8	35	591
34	Uttar Pradesh	75	822	58791
35	Uttarakhand	13	95	7762
36	West Bengal	22	342	3340

TABLE 3

S. N	Name of the States/UTs	EWR				Total ERs	%EWRs
		Gram Panchayat	Block	District	Total		
1	Andhra Pradesh	71996	5699	330	78025	156050	50
2	Arunachal Pradesh	2966	625	67	3658	9383	38.99

3	Assam	12100	1100	210	13410	26820	50
4	Bihar	51998	5341	548	57887	127391	45.44
5	Chhattisgarh	91469	1595	223	93287	170285	54.78
6	Gujrat	68880	2582	526	71988	144016	49.99
7	Haryana	28060	1258	181	29499	70035	42.12
8	Himachal Pradesh	13409	862	127	14398	28723	50.13
9	Jammu & Kashmir	11169	-	-	11169	33847	33
10	**Jharkhand**	**27664**	**2812**	**281**	**30757**	**60782**	**50.60**
11	Karnataka	48335	2018	539	50892	104967	48.48
12	Kerala	8360	1102	168	9630	18372	52.42
13	Lakshadweep	32	-	9	41	392981	50
14	Madhya Pradesh	192669	3395	426	196490	240122	50.60
15	Maharashtra	118496	1989	1005	121490	1723	50.38
16	Manipur	836	0	32	868	3502	23.64
17	Mizoram	828	-	-	828	107487	49.82
18	Odisha	49840	3273	438	53551	97180	33.33
19	Punjab	31373	910	110	32393	124854	56.49

20	Rajasthan	66823	3118	586	70527	1096	50
21	Sikkim	493	-	55	548	117599	33.99
22	Tamil Nadu	37310	2426	239	39975	103468	50
23	Telangana	48267	3249	219	51735	6646	45.23
24	Tripura	2760	192	54	3006	826458	33
25	Uttar Pradesh	246038	25664	1031	272733	64606	55.66
26	Uttarakhand	34106	1633	218	35957	59402	50.77
27	West Bengal	24991	4743	423	30157	136	34.56
28	Dadra & Nagar Haveli	43	-	4	47	172	53.49
29	Daman & Diu	82	-	10	92	1564	32.99
30	Goa	499	-	17	516	169	34.32
31	Chandigarh	49	6	3	58	110	37.27
32	A & N Island	262	28	12	302	858	35.20

Jharkhand saw relatively high participation by women which included many success stories. Women led Panchayats in many parts of Jharkhand are proving to be a very successful model of

governance with the women leaders taking charge to address local and long ignored issues.[1].

For example we can see:

Example:

Case 1:

Dorothiya Dayamani Ekka a law graduate, instead of pursuing a career in law opted to work for the development of her village. Having contested the panchayat election from Ara village in the Namkum block of Ranchi district in 2010-11, Dorothiya became Mukhiya of Ara and she focused on providing sustainable employment for the women of the village in various areas such as Kitchen gardening, poultry rearing cattle breeding.

Case 2:

Shalini Gupta who heads the Domchach block in Koderma district is another inspiring grassroot leader. Along with her, a team of village women representatives keep a sharp eye on the working of the panchayats. This English graduate, who also has a diploma in Software has been able to bring to light the underhand practices of corrupt CDPO.

Case 3:

Women headed panchayats are now taking seriously issues that were once dismissed as 'trivial'. For instance, **Archana Mahato** of Muramkala Panchayat in Ramgarh district has taken up local irrigation. Thanks to her efforts to get well dug in four villages, vegetable cultivation in these villages has increased.

Case 4:

Shruti Deogam, the block head of Ghatshila, who could revive the Tassar silk thread mill in the area by organising self-help groups to start a small mill at the panchayat office itself. Presently 50 women are working in shifts to spin and reel silk threads with the support of the district administration and JHARCRAFT work in the state.

Although Jharkhand is one of them where women got elected in good numbers in the 2010 and 2015 panchayat elections. But at the same time it is also necessary to study whether they are capable of performing their responsibilities well. Despite being one of the most resource rich states, Jharkhand has been identified and discussed infamously as one of the most underdeveloped and politically unstable state of the country. After its formal separation on 15th November, 2000 as 28th state of Indian federation, Jharkhand rose to existence with its own set of opportunities and challenges. The newly constituted state, since than has been struggling to establish its own growth model together with synchronizing the existing practices of development. The unique territorial features, traditional practices, ethnic identities, political experience and diverse social composition have been greatly in conflict with the larger idea of the Jharkhand identity[1].

However, the multiple vulnerabilities of the various social section's like SC, ST, OBC and specifically in the case of women continue to be at the forefront. In this regard the reform of women reservations in PRIs of Jharkhand can be counted as one of the most remarkable initiatives of Jharkhand government in pursuit of providing rightful space to women in the process of democratic decentralisation. However, the limitation and challenges continue to dominate. Lack of educational opportunities, domination of traditional belief and practices, patriarchal society,

bureaucratic domination in executing scheme, prevalence of contractor and traditional elites etc. happen to be some of the major challenges in the background of which 50% reservations for women has been implemented[1].

Jharkhand gave 50 % reservation to women in the very first election of its Panchayati Raj System. It is considered as great in the sense of women's participation in grassroots politics. It is believed that the women will be a change agent of society and will work for the uplifting the condition of women in Jharkhand. In this way the women of Jharkhand now have the opportunity to be a voice and image of the marginalized of the state. But it has been 10 years and there are rare evidences of significant development in all aspects of women.

In 2011, history was made in Jharkhand when 55% of seats at the Panchayati raj level were won by women after 32 long year. The Jharkhand Panchayati Raj and PESA act provide reservation of seats for women at different tiers of PRIs as a result of this women have been coming with great excitement and participating in the political forum[2]. Women also contested from unreserved seats as well and won handsomely. But it has also very true that they are not actually enjoying their rights and duties what in the act provide for so far. All the decisions and judgements in panchayat have been taken by their respected husbands. So in this way women are reported to still been working as rubber stamp and it needs to emphasize an active participation in decision making with a view to enhance their role, status and leadership in local self-governance. There is a keen need for the intervention in strengthening Panchayati Raj

Institutions with focus on building, promoting and empowering new leadership of women[1].

The 73rd Constitutional Amendment act brought many women to the political forefront as members and chairpersons of local governance. Many women entered the political arena for the first time, the creation of a political space to be able to voice their needs, concerns and priorities was inevitable[2].

After 32 years, for the first time women were exposed to the challenges of the political field in Jharkhand. Large number of women got elected to the political seats for the first time ever with no precedent or role models. 'Governance' was new to them. As elected representatives, women still lacked some of the knowledge, skills and capacities required to effectively govern. The family members especially the male members, took over and provided guidance on governance related matters. As a result, women stepped back and behaved as mere token representatives not finding the space or opportunities to make their voices and opinions heard[3].

After observing elected women representatives of PRIs of Jharkhand it was found that

- Many women stood for elections because the seat was reserved for a female candidate
- Most of them were unaware of the roles and responsibilities of the post they contested
- The decision to contest the elections was largely influenced by husbands or male members of the family
- Husband and male member of the family were the most important and trusted sources of information

- A survey taken on 163 Women Zila Parishad members after 1st Panchayat election across Jharkhand, we found 32 of them are Non-Matric, 37 are 10th Pass, 38 are 12th Pass, 41 are Graduate and 15 are Post Graduate. This means that most of the woman are not illiterate but at the same time not well educated.
- Most women have not fully understood the roles and responsibilities of their post, about PESA Act, 5th Schedule Area. Therefore the amount of time they spent on non-household work was minimal.

Conclusion:

There are evidences from the beginning of the Panchayati Raj System in Jharkhand that women leaders have undoubtedly contributed to the development of their panchayat. There have also emerged examples of women from a highly educated background, affluent families or from higher caste who had moved to their villages to contest and serve as sarpanch to their village. At the same time lack of a political background has not stopped women to contest elections and use their power to try and improve the lives of others. As a result of this, women have been elected more than 50 % of the reserved seats in Jharkhand.

But participation of women in the real sense is till sadly lacking when compared to the number of women elected representatives in the Panchayati Raj. The opportunity for leadership and participation in public forum has not provided women a base to participate effectively on the ground realities proved yet again that a large number of women are merely proxies for their menfolk.

The process of decentralization has provided representation but representation does not necessarily lead to participation. Representation alone cannot be the sufficient mechanism for

women to exercise their roles. Women leaders need information, knowledge and skills to articulate their concerns and influence the decision making as per their concerns. Continuous studies will need to be conducted to truly understand how far women have succeeded in exercising their leadership as well as finding strategies to empower women in decentralized governance in Jharkhand.

Reference:

1. The fourth world conference on women- Afr popul News|. 1995 Jul-Dec; (68): 4-5.PMID:12320155
2. Report of the Secretary General, Review of the implementation of the Beijing Declaration and Platform for Action, New York, 31Jan-3feb,2020
3. A summary of the recommendations adopted unanimously at the fourth world conference on women (4-15 September 1995). Roshni. 1996 Jan-June:37-43.PMID:12179429
4. Sinha, Dr. Rajesh Kumar, (2018), Women in Panchayat, Kurukshetra, July, pp 34-41
5. Bharati, I. Jaya. (2011), 50% Reservation of Women in Panchayats: A Step Towards Gender Equity, Oriss Review, Feb-March
6. Buch, Nirmala. (2000), Women's experience in new Panchayats: The Emerging Leadership in Rural women, Occasional paper no 35. New Delhi: Centre for Women's Development studies, pp 1-27
7. Kuahsal, Rachna. (2010) Decentralized Governance and Empowerment of women-A case study of India, OIDA International Journal of Sustainable Development, ISSN 1923-6662 (online)
8. Gala, Chetna.(1997), Empowering women in villages: All women village council in Maharashtra, India, Bulletin of

Concerned Asian Scholars, 29:2,31-45, DOI: 10.1080/14672715.1997.10409689

9. Chattopadhyay, Raghabendra and Esther D . (2013), The impact of reservation in the Panchayati Raj: Evidence from a Nationwide Randomized Experiment
10. Sarangi, Aparajita and Mishra Gitanjali (2013), 73rd Constitutional Amendment and Women's Empowerment-An Empirical Study in Tribal and Non-Tribal districts, Odisha, Journal of Rural Development, Vol.32, No.(4), Oct-Dec.pp.383-394
11. Srivalli, K. (2018), Empowerment to women through Political Participation: A study of Panchayati Raj Institution in India, International Journal of Research in Social Sciences, May, Vol 8, Issue 5, ISSN- 22492496
12. https://pib.gov.in
13. www. http://secjharkhand.nic.in/
14. Statistical handbook 2019 of Ministry of Panchayati Raj
15. Seth, Shachi .(2016), PRI Elections in Jharkhand: Making women count, News Reach, March-April
16. Satyam, Kumar. (2013), Study of Elected tribal women representatives in Panchayati Raj Institutions in India: A case of Jharkhand, Asian Journal of Multidisciplinary studies, Vol.1, Issue 4, November, ISSN: 2321-8819
17. Agnihotri, S. and Singh, V. (2014) Women Empowerment through reservations in Himachal Pradesh, Indian Journal of Public Administration vol LX, no-3, July-Sept, pp 417-425
18. Sisodia, Y.S.(2018), PESA in Tribal Areas, Kurukshetra, July, pp 29-33
19. Kindo, P.D., Bhowmick, P.K. (2019), Panchayati Raj in Scheduled Areas of Jharkhand and Natural Resource Management, Jharkhand Journal of Development and management Studies XISS, Vol.17, June, pp 8069-8086

20. Singh, S.K., Singh, N.S. and Mahato D.K. (2019), Case study Pindarkone Gram Panchayat: Setting examples of Governance, Newsreach , Jan-Feb, pp 48-56
21. Veigas, Sobha Sylvia. (2019), Women's Political Leadership in Panchayati Raj Institutions- Challenges and Prospects, Participatory Research in Asia, February

भारत की संघीय ढांचे में संसदीय लोकतंत्र की भूमिका: चुनौतियां और संभावनाएं

दीपंकर दे
शोध छात्र, अंतर्राष्ट्रीय संबंध विभाग,
झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय, रांची, झारखण्ड
ईमेल: dipankard833@gmail.com
मोबाइल नंबर: 6383046544

शोध सारांश

संसदीय लोकतांत्रिक शासन के संघीय ढांचे की एक विशिष्ट विशेषता रही है। ऐसा माना जाता है कि ऐतिहासिक रूप से, प्रथम विश्व युद्ध के अंत में, यह महसूस किया जाने लगा कि विश्वयुद्ध के समय से एकात्मक सरकार भारतीय प्रशासन प्रणाली के अनुकूल नहीं थी। 1919 के अधिनियम ने 'द्वैध शासन' की शुरुआत की, जिसे ब्रिटिश भारत में संघवाद की दिशा में पहला कदम माना जा सकता है। इसके अलावा, भारत सरकार अधिनियम 1935 के अनुसार विशेष रूप से प्रांतीय स्वायत्तता प्रदान करता है। 1946 में जब संविधान सभा की बैठक हुई, तो भारत में संघीय सरकार बनाने पर सहमति बनी। भारत के संविधान ने 1935 के अधिनियम के कई प्रावधानों को शामिल किया, परन्तु उसमें भारतीय संविधान में कहीं भी 'संघवाद' शब्द का उपयोग किए बिना। भारत के संसदीय लोकतंत्र के कार्य और केंद्र-राज्य संबंधों के बीच बेहतर समन्वय के लिए इसकी भूमिका का विश्लेषण करने का एक प्रयास रहेगा। यह पत्र भारत में संसदीय लोकतंत्र की प्रमुख चुनौतियों और संभावनाओं पर भी प्रकाश डालेगा।

बीज शब्द: *संसदीय लोकतंत्र, चुनाव, संघीय ढांचा, गरीबी, द्विसदनीयता, केंद्र-राज्य संबंध*

शोध आलेख

सरकार का संसदीय स्वरूप भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता रही है, इसकी स्थापना ब्रिटिश शासन के तहत ही हुई थी। यह भारत सरकार अधिनियम, 1919 के तहत एक स्पष्ट प्रमाण रहा और बाद में चलकर अधिनियम के रूप में परिवर्तित हो गया। इसके अलावा, भारत प्रतिनिधि संसदीय लोकतंत्र के रूप में सबसे अच्छा वर्णन कर सकता है। यह भारत के लोगों की "संप्रभु इच्छा" का

प्रतीक है। हालांकि, इसका मतलब है कि राजनीतिक व्यवस्था इस विचार पर आधारित हो सकती है कि संसद सर्वोच्च है, या संप्रभु। संसदीय लोकतंत्र वह है जिसमें जनता के माध्यम से चुनाव के नियमित अंतराल पर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। भारतीय संविधान के अनुसार, संसदीय लोकतंत्र का मूल आधार शक्ति का प्रयोग है, जो लोकप्रिय इच्छा और लोकप्रिय नियंत्रण पर आधारित है। सरकार के एक रूप में, लोकतंत्र का परिकल्पित रूप एक प्रतिनिधि लोकतंत्र है (प्रतिनिधि लोकतंत्र को संसदीय लोकतंत्र के रूप में भी जाना जाता है) इसलिए हमारे संविधान में लोगों द्वारा प्रत्यक्ष नियंत्रण की कोई एजेंसी नहीं है। भारत के लोगों को केंद्रीय स्तर पर संसदीय प्रणाली के माध्यम से और प्रत्येक राज्य में विधायिका के माध्यम से अपनी संप्रभुता का प्रयोग करना है, जिसे वयस्क मताधिकार पर चुना जाता है और जिसके लिए वास्तविक कार्यपालिका, मंत्रिपरिषद की घठन होगा। इस संदर्भ में, अब्राहम लिंकन के अनुसार, *लोकतंत्र जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन है*। लेकिन इस लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व की एक अवधारणा भी है, क्योंकि भारतीय संदर्भ में, दो प्रकार के प्रतिनिधित्व मौजूद हैं पहला प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। लोकप्रिय चुनावों में, लोग सीधे लोक सभा (निचले सदन) में अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं और परोक्ष रूप से राज्य सभा (उच्च सदन) में अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। मूल रूप से, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रतिनिधित्व होने से भारतीय संसदीय लोकतंत्र की प्रकृति को सहभागी लोकतंत्र कहा जाता है। इसलिए भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। विद्वानों ने लोकतंत्र को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। डाइसी ने लोकतंत्र को *"सरकार के उस रूप के रूप में परिभाषित किया है जिसमें शासी निकाय पूरे देश का तुलनात्मक रूप से बड़ा हिस्सा है"*। ब्रायस हेरोडोटस की परिभाषा को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि लोकतंत्र सरकार के उस रूप को दर्शाता है जिसमें राज्य की सत्तारूढ़ शक्ति बड़े पैमाने पर समुदाय के सदस्यों में निहित होती है। ब्रायस कहते हैं, "*इसका मतलब उन समुदायों में है जो मतदान द्वारा कार्य करते हैं, क्योंकि यह बहुमत से संबंधित है, क्योंकि शांतिपूर्ण और कानूनी रूप से यह निर्धारित करने के लिए कोई अन्य तरीका बाध्य नहीं है। समुदाय की इच्छा घोषित की जानी चाहिए जो एकमत नहीं है।"* बेगेहोट ने

लोकतंत्र को *"चर्चा द्वारा सरकार"* के रूप में परिभाषित किया है। हालाँकि, भारत में संसदीय लोकतंत्र के सुचारू संचालन में भी बड़ी बाधाएँ हैं। संसदीय प्रणाली के लोकतांत्रिक कामकाज में एक बड़ी बाधा के रूप में भारत की बहु - सांस्कृतिक समाज। यहाँ तक कि निरक्षरता के उच्च प्रसार, गरीबी, क्षेत्रवाद, सांप्रदायिकता, सरकारी ढांचे में पारदर्शिता की कमी और न्यायिक देरी के रूप में बाधाओं ने भी संसदीय लोकतंत्र के सुचारू कामकाज को जटिल बना दिया है।

भारत में संघीय व्यवस्था की मुख्य विशेषता-

कठोरता- साधारण कानूनों को पारित करने की तुलना में संविधान में संशोधन करना एक बहुत ही कठोर प्रक्रिया है। संविधान के उन हिस्सों से संबंधित संशोधन, जो संघ और राज्यों के बीच संबंधों को परिभाषित करते हैं, संसद में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित होने की आवश्यकता होती है और आधे राज्यों द्वारा इसकी पुष्टि की जाती है।

लिखित संविधान- भारतीय लोकतंत्र एक लिखित संविधान है, जो देश का सर्वोच्च कानून है। केंद्र और राज्य दोनों सरकारें इससे अपनी शक्तियाँ प्राप्त करती हैं। यह सरकारों के दो स्तरों के बीच एक लिखित अनुबंध के रूप में कार्य करता है।

शक्तियों का विभाजन- जिस उद्देश्य के लिए एक संघ का गठन किया जाता है, वह संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन है। भारतीय संविधान में केंद्र और राज्य सरकारों की सीमाओं को परिभाषित करने का एक व्यापक प्रयास प्रतीत होता है। संविधान में तीन सूचियाँ हैं, प्रथम सूची यानी संघ सूची, द्वितीय सूची जो राज्य सूची है, और तृतीय सूची जो समवर्ती सूची है, उसमें अवशिष्ट विषय शामिल हैं जिन पर दोनों सरकारें कानून बना सकती हैं। वास्तव में, यह मान लिया गया था कि कुछ क्षेत्रों में केंद्रीय समन्वय राष्ट्रीय हित में वांछनीय होगा और इसलिए, राष्ट्रीय और सामान्य हित के विषयों को दोनों सरकारों के समवर्ती क्षेत्राधिकार में रखा गया था। दो सरकारी स्तरों के अधिकार क्षेत्र को परिभाषित करने का यह व्यापक प्रयास भारतीय संविधान के संघीय दावे का समर्थन करता है।

स्वतंत्र न्यायपालिका- भारतीय संविधान सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों द्वारा सरकारी कानूनों की न्यायिक समीक्षा की एक प्रणाली प्रदान करता है। न्यायपालिका किसी भी सरकार के किसी अधिनियम को रद्द कर सकती है, यदि वह संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध जाता है या उसकी राय में, कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया की सहमति के बिना पारित किया गया है।

द्विसदन- द्विसदनीय का अर्थ है कि संसद के दो सदन हैं यानि एक निचला सदन यानि लोकसभा जो की एक लोकप्रिय सदन है जिसमें लोगों द्वारा सीधे चुने गए प्रतिनिधि होते हैं और संघ इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ऊपरी सदन यानि राज्यसभा।

भारत में संसदीय लोकतंत्र की चुनौतियां

राजनेताओं के बीच नैतिक मूल्यों में तेजी से गिरावट और राजनीति के साथ-साथ सार्वजनिक जीवन में जवाबदेही की कमी ने बड़ी समस्या को जन्म दिया है। राजनीतिक नेताओं और राजनीतिक दलों द्वारा प्रयोग किए गए सकारात्मक और नकारात्मक प्रभावों ने चरित्र और विश्वसनीयता पर गहरा प्रभाव डाला है। इससे राजनीतिक उथल-पुथल और राजनीतिक अस्थिरता भी पैदा हो रही है। प्रोफेसर जेम्स मनोर ने ठीक ही कहा है कि;

"भ्रष्ट, असंवैधानिक और पूरी तरह से विचलित करने वाले कार्य राजनीतिक संस्थानों के भीतर कृत्यों के बीच आम हो गए हैं। कभी-कभी, विशेष भारतीय राज्यों की राजनीति और राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रकार की सरपट दौड़ती हुई आदर्शहीनता हावी होती दिखाई दी है। इसने सामाजिक समूहों के बीच आक्रोश पैदा कर दिया है, जो राजनीतिक संस्थानों से प्रतिक्रिया चाहते हैं। ऐसे समूहों के सदस्य आते हैं जो राजनेताओं को सर्वश्रेष्ठ रूप से अनुपयोगी और अक्सर द्वेषपूर्ण और अस्पष्ट मानते हैं"।

इस प्रकार, वर्तमान में भारतीय संसदीय लोकतंत्र में कुछ विरोधाभासी बातें चल रही हैं और भारत संवैधानिक प्रतिबद्धताओं के संकट से गुजर रहा है। कई बार लोगों ने वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था पर अपना असंतोष व्यक्त किया है क्योंकि जिस पार्टी ने उन्हें टिकट दिया है, उसके आधार पर चुने गए उम्मीदवार उस पार्टी के विपरीत ध्रुव के पास जाते हैं, जिसके आधार पर लोगों ने उन्हें चुना है। वे दृढ़ता से निर्धारित करते हैं कि समस्या की जड़ राजनीतिक दलों के साथ प्रतीत होती है और इसलिए राजनीतिक दलों, चुनावी प्रणालियों में सुधार ताकि अधिक लोकतांत्रिक तर्ज पर कार्य किया जा सके, राजनीतिक व्यवस्था को मजबूत करने में एक लंबा रास्ता तय करेगा। उतना ही महत्वपूर्ण है कि निर्वाचित प्रतिनिधि का कार्य महत्वपूर्ण सार्वजनिक महत्व के मामलों पर बहस करके संसद और राज्य विधानसभाओं में जनता की राय को प्रतिबिंबित करना है, और इस तरह नीतियों और कार्यों को प्रभावित करना है।

धनबल, बाहुबल और जातियों और समुदायों के वोट बैंक के विचारों से चुनावी व्यवस्था लगभग पूरी तरह से उलट गई है। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में गुंडे, जातिवाद और साम्प्रदायिकता की बढ़ोत्तरी हो रही है, वही चुनावी प्रक्रिया द्वारा सहायता और उकसाया जा रहा है। पूर्व केंद्रीय मंत्री, वसंत साठे ने ठीक ही कहा है, "*वर्तमान में राजनीति के अपराधीकरण की ओर झुकाव की प्रवृत्ति, विशेष रूप से चुनावों के दौरान, जब हिंसा, दोनों कब्जा करना, आदि शामिल हैं, विधानसभाओं और संसद के भीतर कामकाज पर लागू होता है। इन खतरनाक और अलोकतांत्रिक प्रथाओं पर अंकुश लगाना होगा। अन्यथा उनका विकास अंततः लोकतंत्र को ही नष्ट कर देगा।*

भारत में संसदीय लोकतंत्र के कामकाज में प्रमुख बाधा

स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारत में संसदीय लोकतंत्र के सफल कामकाज के लिए लोगों में निरक्षरता गंभीर चिंता का विषय थी और यह अभी भी एक बड़ी चुनौती बनी हुई है। 1951 में साक्षरता दर मात्र 18.33 प्रतिशत थी जिसमे महिला साक्षरता 8.9 प्रतिशत थी। जबकि 2011 की जनगणना के अनुसार साक्षरता का कुल

प्रतिशत 74.4 था, जिसमें महिला साक्षरता दर 65.4 और पुरुष साक्षरता दर 82.1 थी। साक्षरता नागरिकों को देश में विभिन्न मुद्दों, समस्याओं, मांगों और हितों के बारे में जागरूक करने में सक्षम बनाती है|

पहला, गरीबी - आमतौर पर कहा जाता है कि भूखे व्यक्ति के लिए वोट देने के अधिकार का कोई मतलब नहीं होता है। उसके लिए पहली आवश्यकता भोजन है। इसलिए गरीबी को संसदीय लोकतंत्र का सबसे बड़ा अभिशाप माना जाता है। वस्तुतः सभी प्रकार के अभावों और असमानताओं का मूल कारण संसदीय लोकतंत्र के सुचारु संचालन को कमजोर करना है| दूसरा, लैंगिक भेदभाव - लड़कियों और महिलाओं के खिलाफ भेदभाव जीवन के हर क्षेत्र में मौजूद है। लेकिन हम जानते हैं कि लैंगिक समानता संसदीय लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धांतों में से एक है। लेकिन महिलाओं के प्रति भेदभाव जीवन की एक सच्चाई है। यह लिंगानुपात, बाल लिंगानुपात और मातृ मृत्यु दर में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। पुरुषों की तुलना में महिलाओं की संख्या में 1901 से लगातार गिरावट आ रही है। 1901 में, लिंगानुपात 972 प्रति 1000 पुरुषों पर था। 1991 में यह घटकर प्रति 1000 पुरुषों पर 927 महिलाएं हो गई। 2011 की जनगणना के अनुसार यह प्रति 1000 पुरुषों पर 940 महिलाएं हैं जो अभी भी महिलाओं के लिए बहुत प्रतिकूल है। तीसरा, जातिवाद - जाति व्यवस्था का सबसे हानिकारक और अमानवीय पहलू अस्पृश्यता की प्रथा है जो उस पर लगाए गए संवैधानिक प्रतिबंध के बावजूद जारी है। इसने तथाकथित निम्न जातियों या 'दलितों' को अलग-थलग कर दिया है, जिससे वे शिक्षा और अन्य सामाजिक लाभों से वंचित हो गए हैं। जातिवाद ने लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रियाओं में भी नकारात्मक भूमिका निभाई है। वास्तव में जाति व्यवस्था संसदीय लोकतंत्र की जड़ों के खिलाफ काम करती है। चौथा, सांप्रदायिकता - सांप्रदायिकता और धार्मिक कट्टरवाद ने भारत में एक बहुत ही खतरनाक रूप और खतरनाक अनुपात हासिल कर लिया है। यह हमारी लोकतांत्रिक राजनीतिक स्थिरता के लिए विध्वंसक है और मानवतावाद और मिश्रित संस्कृति की हमारी गौरवशाली विरासत को नष्ट करने वाला है। यह धर्मनिरपेक्षता और यहां तक कि मानवतावाद के भी खिलाफ है। हाल के दिनों

में सांप्रदायिकता भी कई मौकों पर हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के लिए एक बड़ा खतरा साबित हुई है। पांचवां, धार्मिक कट्टरवाद - धार्मिक कट्टरवाद भी सांप्रदायिकतावादियों को धर्म और राजनीति दोनों का शोषण करने के लिए पुष्ट करता है। वास्तव में, कट्टरवाद एक विचारधारा के रूप में कार्य करता है जो रूढ़िवाद की ओर लौटने और धर्म के मूल सिद्धांतों के सख्त अनुपालन की वकालत करता है। धार्मिक कट्टरपंथी अपने-अपने समुदायों पर अपना विशेष नियंत्रण स्थापित करने के लिए प्रगतिशील सुधारों का पुरजोर विरोध करते हैं। छठा**,** क्षेत्रवाद - भारतीय संसदीय लोकतंत्र भी क्षेत्रवाद से जूझ रहा है जो मुख्य रूप से क्षेत्रीय असमानताओं और विकास में असंतुलन का परिणाम है। इस स्थिति ने क्षेत्रवाद को नए राज्यों के निर्माण, राज्यों को स्वायत्तता या अधिक शक्तियाँ या यहाँ तक कि देश से अलग करने की माँगों में प्रकट किया है। यह सच है कि भारत जैसे विशाल और बहुल देश में क्षेत्रवाद और उप-क्षेत्रवाद अपरिहार्य हैं। समस्या तब शुरू होती है जब इन हितों का राजनीतिकरण किया जाता है और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए क्षेत्रीय आंदोलनों को बढ़ावा दिया जाता है। ऐसी अस्वस्थ क्षेत्रीय या उप-क्षेत्रीय देशभक्ति के सरकारी और विघटनकारी है। सातवां, भ्रष्टाचार - भारत में सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार एक प्रमुख चिंता का विषय रहा है। 2020 में, भारत ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल के भ्रष्टाचार धारणा सूचकांक (CPI) में भ्रष्ट के रूप में परिभाषित 180 देशों में से 86 वें स्थान पर था। वास्तव में, भ्रष्टाचार जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है, चाहे वह भूमि और संपत्ति, स्वास्थ्य, शिक्षा, वाणिज्य और उद्योग, कृषि, परिवहन, पुलिस, सशस्त्र बल, यहां तक कि धार्मिक संस्थान या आध्यात्मिक गतिविधियों के तथाकथित स्थान हों। भ्रष्टाचार सभी तीन स्तरों - राजनीतिक, नौकरशाही और कॉर्पोरेट क्षेत्र में गुप्त और खुले तौर पर मौजूद है। न्यायपालिका सहित सरकार के सभी अंगों पर भ्रष्टाचार के तंबू ने असर डाला है। इन सबसे ऊपर, चुनावी प्रक्रियाओं में भ्रष्टाचार और विभिन्न स्तरों पर चुनाव में भाग लेने वाले मतदाताओं को रिश्वत देना अब एक आम बात हो गई है। आठवां, राजनीति का अपराधीकरण - हाल के वर्षों में, भारत में राजनीति का अपराधीकरण एक बहस का मुद्दा बन गया है। राजनेता हिंसा में लिप्त होते हैं और चुनाव जीतने के लिए अन्य अस्वास्थ्यकर, अलोकतांत्रिक तरीकों की शरण लेते हैं। नौवां, संसदीय

बहस की गुणवत्ता में गिरावट, सत्रों में अव्यवस्था और अव्यवस्था, विधायी प्रस्तावों की निष्पक्ष जांच और कार्यपालिका के कामकाज की निगरानी में असमर्थता पर गहरी चिंता है। अंतिम, राजनीतिक हिंसा - भारत में हम विभिन्न प्रकार की हिंसा देखते रहे हैं। सांप्रदायिक हिंसा, जातीय हिंसा और राजनीतिक हिंसा ने सामान्य रूप से गंभीर अनुपात प्राप्त कर लिया है। सांप्रदायिक दंगे राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों से निहित स्वार्थों के कारण होते हैं। विभिन्न रूपों में जातिगत हिंसा बढ़ती जा रही है। कृषि विकास, जमींदारी प्रथा के उन्मूलन और हरित क्रांति और श्वेत क्रांति जैसे विकास के बावजूद, समाज में अभी भी शक्तिशाली सामंती तत्व हैं। चुनावों के दौरान या तो वोटरों को लामबंद करने के लिए या उन्हें अपने वोट के अधिकार का प्रयोग करने से रोकने के लिए हिंसा को अपनाया जा रहा है। इसके अलावा, हिंसा अलग राज्यों की मांगों, राज्यों के पुनर्गठन या राज्य की सीमाओं के समायोजन से जुड़ा रहा है। औद्योगिक हड़तालों, किसानों के आंदोलनों और छात्रों के आंदोलनों के दौरान भी अक्सर हिंसा का इस्तेमाल किया गया है।

संसदीय लोकतंत्र का आलोचनात्मक विश्लेषण

स्वतंत्र भारत में, सरकार के संसदीय स्वरूप को संस्थागत उपकरण के रूप में अपनाया गया था जिसके माध्यम से लोकतांत्रिक भावना को साकार करने की कोशिश की गई थी। संस्थागत व्यवस्था का नेतृत्व राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है जो राज्य का प्रमुख होता है और कार्यपालिका, प्रधान मंत्री के माध्यम से कार्य करती है, जो सरकार का प्रमुख होता है, और न्यायपालिका, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा, जबकि संसद को सौंपा जाता है विधायी शक्तियों का प्रयोग। ये संस्थाएं सरकार के विधायी और कार्यकारी विंग के संघ के आधार पर संसदीय सरकार के ढांचे के भीतर कार्य करती हैं। कार्यपालिका, प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद, विधायिका से आती है और सामूहिक रूप से इसके लिए जिम्मेदार होती है। अन्य देशो में, यह संसद के सदस्यों के माध्यम से है कि भारत के लोग कार्यपालिका पर नियंत्रण रखते हैं।

लोकतंत्र के इस रूप का मुख्य सिद्धांत वयस्क मताधिकार पर आधारित आवधिक चुनावों के माध्यम से सरकार पर एक लोकप्रिय नियंत्रण की उपस्थिति था अपने नागरिकों को स्वतंत्रता प्रदान करना और उन स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए एक स्वतंत्र न्यायपालिका की उपस्थिति। सरकार अपरिवर्तनीय नहीं है और समय-समय पर किसी के लिए भी खुली रहती है जिसे लोगों का समर्थन मिलता है और वह एक व्यक्ति या किसी पार्टी के सदस्य के रूप में इसमें प्रवेश करता है। चुनाव की पद्धति अनुनय, धर्मांतरण और मन परिवर्तन, गुप्त मतदान के माध्यम से किए गए विचार परिवर्तन से प्रभावित होती है। इसके अलावा, संसदीय लोकतंत्र की अंतर्निहित धारणा उदार लोकतांत्रिक और व्यक्तिवादी सिद्धांतों पर विश्वास है। इस विस्तृत संसदीय ढांचे को क्रियाशील बनाने की प्रक्रिया राजनीतिक दलों पर निर्भर करती है, जो सरकार के किसी भी संसदीय स्वरूप में महत्वपूर्ण तत्वों का गठन करते हैं। हालांकि, कभी-कभी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की विरोधी और विविध अवधारणाओं के साथ, राजनीति में सभी रंगों और विचारधाराओं के राजनीतिक दलों की उपस्थिति, हमारी संसदीय प्रक्रियाओं के कामकाज को कठिन बना देती है। इस प्रकार, संविधान द्वारा बनाए गए विभिन्न कार्यालयों के बीच संबंधों को विनियमित करने के लिए स्थिर सम्मेलनों या नियमों वाले देश में संसदीय लोकतंत्र की व्यवहार्यता और आर्थिक दुर्बलता की स्थितियों के तहत कल्याणकारी राज्य के रूप में कार्य करने में असमर्थता के बारे में सवाल तेजी से उठाए जा रहे हैं।

निष्कर्ष

दलीय व्यवस्था की प्रकृति में एक दलीय प्रभुत्व प्रणाली से बहुदलीय व्यवस्था में परिवर्तन और गठबंधन राजनीति के समकालीन राजनीतिक विमर्श में एक राजनीतिक वास्तविकता बनने से भारतीय संघवाद की रूपरेखा बदल गई है। गठबंधन शासन को संघीय व्यवस्था में प्रचलित विविधता का व्यापक प्रतिनिधि माना जाता है। भारत के लिए प्रजातांत्रिक व्यवस्था भी अपरिहार्य है क्योंकि भारत की

विविधता मुख्य कारण हैं। यह भी संभावनाए हैं संसदीय लोकतंत्र को शुचारू रूप से विकसित करने का, जैसे विविधता के लिए पूर्वाग्रह आवश्यक है यदि सभी हितों को समायोजित किया जाता है और लोकतांत्रिक तरीकों से और लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित व्यवथा होनी चाहिए।

संदर्भ सूची

1. Crick, B. (2002). *Democracy: A Very Short Introduction.* New York: Oxford University Press.
2. Lane, A.-E., & Ersson, S. (2003). *Democracy: A Comparative Approach.* London: Routledge.
3. Lichbach, M. I. (2013). *Democratic Theory and Causal Methodology in Comparative Politics.* New York: Cambridge University Press.
4. Ministry of Law and Justice. (2015). *The Constitution of India* . New Delhi , India: Legislative Department, Ministry of Law and Justice, Government of India.
5. Murthy, R. R. (2019, May). Functioning of Parliamentary Democracy in India: Issues and Challenges. *Cikitusi Journal for Multidisciplinary Resaerch, 6*(5).
6. Rajvanshi, A., & Sharma, A. (2013). Parliamentary Democracy: How distant is the constitutional dream?. Journal of Politics and Governance, 2(1and2), 319-325.
7. Sahoo, S. C. (2012, January). Parliamentary Democracy in India Looking at Recent Trends. *Odisha Review*(6).
8. Sakthivel, P. (2008, July-September). Indian Parliamentary Democracy in Turmoil. *The Indian Journal of Political Science, 69*(3).
9. Saroja, B. (2018). Obstacles to Parliamenatary Democracy in India. *International Journal of Research and Analytical Reviews, 5*(4).

10. Sathe, V. (1996). Restructuring the Indian Political System: An Agenda. In D. S. Ram, *Indian Democracy: Prospects and Retrospects* (pp. 146-147). New Delhi: Kanishka Distributors and Publishers.
11. Sharma, Y. (2013). Imperatives for Transition from Parliamentary Democracy to Presidential Democracy in India. Journal of Politics and Governance, 2(1and2), 289-294.
12. Singhvi, L. (2012). *Parliamentary Democracy In India.* New Delhi: Prabhat Prakashan.
13. Sood, G. (2017). Parliamentary Democracy in India: Legal Issues and Challenges. *FACTA UNIVERSITATIS - Law and Politics*(1), 95-109.
14. Sirnivasrao, M. (2011). Parliamentary Democracy and Coalition Governments in India. The Indian Journal of Political Science, *74(*2), 961-970.
15. Thakur, R. C. (1976). The Fate of India's Parliamentary Democracy. *Pacific Affairs, 49*(2), 263-293. Retrieved from http://www.jstor.com/stable/2756068

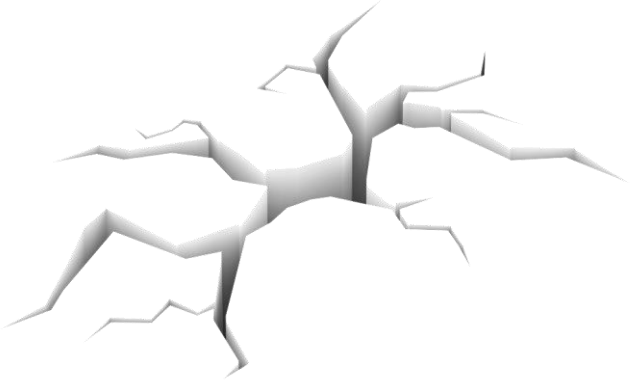

राष्ट्रवाद का विमर्श और प्रवासी भारतीय

राकेश कुमार
पीएच.ड़ी. शोधार्थी
एडल्ट, कोंटीनुइंग एडुकेशन एंड एक्सटेंशन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क: 7503518676
ईमेल: mr.rakeshkumar11@gmail.com

सारांश

राष्ट्र एक लगातार निर्माण की प्रक्रिया है। एक राष्ट्र का अपना एक इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, प्रतीक, गान इत्यादि होते है। जब उस राष्ट्र का व्यक्ति या नागरिक अपने राष्ट्र के इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, प्रतीकों और गान के प्रति एक सम्मान की भावना रखते है तो उसे राष्ट्रवाद कहा जा सकता है। सरल अर्थों में अपने राष्ट्र के प्रति सम्मान की भावना राष्ट्रवाद है। मीडिया और में राष्ट्रवाद पर जो मौजूदा विमर्श हुआ, उसकी शुरुआत शैक्षणिक संस्थान से हुई। नौ फरवरी 2016 को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से राष्ट्रवाद पर बहस शुरू हुई । इस बहस में कई बिंदु थे जैसे भाषा, धर्म, अभिव्यक्ति की आज़ादी, असहमति का अधिकार, समानता का अधिकार, देशभक्त बनाम देशद्रोही आदि। मीडिया ने शैक्षणिक संस्थान की इस बहस को व्यापक पटल पर रखा और टीवी चैनल्स, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रवाद की इस बहस को विमर्श में तब्दील कर इसके सभी बिंदुओं और आधारों पर एक व्यापक बातचीत की।

प्रस्तुत शोध आलेख राष्ट्रवाद और उसके वर्तमान विमर्श को दिखलाने का प्रयास करता है। इस आलेख के द्वारा यह बताया गया है कि राष्ट्रवाद की मौजूदा बहस किस प्रकार हुई और उसके परिणाम किस प्रकार आए साथ ही संचार प्रौद्योगिकी के द्वारा राष्ट्रवाद प्रवासी भारतीयों को किस प्रकार प्रभावित करता है इसे भी देखने का प्रयास किया गया है।

प्रमुख शब्द :-

राष्ट्रवाद, मीडिया, आन्दोलन, वर्तमान राष्ट्रवाद, देशद्रोही, देशभक्त और हिंसा, प्रवासी भारतीय।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख में द्वितीयक स्रोतों का प्रयोग किया गया है जिसमे पुस्तकें एवं अखबार शामिल है।

शोध आलेख

राष्ट्रवाद की अवधारणा:-

राष्ट्र एक लगातार निर्माण की प्रक्रिया है। एक राष्ट्र का अपना एक इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, प्रतीक, गान इत्यादि होते है। जब उस राष्ट्र का व्यक्ति या नागरिक अपने राष्ट्र के इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, प्रतीकों और गान के प्रति एक सम्मान की भावना रखते है तो उसे राष्ट्रवाद कहा जा सकता है। सरल अर्थों में अपने राष्ट्र के प्रति सम्मान की भावना राष्ट्रवाद है।

राष्ट्रवाद को लेकर विभिन्न-विभिन्न विचारकों के अलग-अलग मत रहे है। अर्नेस्ट गैलनर ने राष्ट्रवाद को एक ऐसी विचारधारा के रूप में देखा जिसका जन्म और आगमन आधुनिक काल में हुआ है। वे कहते है कि "जहां सामंतवादी समाज अपने सामंतवादी बंधनो एवं संबंधो से जुड़े होते है, वहीं आधुनिक औद्योगिक समाज में कोई बंधन नहीं बन पाता क्योंकि यह समाज अधिक गतिशील एवं प्रतिस्पर्धी होता है इसलिए कुछ मूल्यों और विचारधाराओं का होना जरूरी है, जो समाज की सांस्कृतिक साम्यता को बनाए रखे। जिसका आधार राष्ट्रवाद है।" **(अभय प्रसाद सिंह, "भारत में राष्ट्रवाद" पृष्ठ-3**)

औद्योगिक समाज एक ऐसा समाज होता है जिसका संबंध हर तबके के व्यक्ति से होता है और यह संबंध हमेशा से ही अपने स्वभाव में प्रतिस्पर्धी और प्रयोगकर्ता होते है। ऐसी अवस्था में हमे एक ऐसे सन्तुलित आधार की जरूरत होती है जो इन संबंधो में एक समानता बनाए रखे और यही समानता का आधार राष्ट्रवाद होता है।

इरिक हॉब्सवॉम राष्ट्रवाद को राजनीतिक विचार के रूप में देखने की कोशिश करते है। उनका मानना था कि किसी भी राष्ट्र की कोई पुरानी नृजातीय परंपरा नहीं होती। वे कहते है कि "प्राचीन परंपरा में विश्वास, सांस्कृतिक शुद्धता, ऐतिहासिक निरंतरता सब एक झूठी कल्पना है, जो स्वयं राष्ट्रवाद द्वारा ही बनाई गई है। यह तो राष्ट्र था

जिसने अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए राष्ट्रवाद को जन्म दिया।" **(अभय प्रसाद सिंह, "भारत में राष्ट्रवाद" पृष्ठ-4**)

हम पुराने समाजों को देखे तो हम पाएंगे कि पुराने समाजों में एक नृजातीय परंपरा होती थी। यह नृजातीय परंपरा कबीलाई समाज के रूप में होती थी। पुराने दौर में मानव जीवन एक-दूसरे पर निर्भर था। यह वह दौर था जब मानव समाज कबीलों में रहा करता था। जीवनयापन और सुरक्षा की दृष्टि से लोग कबीलें बनाकर रहा करते थे। हर कबीलें के लोगों में एक दूसरे के प्रति विश्वास की भावना होती थी, जो कबीलों का मुख्य आधार हुआ करती थी। यही संबंध लगातार विकसित होते गए और जिसने आधुनिक युग में राष्ट्रवाद का रूप लिया।

बेनेडिक्ट एंडरसन राष्ट्रवाद पर लिखते हुए कहते है कि "राष्ट्रवाद को लोग आवश्यकता से अधिक महत्व दे रहे है। क्या ही अच्छा हो कि हम इसे लोगों की आयु और लिंग के समान अध्ययन और विवेचन का कारक भर माने, राष्ट्रवाद को फासीवाद या उदारवाद जैसी किसी विचारधारा से जोड़ने से बेहतर है इसे सामाजिक व्यवहार या धर्म जैसा ही एक तत्व माना जाए और आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाए।" **(Benedict Anderson, "Imagined Communities", Page no.5)**

इतिहास में कई ऐसे उदहारण है जब राष्ट्रवाद अपने स्वभाव में उग्र हुआ और दो राष्ट्रों के बीच या राष्ट्र के भीतर दो समुदायों के बीच हिंसा के माहौल ने जन्म ले लिया इसलिए एंडरसन का मानना था कि 'हमें राष्ट्रवाद को आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देना चाहिए।'

एंडरसन कहते है कि "मैं राष्ट्रवाद की मानक सम्बन्धी यह परिभाषा देना चाहूंगा कि यह एक काल्पनिक राजनैतिक समुदाय भर है और काल्पनिक तौर पर ही यह आरंभ से सीमित और स्वायत्त दोनों रहा है।" (**Benedict Anderson, "Imagined Communities", Page no.5-6)**

एंडरसन राष्ट्रवाद को एक काल्पनिक विचार इसलिए मानते है क्योंकि किसी भी राष्ट्र में ऐसे कई लोग या नागरिक होते है जो एक ही राष्ट्र के भीतर वास करते है लेकिन वास्तविक रूप में कभी एक दूसरे को देख या जान नहीं पाते लेकिन तब भी वह यह मानते है कि वह एक ही राष्ट्र के सदस्य है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद की कोई अंतिम परिभाषा नहीं हो सकती है। यह एक ऐसी भावना है जो काल, देश, समय के अनुसार लगातार बदलती रहती है और स्वभाव में परिवर्तनशील होती है।

मीडिया और राष्ट्रवाद का विमर्श:-

मीडिया और में राष्ट्रवाद पर जो मौजूदा विमर्श हुआ, उसकी शुरुआत शैक्षणिक संस्थान से हुई। नौ फरवरी 2016 को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से राष्ट्रवाद पर बहस शुरू हुई। इस बहस में कई बिंदु थे जैसे भाषा, धर्म, अभिव्यक्ति की आज़ादी, असहमति का अधिकार, समानता का अधिकार, देशभक्त बनाम देशद्रोही आदि।

मीडिया ने शैक्षणिक संस्थान की इस बहस को व्यापक पटल पर रखा और टीवी चैनल्स, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रवाद की इस बहस को विमर्श में तब्दील कर इसके सभी बिंदुओं और आधारों पर एक व्यापक बातचीत की।

मीडिया में राष्ट्रवाद पर जो विमर्श हुआ, उनमें एक मुद्दा भाषा का भी था। निवेदिता मेनन जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में राष्ट्रवाद पर अपने भाषण के दौरान कहती है कि "प्रोफ़ेसर आयशा किदवई के लेक्चर के बाद किसी ने यह सवाल उठाया था कि एक राष्ट्र बनने के लिए एक भाषा होनी चाहिए, तो वह भाषा कौन सी भाषा होगी? कौन-सी ज़ुबान होगी?" **(Azad.R, Nair.J, Singh.M, & Roy.M.S, (Edited) "What The Nation Really Needs To Know; The JNU Nationalism Lectures")**

अगर हम भारतीय राष्ट्रवाद को देखे तो हम पाते है कि आज़ादी की लड़ाई में सभी वर्गों और समुदायों के लोगों ने अपना समान योगदान दिया था, इन वर्गों के लोग भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले लोग थे। ज़ाहिर सी बात है कि भारतीय राष्ट्रवाद के मूल में भाषाई विविधता भी है। भारतीय राष्ट्रवाद ने भाषाई विविधता के साथ जन्म लिया था इसलिए भारतीय राष्ट्र के सन्दर्भ में किसी एक भाषा को ज्यादा महत्व नहीं दिया जा सकता है।

आनंद कुमार अपने वक्तव्य में कहते है कि "हमारे मुल्क में नेशनलिज़्म को बनाने और पहचानने के लिए जो विमर्श चला उनमें से एक विचार तो यह वाला था कि बिना एक प्रभुत्व पहचान के राष्ट्र निर्माण कैसे होगा।" (**Azad.R, Nair.J, Singh.M, & Roy.M.S, (Edited) "What The Nation Really Needs To Know; The JNU Nationalism Lectures")**

भारत जब उपनिवेशी सत्ता के विरुद्ध अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ रहा था, तब सभी वर्गों ने उस लड़ाई में अपना बहुमूल्य योगदान दिया था। ऐसे में हमें इस बात की आवश्यकता थी कि हम एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करें जहाँ सभी वर्गों के लोगों को समान दर्जा, समान अवसर और समान लाभ मिले। हमें जरुरत एक ऐसे विचार और पद्धति को अपनाने की थी जिसमें बिना किसी एक प्रभुत्व पहचान और बिना किसी एक पहचान को विशेष दर्जा देते हुए समावेशी पहलू से राष्ट्र निर्माण हो सके। आज़ादी के बाद हमने एक ऐसे संविधान को अपनाया जिसमें सभी के लिए समान दर्जा और समान अवसर थे। आने वाले दिनों में भाषा के आधार पर राज्य बने और भाषाई विविधता होते हुए भी सभी राज्य एकजुटता के साथ भारतीय संविधान के दायरे में रहे।

योगेंद्र यादव कहते है कि " राष्ट्रवाद पर जो विमर्श हुआ है, उसका सबसे दुःखद पहलू इसकी फ्रेमिंग है। यह सारा विमर्श दो पक्षों में विभाजित है। दोनों पक्षों का एक भी वर्ग भारतीय राष्ट्रीयता का सच्चा वारिस नहीं है।" **(योगेंद्र यादव, "राष्ट्रवाद की चुनौतियाँ" अदहन पत्रिका।)**

एक देश की राजनीतिक व्यवस्था एक मज़बूत व्यवस्था होती है और इस व्यवस्था की पहुँच समाज में सबसे ज्यादा गहरे और व्यापक स्तर तक होती है। राजनीतिक बदलाव देश में नई परिस्थितियों को जन्म देता है। अगर हम भारत में उपनिवेशी शासन को देखे तो हम पाते है कि आजादी की लड़ाई के दौरान भारतीयों ने अंग्रेजों के खिलाफ कई आंदोलन छेड़े और इन्हीं आंदोलनों के कारण उस समय की राजनीतिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए और यही परिवर्तन अपने आप में भारतीय राष्ट्रवाद के जन्म का आधार बना लेकिन वर्तमान दौर को देखा जाए तो कहीं न कहीं आंदोलनों के प्रयोग पर भी सवाल खड़े हुए है। मीडिया में राष्ट्रवाद का जो मौजूदा विमर्श हुआ। उस विमर्श ने इस सवाल को तो खड़ा किया ही कि एक लोकतंत्र में आंदोलनों की बेहद बड़ी भूमिका होती है लेकिन यह विमर्श साथ में ये भी बताता है कि आंदोलनों का सही प्रयोग बेहद ही आवश्यक है।

" स्वाधीनता प्राप्ति के लक्ष्य ने जिस प्रकार की राष्ट्रीयता को जन्म दिया उसमें विषम आर्थिक विकास और जाति व्यवस्था पर टिके समाज के विभिन्न समुदायों की विशिष्ट जरुरतों को अलग-अलग सुनना और उनके लिए संघर्ष करना प्रमुख नहीं था। अतः बहुत से जरूरी मुद्दे जिनमें स्त्रियों, दलितों, अल्पसंख्यकों और आदिवासियों के मुद्दे महत्त्वपूर्ण थे- फर्श के नीचे खिसका दिए गए। राष्ट्रवाद के भीतर जिस मनुष्यता की रक्षा करने की जरूरत थी, वह न हो सका।" **(सुधा सिंह, "राजनीति: समावेशी राष्ट्रवाद बनाम प्रतीकवाद" , जनसत्ता।)**

राष्ट्रवाद का समकालीन विमर्श जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से शुरू हुआ और जाधवपुर विश्वविद्यालय और दिल्ली के रामजस महाविद्यालय जैसे कई पड़ाव से गुजरा। मीडिया में राष्ट्रवाद के इस समकालीन विमर्श में दो शब्द मुख्य रूप से केंद्र बिंदु में घूमते रहे, पहला "देशभक्त" और दूसरा "देशद्रोही" ।

विचारधारा के स्तर पर ये विमर्श दो वर्गों में विभाजित था। एक वर्ग मुख्य रूप से वामपंथ विचारधारा से जुड़ा था और दूसरा वर्ग राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (दक्षिणपंथ) से जुड़ा हुआ था।

वामपंथ विचारधारा का मानना था कि संविधान के अनुसार चलना ही देशभक्ति है, इसके समर्थनकारी यह भी बोलते कि भारत का संविधान हमें अभिव्यक्ति की आज़ादी प्रदान करता है और इस अभिव्यक्ति की आज़ादी को दबाना सही नहीं है।

वहीं दूसरी ओर जो वर्ग राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (दक्षिणपंथ) से जुड़ा हुआ था, उसका मानना था कि यह सही है कि भारत का संविधान अभिव्यक्ति की आज़ादी प्रदान करता है लेकिन यह सही नहीं है कि हम उस अभिव्यक्ति की आज़ादी का ग़लत इस्तेमाल करे और उसका प्रयोग देश की एकता को तोड़ने में करे। हर वह अभिव्यक्ति की आज़ादी जो देश को तोड़ने की बात करती हो वह निश्चित रूप से गलत ही है। अभिव्यक्ति की आज़ादी का प्रयोग तो देश की एकता को बनाए रखने और देश के विकास में होना चाहिए।

राष्ट्रवाद के इस विमर्श, रामजस महाविद्यालय प्रकरण और अभिव्यक्ति की आज़ादी के मुद्दे पर बोलते हुए राकेश सिन्हा कहते है कि " घटना आधारित विमर्श और विचार आधारित विमर्श में अंतर होता है। अभी जो घटना घटी, ऐसी दस घटनाएं दस-पाँच दिन में शांत हो जाएगी। यह घटना आधारित विमर्श है। कोई आया, उसे रोका गया, धरना दिया गया ऐसी घटनाएं घटती रहती है। मैं अभिव्यक्ति की आज़ादी को बड़े परिप्रेक्ष्य में देखता हूँ।" **(राकेश सिन्हा, "बारादरी" , रविवारीय स्तंभ, जनसत्ता)**

राष्ट्रवाद के इस समकालीन विमर्श में हर पहलू थे, राष्ट्रवाद के इस समकालीन विमर्श ने सभी मुद्दों को समेटने की कोशिश की। अगर अभिव्यक्ति की आज़ादी को देखा जाए तो हम सब मानते है कि अभिव्यक्ति की आज़ादी एक लोकतंत्र का प्राणतत्व होती है। एक लोकतंत्र के मज़बूत होने का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि वह लोकतंत्र अपने नागरिकों को या अपनी जनता को अभिव्यक्ति की कितनी आज़ादी प्रदान करता है।

दूसरी तरफ यह भी जरूरी है कि हम लोकतंत्र में संविधान द्वारा दिए गए अपने समस्त अधिकारों का एक उचित प्रयोग सही और सकारात्मक दिशा में करे। हमें चाहिए कि

हम अपने संवैधानिक अधिकारों का प्रयोग संविधान के ही दायरे में करे। यदि संविधान द्वारा दिए गए किसी अधिकार का गलत प्रयोग होता है तो आखिरकार वह गलत प्रयोग हमारे लोकतंत्र और राष्ट्र की एकता को ही नुक़सान पहुंचाएगा और साथ में यह भी सही नहीं कि हम किसी को उसके विचारों और इच्छाओं को अभिव्यक्त करने से रोके। अभिव्यक्ति की आज़ादी का सकारात्मक प्रयोग इस तरीके से होना चाहिए जिससे एक राष्ट्र की बुनियाद और उसके संविधान की मजबूती बनी रहे।

राष्ट्रवाद के इस विमर्श में एक मुख्य बिन्दु ऐसा भी था जिसने उपनिवेशी सत्ता के खिलाफ भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया था, वह मुख्य बिंदु था "भारत माता की जय" का नारा राष्ट्रवाद के इस समकालीन विमर्श में "भारत माता की जय" के नारे को कुछ लोगों ने हिंदुत्ववादी नारा कहा और इसे बोलने से इंकार कर दिया।

योगेंद्र यादव कहते है कि " भारत माता की जय, कोई राइट विंग हिन्दुत्व राष्ट्रवादियों का स्लोगन नहीं था, इस देश में "भारत माता की जय", हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का बिल्कुल मैनस्ट्रीम स्लोगन था।" (**योगेंद्र यादव, "राष्ट्रवाद की चुनौतियां" अदहन पत्रिका)**

उपनिवेशी सत्ता के खिलाफ हमारे भारत राष्ट्र की जनता ने अनेक आंदोलन किये थे। उन आंदोलनों में जनता ने कई नारों का उपयोग किया था। इन नारों ने विविधता से भरी हुई जनता का एकबद्ध किया और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। ये नारे किसी खास धर्म, जाति और राजनीतिक पार्टी के नहीं थे। ये सभी नारे भारतीय जनता की एकजुटता की उपज थे इसलिए इन नारों को संकीर्ण दायरे में देखना गलत है। ये समस्त नारे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की बहुमूल्य धरोहर हैं।

मौजूदा दौर और राष्ट्रवाद:-

एक राष्ट्र के अंदर उसका एक इतिहास होता है, भाषा होती है, धर्म होते है और कुछ राष्ट्रीय प्रतीक भी होते है। उदहारण के लिए झंडा, राष्ट्रगान, राष्ट्रगीत और राष्ट्रीय चिन्ह इत्यादि। ये सभी पहचान और खासकर राष्ट्रीय प्रतीक उस राष्ट्र के गौरवमयी इतिहास को बताते है।

सुधा सिंह जी कहती है कि "आज राष्ट्र की पहचान के विविध रूपों में से केवल राष्ट्र के प्रतीकात्मक रूपों को चुन कर उस पर बहस हो रही है।" **(सुधा सिंह, "राजनीति: समावेशी राष्ट्रवाद बनाम प्रतीकवाद" , जनसत्ता।)**

मौजूदा दौर में यदि हम राष्ट्रवाद की बहस को देखें तो हम पाएंगे कि यह बहस राष्ट्र के प्रतीकों यानि राष्ट्रीय चिन्ह, झंडा, राष्ट्रगान, राष्ट्रगीत और नारों के इर्द-गिर्द ही सिमट कर रह गई है। राष्ट्रवाद की यह मौजूदा बहस राष्ट्र की वर्तमान समस्यायों और उसके विकास के पहलू से भटकती हुई दिखाई दे रही है। पश्चिम के राष्ट्रवाद और भारतीय राष्ट्रवाद में एक बेहद बड़ा अंतर है। जहां एक ओर पश्चिम का राष्ट्रवाद एक भाषा, एक धर्म और एक नस्ल को लेकर पनपा था, वहीं दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रवाद औपनिवेशिक ताकतों के विरुद्ध एक भावना के रूप में पनपा था। भारतीय राष्ट्रवाद के मूल में विविधताएं विराजमान थी। यह विविधताएं धर्म, भाषा और जाति इत्यादि को लेकर थी।

अंग्रेजों का विरोध करते हुए उस दौर के भारतीय समाज ने अपने लिए कुछ राष्ट्रीय प्रतीक निर्धारित किए ताकि विविधताओं से भरी हुई भारतीय जनता को इन प्रतीकों के माध्यम से एक किया जा सके लेकिन ये प्रतीक भारतीय राष्ट्रवाद का माध्यम थे न कि उसका मूलाधार।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों ने इन प्रतीकों के माध्यम से उपनिवेशी राज के खिलाफ भारतीय जनता को एक किया और भारतीय जनता एक भी हुई लेकिन एक लम्बे समय तक इन प्रतीकों से खुद को जोड़े रखना भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद दोनों के लिए एक ज़ोखिम भरा कार्य होगा। भारतीय राष्ट्रवाद अपने साथ

विविधताओं को लेकर चला है ऐसे में इन प्रतीकों को जबरन लोगों के ऊपर थोपना एक उग्र राष्ट्रवाद को जन्म देगा, जो भारतीय लोकतंत्र के लिए खतरनाक साबित होगा।

यदि हम 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम को देखे तो साफ़ है कि यह संग्राम अपने आप में एक जन आन्दोलन था। इस जन आन्दोलन में कई ऐसे पहलू थे जो खुद में जनतांत्रिक थे जैसे कि सभी धर्मों के लोगों ने, सभी जातियों के लोगों ने और सभी वर्गों के लोगों ने इसमें भागीदारी की थी।

सुधा जी कहती है कि " यहाँ तक कि लैंगिक भेद से ऊपर उठ कर यह लड़ाई लड़ी गयी थी।" **(सुधा सिंह, "राजनीति: समावेशी राष्ट्रवाद बनाम प्रतीकवाद" , जनसत्ता।)**

1857 के संग्राम ने और इस संग्राम में भारतीय जनता की एकता यानी राष्ट्रवाद ने अंग्रेजों को झकझोर कर रख दिया था| हालांकि अंग्रेज़ 1857 के इस संग्राम को कुचलने में सफल रहे लेकिन उन्होंने भारतीय जनता की एकता की ताकत को भांप लिया था| अंग्रेजों ने भारतीय जनता की एकता को तोड़ने के लिए विभाजनकारी नीति को अपनाया और इस विभाजनकारी नीति ने भारतीय राष्ट्रवाद पर लगातार प्रहार किया| 1947 से पूर्व भारतीय जनता का एकमात्र ही लक्ष्य था – "भारत की आज़ादी" एकमात्र लक्ष्य होने के कारण कई ऐसे मुद्दे थे, जिनपे या तो ध्यान नही दिया गया या उन्हें आज़ादी की मजबूरीवश दरकिनार किया गया। जिनमे प्रमुख थे आर्थिक विकास, जातिय व्यवस्था को तोड़ना दलितों और अल्पसंख्यकों के मुद्दे। आज हमे इस बात की जरुरत है कि राष्ट्रवाद के प्रतीकात्मक चिन्हों की बहस से पीछे हटकर इन सभी मुद्दों पर ध्यान दे।

भारतीय राष्ट्रवाद आज़ादी के उदेश्य और सामाजिक सुधारों के लक्ष्य के साथ आया था। आज़ादी तो प्राप्त हो गयी लेकिन सामाजिक सुधार के लक्ष्य आज भी अधूरे है।

देशद्रोही बनाम देशभक्त की बहस:-

अभिव्यक्ति की आज़ादी एक लोकतंत्र के लिए प्राणवायु के समान होती है। एक लोकतंत्र की मजबूती का पता इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उस लोकतंत्र में अभिव्यक्ति की आज़ादी कितनी सशक्त है और उसकी सीमाएं क्या है? एक लोकतंत्र में जनता को सहमत और असहमत होने का दोनों ही अधिकार है लेकिन अभिव्यक्ति की आड़ में हिंसा को एक लोकतंत्र में कोई स्थान नही है।

राकेश सिन्हा जी कहते है कि "राष्ट्रभक्ति पर बहस करने का अधिकार उन लोगों को नहीं है, जो हिंसा की राजनीति या हिंसा की बात करते है साथ ही जो देश को चुनौती देता है, जो देश को मिटा देना चाहता है, चाहे वह किसी भी दल या विचारधारा का हो, वह देशद्रोही है | अगर कोई व्यक्ति बहुत सारी बातों का विरोध करते हुए भी अस्मिता की रक्षा के लिए, सभ्यता की रक्षा के लिए लड़ता है तो वह देशभक्त हो सकता है।" **(राकेश सिन्हा, "बारादरी" , रविवारीय स्तंभ, जनसत्ता)**

हिंसा के बूते किसी व्यक्ति की देशभक्ति या फिर उसके देशद्रोही होने को परिभाषित नही किया जा सकता है। देशभक्ति और देशद्रोह को एक बड़े संदर्भ में देखने की जरुरत है, महज़ किसी बात से या किसी विचार से असहमत होने को हम देशद्रोह के दायरे में नहीं रख सकते और न ही जबरन चंद नारों को बुलवा देने से देशभक्ति साबित हो जाती है। देशभक्ति व्यक्ति विशेष यानि उस देश के नागरिक से सम्बद्ध होती है। नागरिक वो होता है जो अलग-अलग रूपों में होकर एक राष्ट्र का निर्माण करता है और राष्ट्रवाद वह भावना है जो देश की जनता को संगठित करती है। जहां तक एक राष्ट्रवाद देश की जनता को संगठित करने के लक्ष्य तक सीमित है तबतक वह राष्ट्रवाद सच्चे अर्थों में सही है, इसके इतर जहां एक राष्ट्रवाद प्रतिस्पर्धा करते हुए उग्रता का रूप धारण कर लेता तो वह एक फासीवादी ताकत में परिवर्तित हो जाता है जो किसी भी राष्ट्र के लिए घातक हो सकता है। हिंसा, राजनीति में न तो वैकल्पिक राजनीति को उभरने देती है और न ही वैकल्पिक विचारधारा को विविधताओं से भरे हुए लोकतंत्र के विकास के लिए वैकल्पिक राजनीति और

वैकल्पिक विचारधारा का होना बेहद ही जरुरी है अन्यथा एक लोकतंत्र की राजनीति में एक ही पार्टी और एक ही विचारधारा का वर्चस्व हो जाएगा जो किसी भी वक़्त निरंकुशता को जन्म दे सकता है।

संस्कृति और सभ्यता में अंतर होता है। संस्कृति किसी मनुष्य यानि व्यक्तिविशेष के अच्छे गुणों और अच्छे विचारों का मूलाधार होती है। जब एक मनुष्य के अच्छे गुणों और अच्छे विचारों को एक मानव समाज अपना लेता है तो वह संस्कृति सभ्यता में परिवर्तित हो जाती है। संस्कृति व्यक्तिविशेष का मसला होती है और सभ्यता समुदाय से जुडी रहती है। भारत का राष्ट्रवाद कई विविधताओं को लेकर आया था। विविधता ही भारतीय राष्ट्रवाद का आधार है। भारतीय राष्ट्रवाद वह भावना थी जिसने अंग्रेजों के खिलाफ भारतीय जनता को संगठित किया। आज़ादी के दौर में एक-एक व्यक्ति ने स्वेच्छा से अपने निजी जीवन से ऊपर उठकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी की और योगदान दिया इसलिए भारत के राष्ट्रवाद को एक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भी कहा जा सकता है क्योंकि इसके मूल में एक-एक व्यक्ति का योगदान है। इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में हर एक तबके को, हर एक धर्म को समान जगह है क्योंकि इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की एक ही पहचान है और वो पहचान है भारतीयता की। संस्कृति से सभ्यता जन्म लेती है और सभ्यता कई समुदायों का मिलन होती है। भारतीय राष्ट्र के निर्माण में कई सभ्याताओं का अपना एक विशेष योगदान है इसलिए भारतीय राष्ट्र को एक सभ्यताई राष्ट्र भी कहा जा सकता है साथ ही विश्वविद्यालय लगातार भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद के रूप पर व्यापक चिंतन करते हैं साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद एक ऐसा राष्ट्रवाद है जो समावेशी रूप से विकसित हुआ और लगातार उसी रूप में आगे बढ़ रहा है।

संचार प्रौद्योगिकी, राष्ट्रवाद और प्रवासी भारतीय:-

संचार प्रौद्योगिकी के दौर में मीडिया, इंटरनेट मीडिया, डिजिटल मीडिया और सोशल मीडिया की पहुँच विश्व में व्यापक और मज़बूती के साथ स्थापित हो चुकी है। संचार प्रौद्योगिकी ने राष्ट्रवाद की भावना को मज़बूत ही किया है। प्रवासी भारतीय डिजिटल

मीडिया के द्वारा सम्पर्क साधे रहते हैं। देश की राजनीतिक और सामाजिक गतिविधि पर डिजिटि मीडिया के द्वारा उनका जुड़ाव सदैव रहता है। भारत में राष्ट्रवाद पर जो विमर्श चल रहा था, उस विमर्श में न केवल प्रवासी भारतीयों का ध्याब आकृष्ट किया बल्कि प्रवासी भारतीयों ने राष्ट्रीयता को महत्व देते हुए डिजिटल मीडिया के माध्यम से उस विमर्श में योगदान किया।

राष्ट्रीयता का अर्थ होता है जन्म के आधार पर राष्ट्र से जुड़ी पहचान। जब एक व्यक्ति का जन्म किसी राष्ट्र में होता है तब उसे उस राष्ट्र की पहचान मिलती है तो उसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। जन्म लेने के बाद आप किसी और देश की नागरिकता ग्रहण कर सकते है लेकिन आपकी राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक पहचान उस राष्ट्र से ही जुड़ी रहेगी,जिस राष्ट्र में आपका जन्म हुआ था।

9 फरवरी 2016 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में जब "देश विरोधी नारों" को लेकर मीडिया में एक व्यापक बहस हुई थी, तब इन नारों का प्रभाव प्रवासी भारतीय पर भी हुआ था। प्रवासी भारतीय ने अपनी राष्ट्रीयता का परिचय देते हुए देश तोड़ने वाले नारों की डिजिटल मीडिया द्वारा जमकर आलोचना की थी और उस एक बहस के दौरान उनके भीतर राष्ट्रवाद के उभार का पुट दिखाई दिया।

जनरोज यिलमाज़ केलेस कहते है कि "नई संचार प्रौद्योगिकियां वैश्वीकरण के युग में क्षेत्रीय राष्ट्रवाद के एक नए रूप में योगदान करती हैं। मातृभूमि में असाधारण समय की अवधि के दौरान प्रवासी भारतीयों के बीच राष्ट्रवाद के इस रूप को देखा जा सकता है।"

(https://grfdt.com/InterviewDetails.aspx?TabId=2045)

आगे वे कहते है कि "अपनी मातृभूमि में प्रमुख जातीय-केंद्रित राष्ट्र-राज्यों द्वारा अस्वीकृत, अधीनस्थ और दबी हुई जातीय पहचान को प्रवासी भारतीयों में पुनर्जीवित किया गया है। उदाहरण के लिए, आधुनिक कुर्द भाषा स्वीडन में कुर्द प्रवासी द्वारा विकसित की गई है। डिजिटल मीडिया ने दुनिया भर के डायस्पोरा को

जोड़ा है और उन जातीय समूहों के लिए एक संस्था के रूप में कार्य करता है जो अपनी प्राचीन मातृभूमि में अधीनस्थ हैं।"

(https://grfdt.com/InterviewDetails.aspx?TabId=2045)

डिजिटल मीडिया ने दुनिया भर के डायस्पोरा को आपस में जोड़ने का प्रयास किया है। भारत के सन्दर्भ में यह और भी प्रभावशाली रहा है। डिजिटल मीडिया के द्वारा प्रवासी भारतीय भारत और भारत की हर गतिविधि से जुड़े रहते है। राजनीति मसलों पर यह जुड़ाव और प्रभावशाली रूप में दिखता है जो प्रवासी भारतीयों के द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद को एक नया आयाम प्रदान करता है।

निष्कर्ष:-

राष्ट्रवाद के कुछ देशों में नकारात्मक परिणाम ही रहे है पर कुछ देशों में इसके सकारात्मक परिणाम देखने को मिले है। कई देशों में एक सकारात्मक विचार के रूप में राष्ट्रवाद ने लोगों को एकजुट करने का काम भी किया है। उपनिवेशी सत्ता के खिलाफ भारत में राष्ट्रवाद ने लोगों को एकरूपता में बांधा है जिसके कारण लोगों में एक दूसरे के प्रति विरोध और नफ़रत की भावना काफी हद तक समाप्त हो गयी। इस रूप में राष्ट्रवाद ने मानवता को एक सूत्र में बांधने का कार्य किया है। डिजिटल मीडिया में राष्ट्रवाद की मौजूदा बहस को इन्हीं मुद्दों के साथ आगे बढ़ाना चाहिए और एक सकारात्मक विमर्श के साथ राष्ट्रवाद का प्रयोग राष्ट्र के विकास में करना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. चन्द्र, वि. (1996), "*भारतीय राष्ट्रवाद कुछ निबंध*", नई दिल्ली: जवाहार पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।
2. Hobsbawm, E.J, (1990) "*Nations and Nationalism since 1780*" Delhi: Cambridge University Press.
3. Anderson, B, (1983) "*IMAGINED COMMUNITIES*" London: Verso

4. सिंह, अ.प्र. (2014) "*भारत में राष्ट्रवाद*" नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड।
5. चौधरी, बा.ना. और कुमार, यु, (2013) "*आज का भारत: राजनीति और समाज*" नई दिल्ली:ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड।
6. दुबे, अ.कु. (2005) "*बीच बहस में सेकुलरवाद*" नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन ।
7. Aloysius, G, (1997) "*Nationalism without a Nation in INDIA*", New Delhi: Oxford University Press
8. Azad. R, Nair. J, Singh. M, & Roy. M.S, (Edited), (2016) "*WHAT THE NATION REALLY NEEDS TO KNOW*: *THE JNU NATIONALISM LECTURES*" India: HarperCollins Publishers
9. स. रविकान्त (2018) – "आज के आईने में राष्ट्रवाद", नयी दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
10. Chandra.B. (2009), "History of Modern India", New Delhi, Orient Blackswan.
11. Chandra.B. (2012) "*The Making of Modern India*: *From Marx to Gandhi*" New Delhi: Orient Blackswan.
12. देसाई, ए. आर. (2016) "भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां" , दिल्ली, ग्रन्थशिल्पी।
13. पुनियानी, रा. (2016) "धर्म सत्ता और हिंसा", नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
14. खिलनानी, सु. (2001) "भारतनामा", नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
15. Apporvanand. (2018) "THE IDEA OF A UNIVERSITY" New Delhi, Thomson Press (India) Ltd.

पत्र-पत्रिकाएं :-

1. http://www.jansatta.com/politics/inclusive-nationalism-versus-symbolism/76634/
2. http://www.jansatta.com/sunday-column/rss-thinker-rakesh-sinha-interview-over-students-union-vs-rss-ideology/268022/
3. https://grfdt.com/InterviewDetails.aspx?TabId=2045)

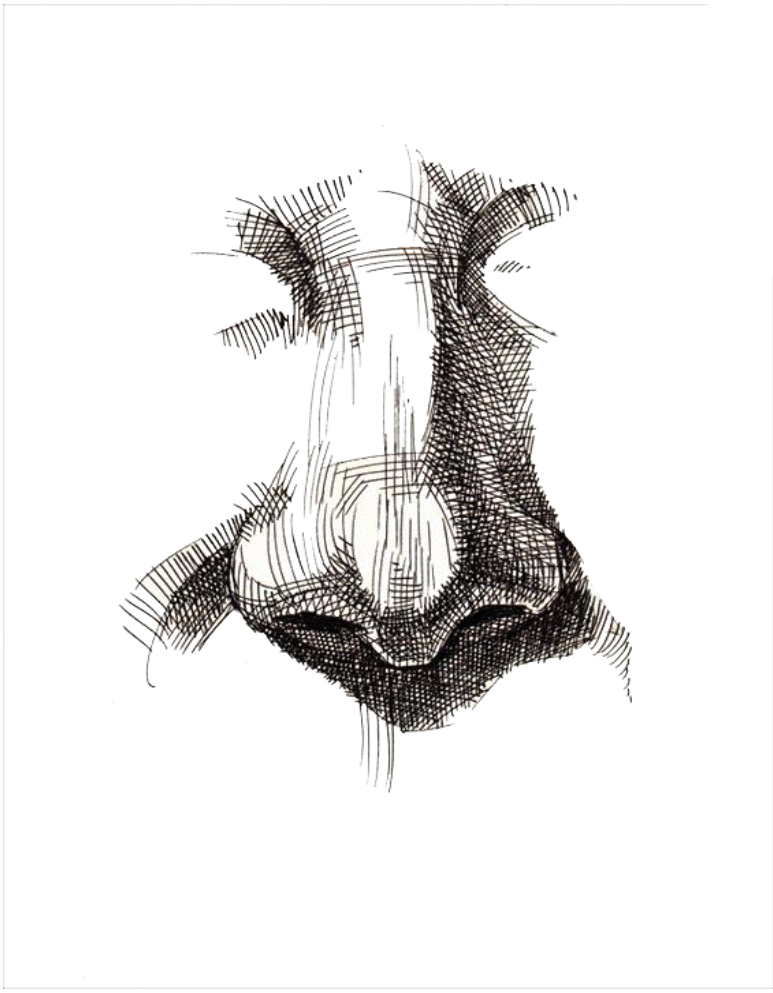

आलेख

पॉल रिचर्ड ब्रास: भारतीय राजनीति के विपुल एवं बहुकृतिक विद्वान

जया ओझा
पीएचडी शोधार्थी
राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
Jojha@polscience.du.ac.in
8130713231

आलेख सार

अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिक पॉल आर ब्रास उन अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिकों में एक थे जिन्होंने भारत को वृहत रूप में समझा, इसीलिए ब्रास भारतीय राजनीति पर अपने व्यापक शोध के लिए जाने जाते हैं। इन्होंने भारतीय राजनीति के दशा एवं दिशा दोनों को समझने का प्रयास किया। ब्रास एक विपुल एवं बहुकृतिक विद्वान थे जिन्होंने ना केवल तुलनात्मक अध्ययन किया, अपितु दक्षिण एशियाई राजनीति, जातीय राजनीति, राष्ट्रवाद, सांप्रदायिकता एवं सामूहिक हिंसा के क्षेत्र में अग्रणी थे। उनकी विद्वता का दायरा किसान आंदोलन से लेकर सांप्रदायिकता तक विस्तारित है। उन्होंने हावर्ड एवं शिकागो विश्वविद्यालय से शासन एवं राजनीति में प्रशिक्षण लिया तत्पश्चात अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन व राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए वाशिंगटन विश्वविद्यालय, सिएटेल में प्रवेश लिया। ब्रास की रुचि फील्ड वर्क अनुसंधान में अधिक थी जिसको उन्होंने प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक मायरन वीनर से सीखा।

बीज शब्द

अमेरिका, राजनीति, विज्ञान, विचार, राष्ट्रवाद, विद्वान, सांप्रदायिकता

आलेख

अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिक पॉल आर ब्रास की एक लंबी बीमारी के बाद 85 वर्ष की आयु में 31 मई को मृत्यु हो गई। वह उन अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिकों में एक थे जिन्होंने भारत को वृहत रूप में समझा, इसीलिए ब्रास भारतीय राजनीति पर अपने व्यापक शोध के लिए जाने जाते हैं। इन्होंने भारतीय राजनीति के दशा एवं दिशा दोनों को समझने का प्रयास किया। ब्रास एक विपुल एवं बहुकृतिक विद्वान थे जिन्होंने ना

केवल तुलनात्मक अध्ययन किया, अपितु दक्षिण एशियाई राजनीति, जातीय राजनीति, राष्ट्रवाद, सांप्रदायिकता एवं सामूहिक हिंसा के क्षेत्र में अग्रणी थे। उनकी विद्वता का दायरा किसान आंदोलन से लेकर सांप्रदायिकता तक विस्तारित है। उन्होंने हावर्ड एवं शिकागो विश्वविद्यालय से शासन एवं राजनीति में प्रशिक्षण लिया तत्पश्चात अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन व राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए वाशिंगटन विश्वविद्यालय, सिएटेल में प्रवेश लिया। ब्रास की रुचि फील्ड वर्क अनुसंधान में अधिक थी जिसको उन्होंने प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक मायरन वीनर से सीखा। इस बात को वह अपनी मुख्य पुस्तक 'द प्रॉडक्सन ऑफ ऑफ हिन्दू-मुस्लिम वॉइलेन्स इन कंटेम्परारी इंडिया'(2003) की प्रस्तावना में लिखते हैं। वह कहते हैं कि मैंने पहली बार फील्ड रिसर्च 1961-62 में अलीगढ़ और उत्तर प्रदेश के अन्य जिलों में मायरन वीनर के देख-रेख में किया।

ब्रास ने भारतीय राजनीति में सांप्रदायिकता के व्यापक विश्लेषण के अलावा चौधरी चरण सिंह की जीवनी का सुंदर वर्णन किया। उनके आरंभिक उल्लेखनीय कार्यों में 'फैक्शनल पॉलिटिक्स इन एन इंडियन स्टेट : द काँग्रेस पार्टी इन उत्तर प्रदेश' (1965) था। यह पहला एक ऐसा अध्ययन था जिसने उन पारंपरिक तथा आधुनिक तथ्यों को उजागर करने का प्रयास किया जो उत्तर प्रदेश के राजनीतिक भाग्य को आकार दे रही थी। इस शोधकार्य के माध्यम से उन्होंने उत्तर प्रदेश के चुनावी राजनीति तथा गुटबंद के विविध आयामों को विश्लेषित किया। इस शोधकार्य को करते समय उनके द्वारा दो सौ से अधिक स्थानीय व राज्य स्तरीय नेताओं के साक्षात्कार भी लिए गए। इस प्रकार इस पुस्तक में तथ्य व कथ्य द्वारा ब्रास ने तुलनात्मक अध्ययन के प्रविधि का प्रयोग करते हुए उत्तर प्रदेश की परिवर्तनीय राजनीतिक परिदृश्य का वर्णन किया।

उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति "रैडिकल पॉलिटिक्स इन साउथ एशिया" (1973) थी। इसके अंतर्गत ब्रास भारत, बांग्लादेश एवं सीलोन में क्षेत्रीय कट्टरपंथी आंदोलनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। इसमें कुल सात निबंध हैं जिसमें प्रत्येक क्षेत्र के भीतर व्याप्त उन स्वदेशी कारकों पर ध्यान केंद्रित किया गया है जो कट्टरपंथी आंदोलनों के

लिए उत्तरदाई थे। ब्रास द्वारा दक्षिण एशिया में कट्टर वामपंथी राजनीतिक दलों के इतिहास, संगठन, विचारधारा एवं प्रभाव का भी व्यापक विश्लेषण किया गया है।

उनकी तीसरी व सबसे प्रमुख कृति, "लैंग्वेज, रिलीजन एंड पॉलिटिक्स इन नॉर्थ इंडिया"(1974) थी। इस पुस्तक को एक 'स्मरणार्थक कार्य' के रूप में जाना जाता है, जिसमें भाषा, धर्म, जातीय समूहों तथा राष्ट्रवाद का एक उत्कृष्ट विश्लेषण है। इसमें ब्रास ने उत्तर भारत की भाषाई राजनीति के विविध आयामों को देखा। इसके द्वारा उन्होंने यह बताया कि क्यों कुछ भाषाई आंदोलन शक्तिशाली राजनीतिक आंदोलन में परिवर्तित हो जाते हैं जबकि वहीं कुछ नहीं परिवर्तित हो पाते हैं। इसका अध्ययन करने के लिए ब्रास उत्तर प्रदेश, बिहार एवं पंजाब में चले भाषाई आंदोलनों का परीक्षण किया। इस कृति को भारत में भाषा एवं धर्म की राजनीति तथा जातीय व राष्ट्रवादी आंदोलनों दोनों के लिए महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिसका मूल्य व महत्व शायद ही कभी कम हो।

इसी क्रम में जब भी भारतीय राजनीति को समझने की बात आती है, तो हर विद्यार्थी व शोधार्थी के लिए ब्रास की पुस्तक "द पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस"(1990) को पढ़ना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। उनके इस संश्लेषण को कई बार पुनःमुद्रित किया गया। भारतीय विश्वविद्यालयों में तथा परीक्षा की तैयारियों में इस पुस्तक की भूमिका मुख्य होती है जो भाषा, धर्म, व जाति की राजनीति पर विशेष रूप से ध्यान देती है। भारतीय राजनीति को बिना रजनी कोठारी की कृति "पॉलिटिक्स इन इंडिया" को पढ़े नहीं समझा जा सकता, उसी शृंखला में पॉल आर ब्रास की द पॉलिटिक्स इन इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस को भी बिना पढ़े भारतीय राजनीति को नहीं समझा जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने स्वातंत्रयोत्तर भारत में आए राजनीतिक पृष्ठभूमि में परिवर्तन, राज्य तथा स्थानीय राजनीति के परिवर्तनीय संबंध, विस्तृत राजनीतिक संरचना तथा शासन के कार्यों का विश्लेषण किया। इसके साथ ही भारतीय राजनीति के व्यवहार एवं नीतियों में निरंतरता तथा परिवर्तनीयता के तत्वों को भी निर्दिष्ट किया।

भारतीय राजनीति में जातीय समूहों तथा राज्य के संबंधों का विश्लेषण ब्रास ने अपनी पुस्तक "एथनीसिटी एंड नैशनलिज़म : थ्योरी एंड कॉम्परीजन" (1991) में किया, जिसमें जातीय समूह की संगठनाओं, तथा जातीय अस्मिताओं की संरचनाओं का विवेचन किया। यह पुस्तक जातीय पहचान तथा आधुनिक राष्ट्रवाद के उद्भव से संबंधित एक विशिष्ट सिद्धांत प्रस्तुत करती है। यह सिद्धांत दो मुख्य तर्कों पर आधारित है, पहला, जातीयता व राष्ट्रवाद कोई 'देन' नहीं है, अपितु समाज व राजनीति द्वारा निर्मित है। दूसरा, जातीयता एवं राष्ट्रवाद आधुनिक परिघटनाएं हैं जो आधुनिक केन्द्रीकृत राज्य की गतिविधियों अविभाज्य रूप में जुड़ी हुई है। यह पुस्तक इन्हीं सिद्धांतों का परीक्षण करती है, तथा केस स्टडी के मध्यम से जातीय लामबंदी एवं राष्ट्र निर्माण के विभिन्न क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित करती है।

इसके अलावा ब्रास सांप्रदायिक दंगों की भी बात करते हैं। अपनी पुस्तक फॉर्म्स ऑफ कॉलेक्टिव वॉइलेंस (2006) में लिखते हैं कि दंगें अपने आप उत्पन्न नहीं होते, अपितु यह सुनियोजित तथा संगठित तरीके से निर्मित किए जाते हैं। इसको निर्मित करने में पुलिस, प्रशासन तथा पोलिटिकल पार्टीज़ की मुख्य भूमिका होती है। इनके द्वारा ही दंगों को 'संस्थाबद्ध प्रणाली' के रूप में प्रयोग किया जाता है। इतना ही नहीं ब्रास का यह भी मानना है कि दंगों में मीडिया की भी भूमिका यहां होती है, जो तथ्यों को तोर-मरोड़ कर प्रस्तुत करती है जिसके कारण दंगे और भी तीव्र होने लगते हैं।

सांप्रदायिक हिंसा एवं हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के कारणों को लेकर ब्रास द्वारा व्यापक परीक्षण किया गया। इससे संबंधित उनकी अन्य पुस्तकें जैसे थेफ्ट ऑफ एन आइडल : टेक्स्ट एंड कांटेक्स्ट इन द रिप्रजनटेशन ऑफ कॉलेक्टिव वॉइलेंस (1997), द प्रोडक्शन ऑफ हिन्दू-मुस्लिम वॉइलेंस इन कॉनटेम्परोरी इंडिया (2003) इत्यादि है, जिसके अंतर्गत वह सांप्रदायिक हिंसा के इतिहास व वर्तमान को बताते हुए उनके कारणों पर भी ध्यान केंद्रित करते हैं।

वर्तमान समय में सांप्रदायिकता से जूझते भारत में पॉल आर ब्रास के लेखन कार्यों की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि ब्रास ने स्वतंत्र भारत के परिवर्तनीय राजनीतिक परिदृश्य के साथ साथ भारतीय लोकतंत्र के विविध आयामों का भी

विश्लेषण किया है। इसलिए उन्हें भारतीय राजनीति का विपुल व बहुकृतिक विद्वान कहा जा सकता है। जिन्होंने भारतीय राजनीति के प्रत्येक उन पहलुओं का विश्लेषण किया जिससे भारतीय राजनीति प्रभावित होती है। यद्यपि उन्होंने अपने जीवन काल में अनगिनत लेख व पुस्तकें लिखी जिनका विवरण एक लेख में देना संभव नहीं है, फिर भी उनके कुछ महत्वपूर्ण कृतियों को ध्यान में रखते हुए उनके विपुल स्वभाव व बहुकृतिक व्यक्तित्व का परीक्षण किया जाना आवश्यक है। भले ही ब्रास आज हमारे बीच नहीं हैं परंतु उनके कार्यों की प्रासंगिकता सदैव हमारे बीच बनी रहेगी। हर उस राजनीतिक विज्ञानिक में उनकी स्मृतियाँ जीवंत रहेंगी जिन्होंने उनको पढ़ा है।

किसान विमर्श : 'अकाल में उत्सव' के विशेष सन्दर्भ में

धन राज
शोधार्थी
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
केरल केन्द्रीय विश्वविद्यालय
dhanrajcukerala@gmail.com
दूरभाष 9462063142

शोध सार

भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत में किसानों की वर्तमान में समय में कैसे संघर्ष कर रहा है तथा जीवन यापन के जतन कर रहा है क्योंकि कि वर्तमान समय में किसान को समस्याओं ने चारों ओर से घेर रखा है। 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में भी पंकज सुबीर से किसानों की समस्याओं को समाज और देश के सामने राखा है। अब हमे इन समस्याओं को देखते हुए किसान के लिए सार्थक प्रयास करने होंगे ताकि किसान अपना जीवन आनन्दपूर्वक जी सके तथा देश की प्रगती में अपना योगदान दे सके।

बीज शब्द

सीमान्त, रासायनिक, किसान-आत्महत्या, सागौन, श्रृंगार, नुकता, कुर्की, संत्रास, महकमा, कलेक्ट्रेट

शोध आलेख

किसान शब्द मस्तिष्क में आते ही हमारे मन में एक दुबले-पतले कृशकाय व्यक्ति की छवि बनती है जो अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए दिन-रात कड़ी मेहनत करता है और कभी उसे सफलता मिलती तथा कभी नही भी। उसका तथा उसके परिवार का जीवन सदैव अभावों से ग्रस्त रहता है परन्तु फिर भी वह अपने परिवार को खुश रखने का प्रयास करता है।

वैसे देखे तो भारत एक कृषि प्रधान देश है और यह हम लम्बे समय से सुनते एवं पढ़ते आये । लेकिन वर्तमान समय में देखे तो ऐसा लगता है की कृषि प्रधानता वाली अवधारणा गलत सी दिखने लगी। भारत में किसानों की स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती।कुछ राज्यों में स्थिति तो अति सोचनीय है।

कृषि मानसून पर आधारित है तथा हमारे यहाँ तो कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता है तथा जुए में एक बार विजित मानव बाद में हर बाजी में हार का स्वाद चखता है तथा बर्बादी के पथ की अग्रसर होता है यही कुछ खेती में होता दिख रहा है।

आज भी हमारी किसान के प्रति धारणा यह है की वह कृषि अपने पास उपलब्ध बीज तथा अपने दो बैलों से जुताई करके तथा स्वयं अपने हाथों से निराई-गुड़ाई करके उत्पादन कर लेगा तो यह अपने आप में बेमानी है, अब किसान का कृषि दोनों ही उस समय की नहीं रही है अब समय बदल रहा हिया तथा किसान भी नवीन संसाधनों के प्रयोग से कृषि चाहता है। परन्तु आज कृषि कार्य करना इतना आसान नहीं रहा। सर्वप्रथम तो मानसून तथा सिंचाई सुविधा तथा महँगे आधुनिक उन्नत किस्म के बीज तथा उनके लिए उन्नत किस्म के रासायनिक उर्वरक तत्पश्चात कृषि के आधुनिक उपकरणों से जुताई तथा निराई-गुड़ाई करना काफी मंहगा हो गया है। कभी-कभी यह लघु किसना व सीमान्त किसान के लिए उत्पादन से होने वाली कमाई से ज्यादा तो किसान की लागत होती है।

अब सरकारों को किसानों तथा कृषि क्षेत्र की विशेष सहायता करनी होगी अन्यथा किसानों की स्थिति दिन-ब-दिन बिगड़ती जायेगी तथा 'किसान-आत्महत्या' जो की एक कलंक है हमारे लिए, इसका आंकड़ा बढता जायेगा।

हिंदी साहित्य की परम्परा में किसानों को लेकर लेखन कार्य प्रेमचन्द ने बखूबी किया तथा उनकी वास्तविक परिस्थितियों से हमे अवगत करवाया। अब प्रेमचन्द के बाद भी यह परम्परा आज भी जारी है। तथा उपन्यासकार व लेखक सरकारों तथा समाज को आईना दिखा रहे है। प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' के पात्र 'होरी' को देखे तो आज भी यही लगता है शायद आज वही 'होरी' भारतीय किसानों के रूप में जीवन जे रहा है तथा संघर्षरत है। आज का भारत प्रेमचन्द के भारत से बहुत अलग है परन्तु किसान तो वही का वही है तथा उसकी परेशानियाँ भी वही है तथा समाधान कुछ भी नहीं है।

हिंदी साहित्य की परम्परा को आगे बदते हुए उपन्यासकार पंकज सुबीर ने 'अकाल में उत्सव' नामक शीर्षक से उपन्यास लिखा। अब देखे तो इस उपन्यास का नाम ही अपने आप में विरोधाभास पैदा करता है की कोई अकाल में उत्सव कैसे मना सकता

है पर पंकज सुबीर ने अपने उपन्यास में यही दिखाया है की सरकार तथा प्रशासन ही ऐसा कर सकते है और कोई सामान्य जन-मानस नही कर सकता।

इस उपन्यास में चित्रित गाँव जिससे इस उपन्यास का आरंभ होता है 'सुखा पानी'। "सुखा पानी! एक छोटा सा गाँव जितना विचित्र नाम,उतना ही विचित्र गाँव।"1 अब गाँव के नाम से तो यही प्रतीत होता है की शायद गाँव में पानी सुख गया होगा। गाँव के भूगोल को देखें तो यह पहाड़ी गाँव है, पथरीली जमीन, सिचाई की व्यवस्था नहीं और चरों और सागौन के पीले वृक्ष तथा आदिवासी श्रेणी में शामिल गाँव है। कृषि कार्य कम होता है केवल दो फसल मिलती है सोयाबीन और गेंहू। सागौन के वृक्ष भी काटकर कमाई होती है परन्तु वो किसान नही बल्कि धनवान व ताकतवर लोग करते है तथा वन-विभाग को अपना हिस्सा मिल जाता है तथा यह कुचक्र निरंतर जारी रहता है। ऐसी परिस्थितियों में किसान के लिए कृषि कार्य करना दशरथ मांझी की तरह पहाड़ काटकर मार्ग बनाने जैसा है। फिर भी किसान आशावादी रहकर पूर्ण मनोयोग से प्रयत्न करता है तथा जीवन यापन का जतन करता है।

उपन्यास का पात्र "रामप्रसाद" एक छोटा किसान है वैसे गाँव में सभी छोटे किसान ही तो है| छोटा किसान यानि रकबा दो एकड़ अर्थात लगभग पाँच बीघा जमीन। रामप्रसाद को पिता से विरासत में कर्जा तथा अन्य सामाजिक परम्पराओं को निभाने का दायित्व मिला। रामप्रसाद द्वारा इस दायित्व का निर्वहन करते-करते जमीन का एक टुकड़ा बचा जो दो एकड़ दे अधिक न था। भाई की पढ़ाई तो कभी शादी व अभी नुकता (मृत्यु-भोज) हालाँकि नुकता एक कुप्रथा है "बल्कि कहा तो यह जाता है की भले ही शादी में कम खर्च हो लेकिन नुकता तो जोरदार होना चाहिए।"2

यह सब परम्पराएं निभाते हुए किसान रामप्रसाद कर्ज के दलदल में फंसता जाता है तथा इससे निकले हेतु हाथ से जमीन चली जाति है। किसी टुकड़े को रखना भी चाहे तो घर का सामान बिकने लगता है अन्यथा फिर पानी पत्नी के जेवर। एक स्त्री के लिए आभूषण कितने प्रिय होते है वह केवल एक स्त्री ही जान सकती है फिर वह स्त्री चाहे किसान की हो या किसी राज परिवार की। परन्तु आभूषण अति प्रिय होने के बावजूद कृषक स्त्री अपने श्रृंगार को त्याग कर बेचने या गिरवी रखने को देती है और वह यह

जानती भी है की इसे बेचा जाये या गिरवी राखा जाये वह उसे दोबारा धारण नही कर पायेगी।

रामप्रसाद की पत्नी भी घर के कम के अलावा उसके साथ खेत पर भी भरपूर मेहनत करती हैं तथा कभी-कभी दुसरे के खेत पर मजदूरी करने को भी जाति है ताकि घर खर्च के लिए कुछ पैसा मिल जाये। बिजली महकमा भी किसान को मार्च माह में याद करता है क्योंकि उनका भी मार्च माह अंतिम महिना है रिकवरी करने का। वैसे भी सभी सरकारी विभागों में मार्च माह में अपना हिसाब किताब बराबर किया जाता है। कोई भी विभाग मार्च माह में या इससे पूर्व अपने पुरे बजट राशि का उपयोग कर लेता है अन्यथा बजट राशि लैप्स हो जाती है। इसी कड़ी में जिला कलेक्टर को पर्यटन विभाग आदेश देता है की कुछ राशि बजट में बाकी है तो आप एक नगर उत्सव करवाए ताकि बजट लैप्स न हो। इसके साथ ही सरकारी महकमा उत्सव की तैयारी में लग जाता है। परन्तु रामप्रसाद तो अपनी पत्नी का अंतिम जेवर तोड़ी लेकर सुनार की दूकान पर जाता है व गिरवी रखता है तथा बिजली विभाग का उधार चूकाता है तथा कुछ पैसा घर लेकर आता है। रामप्रसाद सोचता है कि "दाइजी (पिताजी) सही केता था कि बेटा गिरवी रखी चीज तो राजा-महाराजाओं से भी नी उठाते बनती, तो हम तो किरसान हैं।"3 किसान का दुर्भाग्य यह है की वह किसी जेवर को पहली बार में बेचता नही है वह सोचता है की उसे वापिस छुड़ा लेगा परन्तु ऐसा कभी नही होता है वह आखिर में बिकती भी है। इससे उसे ज्यादा नुकसान होता पैसे कम मिलते है और अंततः वस्तु भी चली जाती है।

भारतीय किसानों की मुख्य समस्या केवल कर्जा न होकर मानसून का समय पर न आना तथा असमय बारिश तथा आलोवृष्टी भी रही है। एक तरफ जिला कलेक्टर इस बात से परेशान है की कहीं बारिश से नगर उत्सव में खलल न पड़े दूसरी और रामप्रसाद यह सोचता है की इस महीने बारिश न हो तो फसल अच्छी होगी तो घर पर खाने को आएगा तथा कुछ पैसा भी। इसी को लेकर रामप्रसाद की पत्नी ईश्वर से प्रार्थना करती है मन्नते मांगती है परन्तु ईश्वर को कुछ और ही मंजूर होता है शाम होते ही मौसम ख़राब होता है तथा बारिश शुरू और उसके साथ ही ओले। किसान एक साथ कलेक्ट्रेट पर पहुँचते है परन्तु प्रशासनिक अमला तो नगर उत्सव का आनन्द ले रहा

होता है। एसडीएम अगले दिन नुकसान की रिपोर्ट करवाने का भरोसा दिलाता है तथा अगले दिन पटवारियों और ग्रामसेवकों को रिपोर्ट बनाने अपने अपने हलके में भेजतें है।

रामप्रसाद से पटवारी की अनबन है क्योंकि वो एक मामूली किसान होकर अपने साथ हुए किसान क्रेडिट कार्ड के धोखे के मामले में अनायास ही जिला कलेक्टर से मिल लेता है। जब वह रिपोर्ट लिखवाने जाता है तो पटवारी पुन: उसे मानसिक परेशान करता है तथा रिपोर्ट के नाम पर रामप्रसाद से ग्रामसेवक के नाम पर पैसे की मांग करता है परन्तु उसके पास अब खाने को भी कुछ नहीं था। अंत में वह आत्महत्या कर लेता है तब प्रशासन की सांसे फूल जाति है की यह मुख्यमंत्री के चुनाव क्षेत्र का किसान है और उसने आत्महत्या की है।

प्रशासन उसके परिवारवालों के द्वारा मिडिया के सामने उसे किसान क्रेडिट कार्ड के धोखे के कारण पागल हुआ सिद्ध करवा देता है तथा कुछ सहायता राशि तथा एक बेटे को सरकारी नौकरी का वादा करके निपटा देते है। परन्तु रामप्रसाद आत्महत्या क्यूँ करता है उसका वास्तविक कारण जानने की कभी कोई कोशिश नहीं करता है, क्योंकि उसके लिए कहीं-न-कहीं सरकार, बैंक तथा प्रशासन भी जिम्मेदार है।

हमारे यहाँ किसान का दुर्भाग्य यह है की किसान की याद सरकार , विपक्ष, प्रशासन, मिडिया आदि को तभी आती है जब वह आत्महत्या करता है उसके बाद बाद तो हम सभी किसान को भूल जाते है। या फिर बजट की घोषणा में की हम किसानों के लिए ये करेंगे वो करेंगे परन्तु होता कुछ भी नही है योजनाएं दफ्तर में फाइलों में ही रह जाती है, यथार्थ में कुछ भी नही होता है।

नगर उत्सव के अंतिम दिन कवि सम्मलेन होता है तथा एक कवि यह कहकर समापन करता है की ...मगर धरती की बेचैनी को बस बादल समझाता है। “धरती की बेचैनी को अगर बादल समझता तो पृथ्वी का इतना बड़ा हिस्सा रेगिस्तान नहीं होता। न अकाल होता, न सुखा ही पड़ता। धरती की बेचैनी को बादल नहीं समझता, धरती की बेचैनी को बस किसान समझता है। मगर किसान की बेचैनी को...?”4 पंकज सुबीर का यह कथन ही यथार्थ सत्य है। किसान की परेशानी तथा समस्याएँ क्या है शायद हमने यह जानने की कभी कोशिश भी नही की है। “किसान, कर्जा, कलेक्टर

और कुर्की चारों नामों को साथ लेने में भले ही अनुप्रास अलंकर बनता है, लेकिन यह किसान ही जानता है की इस अनुप्रास में जीवन का कितना बड़ा संत्रास छिपा हुआ है।"5

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते है की 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में जो किसान सच्चाई हमें दिखाई गई है, उसे देखते हुए सरकार को किसानों के लिए समर्पित योजनाएं बनानी चाहिए तथा प्रशासनिक अमलों से योजनाओं को शत-प्रतिशत रूप में लागु करवाने का प्रयत्न करना चाहिए। नही तो वह दिन दूर नहीं जब हर गाँव या घर में एक रामप्रसाद की सुचना अगले दिन हमें अख़बारों की सुर्ख़ियों में मिलेंगी। जो की न तो हमारे किसानों के लिए अच्छा है और न ही हमारे देश के लिए।

सन्दर्भ सूची:

1. सुबीर पंकज, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, दसवाँ संस्करण(2020), पृष्ठ 7
2. वही, पृष्ठ 9
3. वही , पृष्ठ 24
4. वही , पृष्ठ 256
5. वही , पृष्ठ 30

पृथक्कृत ताहिर, कुबरा, सुगरा, गीता...

अमृता सी. एस./

प्रोफ. प्रभाकरन हेब्बार इल्लत

शोध सार

मार्क्सवाद पूंजीवाद की विकरालता के साथ की जाने वाली प्रतिक्रिया या ज्ञानात्मक प्रतिवाद का नाम है। पूंजीवादी आर्थिक क्रिया से उत्पन्न जीवन की परिस्थितियों का विवेचन-विश्लेषण करते हुए मार्क्स का कहना है कि 'मानव की चेतना का निर्माण और विकास सामाजिक आर्थिक क्रियाओं के बल पर संपन्न होता है, इसका परिविस्तार राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के रूप में देखा जा सकता है।'[1] अपनी रचना 'आर्थिक एवं दार्शनिक हस्तलिखित प्रति' में मार्क्स ने लिखा है कि पूंजीवादी मशीनीकृत व्यापक उत्पादन के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने द्वारा निर्मित उत्पादों से कट जाता है। इससे उत्पादन का 'अमूर्तिकरण' (रीफिकेशन) संभव होता है। इस उत्पादन प्रक्रिया में मानव की भूमिका एक निरा उपकरण या दर्शक का मात्र रह जाता है। मशीनीकृत उत्पादन प्रणाली में अपने श्रम के सर्जनात्मक विस्तार न कर सकने की स्थिति में, अपने आत्मांश के नष्ट होने की स्थिति में उत्पाद और उत्पादक के बीच का संबंध का उपकरणात्मक हो जाना एकदम स्वाभाविक है। यह मानव के जीवन को अमानवीय बना देता है। इसका अनुरणन साहित्य में देखने को मिलता है।

बीज शब्द: *पूंजीवाद, पृथक्करण, मशीनी उत्पादन, वस्तुकरण*

शोध आलेख

इतिहास में दो राय नहीं है कि विश्व भर में पूंजीवाद औद्योगिक क्रांति के पश्चात् अपने कदम सख्त करता जा रहा है। यह सामान्यतः उस आर्थिक प्रणाली या तंत्र का नाम है, जिसमें उत्पादन के साधन तथा उत्पादन के स्रोतों पर कुछ इने-गिने लोगों का स्वामित्व विकसित होता रहता है। इससे संपत्ति का असंतुलित वितरण भीमाकार रूप धारण करता चला जाता है। इसकी परिणति यह होती है कि पूंजीवाद के भीतर सक्रिय धन की लिप्सा समाज को विभिन्न वर्गों में विभक्त कर जीवन में बेशुमार विडंबनाओं को जन्म देता चला जाता है। हमारे समाज में परिव्याप्त स्त्री-पुरुष, जातिगत संबंधों के मूल में भी आर्थिक क्रिया गुप्त रूप से काम करती है, वह सूक्ष्म रूप से मानव की मनोवृत्तियों को भी प्रभावित करती है। 'संपत्ति' केवल भौतिक

साधनों पर स्वामित्व का नाम नहीं है, उसके द्वारा उत्पादित अन्य सामाजिक स्थितियां भी शामिल हैं। संकेत यह है कि वर्गाधृत समाज के ढांचे के अनुरूप जीवन का सामाजिक व्यवहार, खाद्य-पान, अनुष्ठान, विश्वास की पद्धति तक निर्णीत हो जाती है। यह निर्णय इसलिए संभव होता है कि संपत्ति या पूंजी में 'सत्ता' के हाथ काम करते हैं और हमारे जीवन परिवेश को बहुविध ढंग से नियंत्रित करते हैं। इस नियंत्रण से मुक्त होने की कामना ही वर्ग संघर्ष के मूल में काम करती है।

पूंजी का स्वामी हमेशा पूंजी के हित में जीवन परिवेश के विविध प्रसंगों को अपना अनुकूल बना देता है और तदनुरूप जीवन में मूल्य व्यवस्था का रूपायन करता है। यह अपने मूल में मानव/समाज विरोधी है, क्योंकि उसमें एक ही वर्ग के हितों का संरक्षण होता है। पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर मानव की संवृद्धि पर नहीं, उसके मूल में पूंजी की अतिशय वृद्धि सुनिश्चित की जाती है। इसलिए मानव के भीतर के 'सत्त' (एसेंस), मानवीयता, मानवीय सर्जनात्मकता की रक्षा पूंजी का विषय नहीं रहा है। मानव के श्रम और प्राकृतिक सामाग्री का खुला दोहन करते हुए, उसपर अपना मालिकाना स्थापित कर इस संसार के अन्य समस्त जीव-रूपों के अस्तित्व पर आघात पहुंचाता हुआ पूंजीवाद बुल्डोजर की भांति निकल जाता है। पूंजीवाद मानव को गन्ने की लुगदी बनाकर छोड़ देता है। जोर इस बात पर है कि पूंजी की ताकतें मानव को अपने से, अपनी सामाजिकता से, अपनी सर्जनात्मकता से, प्रकृति से, अपनी भाषा से, अपने बुनियादी मानवीय अस्तित्व से पृथक्कृत कर देता है। विड़ंबना यह है कि जो इसका शिकार होगा, उसे खुद तनिक भी एहसास नहीं होता है कि वह अपने जीवन से पृथक्कृत होता जा रहा है। इसलिए पूंजीवाद के विकराल चाल-ताल को समझना, उसका प्रतिरोध करना हमारे ही बुनियादी मानवीय अस्मिता को बनाए रखने के लिए बेहद ज़रूरी है।

पूंजी (अतिरिक्त मूल्य) मार्क्सवादी नज़रिए से श्रम के शोषण का उत्पाद है। उत्पादन को मार्क्स अनुपयोगी नहीं मानता है, पर वह मानव की ज़रूरतों की पूर्ति के लिए किए जाने वाला उत्पादन हो, अतिजीवन को सार्थक ढंग से पूर्ण करने में सफल बनाने वाला उत्पादन हो।[2] जीवसंधारण को संभव बनने के लिए मानव प्रकृति का

उपयोग किए बिना नहीं रह सकता है। इससे समाज और प्रकृति के सदस्यों या तत्वों को हानि नहीं होती है, होती है तो भी वह न्यून है, उसके आघात की भरपाई हो जाती है। आजकल ज्ञान-विज्ञान की विभूति से विकसित मशीनीकृत (औद्योगिकीकृत) व्यापक उत्पादन का संबंध अतिजीवन से नहीं होता है, उपभोग से है, न उपयोग से। इससे मानव समेत समस्त प्रकृति का जैविक अस्तित्व विभिन्न स्तरों पर हतप्रभ होता चला जाता है।

पहले पहल मानव का उत्पादन सोद्देश्यपूर्ण था, उसके पीछे मानव की आत्मा की छाप थी। प्रत्युत् आज का भोगपरक मशीनी उत्पादन पूंजी की ताकतों से संचालित है। वहां मानव की आत्मा कार्यरत नहीं होती है, जीवन की अनिवार्यता काम नहीं करती है। आलोचनात्मक शब्दावली में पहले मानव विषयी (सब्जेक्ट) था, वही अब विषय (ओब्जेक्ट) हो गया है। मानव की आत्म-चेतना सक्रियता का नाम है, वही पूंजीवादी ताकतों की मुट्ठी में आबद्ध होकर नितांत निष्क्रियता की तरफ़ अग्रसरित होती है। ऐसा निष्क्रिय मन पूंजीवादी व्यवस्था का मानक (आदर्श) चरित नायक है। यह निष्क्रियता जीवन की निष्क्रियता है, जीवन की गतिशीलता का प्रतिलोम है।

जीवन के प्रारंभिक दौर में उत्पादन में मानवीय जीवंत चेतना सक्रिय थी, उसमें शरीक होते वक्त मानव के भीतर सर्जन की आह्लादात्मक स्थिति उत्पन्न होती थी। जिसका उत्पादन मानव अपने सामाजिक अनुभवों के बल पर किया करता था, उस उत्पाद के साथ उसका अपना एक अलग लगाव था। उसके रूपायित होते जाने की हर एक सीढ़ी का ज्ञान उसे प्राप्त था, उस उत्पादित वस्तु पर पूरा-पूरा उसका नियंत्रण था। इस नियंत्रण का विखंडन आज की पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में होता है। अपने उत्पाद और अपने आत्म से कटे मानव की चेतना में दरारें फैल जाती हैं, संश्लिष्ट बोध के नष्ट हो जाने से एक खास तरह का खालीपन का शिकार आज का मानव होता जा रहा है। मशीनी राक्षसी उत्पादन में मशीनी ताकत के सम्मुख मानव को प्राप्त प्रकृति की शक्ति ठप्प रह जाती है। उसी मशीनी चाल के साथ मानव अपने का समंजन-समायोजन नहीं कर पाता है, वह मशीन का पुर्जा मात्र रह जाता है। मशीन द्वारा चालित हिमालयीन उत्पादन में पल-पल उत्पादन की ढेर लगी जाती है, ऐसे में उनके उपभोग

को सुनिश्चित करने हेतु ज़रूरत को गैरज़रूरत और गैरज़रूरत को ज़रूरत स्थापित करते हुए मंडी हर एक के घर में प्रवेश कर जाती है। उसके लिए मंडी की शक्तियां हमारे अंदर-बाहर जगत में सक्रिय हैं। उस उपभोग की संस्कृति पर सामाजिक हैसियत, सम्मान आदि का प्रतीकात्मक चिट्ठा लगाकर निर्लज्ज विज्ञापनों, सामाजिक माध्यमों द्वारा निशि-दिन माल का गुण-पोषण किया जाता है। इससे उपभोग हमारे जीवन का मूल्य बन जाता है, धन उसका आदर्श बनता है, वही जीवन की संचालिका शक्ति रह जाती है। उपभोग के अपरिमित विस्तार से संपत्ति का विपुल संचयन और शोषण फैल जाता है। इस संपत्ति-संचयन की संस्कृति से प्रकृति शुष्क होती चली जाती है, तदनुरूप जीवन भी। मार्क्सवाद यह स्वीकार करता है कि मानव अपने जागतिक हस्तक्षेप के माध्यम से जीवन के बाह्य जगत में मात्र तब्दीली नहीं करता है, पर समांतर मानव की आंतरिक दुनिया में भी तब्दीली होती रहती है।

जीवन में उपभोग की वस्तुओं के फैलते चले जाने के वर्तमान परिदृश्य में मानव का अंतर्मन भी वस्तुकृत हो जाता है। वस्तुकरण तो एक अर्थ में वस्तुओं के साम्राज्य का क्षेत्रफल विकसित होना होता है, साथ ही मानव के मन की संवेदना की सीमा का संकरा होना भी। वस्तुकृत मन वस्तु का अंगीकार करता है, उसपर मालिकाना उसका साध्य बन जाता है, वही उसकी आत्मतुष्टि का आधार रह जाता है। ऐसी स्थिति में मानव के हृदयगत भाव दिन-ब-दिन पथरीला हो जाता है, भावना-प्रेम-संबंध-रागविहीन हो जाता है। पेड़ों को काटते वक्त मन विचलित होता नहीं, तितलियों के गायब होते वक्त मन शंकाकुल होता नहीं, सामाजिकता में विचलन होने पर मन चंचल होता नहीं, किसी के विस्थापित होते देखकर मन खदबताता नहीं। ऐसा समझिए कि दिल की मानवीयता का दरिया सूख गया है। पूंजीवाद इसको विकास, कल्याण आदि लिबास में ओढ़कर प्रस्तुत करता है। धन-वस्तु के विस्तार से मन-प्रकृति का दायरा सीमित होता चला जाता है, फिर बचता क्या है इस जीवन में। मन के वस्तुकरण से मानव के भीतर का जंगली जानवर अपने नाखून बाहर करने लगता है। हिंसा की प्रवृत्ति के बलवती हो जाने पर जीवन के सारे सकारात्मक तत्व/हृदय की हरियाली गायब होते हैं। मानव की जिंदगी का प्रयाण तो मानव के अंतस की रागात्मक

सामाजिक परिवृत्ति का परिणाम है। सामाजिकता अपने आप में जीवन की मानवीय संवेदनात्मकता का ही दूसरा नाम है। पूंजीवाद इस सामाजिकता को खंडित करता है और मानवीय अस्मिता की बुनियादी पहचान की नस को काट देता है। ऐसे में मानव के भीतर का पृथक्करण पूर्ण होता है।

अतिशय मशीनी उत्पादन से, संपत्ति के अधिग्रहण से सामाजिक सुविधाओं पर एकाधिकार पूंजी के संरक्षकों को प्राप्त होता है। जिसके पास संपत्ति है, वही शिक्षा, स्वास्थ्य, जीवन की ज़रूरतें, सामाजिक हैसियत, व्यवस्था पर अपना वर्चस्व स्थापित करता है। मशीनी उत्पादन के बढ़ने से मानव के श्रम की बिक्री कम कीमत में बेचने का वातावरण तैयार होता है। अतिजीवन को संभव बना देने की मशकत में अत्यधिक शारीरिक श्रम करके मानव थक जाता है। शोषण की विकृति से मानव का शरीर ढल जाता है, बीमार होता है, कुपोषण का शिकार हो जाता है, सुविधाओं-साधनों से बहिष्कृत हो जाता है, आंतरिक-बाह्य दृष्टि से वह कंगाल हो जाता है। इससे व्यक्त होता है कि पूंजीवाद में मानव के प्रति किंचित् भी लगाव नहीं, पर विलगाव है। विलगाव के मूल में हिंसात्मकता, अमानवीयता, निपट स्वार्थता भरी पड़ी रहती है।

पूंजीवाद का भवन प्रकृती-उत्पाद-बाज़ार-लाभ- इन चार स्तंभों पर सुरक्षित है। तकनीकी में सुधार, नूतन प्रबंधन-प्रवर्तन एवं श्रम के विभाजन के समीकरण के बल पर पूंजीवादी आर्थिक क्रिया निरन्तर सशक्त होती रहती है। जैसे कि हम जानते हैं कि मशीनीकृत उत्पादन अधिक यांत्रिक होता है, उसके अनुसरण से मानव का कार्य भी मशीनीकृत होता जाता है। मानव के श्रम की सुंदरता (सर्जनात्मकता) इससे खत्म होती चली जाती है। 'श्रम' मार्क्स के लिए प्रकृति के पुनःसर्जन का नाम है, जीवन के सौंदर्यात्मक धरातल को विकसित करने का पर्याय है, प्रकृति और मानव के बीच के संवाद का परिणाम है, प्रकृति को नए सिरे से पुनःसंरचित करने का अभिधान है, जो अपने बुनियाद में मानव की ही पहचान की आधारशिला है।[3,4] श्रम के वक्त मानव के मन में जीते-जी 'होने' का अनुभव जागरित होता है। यही मनुष्य जीवन की सार्थकता का प्रमाण है। उसके अभाव में 'आत्मा' में अपूर्णता का अंधेरा छाने लगता है। "यह अंधेरा शक्तिहीनता, अलगाव, व्यर्थता, उदासी, खिन्नता, अकेलापन, शून्यता, युद्ध,

आंतक, हिंसा, शोषण आदि के रूप में प्रोद्भासित होता है।"[5] लोभ-प्रलोभन से यदि अपना काम चल जाता है तो पूंजीवाद अपना हंसी-रंगोली का चेहरा दिखाएगा, न तो हिंसा से अपना काम करा लेता है। (इतिहास के पन्नों में अंकित विश्वयुद्धों को याद करते हुए।) 'बाज़ार के अरण्य' (अच्युतानंद मिश्र का काव्यात्मक प्रयोग) पूंजीवादियों, साम्राज्यवादियों, और उपनिवेशवादियों की संगठित साजिश है, बाज़ारवाद इसीका फलितार्थ है। बाज़ार को ऐसा उपभोक्ता चाहिए, जिसके भीतर मानवीयता की नमी न हो, समाज से असंपृक्त हो। ऐसा व्यक्ति किसी भी हालत में अपना प्रतिरोध दर्ज न कर सकेगा। उपभोक्ता की मानसिकता को बाज़ार के अनुरूप घुमा देने में तभी पूंजी सफल होती है। यह जीत तभी मुकम्मल रूप धारण करता है, जब पृथक्करण संपूर्ण मायने में संभव हो जाए। मार्क्स अपनी रचना के प्रारंभिक दौर में पृथक्करण के लिए 'एस्ट्रेजमेंड' शब्द का प्रयोग करते हैं, पर बाद में कट जाने के यथार्थ को व्यक्त करने के लिए 'एलिनेशन' शब्द का प्रयोग करते हैं। "पूंजीवादी समाज में उत्पादन और उपभोग की प्रक्रियायें इतनी अलग हो गईं कि उत्पादन करनेवाला अक्सर अपने उत्पाद का उपभोक्ता नहीं होता। उत्पाद बाज़ार के लिए होता है और उसमें लगा सामूहिक श्रम भी एक तरह का एलिनेटेड (पृथक्कृत) श्रम होता है।"[6] इस पृथक्कृत स्थिति को 'अस्वतंत्रता' कही जा सकती है। पृथक्कृत मन किसी भी हालत में सौंदर्यात्मक विलास व विकास का उपादान नहीं बनता है। जीवन की यह स्थिति असर्जनशीलता की स्थिति है, जीवन के मरुस्थलीकरण की स्थिति है। इससे विकल्पों की दुनिया मानव के जीवन से रिसती चली जाती है, आत्म परितोष के तारे नष्ट हो जाते हैं।[7] अपने आपसे, दूसरों से और प्रकृति से अलग होने की अवस्था को पृथक्करण कहा जाता है। संक्षेप में पृथक्करण के मूल में 'क्रिएटिविटी' (सृजनशीलता) की जगह 'प्रोडक्टिविटि' (उत्पादकता) काम करती है। इस क्रमभंग को क्रमिकता में परिवर्तित करने के लिए सौहार्द, साझेदारी, भाईचारे और समझदारी की संस्कृति की जरूरत है, पृथक्करण के स्थान पर संपृक्ति (विलगाव की जगह लगाव) की संस्कृति को पनपने की जरूरत है।

(2)

इब्ने मरियम नासिरा शर्मा की शानदार कहानी इस अन्दाज़ में है कि वह जीवन की विविध गलियों से होकर सफर करती है और हमें यह वाकिफ कराती है कि औद्योगीकृत दुर्घटना से कैसे जीवन ध्वस्त होती है। कहानी की प्रारंभिक पंक्तियां अपने-आप में इस ध्वस्तता की ओर संकेत करती है। कहानी का केन्द्रीय पात्र ताहिर बटुए वाला तन-मन से विभ्रमित होकर बड़बड़ा रहा है। वही आदमी कहानी के आदि से अंत तक पीतल का पम्प वाला स्टौव अपने साथ लेकर घूमता-फिरता है। कहानी की काव्यात्मक पंक्तियां इस परिदृश्य को इस प्रकार अभिव्यक्त करती हैं- 'किसी बच्चे की तरह उस स्टौव को वह पकड़ा हुआ बैठा था।'[8] इससे जाहिर होता है कि कहानी के रेशे-रेशे में दर्द की एक धारा प्रबल वेग से दौड़ती है। गम की ज़िंदा तस्वीर, बेचैन आंखें, चल्ली हुई धुंधली कलेजा, आग का दरिया, अंधेरी दुनिया आदि प्रयोग पाठक के मन में विषाद के बादल आच्छादित करने में सफल हैं। ज़ख्मी परिन्दों की भांति दुःख से तड़पने वाले इब्ने मरियम के पात्र जैसै कुबरा, सुगरा, रामधन, गीता आदि के जीवन में विभिन्न रूप धारण कर भोपाल गैस दुर्घटना (ट्राजड़ी) परिव्याप्त होती है। कहानी की गीता किसी भी हालत में अपराधी नहीं है। ट्राजडी के दिनों में उसको खुद इसका पता नहीं थी कि वह कहां थी, कैसी थी और किस प्रकार रही थी। तीन दिन के बाद जब किसी अस्पताल में वह मिली तो उसके चरित्र पर लांछन लगाकर पति के घरवाले उसका परित्याग करते हैं। ट्राजडी ग्रस्त लोगों की ज़िंदगी को सुधारने और उनकी समस्याओं के परिहार के लिए सरकार की ओर से अनेक कदम तो उठाए गए हैं, बहुतेरे आयोगों की रिपोर्टें भी आई हुई हैं, पर किसी में गीता के दुःख का शायद उल्लेख नहीं होगा। कहानी के भीतर की ज़िंदगी इसी अदृश्य दुःख को बेनकाब करती है और दिखाती है कि दुर्घटना मानव के जीवन में क्या-क्या कर जाती है। जीवन में परिव्याप्त इस प्रकार के अंधेरे कोने को नासिरा शर्मा की लेखनी बहुत सुंदर ढंग से पेश करती है। नासिरा की कहानी पूंजीवादी ताकतों के घृणास्पद व्यवहार को सामने रखकर यह बताना चाहती है कि उस तंत्र के भीतर 'पिशाच' काम करता है, जो मानव-मानव के जुगाड़ को क्षयग्रस्त बनाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूंजी मानव की सामाजिकता को तहस-नहस कर अपना उल्लू सीधा करता है। कहानी में यह लिखा हुआ है कि 'पैसा उगानेवाले लोग किसी के सगे नहीं बन पाते।'[9] इससे पूंजीवाद के

भीतर की क्रूरता साफ़-साफ़ खुल जाती है। पारिवारिक-सामाजिक सदस्यों के बीच किसी भी तरीके की संगति न स्थापित करने के पीछे एक खास प्रकार की दृष्टि काम करती है, उसका नाम है 'धन'। कहानी यह बताना चाहती है कि धन के आगमन से संबन्धों की गर्माहट नष्ट हो जाती है, क्योंकि धन ऐसे मनुष्यों का एकमात्र लक्ष्य रह जाता है, अपने साध्य को साधने की क्रिया में उसे हिंसा का सहारा लेना पड़ता है, जैसे हम जान चुके हैं कि पूंजीवाद के भीतर हिंसात्मकता का तत्व किस प्रकार फैला हुआ रहता है। मनुष्य का शोषण और परिवेश का शोषण करते हुए ही धन की खेती संभव हो पाती है। इस समीकरण को इस तरह व्याख्यायित किया जा सकता है कि जहां लगाव या प्रेमवत् संबन्ध है वहां हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं रहता है, यह बात उल्टी भी सही हो सकती है। कहानीकार ने कहानी के पात्रों के माध्यम से यह कहलवाया गया है कि पूंजीवादी मन में प्रेम जैसी कोमल भावनाओं के लिए स्थान नहीं रह जाता है। भावना के स्तर पर पूंजी की संस्कृति से मानव पृथक्करण का शिकार अंदर-ही-अंदर हो ही जाता है। इसी मानसिकता से प्रेरित होकर कहानी का इफ़्तखार ताहिर बटुए वाले से कहता है कि अपनी बेटी को वापस घर ले चलो, क्योंकि भोपाल गैस दुर्घटना के पश्चात् बहू भी बीमार ग्रस्त ज़रूर हुई होगी। इफ़्तखार यह समझता है कि भविष्य में उससे उसका कोई 'फायदा' नहीं होनेवाला है, उसके बांझ हो जाने की संभावना है। अपनी बहू के साथ इफ़्तखार का यह व्यवहार लाभ-लोभ के नज़रिए के साथ किये जाने वाला घूंघार व्यवहार है, जो पूंजीवादी मन का विकराल रूप है, वहां मन की भाव शून्यता बाहर प्रकट होती है। अर्थात् बहू के प्रति उनका जो भाव है, वह पूंजी के द्वारा नियंत्रित है। मुनाफ़ा या लाभ दो व्यक्तियों के बीच के संबन्ध में पथरीले चट्टान के रूप में खड़ा है। असल में इफ़्तखार की चिंता यह है कि भविष्य में बहू के इलाज के लिए अधिक धन खर्च करना पडेगा, और शायद वह जिस बच्चे को जन्म देगा, वह भी बीमार हो सकता है। धन-लाभ का गणित यहां सक्रिय होता है। यह लेखा-जोखा प्यार भाव से संपन्न मन कभी नहीं कर सकता है। प्यार से भरपूर मन हमेशा यह सोचता है कि बहू खुद उसकी संपत्ति है, लेकिन कहानी की बहू इफ़्तखार के लिए एक बोझ बनी हुई है। इसका सीधा विलोम ताहिर बटुए वाला है। ताहिर कहता है कि "मायके से लड़की रुखसत होकर जाती है तो शौहर के घर से उसकी

मय्यत ही निकलती है।"[10] इसलिए ताहिर बटुएवाला अत्यधिक गम के साथ ज़ोर देकर यह कहता है (इफ़्तखार से) "अपनी दौलत ज़बरदस्ती मेरे हवाले करने की ज़िद्द कर रहे हो।"[11] इस वाक्य में आया हुआ 'दौलत' शब्द मायने का है। यहां मानवीय गुण-संपन्नता को दौलत के रूप में स्वीकार किया गया है, लेकिन वही दौलत इफ़्तखार के लिए बाध्यता बन जाती है। यह प्रसंग दो व्यक्तियों के जीवन दर्शन को हमारे सामने रखता है। भोपाल दुर्घटना ने किस अंदाज़ में मानवीय भावात्मक धरातल को हिला दिया है, कहानी दिखाती है। वह केवल एक औद्योगिक दुर्घटना मात्र नहीं थी, उसका अनुरणन जीवन के विविध आयामों में; मानसिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में देखने को मिलता है।

भोपाल गैस त्रासदी को भी कमाई के मौके के रूप में पूंजीवादी संस्कृति से पोषित मन स्वीकार करता है। लोगों की तीव्र प्रतिक्रिया जो आग की भांति उस वक्त भभक उठी थी, उसको कम करने हेतु सरकार की तरफ़ से बहुत सारी रियायतें, क्षतिपूर्ति आदि दी गईं। हास्यास्पद स्थिति यह है कि जो दुर्घटना ग्रस्त हुए, उनको कुछ नहीं मिला। किंतु जिन इलाकों में विषैली गैस पहूंची ही नहीं, वहां के लोग धोखा, चोरी, गठ-जोड़, भ्रष्टाचार के बल पर सारी सुविधाएं हड़प लेते हैं। कहानी की भाषा में "भोपाल शहर में जिन्हें गैस ने छुआ भी नहीं वे आज भी जान-पहचान की खा रहे हैं।"[12] कहानी में कहानीकार का एक आत्मकथन भी इस जीवंत सत्य का खुलासा कर देता है। नासिरा शर्मा कहती है कि "पैसा पैसा को खींचता है, गरीबी गरीबी को।"[13] यह समाज और जीवन की ध्रुवीय परिस्थिति को अंकित करती है, यही पूंजीवाद का बुनियाद है। एक तरफ कुछ लोगों द्वारा गलत रास्ते से पैसा कमाया जाता है। पैसे वालों का गठ-जोड़ इतना मज़बूत होता है कि समाज की संपत्ति रिस-रिसकर उसके खजाने में आ मिलती है। इसी क्रम में दूसरी तरफ़ गरीब की जेब की हर एक कौड़ी रिस-रिसकर नष्ट हो जाती है। गरीबी-अमीरी केवल आर्थिक स्थिति को सूचित करनेवाला शब्द नहीं है, वह वास्तव में जीवन की खुशहाली-बदहाली को रेखांकित करनेवाला शब्द है। अमीरी में साधनों की संपन्नता है, सत्ता में हकदारी है, जीवन की खुशहाली है तो गरीबी में इन सबकी एकदम विपरीत स्थिति नज़र आएगी।

कहानी में प्रतिपादित भोपाल दुर्घटना पूंजीवादी औद्योगीकृत सभ्यता का प्रतिरूप है जो मुनाफ़ा बटोरने हेतु कम लागत में मज़दूर और प्राकृतिक सामग्री प्राप्त करने की ललक में अमेरिका की यूनियन कारबैड कम्पनी की एक शाखा को भोपाल में लाकर खड़ी की गई थी। उस कम्पनी में भोपाल के कस्बे-मोहल्ले में रहने वाले गरीब-भारत के नागरिक काम किया करते थे, पर उनकी सुरक्षा का कोई उपाय कम्पनी में बंदोबस्त नहीं था। यदि यह कम्पनी अमेरिका में स्थापित होती तो मज़दूरों की सुरक्षा के उपायों के लिए करोड़ों की तादाद में खर्च ज़रूर हुआ होता। यहां तो कम्पनी को सस्ते में सब कुछ (प्राकृतिक संसाधन, मानवीय श्रम) उपलब्ध होता था। सत्ता, कानून और प्रशासन का पूरा समर्थन कम्पनी को हमेशा उपलब्ध होता था। इसी ताकत के बल पर कम्पनी चलती थी। यहां तक कि दुर्घटना ग्रस्त हो जाने पर जिनके सिर के ऊपर छत नहीं है, उनको कंपनी की ओर से न इलाज की सुविधा मिली, न प्रतिपूर्ति मिली, न सांत्वना और न अपनी जीविका चलाने का संसाधन। कहानी की पंक्तियां इस बात को साक्ष्यांकित करती है कि कितना गहरा आघात इस दुर्घटना ने भोपाल को पहुंचाया है। नासिरा जी की भाषा में भोपाल कब्रिस्थान का पर्याय बन गया है। सब कहीं मृत्यु का अंधेरा छाया हुआ है। इसके भयंकर प्रकोप से औरतों के आधे-आधे पेट भोपाल में गिर रहे हैं। बेगुनाह लोग घरों से चीखते-चिल्लाते ट्राजडी के दौरान भाग निकले थे। उस समय की दशा यह थी कि 'एक कब्र में कई-कई लाशें संदूक में कपड़ों की तरह तह की जा रही है।"[14] कहानी में छाया हुआ अंधेरा मृत्यु का अंधेरा मात्र नहीं है। दुर्घटना से जिन लोगों के सगे-संबंधी, दोस्त, मां-बाप, बच्चे, दादा-दादी, नाना-नानी, मामा-मामी, चचेरा-चचेरी, नष्ट हो गए है, उनकी ज़िंदगी में भी उसके बाद कभी भी सफेदी नहीं फैली। बहुत सारे लोगों के जीवन में परिवार के आधार नष्ट हो जाने पर अंधकार व्याप्त हो गया। उस अंधेरे में जो बचे-खुचे हैं, वह भी अधमरे-मरे सा भटकते-ठहलते रहे। बहुत सारे लोगों की आजीविका भी दुर्घटना ने ग्रस ली है। पेशे से कट गए या अलग हुए लोगों के बारे में क्या बताएं? असल में युद्ध के आतंक का सा वातावरण उस समय भोपाल में परिव्याप्त था। इसके साथ ही हिंसात्मकता का विकराल चेहरा लाभ-लोभ की चिंता के सामने खुल गया था। तर्क इतना ही है कि, धन की चिंता किए बिना विषैली गैस के रिस जाने की संभावना को

पहले से बंद कर दिया गया होता तो भोपालियों के जीवन में शायद इस प्रकार की स्थितियां न फैलतीं। संकेत इतना ही है कि जीवन के भावात्मक संबन्धों से भोपाल की जनता को पृथक्कृत कर देने के मूल में पूंजीवादी लोभ-लिप्सा अप्रत्यक्ष रूप से काम करती है। कहानी के शब्दशः विश्लेषण से यह बात उन्मुक्त होती है। कहानी के भीतर रिश्तों की गरमाहट बुदबुदा रही है। उन कोमल संबन्धों में धर्म-देश, जाति-पांत, कुल-वंश आदि की गंध नहीं है। रामधन और ताहिर बटुए वाले के बीच के संबन्ध में परदे कभी नहीं थे। दिल की पूरी-की-पूरी बातें आपस में दोनों साझा किया करते थे। भोपाल के हादसे के बाद अपने दोस्त ताहिर की दुकान और उसकी परिवार की देखभाल रामधन द्वारा होती है। गैस हादसे के आघात से लगता है कि ताहिर बटुए वाले के हृदय की तंत्रियां कहीं टूटती गई हैं। इधर-उधर भागम-भागी करते हुए आसपास वह फिरा करता था। तकरीबन तीन हफ्ते की अवधि के पश्चात् जब दोस्त की शक्ल रामधन को दिखी तो बाद की किस्से का बयान कहानी इस भांति हमारे सामने प्रस्तुत करती है कि जिसे पढ़कर भावातिरेक से पाठक की आंखों से कम-से-कम दो आंसू की बूंदें टपक निकलेंगी। कहानी कहती है "आज पूरे तीन हफ्ते बाद दोस्त की शक्ल दिखी थी, बच्चे को भगाकर दोस्त का हाथ पकड़ उन्हें अपनी तरफ़ खींचा"।[15] इस भांति कहानी की दूसरी छोर पर कुबरा-सुगरा रहती है, जो अपने-आप में दुखिया की पुत्रियां हैं। अपने सुख-दुख को वे आपस में बांटती रहती थीं। इस प्रकार बंट जाने से उनके दिल का कोना शांति से थोड़ा भर जाता है। यही असल में जीवन के ज़ख्मों को भरने की दवा है। प्यार का स्पर्श यदि नहीं हुआ होता तो न जाने कैसे वे दोनों ज़िंदगी काटतीं। बातों-बातों में "कुबरा हंसते-हंसते एकदम सुगरा से लिपटकर सिसकने लगती थी।"[16] कभी ऐसा भी संभव होता है कि कुबरा अपनी बहन को छाती से लिपटाती है और सांत्वना देती रहती है। कहानी की खिड़की खोलकर देखे जाने पर एक ऐसा नज़ारा हमारे सामने आता है, वहां यह दिखाई देता है कि कुबरा सुगरा को थपक-थपक कर बच्चे की तरह अपने साथ लगाकर सुलाने लगती है। विषम भरी परिस्थितियों में भावनाओं से पृथक हुए बिना ज़िंदगी कैसी चलाई जानी चाहिए, इस सूत्र को बहुत ही सुंदर ढंग से कहानी व्याख्यायित करती है। भौतिक दृष्टि से गरीबी दोनों की ज़िंदगी में चारों तरफ़ अपना रंग दिखाती है, पर हम पाते हैं कि आंतरिक

संपन्नता के बल पर ज़िंदगी सार्थक कैसे होती है। बहिन के चेहरे को जब हल्के से उठाकर अपने दुपट्टे से उसकी आंखें को कुबरा पोंछने लगती है, तब वहां जीवन के नए दरवाज़े खुलने लगते हैं। इस प्रकार जीवन की सामाजिकता कैसे मानव को संबल प्रदान करती है, कहानी दर्शाती है। कहानी का जीवन-सूत्र यह है कि सब के सब अपने हैं, वे जीवन के सुख-दुखों को मिलकर भोगती हैं। कहानी का दर्शन यह है कि मिलन और जुलन के माध्यम से सामाजिकता मज़बूत होती चली जाती है। इससे ही कहानी के दुखित जनों का जीवन-संसार आगे बढ़ता है।

पूंजीवाद अपनी आर्थिक सक्रियता के बल पर मानव के सामाजिक जीवन तथा मानसिक जीवन में बिखराव पैदा करता है। अखंडता में पूंजीवाद का भरोसा नहीं, खंडता में उसकी रुचि है। इसका तात्पर्य यह हुआ है कि मानव के अंदर-बाह्य जगत को चूर-चूर करने में उपभोग एवं बाज़ार की चालाकी शक्तियां सक्रिय रहती हैं। यह हमारी ऐतिहासिक अनुभव है कि मानव की सामाजिकता को, संयुक्तता को असामाजिकता एवं असंयुक्तता में परिवर्तन करते हुए बाज़ार का पोषण किया जाता है। इस तरफ इशारा करना चाहूंगी कि व्यक्ति की महिमा का गायन करते हुए, उसी प्रकार के सौंदर्यात्मक प्रतिमानों को पैदा करने की पद्धति पूंजी विकसित करती है। प्रस्तुत कहानी इस प्रकार के बिखराव से उत्पन्न अंतरूनी भय-चकितता का स्वरूप भी सामने ला खड़ा कर देती है। अकेलापन मानव के भीतर डर का वातावरण तैयार करता है। डर अपने मूल रूप में निष्क्रियता का ही पोषण करता है तथा मानव जीवन की सारी सामाजिक क्रियाओं को भय नियंत्रित करता है, इस नियंत्रण का नाम अस्वतन्त्रता है, जिसमें रहते हुए मानव की इच्छा का विस्तार संभव नहीं हो पाता है। भावात्मक एवं सामाजिक स्थली पर व्याप्त होने वाली एकांतता मनुष्य के भीतर की संभावनाओं को पनपने नहीं देती है। ऐसी स्थिति में कहानी का पात्र ऐसा बोल उठता है कि "कौन किसकी मदद करता है इस दुनिया में।"[17] काव्यात्मक अंदाज़ में इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि 'हमें अकेले ही इस दुनिया में अपनी नाव खेनी है।'[18] अब के पहले हम कहानीकार के शब्दों में "हम प्याला', 'हमनिवाला', 'हमसफर' सबकुछ थे, 'हमकिताबी' थे, 'नमक शरीक भाई थे।"[19] लेकिन आजकल

भीतर का हम 'मैं' के रूप में खंडित हो गया, इसलिए भीतर छल-कपट का संस्कार विकसित होता जा रहा है। मानव के भीतर की खुशी कैसे वर्तमान समय में छिन जाती है, कहानी यह दिखाती है। संबन्धों में बिखराव का दृश्य गीता की ज़िंदगी में हम देख सकते हैं। इसी भांति सुगरा और फारूख के जीवन में भी अर्थतंत्र का पाश बंध जाता है। लाभ-नष्ट के सांप-सीढ़ी का खेल जीवन के विभिन्न परिदृश्यों को आजकल प्रभावित करता है। एक खास प्रकार की वीरानगी मानव के घर और मन में इसलिए दाखिला हो जाती है। कहानी यह भी दिखाती है कि पूंजीवाद का शोषण कभी सांप्रदायिकता, युद्ध, आतंक के रूप में भी फैल जाता है। एक ओर घर-दुकान को संभालने की कोशिशें पात्रों द्वारा की जाती हैं, दूसरी तरफ आर्थिक शक्तियां नए-नए कारणों को पेश करते हुए पुश्तैनी दूकानदारी को भी बेच डालने को विवश करती हैं। दूकानें जलाई जाती हैं तो घर भी तुट जाते हैं। इसलिए कहानीकार अपने पात्र के जरिए कहलवाती है कि "हम गरीब नादार लोग कहीं के बाशिन्दे नहीं होते हैं।"[20] यहां समाज के भीतर से भी श्रमजीवी वर्ग के पृथक्कृत होते जाने के भाव व्यंजित होते रहते हैं।

कहानी में प्रतिपादित भोपाल गैस दुर्घटना यहां तक आते-आते खुद पूंजीवाद का ही प्रतीक धारण करता है। कम्पनी अपने-आप में पूंजीवादी शोषण व्यवस्था का प्रतिरूप और उससे रिसने वाली गैस उस व्यवस्था के भीतर की विरोधात्मक असामाजिक स्थितियां बन जाती हैं। पृथक्करण की सैद्धांतिक अवधारणाओं पर विचार किए जाने पर मुझे लगता है कि उन परिस्थितियों से पीड़ित जनता की ज़िंदगी को ही कहानी हमारे सम्मुख रखती है। क्रूरतम स्थिति यह है कि इस नाज़ुक जीवन परिस्थिति को भी बेचकर पूंजी जुटाने के एक उपकरण के रूप में पूंजीपति उसका उपयोग करता है। दुर्घटना से खोखलाये गए दीवानगी के शिकार हुए ताहिर बटुए वाले पर एक वृत्तचित्र तैयार किया जाता है, यह शोषण का, पूंजी बटोरने का नया रास्ता है। यहां व्यंग्य यह भी है कि ताहिर की समस्याओं का परिहार पूंजी से संचालित मन कभी नहीं करता, पूंजी के समर्थक उसको भी पूंजी की वृद्धि के उपकरण के रूप में अपनाते हुए अपनी राजनीति खुले-आम नंगे रूप में प्रस्तुत करता है।

कहानी में सर्वत्र मृत्यु का आभास है, अंधेरा है, पागलपन है, शोषण है, जीवन की विकृति है, संबन्धों में बिखराव है, शोषण की निर्ममता है, व्यवस्था की अमानवीयता है, जीवन की दुस्थिति है। सबके सब भयानक मंच के रूप में कहानी में साकार हो उठता है। शोषित वर्ग कभी वक्त गुज़ारता है, कभी मौन हो कर मिट्टी में दब जाता है, निस्सहाय होकर व्यवस्था के भीतर कैदी के रूप में रहते हुए कभी संघर्ष करता है। कहानीकार का संवेदनशील मन पूंजीवादी व्यवस्था के कारण पृथक्कृत होते जा रहे विविध जीवन प्रकरणों को कहानी के भीतर प्रत्यंकित करती है। अब अनुभव कर रही हूं कि इससे बहतर ढंग से इस बात को काव्यात्मक-भावात्मक रूप में शायद और किसी से अभिव्यंजित नहीं किया जा सकता।

संदर्भ सूची

1. The mode of production of material life conditions the social, political and intellectual life process in general. It is not the consciousness of men that determines their being, but on the contrary, their social being that determines their consciousness. Preface of A Contribution to the Critique of Political Economy 1859)
2. Use value is grounded in the possibility of the object satisfying some identifiable human need or desire. (Edgar, Andrrew. Cultural Theory. London: Routledge. 2008, p. 121-22)
3. Labour process is an appropriate of what exists nature for the requirement of man. It is the universal conditions for the interactions between man and nature, the everlasting nature-imposed conditions of human existence, it is therefore independent of every form of that existence. Das Capital vol.1

4. Labour process is an appropriation of what exists in nature for the requirement of man. It is the universal conditions for the interaction between man and nature, the everlasting nature-imposed conditions of human existence, it is therefore independent of every form of that existence." Capital vol.1)
5. It is a sense of powerlessness, isolation, and meaningless experienced by human beings and feeling of being depressed) Karl Marx's theory of alienation, Roudro Mukhopadhyay. p.1.
6. उपाध्याय, रमेश. *बाज़ारवाद और नयी सृजनशीलता*. नई दिल्ली:शब्दसंधान प्रकाशन. 2010. पृ.10. मुद्रित
7. Alienation can also refer to the isolation of individuals from a community a detachment from the activities, identifications and ties that a community can provide. Marx, Karl. Theory of alienation. p.138
8. शर्मा, नासिरा. *इब्ने मरियम*. किताबघरः नई दिल्ली. 1994, पृ. 135. मुद्रित.
9. वही, पृ.154
10. वही, पृ.149
11. वही,
12. वही, पृ.146
13. वही, पृ.139
14. वही, पृ.137
15. वही, पृ.158
16. वही, पृ.157
17. वही, पृ.146

18. वही
19. वही, पृ.147
20. वही, पृ.146

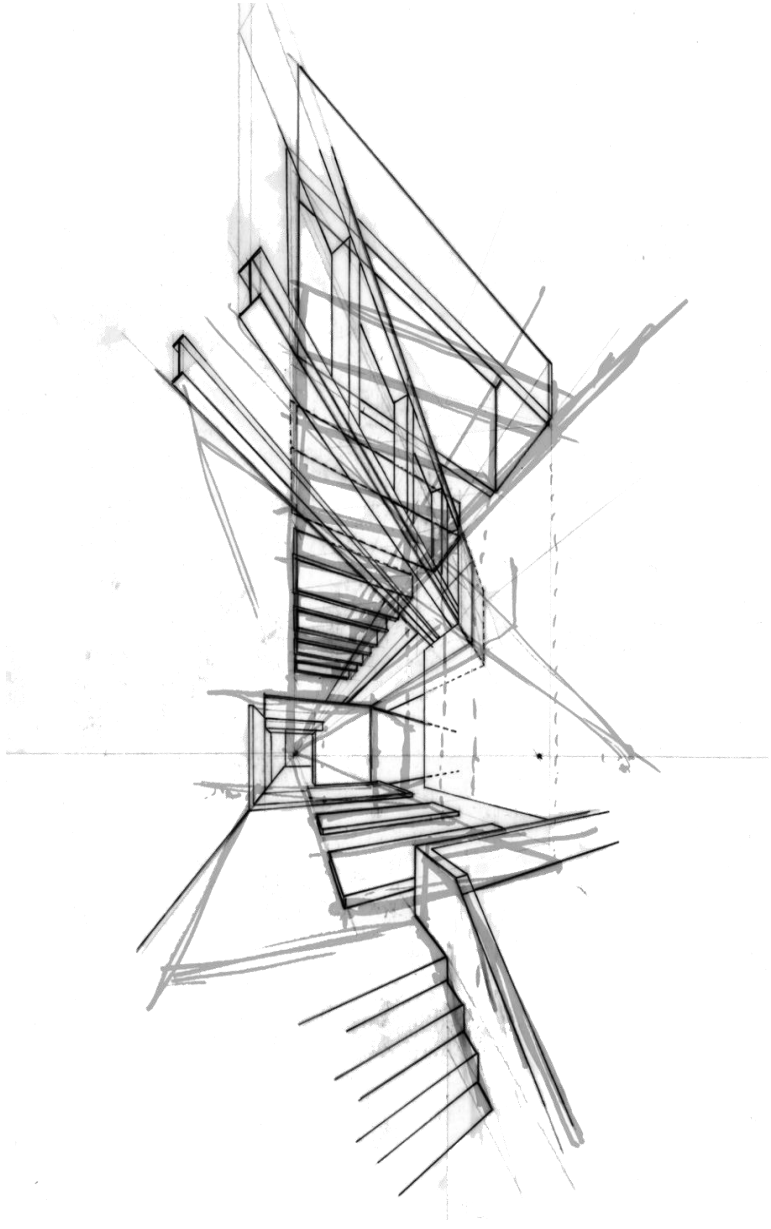

विकास का छद्म: एक गाँव फुलझर

डॉ. मिथिलेश कुमारी
सहायक आचार्य,
स्टारेक्स विश्वविद्यालय
ईमेल: maybemithil@gmail.com
संपर्क: 8287858096

शोध सार

1990-91 में भारत में मुक्त अर्थव्यवस्था को अपनाया गया। इस नई अर्थव्यवस्था के मुख्य बिंदु थे- मुक्त नियंत्रणहीन व्यापार, करों में कटौती, सार्वजनिक उद्योगों का निजीकरण, बहुउद्देशीय कंपनियों तथा निजी उद्योगों की विश्व अर्थव्यवस्था के मंच पर राष्ट्रीय, राजकीय नियंत्रणों से मुक्ति आदि। इस अर्थव्यवस्था के लागू होने के कुछ समय पश्चात ही इसके दुष्परिणाम नजर आने लगे थे और समावेशी विकास का प्रारूप इसी का नतीज़ा था । हम देखते हैं कि आज व्यापक रूप में मौज़ूद समस्याएँ इन नीतियों से जुड़ी हुई हैं। जल-जंगल ज़मीन की लड़ाई, विस्थापन की समस्या, नदियों का प्रदूषण, घटते जंगल आदि को प्रमुख समस्यायों में गिना जा सकता है। इनके निवारण के लिए देश में जो भी योजनाएँ बन रही हैं, वह भ्रष्टाचार के कारण पूरी नहीं हो पा रही हैं। सरकार बीमारी को जड़ से ख़त्म करने की बजाय उसे बनाये रखना चाहती है और हल्के-फुल्के उपचार द्वारा जनता को भरमाये रखना चाहती है।

बीज शब्द:*एक गाँव फुलझर, मुक्त अर्थव्यवस्था, किसान, समावेशी विकास, कैलाश बनवासी, जल-जंगल ज़मीन की लड़ाई, विस्थापन की समस्या, नदियों का प्रदूषण, घटते जंगल आदि।*

शोध आलेख

हमारे समय और समाज का प्रचलित शब्द है, विकास! बड़े-बड़े कल-कारखानों का बनना, कंपनियों का खुलना, बढ़ता बाजार, फैशन उद्योग, शापिंग काम्प्लेक्स, बड़ी बिल्डिंगों को ही विकास का पर्याय मान लिया गया है। विकास शब्द का जो भ्रमजाल खड़ा किया गया है और कहा जा रहा है कि देश विकसित हो रहा है। यह कितना बड़ा झूठ है इसकी पोल समय-समय पर खुलती रहती है। अभी कोविड-19 संक्रमण ने

अर्थव्यवस्था की सच्चाई को सबके सामने नग्न कर दिया। दरअसल यह सिर्फ धनाढ्य लोगों का विकास है। कुछ क्षेत्रो में प्रगति हुई है लेकिन देश की दूसरी तस्वीर भी है - गरीबी, भुखमरी-कुपोषण, घटते जीवन मूल्य, आत्महत्या करता किसान, नरक से भी बदतर माहौल में रहते गरीब-मजदूर वर्ग, लड़कियों/महिलाओं के साथ होती बर्बर घटनाओं में वृद्धि, फुटपाथ पर गुजारा करते लोग आदि। इससे भी भयावह तस्वीरें हमारे समाज में मौजूद हैं। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक, विज्ञान-तकनीक सभी क्षेत्रों में विकास होना चाहिए। जब तक सभी लोगो को जीवनोपयोगी मूलभूत सुविधाएँ भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सा आदि नहीं मिलता, तब तक विकास की बात करना बेमानी है। जो संसाधन प्रकृति ने हम सबको मुफ्त में दिया है। उसे कुछ लोगो ने अपनी बपौती बना लिया है। प्राकृतिक पर्यावरण को हमने प्रदूषित और नष्ट कर दिया है। इससे सभी का जीवन संकटग्रस्त हो गया है। पानी जो प्रकृति ने मुफ्त में दिया है उसे भी खरीदकर पीना पड़ता है यह विकास नामक एजेंडे का बहुत अच्छा उदाहरण आप सबके सामने है।

कैलाश बनवासी उदारवादी नीतियों से उपजी विसंगतियों को अपनी कहानियों का विषय बनाते हैं। ग्रामीण जीवन पर आधारित इनकी कहानियों में एक पैनी दृष्टि मौजूद होती है।

कैलाश बनवासी की कहानियाँ राजनीतिक, आर्थिक नीतियों को बहुत बारीकी से देखती हुई समाज पर इसके प्रभाव का परीक्षण करती हैं। हिन्दी कहानी में यह दौर विमर्शों के उत्थान का है, दलित विमर्श, नारी विमर्श, आदिवासी विमर्श के तहत अनेक लेखक एवं लेखिकाएँ अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं लेकिन पूँजीवाद का प्रभाव तो सब पर पड़ा हैं और सबसे बुरा प्रभाव तो किसानों, मजदूरों, गरीबों और आदिवासियों पर पड़ा है। नवपूंजीवादी नीतियों के कारण विश्व बाज़ार के रास्ते खुले। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रयोग कर बाजार ने अपने को काफी विस्तृत किया है। इसने मनुष्य जीवन को सरल और सुलभ बनाया है लेकिन मनुष्य जीवन के लिए संकट भी खड़ा कर दिया है। प्राकृतिक दोहन बढ़ता जा रहा है जिससे पर्यावरण संकट उत्पन्न हो गया है। जीवन शैली में बहुत बदलाव आया है समाज गाँव केन्द्रित न होकर

शहर केन्द्रित होता जा रहा है सूचना प्रौद्योगिकी ने विश्व तक पहुँच को बहुत आसान बना दिया है।

कैलाश बनवासी की कहानी 'एक गाँव फुलझर' कहानी में इसी विकास के सच और झूठ को दिखाया गया है। युगबोध से संपृक्त यह कहानी एक गाँव के आधार पर पूरे देश की कथा कहती है। कहानी की शुरुआत एक कारखाने के खुलने से होती है और यह गाँव की उस जमीन पर बन रहा है जो गाँव के पशुओं का चारागाह है। यह जमीन गाँव वालो को नौकरी का प्रलोभन देकर ले ली जाती है लेकिन नौकरी इन लोगो को नहीं मिलती, इसका कहानी में वर्णन है। कैसे लोगो को भरमाया जाता है? इसका उदाहरण देखिए **"तुम लोग यार सच में एकदम गँवार हो। थोड़ी सी जमीन जाने का हमको इतना लाभ मिल रहा है तो जमीन को जाने दो। क्या करना है गाय-गरु तो कहीं जाकर चर लेंगे। ये सोचो, तुम्हारे बेरोजगार लड़कों को काम मिलेगा। इससे तरक्की होगी। हमारा गाँव खुशहाल गाँव बनेगा।"**[1]

जिस तरक्की और नौकरी का प्रलोभन दिया जा रहा है। वह चालाकी से अपना काम निकालने की तरक़ीब है। उद्योगपति ने गाँव के सरपंच के बेटे को नौकरी दिलाने का वायदा करके उसे अपने पक्ष में कर लिया है और अब वही सरपंच गाँव वालों से झूठ बोल रहा है। यहाँ तो चारागाह की जमीन छिनने का वर्णन है। देश में तो खेती योग्य जमीनों पर फ्लाईओवर, शॉपिंग कॉम्प्लेक्स बन रहे हैं। जिनकी जमीनों को छीना जाता है उन्हें न ही अपनी जमीनों का उचित दाम मिलता है और न ही रोज़गार। विस्थापन की समस्या आज बहुत बड़ी समस्या बनती जा रही है। **"मेरे बड़े भाई ये हाथी हैं हाथी। खाने के दांत और दिखाने के और। गुप्ता को अपना व्यवसाय करना है, लाभ ही लाभ कमाना है। प्राइवेट कम्पनी तो कम से कम वर्कर रखती है मुनाफा ज्यादा कमाती है। देख लेना ये इम्पॉर्टेड मशीने लगवाएगा जिससे कम से कम लोगो की ज़रुरत हो।" "पर गाँव के लड़के तो नौकरी पाने का सपना देख रहे हैं.....।" "वे खाली सपना ही देखते रह जायेंगे। अरे वो बाहर**

[1] पृष्ठ संख्या ,114 बाजार में रामधन, कैलाश बनवासी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

से ट्रेन्ड लोगो को बुलाएगा कि इनसे सर खपायेगा।" जो काम कर रहे हैं उनकी तो छँटनी की जा रही है नयों को कहाँ से लेंगे ?" [1]

उपर्युक्त पंक्तियों में लेखक ने सच को व्यक्त कर दिया है। न्यायोचित तो यह है कि जिसकी जमीन पर उद्योग लग रहे हैं, कम्पनियाँ खुल रही हैं उसमें उनको रोजगार मिले। स्थानीय लोगों को अधिक से अधिक रोज़गार मिले लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है बल्कि उन्हें विस्थापित होना पड़ रहा है। लोकतान्त्रिक शासन में लोकतंत्र ही मौजूद नहीं है। जिनके पास पावर और पैसा नहीं है वह दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर हैं। कहानी में युगबोध और राजनीतिक समझ बहुत अच्छे ढंग से स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देखा जा सकता है। **"ये वही दिन थे जब नयी आर्थिक नीतियाँ लागू की जा चुकी थीं, समझौतो पर धड़ाधड़ हस्ताक्षर किये जा रहे थे, देश की सम्पदा को कौड़ियों के भाव बेचा जा रहा था। निजीकरण के लिए विदेशी कम्पनियों को बुलावा दिया जा रहा था। उन्हें लाइसेंस परमिट आदि में अनाप-शनाप छूट दी जा रही थी, कर्मचारियों की छंटनी की जा रही थी, रुपया बार-बार डॉलर के मुकाबले लुढ़क रहा था, विदेशी कर्ज का बोझ पहाड़ हुआ जा रहा था। देशी उद्योग-धंधे ठप्प पड़ रहे थे और बताया जा रहा था कि हम एक सुदृढ़, शक्तिशाली और सम्पन्न देश बनने जा रहे हैं...।"**[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में सिर्फ युगटोन ही नहीं समाहित है। बल्कि पूरे राजनीतिक आर्थिक परिदृश्य को समेटा गया है। देशी उदयोग-धंधे ठप्प हो रहे हैं और मल्टीनेशनल कंपनियाँ फल-फूल रही हैं। देश का संसाधन इस देश के लोगो के लिए ही नहीं है बल्कि विशेष सुविधाएँ पूंजीपति वर्ग को दी जा रही हैं। कहानीकार ने बहुत अच्छे ढंग से इस देश के नेतृत्व की कमजोरियों का वर्णन किया है। ये पिछले बत्तीस सालों का भयावह सच है। देश के संसाधनों की अन्धाधुन्ध लूट विकास के नाम पर की जा रही है और इससे मिला पैसा मंत्रियों, उद्योगपतियों और अधिकारियो की जेब में जा रहा है। यह कहानी अपने कथानक में बेरोजगारी, श्रमिक लोगो के लिए काम की

[1] पृष्ठ संख्या ,115 वही

[2] पृष्ठ संख्या वही 114

कमी और उससे उपजी विसंगतियों को भी शामिल करती है। धर्म का प्रपंच कैसे फैलता है इसका भी कहानी में वर्णन है। इतना ही नहीं अपना पेट भरने के लिए कुछ लड़कियों को सेक्स गर्ल बनने पर मजबूर होना पड़ता है।

लेखक ने सिर्फ यथार्थ स्थिति का वर्णन ही नहीं किया है बल्कि आने वाले समय की भयावहता की तरफ़ संकेत भी किया है कि आगे और क्या संभावनाएँ हो सकती हैं। जिस प्रकार एकांगी और भ्रष्ट नीति-नियम बनाये जा रहे हैं। उसका कुप्रभाव समाज में दिखने लगा है। विकास के नाम पर जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई, प्राकृतिक संसाधनों का बेतहाशा दोहन हो रहा है। इसी अन्धाधुन्ध विकास के कारण उत्तराखंड में बादल फटने की संभावना बढ़ती जा रही है।

ग्लोबल वार्मिंग का असर हम सब अब महसूस करने लगे हैं। गर्मी की अवधि बढ़ती जा रही है। मौसम-चक्र में परिवर्तन ने खेती-किसानी को बुरी तरह प्रभावित किया है। वैज्ञानिक और पर्यावरणविदों की चेतावनियों के बावजूद हमारे देश की सरकार आँख बंद रखना चाहती है। कहानी में उद्धृत एक प्रसंग **देखिए "फुलझर गाँव के बाईपास नेशनल हाइवे के पार एक फैक्टरी खुल गयी है, बहुत बड़ी फैक्टरी। फैक्टरी लगभग उस सारी जमीन को घेरे हुए थी जो कभी मैदान था, गाय-गरु का चारागाह था, जहाँ कुछ घर-परिवार थे। फैक्टरी की चिमनियों से गहरा काला धुआं उठ रहा था और सारा आकाश इस धुएँ से काला हो चुका था। साहू गुरु जी को आश्चर्य हुआ, वह नीला रंग आकाश में कही नहीं था सर्वत्र इस कारखाने से निकलता काला धुआं और अँधियारा। यह भी अजीब था कि इस विशाल फैक्टरी में उनको एक भी आदमी जात नज़र नहीं आया। तभी उनका ध्यान सड़क के उस पार गया तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, एकदम डर गये ,क्योकि वहाँ कोई गाँव नहीं था। आसपास के जो खेत थे , बिल्कुल खाली पड़े थे, कोई तिनका तक नहीं उगा था, निपाट पथरीले, जिन्हें किसी सफ़ेद राख जैसी पर्त ने ढक रखा था।"**[1]

[1] पृष्ठ संख्या वही 127

फैक्ट्री लगाने के लिए यह मानक है कि वह बस्ती से दूर लगायी जाये लेकिन इस मानक का पालन नहीं होता। फैक्ट्री से निकलने वाले धुएं से पेड़-पौधो पर विपरीत असर पड़ता है। यह तो एक गाँव का एक दृश्य लेखक ने दिखाने की कोशिश की है लेकिन यह आज हर जगह का सच बन गया है। मजबूर लोगों को अपना घर खेत छोड़ना पड़ता है क्योकि वहाँ रहना मुश्किल हो जाता है। कहानी में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि किस प्रकार भूमि अधिग्रहण और औद्योगिक नियमों के मानदंडों का पालन नहीं किया जाता। भारत एक प्राकृतिक-सम्पदा युक्त राष्ट्र है। यहाँ कृषि की अपार सम्भावनाएँ हैं। यहाँ खेती-सह उद्योग विकसित करने चाहिए, न कि प्राकृतिक सम्पदा और आधे मनुष्यों का जीवन उजाड़कर विकास किया जाये।

प्राकृतिक सम्पदा के बिना क्या उद्योगों का कोई अस्तित्व रहेगा? वैज्ञानिक अभी से कहने लगे हैं कि प्राकृतिक संसाधनों का दोहन ऐसे ही होता रहा तो बहुत ज़ल्दी ही हम इनसे रहित हो जायेंगे। जंगल हम ख़त्म करते जा रहे हैं। खनिजों के निर्माण में कई हजार वर्ष लगते हैं तब जाकर बहुमूल्य खनिजों का निर्माण होता है। हम आज जिन खनिजों का प्रयोग कर रहे हैं वह हमारे पूर्वजों के प्राकृतिक संरक्षण के कारण हमें मिल पाया लेकिन हम आगे आने वाली पीढ़ियों को क्या देकर जायेंगे? जब हम विकास की बात करते हैं तो समस्त प्राणियों के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर नीतियाँ बनायीं जानी चाहिए। हमारे देश के संविधान में मूल अधिकारों में जिस समानता, स्वतन्त्रता की बात की जाती है और नीति के निर्देशक तत्वों में नीतियाँ बनाते समय जिन नियमों का ध्यान रखने का नियम है। उसका आज तक पालन नहीं होता। संविधान निर्माताओं ने यह सोचा भी नहीं होगा कि आने वाला राजनीतिक नेतृत्व इतना छद्मपूर्ण होगा। बनवासी की कहानियाँ सिर्फ संवेदना नहीं जगाती बल्कि एक दिशा दिखाती हैं। लेखक की दृष्टि दूर तक जाती है। असहाय पीड़ितों, गरीबों, किसानों, मजदूरों की आवाज़ को इस कहानी में देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

इस कहानी में जो प्रश्न उठाये गये है। वह आज के समय के महत्वपूर्ण सवाल हैं और इसका हल हम सभी को खोजना चाहिए। स्वप्न प्रविधि के माध्यम से कहानी में भविष्य का एक चित्र खींचा गया है। चित्र यह है कि गुरुजी को सपने में अपना स्कूल भी गायब हुआ दिखता है। **"और अगले ही क्षण वहाँ कोई स्कूल नहीं था। स्कूल की जगह वहाँ भी कचरे का ढेर था जहाँ से असहनीय रासायनिक दुर्गन्ध उठ रही थी।"**[1]

जिस प्रकार धड़ल्ले से शापिंग कॉम्प्लेक्स ,पिज़्ज़ा-बर्गर हट, बड़ी-बड़ी कंपनियाँ लगायी जा रही हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अति दोहन चल रहा है और मूर्खता बनाए रखने के लिए शिक्षा संस्थानों पर हमले हो रहे हैं, यह इशारा उसी असंतुलित विकास की ओर है। शिक्षा हमारी मूलभूत ज़रुरत है लेकिन वह साधन संपन्न लोगो तक सीमित होती जा रही है। महँगी शिक्षा आज का सच बन गयी है और इसके जरिए लेखक ने समय के पूरे परिप्रेक्ष्य को उजागर किया है। यह एक व्यंग्य है हमारे समय पर कि किस प्रकार मूलभूत जरूरतों को नज़रअंदाज करके नवपूंजीवादी नीतियों को लागू किया जा रहा हैं और विकसित होने का दावा किया जा रहा है। उदाहरण के लिए पानी और हवा को ही लेते हैं। साँस हर प्राणी लेता है और जिस प्रकार वायु प्रदूषित है उससे अनेक गंभीर बीमारियाँ फ़ैल रही हैं। क्या इसका कोई विकल्प है?

गावों-शहरों में हर जगह का पानी अशुद्ध हो गया है। भूमिगत जल भी लगभग ख़त्म होने के कगार पर है। नदियाँ नालों में तब्दील हो गयी हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ इस पानी को प्यूरीफाइड करके सप्लाई कर रही हैं। बोतलबंद पानी पर निर्भरता बढ़ रही है। जिसके पास धन है, वह खरीदेगा अन्यथा दूषित पानी पीने के लिए लोग मजबूर

[1] पृष्ठ संख्या वही 128

हैं। क्या हवा पानी के बिना जीवन की कल्पना की जा सकती हैं? ये कहाँ का विकास है कि हमने प्रकृति को नष्ट करके अपना जीवन संकटग्रस्त कर लिया है। आज की महती अवश्यकता है कि समावेशी अर्थव्यवस्था की नीति को अपनाया जाये। इस कहानी का शीर्षक 'एक गाँव फुलझर' है अपने नाम के अनुरूप इस गाँव में कभी फूल झरते रहते थे लेकिन अब इन नवपूंजीवादी नीतियों के कारण यह उजाड़ और भुतहा हो गया है। यह एक गाँव की नहीं एक देश की कथा है।

संदर्भ सूची

1. पृष्ठ संख्या ,114 बाजार में रामधन, कैलाश बनवासी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
2. पृष्ठ संख्या ,115 वही
3. पृष्ठ संख्या वही 114
4. पृष्ठ संख्या वही 127
5. पृष्ठ संख्या वही 128

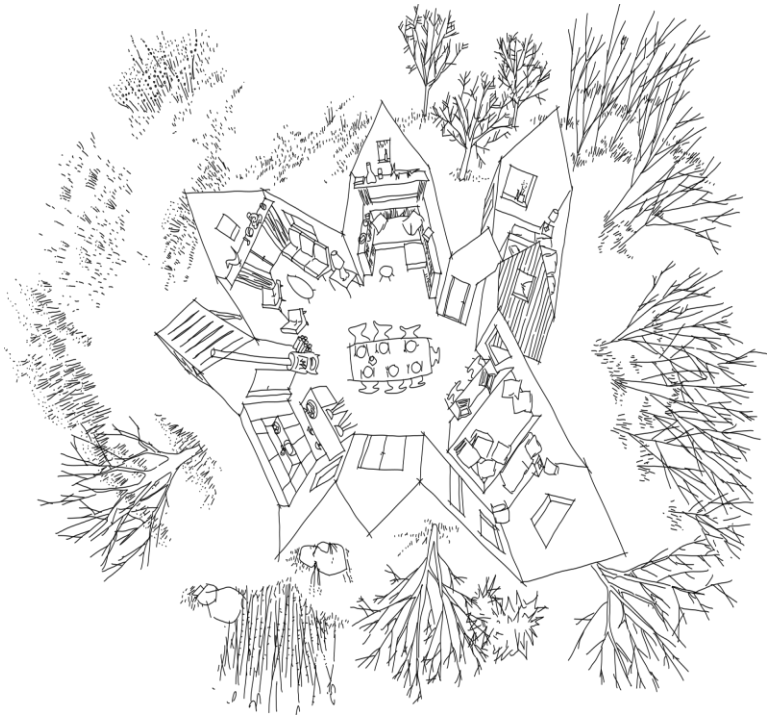

"अपना गाँव" एक नयी जमीन की तलाश

डॉ. बिजय कुमार रबिदास
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज मो. 9432345604

शोध सार

हिन्दी साहित्य में मोहनदास नैमिशराय एक दलित कथाकार के रूप में जाने जाते हैं। 'अपना गाँव' उनकी बहुचर्चित कहानी है। इस कहानी में उन्होंने आधुनिक भारत के एक ऐसे गाँव का दृश्य प्रस्तुत किया है, जो सदियों से जाति-व्यवस्था की नींव पर खड़ा है। आजादी के बाद भी भारतीय गाँवों के सामाजिक ढांचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। जाति-व्यवस्था का सबसे घिनौना और अमानवीय रूप गाँवों में ही दिखाई देता है। आज भी वहाँ की तथाकथित ऊँची जाति के लोग दलितों के साथ क्रूरता से पेश आते हैं। दलितों की बहन-बेटियों की इज्ज़त के साथ खिलवाड़ करते हैं। कुल मिलाकर देखा जाए तो सवर्ण जाति के लोगों ने दलितों को एक नारकीय जीवन जीने के लिए मजबूर कर दिया है। जिससे परेशान होकर दलित समाज के लोग अब अपने ही घर और जमीन से विस्थापित होने के लिए मजबूर हो गए हैं। दलितों के इसी विस्थापन की त्रासदी को मोहनदास नैमिशराय जी ने अपनी कहानी 'अपना गाँव' में दिखाया हैं।

बीज शब्द: दलित, साहित्य, कथाकार, आधुनिक, जाति, त्रासदी

शोध आलेख

हिन्दी साहित्य में मोहनदास नैमिशराय एक दलित कथाकार के रूप में जाने जाते हैं। 'अपना गाँव' उनकी बहुचर्चित कहानी है। इस कहानी में उन्होंने आधुनिक भारत के एक ऐसे गाँव का दृश्य प्रस्तुत किया है, जो सदियों से जाति-व्यवस्था की नींव पर खड़ा है। आजादी के बाद भी भारतीय गाँवों के सामाजिक ढांचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। जाति-व्यवस्था का सबसे घिनौना और अमानवीय रूप गाँवों में ही दिखाई देता है। आज भी वहाँ की तथाकथित ऊँची जाति के लोग दलितों के साथ क्रूरता से पेश आते हैं। दलितों की बहन-बेटियों की इज्ज़त के साथ खिलवाड़ करते हैं। कुल मिलाकर देखा जाए तो सवर्ण जाति के लोगों ने दलितों को एक नारकीय

जीवन जीने के लिए मजबूर कर दिया है। जिससे परेशान होकर दलित समाज के लोग अब अपने ही घर और जमीन से विस्थापित होने के लिए मजबूर हो गए हैं। दलितों के इसी विस्थापन की त्रासदी को मोहनदास नैमिशराय जी ने अपनी कहानी 'अपना गाँव' में दिखाया हैं।

कहानी के केन्द्र में 'लहना' नाम का गाँव है, जो दलितों और सवर्णों के बीच बंटा हुआ है। गाँव में दलितों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय है, जिसका फायदा उठाकर गाँव के ठाकुर उनके ऊपर अत्याचार करते हैं। अस्सी वर्ष का हरिया लम्बे समय से इसी गाँव में रहते आया है। उसके बड़े बेटे का नाम हरफूल है। हरफूल के दो बेटे हैं। बड़े बेटे का नाम सम्पत है, जिसकी शादी कबूतरी नाम की एक सुन्दर लड़की से हुई थी। गाँव में कोई रोजगार न होने के कारण वह ठाकुर से पांच सौ रुपए कर्ज़ लेकर नौकरी की तलाश में शहर चला जाता है। उधर ठाकुर के दोनों लड़के कबूतरी पर यह कहकर दबाव देते हैं कि जब तक सम्पत उनके पैसे न लौटा दे, तब तक वह उनके खेत में काम करती रहे। असल में, ठाकुर के दोनों लड़कों का ध्यान कबूतरी पर था। वे दोनों उसका यौन उत्पीड़न करना चाहते थे। इसलिए वे बार-बार कबूतरी को अपने खेत में काम करने के लिए जोर दे रहे थे। कबूतरी, ठाकुर की इस मंशा को अच्छे से जान जाती है और अपने देवर से कहकर खेत में काम करने से मना कर देती है। जिसके कारण ठाकुर अन्दर से तिलमिला जाता है और वह उसे सबक सिखाने की ठान लेता है। इस तरह एक दिन मौका देखकर ठाकुर का मंझला लड़का दीपक सिंह अपने लठैतों के साथ मिलकर कबूतरी को रास्ते में घेर लेता है और उसे निर्वस्त्र करके पूरे गाँव में घुमाता है। यह घटना सुनकर सम्पत तुरंत शहर से गाँव वापस चला आता है और गांववालों के साथ पुलिस चौकी में जाकर ठाकुर के खिलाफ एफ. आई. आर. दर्ज कराने की कोशिश करता है। लेकिन पुलिस चौकी में बैठा इंस्पेक्टर भी सवर्ण जाति का होता है और वह उसकी रिपोर्ट लिखने से मना कर देता है। उल्टे वह सम्पत और उसके गांववालों की बुरी तरह से पिटाई करके जेल में बंद कर देता है। कहानी के अंत में सम्पत के घर के सामने पंचायत बैठती है, जिसमें हरिया एक अलग नया गाँव बसाने का प्रस्ताव सबके सामने रखता है।

कहानी में गाँव के ठाकुर सुल्तान सिंह और दीपक सिंह दोनों सामंती मानसिकता की उपज हैं, जो दलितों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए उन्हें कर्ज़ देते हैं। बाद में वे उस कर्ज़ के नाम पर दलित स्त्रियों के साथ बलात्कार और यौन उत्पीड़न करते हैं। दोनों ठाकुरों का आतंक दलित बस्तियों पर इतना ज्यादा है कि लोग उनके खिलाफ बोलने से भी डरते हैं। लेखक ने उनके द्वारा दलितों पर किए गए एक-एक अत्याचार को बड़ी बारीकी से दिखाया है। ठाकुर सुल्तान सिंह अपनी नज़रें सम्पत की पत्नी कबूतरी पर गड़ाए हुए है। वह अपनी हवस मिटाने के लिए कबूतरी को खेत में काम करने के लिए बुलाता है। कई बार बुलाए जाने के बाद भी जब कबूतरी उसके खेत में नहीं जाती है तो वह बौखला जाता है और कबूतरी को चेतावनी देते हुए कहता है, "देख री कबूतरी या तो सीधी हमारे खेतों में, काम करने आ जा, वर्ना हम चमारों से जबर्दस्ती भी काम लेना जानते हैं। फिर तेरा घरवाला तो हमसे कर्ज़ ले गया है। उसका मूल न सही, ब्याज तो तू चुका सकती है।"[1] ठाकुर सुल्तान सिंह जाति के घमण्ड में गुर्राने वाला एक ऐसा सामंत है, जो दलित स्त्रियों को अपनी हवस की वस्तु समझता है। अपनी दबंगई से वह कई दलित स्त्रियों का यौन उत्पीड़न कर चुका है। अब वह कबूतरी को डरा-धमकाकर अपने खेत में ले जाना चाहता है। उसकी बातों से साफ़ पता चलता है कि वह कर्ज़ के ब्याज के बदले कबूतरी से शारीरिक संबंध बनाना चाहता है। कबूतरी उसकी बातों में नहीं पड़ती है और खेत में काम करने से साफ़ मना कर देती है। जिसके कारण ठाकुर अपना मन कचोट कर रह जाता है। अब वह कबूतरी का यौन उत्पीड़न नहीं बल्कि उसे पूरे गाँव के सामने बेइज्ज़त करने का मन बना लेता है। कबूतरी के इनकार ने उसकी सामंती मनोवृत्ति को चुनौती दे दी थी। जिसे वह बर्दाश्त नहीं कर सका और उसके इनकार को अपनी अहं की लड़ाई बना देता है। इस अहं की लड़ाई में वह सारी हदें पार कर जाता है।

ठाकुर दीपक सिंह, कबूतरी को अकेला देखकर उसके स्त्रीत्व के साथ खिलवाड़ करता है, फिर पूरे गाँव में उसे निर्वस्त्र करके घुमाता है, लेखक ने इस दृश्य का उल्लेख करते हुए लिखा है, "पहले ठाकुर के मँझले ने झपट्टा मारा। बाज़ पाँच थे और वह अकेली। पल भर में ही उसके बदन के कपड़े खींच-खींचकर फाड़ दिए गए। गाँव से दूर वीरान से रास्ते में, वह बहुत चीखी-चिल्लाई, पर उन्होंने उसे पूरी तरह नंगा करके ही छोड़ा था।"[2] ठाकुर के लठैत अपनी लाठी से उसके शरीर पर चोट कर रहे

थे और उसे जबरदस्ती गाँव की ओर चलने के लिए बाध्य कर रहे थे। यह एक विडम्बना ही है, "जिस गाँव ने आज तक कबूतरी का मुँह तक न देखा था, कलाई में पड़ी चूड़ियों की भी केवल आवाज़ सुनी थी, उसी को मादरजाद नंगा देखना पड़ा था।"[3] लेखक ने यहां ध्यान दिलाया है कि गाँव के ठाकुर आज भी सामंती मानसिकता की रोग से ग्रसित है और इनमें जाति का अहंकार इतना ऊँचा है कि यदि कोई दलित स्त्री उनकी बात मानने से इनकार कर देती है तो वह उनसे बर्दाश्त नहीं होता है। ठाकुर दीपक सिंह अपनी अहं की तुष्टि के लिए कबूतरी को पूरे गाँव में निर्वस्त्र करके घुमाता है। यह कोई साधारण घटना नहीं है। यह एक जघन्य अपराध है। इस तरह की घटना पूरे मानव समाज को शर्मसार कर देने वाली है। यह घटना बताती है कि गाँव के ठाकुर अपनी जाति के नशे में चूर है और उनके मन में दलित स्त्रियों के प्रति रत्तीभर भी सम्मान का भाव नहीं है। असल में ठाकुर दीपक सिंह इस तरह की घटना को अंजाम इसलिए दे सका क्योंकि कबूतरी एक दलित समाज की लड़की है। दलित स्त्री होने के कारण उसके साथ ऐसा अमानवीय दुर्व्यवहार किया गया। ध्यान से देखा जाए तो यह कृत्य केवल एक दलित स्त्री के अपमान तक ही सीमित नहीं है बल्कि सम्पूर्ण स्त्री जाति के अपमान से भी जुड़ा हुआ है।

ठाकुर दीपक सिंह अपना दबदबा दलित बस्तियों पर बनाए रखना चाहता है। आज कबूतरी ने उसके खिलाफ आवाज़ उठाई है, कल कोई दूसरा भी उठा सकता है। इसलिए वह सभी दलितों को चेतावनी देते हुए कहता है, "इस कबूतरी की तरह तुम सबकी औरतों को नंगा किया जाएगा, तभी तुम्हारे दिमाग ठिकाने आएँगे।"[4] दीपक सिंह ने अपनी चेतावनी से दलितों के मन में एक दहशत का माहौल पैदा कर दिया था। पूरा गाँव निस्तब्ध खड़ा होकर चुपचाप उसे देख रहा था। किसी ने उसके विरोध में एक शब्द तक नहीं कहा। असल में, वह अपना धौंस और डर दलितों पर कायम रखना चाहता था। वह नहीं चाहता था कि कल कोई फिर कबूतरी की तरह उसके सामने आवाज उठाए। इसलिए वह पूरे गाँववालों के सामने कबूतरी को बेइज्ज़त करता है। उसकी चेतावनी से पता चलता है कि दलित स्त्रियां इस समाज में कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं। ऐसे जातिवादी क्रूर अपराधी दलित स्त्रियों पर आए दिन अत्याचार करते रहते हैं।

दलित इतने भी कमजोर नहीं है कि उनके ऊपर अत्याचार होते रहे और वे उसके खिलाफ आवाज़ तक न उठाए। शोषण करना अन्याय है तो उस अन्याय को चुपचाप सह लेना भी एक तरह का अन्याय है। सम्पत इस अन्याय को चुपचाप सह लेने वालों में से नहीं है। वह इसके खिलाफ आवाज़ उठाता है और कबूतरी एवं अपने गांववालों के साथ रिपोर्ट दर्ज कराने पुलिस चौकी पहुँच जाता है। लेकिन दलित होने के कारण वहां उसकी रिपोर्ट नहीं लिखी जाती है। लेखक ने यहां दलितों के प्रति पुलिस प्रशासन के रवैये को भी कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया है। पुलिस के ऊपर समाज की सबसे बड़ी जिम्मेदारी होती है। लोग उनसे निष्पक्ष कार्रवाई की उम्मीद रखते हैं। लेकिन जब पुलिस प्रशासन ही जातिवादी हो जाए और अन्याय करने वालों की तरफदारी करने लगे तो ऐसे में भला दलित किसके पास अपनी फ़रियाद लेकर जाए ? लेखक ने इस प्रश्न को बड़ी गम्भीरता से उठाया है। कहानी में पुलिस प्रशासन दलितों के खिलाफ और ठाकुरों के पक्ष में खड़ी है। सम्पत जिस थाने में रिपोर्ट दर्ज़ कराने जाता है, वहां का इंस्पेक्टर सवर्ण जाति का है। वह पुलिस थाने में यह सोचकर जाता है कि वहां उसे न्याय मिलेगा। लेकिन वहां उसे दलित होने के कारण अपमान के सिवाय कुछ नहीं मिलता है। दलितों के जीवन की यह बहुत बड़ी त्रासदी है कि एक तरफ उनके साथ घोर अत्याचार होता है और दूसरी तरफ जब वे इसके खिलाफ आवाज़ उठाते हैं तो व्यवस्था में बैठे पुलिस प्रशासन के लोग भी उनका साथ नहीं देते हैं। लेखक ने पुलिस प्रशासन में व्याप्त जातिवादी मानसिकता के लोगों की पोल खोलकर रख दी है। सम्पत जब अपनी रिपोर्ट लिखने के लिए कहता है, तब इस पर इंस्पेक्टर साहब कहते हैं, "जाओ जैसे गाँव से आए हो, वैसे ही लौट जाओ। यहाँ किसी की रिपोर्ट-विपोट नहीं लिखी जाएगी।"[5] सम्पत के बार-बार बोले जाने पर वह आगबबूला हो जाते हैं और कहते हैं, "दीवान जी लाना जरा मेरा डंडा। इन साले चमारों के होश ठिकाने लगाने ही होंगें।"[6] उसके बाद इंस्पेक्टर साहब थाने में सबकी बुरी तरह से पिटाई करते हैं। यहां तक कि स्त्रियों को भी वे नहीं छोड़ते हैं। यह है सवर्णों की पुलिस, जो दोषियों पर कार्रवाई न करके उल्टे पीड़ितों को ही मार-पीटकर जेल में बंद कर देती है। इसके अलावा पुलिस और सम्पत के बीच के वार्तालाप को लेखक ने जिस तरह से उद्धृत किया है, उससे तो यही लगता है कि इंस्पेक्टर को ठाकुर की करतूत की जानकारी पहले ही मिल गई थी। लेकिन सब जानते हुए भी वह दोषियों

के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करते हैं। दलितों के प्रति पुलिस का यह रवैया ठाकुरों जैसा ही है। इस तरह एक तरफ ठाकुरों ने दलितों पर अपनी बर्बरता का परिचय देकर अपने अमानुष होने का परिचय दिया है, वहीं दूसरी तरफ पुलिस प्रशासन ने भी अपने कर्तव्य को जूते की नोक पर रखकर पद और सम्मान की धज्जियाँ उड़ा दी हैं।

गाँव पर ठाकुर के शोषण की अमिट छाप है। सम्पत की तरह दूसरे दलितों ने भी ठाकुर से कर्ज़ लिए थे और कर्ज़ न चुकाए जाने पर ठाकुर ने उनकी औरतों का यौन उत्पीड़न किया था। कहानी में एक ऐसी ही दूसरी दलित महिला है, जिसका पति ठाकुर से कर्ज़ लेकर भैंस खरीदा था और कर्ज़ न चुकाए जाने पर ठाकुर ने उसकी पत्नी को अपना रखैल बना लिया था। वह दलित स्त्री अपना दुखड़ा बताते हुए कबूतरी से कहती है, "मेरे घरवाले ने पाँच साल पहले ठाकुर साहब से करज लेकर भैंस खरीदी थी। पर ऊपरवाले को कुछ और ही मंजूर था। भैंस एक महीने में ही मर गई, सुना यह भी गया था कि ठाकुर ने गोली देकर मरवाया था।"[7] ठाकुर बहुत चालाक है। दलितों को गुलाम बनाए रखने के सारे हथकण्डे उसे आते हैं। पहले तो वह दलितों को कर्ज़ देता है, फिर चोरी से उनके मवेशी को मरवा देता है। जब दलित कहीं का नहीं रह जाता है, तब उस पर अपनी धाक जमाता है। ऐसा करके वह दलितों को अपना गुलाम और उनकी स्त्रियों को रखैल बना लेता है। लेखक ने स्पष्ट किया है कि ठाकुर ने कर्ज़ को शोषण करने का एक धंधा बना लिया है, जिसका डर दिखाकर वह दलित स्त्रियों को शारीरिक संबंध बनाने के लिए मजबूर करता था।

हरिया इस घटना से बहुत क्षुब्ध है। कबूतरी के बचाव में सबसे पहले वही अकेला दौड़ा था। गांव में वह ठाकुरों के अन्याय को लम्बे समय से देख रहा था और आज वह खुद इस अन्याय का शिकार होता है। अपने समाज की स्त्रियों की पीड़ा को व्यक्त करते हुए वह पत्रकार से कहता है, "हाँ साब, गाँव में सबसे पैले मेरे पोते की बऊ को ही नंगा किया गया। कुछ म्हारी बहू-बेटियों को हवेली में नंगा किया गया। दिन के उजाले में भी और रात के अँधेरे में भी। अब किस-किस का नाम बताऊँ। सारे गाँव ने झेला है उसे।"[8] हरिया ने अपने बयान से पूरे गाँव की स्थिति को प्रकट कर दिया है। ठाकुर की कई पीढ़ियों को वह देख चुका था। सभी ने उसके समाज के लोगों के साथ बुरा बर्ताव ही किए थे। उसका मन अब इस गाँव से उचट सा गया था, लेखक

ने उसकी दारुण स्थिति पर लिखा है, "इस गाँव में मिला क्या उसे तथा उसकी जात के लोगों को ? बार-बार बेइज्जती और जलालत की जिन्दगी। उसे नफरत-सी हो गई गाँव से। ठाकुर के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनकी जात के लोगों पर अत्याचार करते रहे और वे उनकी गुलामी।"[9] हरिया के लिए अब ये सब असहनीय हो गया है। इतने वर्षों तक ठाकुर की गुलामी करने का पुरस्कार उसे मिल चुका था। ऐसे दमघोंटू वातावरण में अब वह नहीं रहना चाहता है। साथ ही लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि दलितों पर शोषण की कहानी कोई नई नहीं है बल्कि ठाकुरों की एक लम्बी पीढ़ी है, जो दलितों पर वर्षों से अत्याचार करते आ रहे हैं। ठाकुरों को दलितों पर शोषण करने का अधिकार अपने पूर्वजों से विरासत में मिली थी।

कबूतरी की घटना के बाद सत्तर साल का धुलिया भारी मन से अपने घर में लेटा हुआ था। उसकी आँखों के सामने ठाकुर की तीन पीढ़ियों के अत्याचारों के चित्र एक-एक करके सामने आने लगते हैं, वह देखता है, "गाँव का शायद ही कोई ऐसा आदमी ढूँढ़ने से मिले, जिसकी पीठ पर ठाकुर या उसके कारिंदों के चाबुकों के निशान न पड़े हों। ....उसकी जात की बहुत कम औरतें ऐसी होंगी, जिन्हें ठाकुर के बुलावे पर हवेली में न जाना पड़ा हो। एक-एक के बदन ने अनचाहे वह सब झेला था।"[10] धुलिया का मन अन्दर से बहुत व्यथित है। उसकी जात के ज्यादातर लोग ठाकुर के उत्पीड़न का शिकार हुए हैं। वह अपने अतीत में ठाकुरों का अत्याचारी रूप देख चुका था और आज भी वही रूप देख रहा है। ठाकुरों के द्वारा दलितों पर किए गए अत्याचारों में कहीं कोई कमी नहीं आई है। उनका शोषण दलितों पर बढ़ता ही जा रहा था। ठाकुर के इस शोषणवादी चेहरे से गाँव के सभी लोग परिचित हैं।

गाँव दलितों के शोषण का सबसे बड़ा केन्द्र है। जात-पांत और ऊँच-नीच का बोलबाला सबसे ज्यादा गाँवों में दिखाई देता है। सवर्ण कही जाने वाली जातियां वहां दलितों के साथ जानवरों से भी बदतर सलूक करती है। वर्तमान समय में दलित उत्पीड़न की ज्यादातर घटनाएं गाँवों से आ रही हैं। लेखक ने एक ऐसे ही गाँव का वास्तविक चित्र अपनी कहानी में उकेरा है। कहानी में गाँव के ठाकुर दलितों का शोषण करने के लिए कई तरह के रास्ते अख्तियार कर रखें हैं। उनमें 'कर्ज़' उनके लिए सबसे आसान और सरल साधन है। जिसका डर दिखाकर वे दलितों पर अत्याचार करते हैं।

गाँव के सारे संसाधनों पर उन्हीं लोगों का अधिकार है। दलितों के पास अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं है। उनके पास जमीन के कुछ टुकड़े थे, लेकिन उसे भी ठाकुर ने धोखे से अपने नाम कर लिए है। जिसके कारण दलित अब अपनी ही जमीन पर मजदूरी करने के लिए बाध्य हैं। इसके अलावा गाँव में सवर्णों ने अपने मुर्दे जलाने के लिए भी अलग से स्थान निर्धारित कर रखे हैं, जहां दलितों के मुर्दे नहीं जलाए जाते हैं। ये सवर्णों की कट्टर जातिवादी मानसिकता को दर्शाता है, जहां मुर्दे भी जाति देखकर फूंके जाते हैं। पूरे गाँव में एक मंदिर और एक हवेली है, जहां दलितों का प्रवेश वर्जित है। हवेली जब बनी थी, उस समय ठाकुर ने एक दलित की हत्या की थी। जो इस बात की चेतावनी थी कि यदि भविष्य में कभी किसी दलित ने इस हवेली के खिलाफ आवाज़ उठाई तो उसके साथ भी यही हस्र होगा। पूरा गाँव ही दलितों के खिलाफ है।

संवेदनात्मक स्तर पर यह एक सफल कहानी मानी जाएगी। कहानी में ऐसे कई प्रसंग आए हैं, जहाँ लेखक ने पाठक की संवेदना को झकझोर कर रख दिया है। पाठक की संवेदना गहरे स्तर पर कबूतरी और उसके परिवार वालों के साथ है। लेखक ने कबूतरी की घटना से पहले और उसके बाद की स्थिति का बहुत ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। कबूतरी ने कभी सोचा भी न था कि उसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार होगा। घटना के ठीक दो दिन पहले ठाकुर ने उसके साथ छेड़खानी की थी और उसे खेत में चलने के लिए धमकाया था। इस प्रकरण को याद करके ही वह डर जाती है, लेखक ने उसकी मानसिक पीड़ा को व्यक्त करते हुए लिखा है, "उसके भीतर की आवज को कौन सुन रहा था ? चीत्कार उठी थी वह। आँखों में आँसू भर आए थे। मन किया खूब रोये, पर यहाँ किसे सुनाए ? उसका घरवाला तो बीस दिन पहले से ही नौकरी की तलाश में शहर गया हुआ था।"[11] उस रात कबूतरी ठीक से सो नहीं पाई थी। सुबह लकड़ियाँ चुनने भी वह डरते हुए गई थी। उसके मन में रह-रहकर संशय के बादल उठ रहे थे, जिसके बारे में सोचकर ही वह अन्दर से कांप जा रही थी। ठाकुर की चेतावनी ने उसकी मनः स्थिति पर बहुत गहरा आघात किया था।

ठाकुर दीपक सिंह अपने लठैतों के साथ मिलकर कबूतरी को निर्वस्त्र करके पूरे गाँव में घुमाता है। यह घटना पढ़कर ही पाठक के मन में एक सिहरन सी दौड़ जाती है। पाठक कुछ देर तक सोचने के लिए मजबूर हो जाता है कि जिस समाज में स्त्रियों

को देवी की तरह पूजा जाता है, सरकार उन्हें सशक्त करने के लिए तरह-तरह की योजनाएं चला रही है, आज उसी समाज में कबूतरी जैसी दलित स्त्री को निर्वस्त्र करके पूरे गाँव में बेइज्जत किया जाता है। यह किस तरह का समाज है ? जहां एक स्त्री के स्त्रीत्व को इसलिए तार-तार किया जाता है कि वह एक दलित है। यह घटना सभ्य समाज के ऊपर एक बहुत बड़ा तमाचा है। कबूतरी उन सबके सामने अपनी आबरू बचाने के लिए बहुत रोती है, हाँथ-पाँव तक जोड़ती है। लेकिन ठाकुर के ऊपर उसकी बातों का कोई असर नहीं होता है, कबूतरी की पीड़ा को व्यक्त करते हुए लेखक ने लिखा है, "कबूतरी की आँखों से आँसुओं की नदी बहने लगी थी। वह दहाड़ मार-मारकर रोने लगी थी। सारा मुँह आँसुओं से भीग गया"[12] था। वह शर्म से जमीन में धंसी जा रही थी। ठाकुर ने पूरे गाँव के सामने उसका तमाशा बना दिया था। ऐसी मुश्किल की घड़ी में कोई उसकी मदद करने नहीं आता है। उसके परिवार के लोग भी ठाकुर के डर के कारण कुछ नहीं कर पाते हैं। कबूतरी की सास बहुत भारी मन से उसके पास आती है। उसे सांत्वना देती है और उसके दुःख पर सहानुभूति प्रकट करती है। लेखक ने उसकी सास को बहुत ही कारुणिक स्थिति में दिखाया हैं, कबूतरी की हालत पर अपनी बेबसी व्यक्त करते हुए उसकी सास कहती है, "बऊ, तुझे क्या हो गया है। बोल न कुछ। हमें गालियाँ दे, जूते मार, म्हारी ऑखें फोड़ दे। हम सबने तुझे नंगे होते देखा। तेरी बेइज्जती होते देखी।"[13] उसकी सास की बातों से पता चलता है कि कबूतरी के बचाव में कुछ न कर पाने के कारण उसके अन्दर एक तरह का अपराध बोध है और यह अपराध बोध परिवार के अन्य लोगों में भी है। उसके परिवार के लोगों में इस बात का बहुत दुःख है कि वे सबकुछ अपनी आँखों के सामने देखते रहे और कुछ कर न सके। ध्यान देने वाली बात है, यहां ठाकुर ने एक स्त्री के मान-सम्मान को रौंदा ही है उसके साथ-साथ परिवार के अन्य लोगों के भी मान-सम्मान को मटियामेट कर दिया है। पीड़िता जिस मानसिक पीड़ा से गुजरती है। उसके घरवाले भी लगभग उसी मानसिक पीड़ा से गुजरते हैं। यह पीड़ा गाँव की दलित बस्तियों के लोगों में भी देखी जा सकती है।

इस कहानी को अम्बेडकरवादी दृष्टिकोण से भी समझने की आवश्यकता है। मोहनदास नैमिशराय खुद भी एक अम्बेडकरवादी लेखक हैं। उन्होंने अम्बेडकरीय विचारधारा को अपनी कहानी में पात्रों के माध्यम से दिखाने की कोशिश की है।

कहानी में सम्पत और हरिया ठाकुर के खिलाफ कहीं भी हिंसात्मक या उग्र होते हुए दिखाई नहीं देते हैं। वे अपना विरोध लोकतांत्रिक ढंग से प्रकट करते हैं। सम्पत एक शिक्षित दसवीं पास लड़का है। उसकी पत्नी के साथ इतना बड़ा अन्याय होता है लेकिन वह कहीं भी हिंसा का सहारा नहीं लेता है। वह कठिन परिस्थिति में भी धैर्य से काम लेता है। वह ठाकुर से सीधे लड़ने नहीं जाता है बल्कि पुलिस चौकी जाकर उसके खिलाफ रिपोर्ट दर्ज़ कराने की कोशिश करता है। वह अन्याय के खिलाफ न्याय के लिए लड़ने वाला लड़का है। उसे हिंसा में नहीं व्यवस्था परिवर्तन में विश्वास है। गाँव में वह शुरू से दलितों के हित के लिए लड़ते आया हैं। सवर्णों के खिलाफ आवाज़ उठाई है। गाँव के संसाधनों पर सवर्णों के एकाधिकार को कई बार चुनौतियाँ दी हैं। गाँव की दलित युवा पीढ़ी में वह व्यवस्था के खिलाफ लड़ने वाला सबसे जुझारू चेहरा है। सम्पत की तरह हरिया भी कहानी में मुख्य पात्र की तरह उभरकर सामने आया है। हरिया में भी कहीं पर बदले की भावना नहीं दिखाई देती है। उसे पुलिस प्रशासन के ऊपर भरोसा है, इसलिए वह सम्पत के पुलिस चौकी जाने पर समर्थन करता है। कबूतरी की घटना के बाद कुछ लोग ठाकुर की बियरवानी को भी नंगा करने और उसके खेत में आग लगाए जाने की बात करते हैं। लेकिन हरिया उन सबका प्रतिवाद करता है। एक स्त्री को निर्वस्त्र करने की पीड़ा वह झेल चुका है। वह नहीं चाहता कि फिर किसी स्त्री को कबूतरी की तरह निर्वस्त्र किया जाए। ठाकुर की बियरवानी को भी वह अपनी बियरवानी की तरह मानता है। उसके मन में स्त्रियों के लिए बहुत मान-सम्मान है। वह खेत में आग लगाए जाने का भी विरोध करता है, वह कहता है, "अन्न को भी कोई तबाह करे है क्या ?"[14] हरिया अन्न के महत्व को अच्छी तरह समझता है। दलित अपना पेट भरने के लिए इसी अन्न के लिए दिन-रात परिश्रम करते हैं। ऐसे में कोई खेत में आग लगाने की बात करें तो वह हरिया को स्वीकार्य नहीं है। इस तरह सम्पत और हरिया अपना विरोध प्रकट करते समय कहीं भी प्रतिहिंसात्मक या बदले की भावना से प्रेरित होते हुए दिखाई नहीं देते हैं।

अम्बेडकर ने दलितों को संगठित रहने का संदेश दिया था। उनका मानना था, दलितों को संगठित होकर अन्याय के खिलाफ लड़ना चाहिए। आज की दलित युवा पीढ़ी के लड़के अम्बेडकर के इसी नारे के साथ आगे बढ़ रहे हैं। उनमें जाति आधारित समाज के प्रति बहुत गुस्सा है। जिसके खिलाफ वे लगातार संघर्ष कर रहे

हैं। कहानी में वे ठाकुर के शोषण के खिलाफ एक साथ खड़े हो गए हैं, लेखक ने एक जगह लिखा हैं, "सबके मन में मारे गुस्से के उबाल आ रहा था। युवकों की तो मुट्ठियाँ भिंच रही थीं। बूढ़े आदमी उन्हें धीरज रखने की अपनी-अपनी राय दे रहे थे।"[15] दलित लड़कों में ठाकुर के खिलाफ भारी गुस्सा हैं। वे ठाकुर को सजा दिलाने के लिए आतुर हैं। इसलिए वे सम्पत के साथ संगठित होकर पुलिस चौकी जाते हैं, लेखक ने लिखा है, "वे एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, पूरे ग्यारह थे। उनके भीतर-बाहर आग लगी थी। बाहर से अधिक अन्दर का सूरज बेचैन कर रहा था उन्हें, जो सम्पत के शहर से लौटने के बाद उन सबके भीतर उग चुका था।"[16] लेखक ने पाठक का ध्यान आज की युवा दलित पीढ़ी की ओर खींचा हैं और बताया है कि उनके अन्दर की सोई हुई दलित चेतना जाग चुकी है। अब वे किसी के आगे डरने या झुकने वाले नहीं हैं। वे कंधे से कंधा मिलाकर एक-दूसरे के साथ आगे बढ़ रहे हैं।

लेखक ने गाँव की पुरानी और नई पीढ़ी के दलितों को भी आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया है। साथ ही पुरानी पीढ़ी के सामने नई पीढ़ी के दलितों की सोच में आए परिवर्तन को भी स्पष्ट किया है। कहानी में पुरानी पीढ़ी की तुलना में नई पीढ़ी का स्वर अधिक सशक्त होकर सामने आया है। लेखक के अनुसार पुरानी पीढ़ी के लोग आज भी सड़ी-गली मानसिकता के साथ चिपके हुए हैं, जो अपने ऊपर हुए अत्याचार को चुपचाप सह लेने के आदि हो गए हैं। ऐसे लोगों को लताड़ते हुए सम्पत कहता है, "सच बात तो यह है कि तुम सब तो पहले से ही मरे हुए हो। मुरदे न होते तो मेरी बीवी को नंगे होते हुए देखते रहते ?"[17] सम्पत की बातें जायज़ है। यदि उनमें थोड़ी सी भी चेतना होती तो आज कबूतरी को यह दिन देखना नहीं पड़ता। पुरानी पीढ़ी के दलितों में ज्यादातर ऐसे लोग है, जो पुलिस-कचहरी में जाने से घबड़ाते हैं। उन्हें लगता है, गाँव की बात आपस में ही निपटा देना चाहिए। कुछ ऐसे भी हैं, जो भाग्य और किस्मत का रोना रोकर मौन हो जाते हैं, हरफूल कहता है, "हम तो गाँव में रहते हैं। गाँव की परम्पराओं को जानते हैं। चुप रहना सीखा है। जुल्म अत्याचार भी सहते रहे हैं।"[18] असल में जाति-व्यवस्था ने दलितों की चेतना को एक तरह से जड़ बना दिया है। जिसके कारण वे अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों को नियति मान बैठे हैं और उसके खिलाफ कुछ कहने से भी डरते हैं। लेखक ने आज की दलित युवा पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी के लोगों से अलग हटकर दिखाया है। आज की दलित युवा पीढ़ी अपने

अधिकारों के लिए आवाज़ उठाना जानती है और अन्याय के खिलाफ लड़ना भी जानती है। वह पुराने लोगों की तरह सब कुछ बर्दाश्त कर लेने की स्थिति में नहीं है और न ही किसी दलित पर हो रहे अत्याचार को चुपचाप सह लेने के लिए तैयार है। कहानी में एक दलित युवक कहता है, "पर ऐसे कब तक चलेगा ? कल सम्पत की घरवाली को नंगा किया, आज किसी और की भैन-बेटी को भी वे गाँव में नंगा घुमा सकते हैं।"[19] युवक को पता है, आज यदि ठाकुर के खिलाफ कुछ नहीं बोला गया तो कल वह फिर किसी दूसरी औरत को सरेआम नंगा कर सकता है। भविष्य में फिर ऐसी कोई घटना न हो, इसके लिए कठोर निर्णय लेना होगा। गाँव में इसके पहले भी कई वारदातें हुई थी लेकिन लोगों में इतना गुस्सा कभी नहीं देखा गया था। इस बार दलितों ने तय कर लिया था कि जब तक न्याय नहीं मिल जाता तब तक वे ठाकुर के खिलाफ विरोध प्रदर्शन करते रहेंगे, एक दलित लड़का कहता है, "हम अनशन करेंगे। भूख-हड़ताल करेंगे। हमारी समाधियाँ यहीं बनेंगी। अन्न का दाना भी न खाएँगे। उनके मरने के बाद ही अब गाँव के लोग उनकी अर्थियों को कंधा दें। बहुत सह लिया ठाकुरों के पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुल्म। अब और न सहेंगे।"[20] दलित युवा पीढ़ी के लड़कों में विरोध का स्वर बहुत सशक्त है। यह एक अच्छी बात है कि वे हिंसा या अन्याय के खिलाफ अपना विरोध धरना और अनशन के जरिए प्रकट कर रहे हैं।

लेखक ने दलितों के नाम पर चुनाव जीतकर सत्ता में आने वाले राजनेताओं के ऊपर भी तंज कसा है। ये नेता चुनाव के समय दलितों के सबसे बड़े हितैषी बने घुमते हैं और चुनाव जीतने के बाद गायब हो जाते है। सम्पत उनके दोहरे चरित्र से भली-भांति परिचित है, वह कहता है, "भइया, क्रान्ति लानेवाले तो आज संसद और विधानसभाओं में जाकर सो गए हैं। हम तो केवल हम पर जो जुल्म और अन्याय हुआ है, उसके खिलाफ कुछ करना चाहते हैं।"[21] सम्पत अच्छी तरह जानता है कि उसके ऊपर हुए अन्याय के खिलाफ कोई साथ देने नहीं आएगा। इसके लिए उसे खुद ही आगे आना होगा। नेताओं से तो बिल्कुल ही कोई उम्मीद नहीं करना चाहिए। क्योंकि वे सिर्फ अपनी राजनीति चमकाने के लिए दलित उत्थान की डींगे हांकते हैं बाकी उनको दलितों की समस्याओं से कोई लेना देना नहीं है। ऐसे नेता चुनाव जीतकर संसद और विधानसभाओं में पहुँच गए हैं लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों के प्रति तनिक सा भी

बोध नहीं है। लेखक ने सम्पत के जरिए आजकल के नेताओं के चरित्र को भी उजागर किया है।

दलित साहित्य की कसौटी पर यह कहानी पूरी तरह से खरी उतरती है। मोहनदास नैमिशराय जी ने समकालीन परिवेश को ध्यान में रखकर विषय-वस्तु का चयन किया हैं। उन्होंने अपने पात्रों को वर्तमान व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करते हुए दिखाया हैं। उन पात्रों में जाति, शोषण, अत्याचार के खिलाफ जबर्दश्त विरोध का स्वर प्रस्फुटित हुआ है। हरिया और उसके परिवार के लोग मानसिक पीड़ा को झेलते हुए भी ठाकुर के खिलाफ आवाज़ उठाते हैं। कबूतरी भी विषम परिस्थिति में हार नहीं मानती है और न्याय के लिए लड़ती है। सम्पत और उसके साथ के लड़के नई पीढ़ी के दलित हैं, उनमें दलित चेतना का बीज अंकुरित हो चुका है। अब वे अम्बेडकरीय विचारधारा के साथ आगे बढ़ रहे हैं। कहानी बहुत सामान्य गति से आगे बढ़ती है, कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि लेखक बहुत जल्दी में कुछ कहकर निकल जाने की फेर में है । घटनाएं इसमें कई हैं लेकिन सभी घटनाएं क्रमबद्ध तरीके से सामने आती हैं। पाठक को कहीं भी दुरुहता या नीरसता का आभास नहीं होता है। एक बार कहानी में प्रवेश करने के बाद पाठक अंत तक खींचा चला जाता है। लेखक ने बहुत सूझबूझ के साथ इस कहानी का शीर्षक 'अपना गाँव' रखा है। ठाकुरों के अत्याचार ने दलितों को अपनी जमीन से विस्थापित होने के लिए मजबूर कर दिया है। लेखक का यह मानना है कि जिस समाज में दलितों को जाति के नाम पर प्रताड़ित किया जाएगा या उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार और यौन उत्पीड़न जैसी जघन्य अपराध को अंजाम दिया जाएगा, उस समाज में सवर्णों के साथ दलित नहीं रह सकते हैं। हरिया बहुत विचार करने के बाद एक अलग गाँव बसाने की मांग सबके सामने रखता है। उसे इस बात का बहुत दुःख है कि इस गाँव में बेइज्ज़ती और अपमान के सिवाय कुछ नहीं मिला। ऐसे शोषण आधारित गाँव में अब वह नहीं रहना चाहता है। अंत में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह गाँव रहने लायक नहीं है। इस गाँव को छोड़कर एक नया गाँव बसाना चाहिए। उसके मन में एक ऐसे गाँव की कल्पना है, जहां हर कोई समान होगा, जाति के नाम पर कोई छोटा-बड़ा नहीं होगा, जिसे सबलोग 'अपना गाँव' कह सकेंगे।

सन्दर्भ-सूची

1. गुप्ता, रमणिका, दलित कहानी संचयन, प्रथम संस्करण, 2003, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 31
2. वही, 34
3. वही, 29
4. वही, 30
5. वही, 43
6. वही, 44
7. वही, 33
8. वही, 47
9. वही, 44
10. वही, 39
11. वही, 31
12. वही, 35
13. वही, 35
14. वही, 49
15. वही, 37
16. वही, 41
17. वही, 40
18, वही, 38
19, वही, 36
20, वही, 38
21. वही, 41

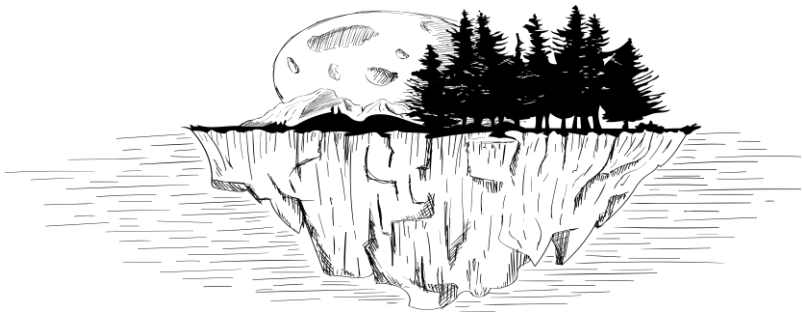

रेणु की कहानियों की जीवंतता को विश्लेषित करते पात्र

चन्दा सागर
एसोसिएट प्रोफेसर
मिरांडा हाउस दिल्ली विश्वविद्यालय
9871442565
Chanda.sagar@mirandahouse.ac.in

शोध सार

फणीश्वरनाथ रेणु हिंदी कथा साहित्य के विशिष्ट कथाकार हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में ग्रामीण समाज के यथार्थ को चित्रित किया है। रेणु एक ऐसे कथाकार हैं जिनकी आत्मा गाँवों में बसती है यही कारण है कि गाँव के हर एक पक्ष को चाहे वह गरीब हो, किसान हो, मजदूर हो या फिर कोई राजनीतिक भूमिका निभाने वाला पात्र ही क्यों ना हो, उसके हावभाव, उसके अंदर की भावनाएँ, जिस परिपूर्णता से रेणु की कहानियों में प्रस्तुत हुई हैं, वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं। रेणु ने ग्रामीण समाज के कोने-कोने में झाँककर वहाँ की यथार्थ दशा और दिशा को अपनी लेखनी के माध्यम से प्रकट किया है। प्रेमचंद के बाद हिंदी कथा साहित्य में रेणु उन कथाकारों में से एक हैं जिन्होंने भारतीय ग्रामीण जीवन का, उसके संपूर्ण आंतरिक यथार्थ के साथ चित्रण किया। उनका कथा-साहित्य मानवीयता, रागात्मकता और रसमयता से परिपूर्ण है, ग्रामीण समाज में जीवित आत्मीयता, स्त्री जीवन, रिश्तो में एकता का भाव, आपसी-द्वेष, लोक-परंपरा का महत्व, लोक-संस्कृति और लोक-गीतों का वर्णन, अंचल विशेष का वर्णन आदि सभी रेणु की कहानियों में देखने को मिलता है। यह कहना गलत ना होगा कि फणीश्वरनाथ रेणु ग्रामीण समाज के टूटते-बिखरते और जीवित मानवीय संबंधों के कथाकार हैं।

बीज शब्द

आँचलिक, शोषित, यथार्थ, संवेदनशीलता, मानवीयता, जीवंतता, प्रगतिशील, परिवेश, सांस्कृतिक, गाँव

शोध आलेख

श्री फणीश्वरनाथ रेणु हिंदी के प्रसिद्ध कथाकारों में से एक हैं, हिंदी साहित्य में उनका योगदान अविस्मरणीय रहा है। उन्होंने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया और पढ़ाई बीच में ही छोड़कर राजनीति में रुचि लेने लगे। रेणु जी साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे, वे राजनीति में प्रगतिशील विचारधारा

के समर्थक भी थे, फिर वे साहित्य सृजन की ओर उन्मुख हुए। यदि उनके साहित्य जीवन की बात की जाए तो हम देखेंगे कि वह हिंदी के प्रथम आँचलिक कथाकार है। उन्होंने हिंदी साहित्य में आँचलिक कथा की नींव रखी। उन्होंने अंचल विशेष को अपनी रचनाओं का आधार बनाकर वहाँ के जीवन और वातावरण का सजीव अंकन किया है। इनकी रचनाओं में आर्थिक अभाव, मजदूर, गरीब, शोषित, दीन-हीन तथा विवशताओं से जूझता समाज यथार्थ के धरातल पर उभरकर सामने आता है। अपनी गहरी संवेदना के कारण वे अभावग्रस्त जनता की बेबसी और पीड़ा भोगते से लगते हैं। इनकी रचनाओं में संवेदनशीलता, गहराई, मानवीयता, करुणा और प्रेम देखने को मिलता है।

रेणु का कथा जगत भाँति-भाँति के पात्रों से आबाद और भरा-पूरा है। रेणु की कहानियाँ व्यष्टि की नहीं अपितु समष्टि की हैं। मधुरेश लिखते हैं कि- "रेणु की कहानियों का संसार मुख्यत: ऐसे लोगों से निर्मित है जो भारतीय ग्रामीण जीवन के प्रति किसी हद तक रोमानी मोह से ग्रस्त है और जिन्हें गाँवों का सांस्कृतिक और लोक तात्विक वैभव बहुत गहराई से छूता और बांधता है।"[1] रेणु के पात्रों में गाँव के छोटे किसान, हलवाई, कहार, लोहार, गाड़ीवान, महतो टोली जैसे छोटी जाति के लोग भी हैं और गाँव तथा शहर के संपन्न और सुखी ऑफिसर, जमीदार, महाजन और बाबू लोगों के परिवार भी हैं।

रेणु ने स्वयं यह दर्ज किया है कि उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि काल्पनिक ना होकर यथार्थ पर आधारित है। अपनी कहानियों की भूमिका में वे लिखते हैं- "मैंने भारतीय गाँवों में व्याप्त घिनौने विषाक्त वातावरण का यथार्थपरक चित्रण किया है।"[2] अर्थात जैसा कि हम देख सकते हैं कि 'पंचलाइट' कहानी जो कि ग्रामीण व्यवस्था और परिवेश की झलक देती है, उस कहानी के माध्यम से ग्रामीणों के आचार-विचार, अंधविश्वास, जाति के आधार पर बटे हुए एवं टोलों में विभक्त उस समय के समाज का सजीव चित्रण मिलता है। उदाहरणस्वरूप एक नौजवान ने आकर सूचना दी "राजपूत टोली के लोग हँसते-हँसते पागल हो रहे हैं, कहते हैं कान पकड़कर पंचलैट

[1] मधुरेश, प्रथम संस्करण 1996, हिन्दी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 89
[2] रेणु की लोकप्रिय कहानियाँ, भूमिका

के सामने पाँच बार उठो बैठो तुरंत जलने लगेगा।"[1] कहीं ना कहीं पात्रों के माध्यम से ग्रामीणों की अज्ञानता, अशिक्षा और रूढ़िवादिता पर व्यंग करती हुई कहानी आगे बढ़ती है एवं यह संदेश भी देती है कि आवश्यकता की आगे बड़े से बड़े संस्कारों और निषेधों का कोई मेल नहीं। गोधन द्वारा पेट्रोमैक्स जला देने पर उसके सात गलतियाँ माफ कर दी जाती है एवं उस पर लगे सारे प्रतिबंध भी हटा दिए जाते हैं। यदि कहानी के मुख्य किरदार की बात की जाए तो वह गोधन है वह ना सिर्फ मनचला एवं लापरवाह है अपितु चतुर और काबिल भी है, वह स्वाभाविक भी है एवं निर्भीक व्यक्तित्व का स्वामी है।

इसके अतिरिक्त यदि हम 'तीसरी कसम'[2] कहानी पर गौर करें तो उसका भी सबसे सशक्त पात्र हीरामन है जो कि गाँव के परिवेश में है- एक सीधा-साधा और भोला आदमी था। एक बार वह विदेशी सामान के तस्करी में फंसा तो उसने पहली कसम खाई कि कभी चोर बाजारी नहीं करेगा, फिर दूसरी कसम खाई कि कभी बांस की लकड़ी बैलगाड़ी में नहीं ले जाएगा, तथा इसके बाद में तीसरी कसम खाई कि कभी किसी महिला को बैलगाड़ी में नहीं बैठाएगा। हीरामन बुद्धिमान है, होशियार है, गायक भी है। वास्तव में हीरामन एक ऐसा पात्र है जो सचमुच में मन का हीरा है, वह एक सरल और सहज इंसान है।

यह दोनों ही कहानियाँ कहीं ना कहीं पाठकों को यह दिखाने और बताने का प्रयास करती हैं कि उस समय के गाँव के परिवेश, पात्र, आचार-विचार एवं व्यवहार कैसे रहे, एवं आज के समय में भी क्या वह इतना ही सार्थक है? अथवा बदलाव आए हैं? इस वर्ष (सन् 2021 को) रेणु के जन्मदिवस को शताब्दी दिवस के रूप में मनाया जा रहा है। शताब्दी के बहाने से इस अवसर पर ऐसे सदाबहार एवं महान साहित्यकार को याद करना हमारी नैतिकता बनती है। उनकी कहानियों की महत्त्वता आज के समय में भी उतनी ही है या यूं कहें कि उनकी प्रासंगिकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है तो गलत ना होगा। रेणु बीसवीं शताब्दी के सशक्त कथाकारों में से एक हैं। जिनके कहानी,

[1] फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1984, प्रतिनिधि कहानियाँ, 'पंचलाइट' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[2] संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

उपन्यास, निबंध एवं रिपोर्तज साहित्य में एक नये तेवर और अंदाज को लेकर प्रवेश कर रहे हैं और संपूर्ण साहित्य जगत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

रेणु के पात्रों में कलाकारों या कला संस्कृति से किसी ना किसी रूप में संबंधित व्यक्तियों की संख्या भी काफी है। इसमें गीताली, भीताली, संगीतज्ञ बहने, सरोद वादक अकरम, गिटारिस्ट राधेश्याम, कलाकार मनहरराय जैसे अभिजात और प्रतिष्ठित कलाकार भी हैं तथा पंचकौड़ी मिरदंगिया, सिरचन जैसे गाँव की हस्तशिल्प जाति के लोक कलाकार भी हैं। राजेन्द्र यादव ने ठीक ही लिखा है- "परिवेश-वातावरण जीवित पात्र की तरह सामने खड़ा होकर अपना हक अकेले रेणु में ही माँगता है.."[1] जैसा कि यदि हम 'ठेस' कहानी पर गौर करें तो पाएंगे कि वह एक चरित्र प्रधान कहानी है इसके केंद्र में एक ही पात्र है सिरचन। इस कहानी में सिरचन का पात्र अत्यंत सशक्त एवं स्वाभिमानी है, वह कलाकार है एवं उसी के जरिए अपना और अपने परिवार का पेट पालता है। वह उचित वेतन माँगता है तो बाबू साहब से जवाब मिलता है कि तुम जैसे तो 40-50 रुपए में बिकते हैं। तब उसका स्वाभिमान बोलता है तो खरीद लो ना बाबू साहेब... अगर देखा जाए तो भारतीय समाज में व्यक्ति की पहचान उसके काम से नहीं, उसकी जाति से होती है। सिरचन जिस काम को कुशलतापूर्वक कर सकता है उस काम को कथित जाति के लोग भी नहीं कर सकते और इसी वजह से उसकी खुशामद करके लोग उसे बुलाते हैं लेकिन इसके बावजूद सिरचन के प्रति उनकी वास्तविक भावना किसी न किसी रूप में सामने आ ही जाती है। इस प्रकार फणीश्वरनाथ रेणु ने इस कहानी के माध्यम से गाँव के कारीगर के आत्मसम्मान एवं इज्जत का बहुत ही प्रभावशाली चित्रण किया है। रेणु यह बताना चाहते हैं कि गरीब से गरीब आदमी को भी अपमानित किए जाने पर ठेस लगती है लेकिन वही व्यक्ति मानवीय रिश्ते के लिए अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार हो जाता है। ऐसा उस समय भी देखने को मिलता था और आज भी अक्सर देखने में आता है।

[1] संपा. भारत यायावर, संस्करण 2004, फणीश्वरनाथ रेणु की श्रेष्ठ कहानियाँ, भूमिका, राजेन्द्र यादव, नैशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली

इन पात्रों के अतिरिक्त रेणु की कहानियों में एक सुंदर, सुकुमार, सुशीला, ममतामयी और त्यागमयी नारी के दर्शन बार-बार होते हैं। 'तीर्थोदक'[1] कहानी में यह काशी के पंडे की बिना माँ की बेटी में अन्नपूर्णा का रूप धरकर आती है जो सभी यात्रियों और जजमानों को जले कटे की दवा और हाजमा गोली के साथ-साथ अपनी मीठी बोली और प्यार भी बाँटती है। ठेस कहानी में यह भानु बनकर उपस्थित होती है जिसके लिए स्वाभिमानी शिल्पी सिरचन सारा मान-अपमान भूलकर रातों-रात शीतलपाटी, चिक और कुश की एक जोड़ी असली बनाकर तैयार करता है। यही ममतामयी नारी 'विघटन के क्षण'[2] कहानी के विजया दी के रूप में अवतरित होकर, सर्वव्यापी आंधी में आस्था की दीपशिखा के रूप में अविचलित जलती रहती है। 'संवदिया'[3] की बड़ी बहू के रूप में यह ममतामयी, त्यागमयी नारी फिर प्रकट होती है, जिसका संवाद ना पहुंचाकर हरगोबिन अपना धर्म केवल यह सोचकर बिगाड़ता है कि यदि गाँव की लक्ष्मी गाँव छोड़ कर चली जाएगी तो बाकी क्या रह जाएगा? प्रस्तुत कहानी संवदिया में मानवीय संवेदना एवं करुणा की गहन अभिव्यक्ति हुई है। रेणु ने बेसहारा, सहनशील बड़ी बहूरिया की स्थिति, उसकी कोमल भावनाओं, मानसिक यातना तथा पीड़ा का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है। कहानी में बड़ी बहुरिया का चरित्र केंद्र में रहता है, ऐसी हजारों औरतों का जीवन आज भी देखने को मिल जाएगा जो रईसों की तरह से अपना जीवन ठाठ-बाठ से जीती है एवं समय का पलटा खाते ही बथुआ साग खाकर और यहाँ तक कि भाई-भाभी के बच्चों की जूठन तक खाने को मजबूर हो जाती हैं... यह पात्र हमें बहुत कुछ सिखाते हैं। इस तरह के चरित्र अब हमें देखने को नहीं मिलते, हमें आवश्यकता है हरगोबिन जैसा संवेदनशील, विनम्र और उदार होने की और बड़ी बहूरिया जैसे सहनशील, सकारात्मक और आशावान होने की। दूसरी और रेणु ने कुछ ऐसे नारी पात्रों की भी सृष्टि की है जिनके गुण और स्वभाव इन ममतामयी, त्यागमयी नारियों के बिल्कुल

[1] फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1959, ठुमरी, 'तीर्थोदक' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[2] फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1982, आदिम रात्रि की महक, 'विघटन के क्षण' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[3]संपा. भारत यायावर, प्रथम संस्करण 1984, फणीश्वरनाथ रेणु, एक श्रावणी दोपहरी की धूप, 'संवदिया' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

प्रतिकूल है। 'अच्छे आदमी'[1] कहानी की प्रदीप कुमार की माँ यदि निसंकोच ठेकेदार, ड्राइवर, दरोगा, लाला, मिस्त्री सभी के साथ संबंध स्थापित कर लेती है तो 'नैना जोगिन' की रतनी की एक-एक गाली नंगी, अश्लील तस्वीर बनाती है।

अगर हम गौर करें तो पाएंगे कि यह रेणु की बेहद चर्चित कहानियों में से एक रही है इसका कारण भी इस कहानी के दो स्त्री पात्र हैं एक माँ और एक बेटी। कहानी की शुरुआत संवादों से लेकर समाप्ति तक रतनी जिसे बचपन में ही लेखक ने नाम दे दिया 'नैना जोगिन' और उसकी माँ की छवि ऐसे गढ़ती है कि पाठक की नजर में रतनी और उसकी माँ दलित स्त्रियों का पर्याय बन जाती हैं। इस कहानी का एक अंश देखें... "मुझे अचानक रमेसर की माँ की गंदी, हल्दी, प्याज, लहसुन, पसीने-मैल की सम्मिलित गंध भरी साड़ी की महक लगी। लगा, अब रतनी मुझे बेपर्दा करेगी, नंगा करेगी। खुद को उसने पिछले एक घंटे में 60 बार नंगा किया है।"[2] फूहड़ से फूहड़ अश्लील गालियाँ वह जब मन चाहे दे सकती है, कोख ना भरने का गुस्सा माधव पर उतारती है और उसकी एवज में शहर तक चली जाती है। वह स्वयं में ही मर्दाना व दबंग वर्चस्व रखती है। जबरन अपनी माँग भी करवाती है। वह पूरे गाँव में बेशर्म, बेहया, चरित्रहीन नाम से बदनाम है। सच तो यह है कि आज भी हमें इस प्रकार के पात्र देखने को मिल जाते हैं अतः जितनी सार्थकता इनकी तब थी, उतनी आज भी है। लेखक ने इन्हें भी अपनी सहानुभूति और संवेदना दी है। वास्तव में रेणु ने एक अथाह संवेदना और लगाव से पात्रों के गुणों के साथ-साथ उनके अवगुणों को भी ज्यों का त्यों चित्रित किया है। आदमी तो आदमी उन्होंने 'एकला चलो रे'[3] में किशन महाराज नाम के पंडे को भी उज्जवल रंगों में अंकित किया है। हाँ, समाज का एक वर्ग अवश्य ऐसा है जिसके लिए रेणु की मन में कोई सहानुभूति या ममता नहीं है। यह

[1] संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'अच्छे आदमी' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

[2] फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1982, आदिम रात्रि की महक, 'नैना-जोगिन' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[3] संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'एकला चलो रे' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

वर्ग महाजन वर्ग है। इनकी कहानियों में जहाँ कहीं महाजन, बनिया, सेठ, सौदागर पात्र बनकर आते हैं वे स्वार्थी, कंजूस, अन्यायी और दुष्ट व्यक्ति के रूप में चित्रित हुए हैं।

'लाल पान की बेगम' की मखनी बुआ के मन में कंजूस सहुआइन के बारे में यह धारणा है- "और एक वह है सहुआइन! राम कहो! उस रात को अफीम की गोली की तरह एक मटर भर तंबाकू रख कर चली गुलाब बाग मेले और कह गई कि डिब्बी भर तंबाकू है।"[1]

ठेस में स्वाभिमानी ग्राम शिल्पी सिरचन महाजन टोले के भज्जू महाराज की बेटी के बबनियपन को लक्ष्य करके तिलमिलाने वाली बात कहता है- "बड़ी बात ही है, बिटिया। बड़े लोगों की बस बात ही तो बड़ी होती है। नहीं तो दो-दो पटेर की पाटियों का काम सिर्फ खेसारी का सत्तू खिलाकर कोई करवाए भला यह तुम्हारी माँ ही करा सकती है, बबुनी।"[2]

तीर्थोदक में साह और सहुआइन के मध्य रुपए पैसे को लेकर चलने वाली ठंडी लड़ाई से रेलगाड़ी में बैठे अन्य तीर्थ यात्रियों का ही नहीं, अपितु कहानी पढ़ने वाले पाठकों का मन भी खराब हो जाता है।

'प्रजासत्ता'[3] कहानी में रामविलास नामक मुंगेर के एक बड़े साहूकार का बेटा जिसके पास बीड़ी कंपनी और गल्ले की आढ़त है- पैसे के बल पर ही अपनी साली विमला के साथ बलात्कार करता है और उसकी सास उल्टा अपनी बेटी विमला को ही डाँटती है।

यह रेणु की कहानी कला की विशेषता कही जा सकती है कि उनकी स्त्री पात्र चाहे किसी भी वर्ग अथवा जाति से आती हो वह कमजोर नहीं होती बल्कि कई बार बेहद मुखर होती है।

---

[1] संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'लाल पान की बेगम' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 114

[2] फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1959, ठुमरी, 'ठेस' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 49

[3] फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1982, आदिम रात्रि की महक, 'प्रजासत्ता' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

रेणु के संग्रह की कहानियों में एक कहानी है 'भित्ति चित्र की मयूरी'[1] इस कहानी में दो स्त्री पात्र हैं एक माँ और एक उसकी बेटी फूलपति। रेणु ने इन्हें बिहार के मधुबनी पेंटिंग बनाने वाली किसी स्त्री से प्रभावित होकर लिखा है। वह दर्शाते हैं कि गाँव की घोर गरीबी में अपना जीवन व्यतीत करती यह दोनों माँ बेटी स्वाभिमान के साथ अपना जीवनयापन कर रही है। माँ की मधुबनी पेंटिंग शैली से उसे सरकारी इनाम, नाम और शोहरत भी मिली है। इसके बारे में मामी (एक पात्र) कहती है फूलपति की माँ तो गौ है गौ। वही फूलपति के बारे में उसकी राय बिल्कुल अलग है वह कहती है कि- भारी जिद्दी है बचपन से ही। इस पूरी कहानी फूलपति एक निर्भीक, मुँहफट, जिद्दी और हाजिरजवाब लड़की है जो घोर गरीबी झेलकर भी अपनी प्रतिष्ठा और मान का आवरण ओढ़े हुए है। यहाँ रचनाकार ने इन माँ बेटी की जाति और वर्ण का भी जिक्र नहीं किया है अवश्य ही वह सवर्ण जाति की रहीं होंगी, यह बिहार में सर्वविदित है कि मधुबनी चित्र शैली के कलाकारों में भी जातिगत भेदभाव होता है और वहाँ भी उनके दो वर्ग हैं उच्च और निम्न।

'अग्निखोर' कहानी में लेखक सूतपुत्र की माँ आभा रानी के विषय में कहता है- "जी! बदबू उतना सुनता सलोना मुखड़ा! सुरीली आवाज और मधुर कीर्तन और वैसे मुंह में सड़ी हुई गंध? ओह! आज भी याद करके वोमिट हो जाता है।"[2] दलित-पिछड़ों के प्रति लेखक के इसी तरह के भाव उनकी रचनाओं में व्यक्त हुए हैं यह सायास हों या अनायास, किंतु हैं।

निष्कर्ष

अतः रेणु के साहित्य को पढ़कर हम कह सकते हैं कि किसी भी समय और स्थितियों में रचा गया साहित्य ना केवल अपने सामाजिक परिवेश को दर्शाता है, बल्कि अपने आसपास घटित होने वाली घटनाओं का ऐतिहासिक दस्तावेज भी होता है। इसलिए किसी भी रचनाकार की रचनाओं का मूल्यांकन उसकी सामाजिक और

[1] फणीश्वरनाथ रेणु, संस्करण 2016, सम्पूर्ण कहानियाँ, 'भित्ति चित्र की मयूरी' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[2] संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'अग्निखोर' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 372

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर होना चाहिए। यहाँ यह भी जरूरी है कि रचनाकार अपने समय के यथार्थ से आंखे चुराए बिना अपने साहित्यिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करें। हिन्दी साहित्य में ऐसे कुछ ही नाम है जिन्होंने अपनी रचनाओं में अपने समय के यथार्थ को यथावत दर्ज करने का पूर्ण प्रयास किया है। इनमें फणीश्वरनाथ रेणु भी शामिल हैं, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय गाँवों के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन में होने वाले संरचनात्मक बदलावों को महसूस कर उनका यथार्थपरक चित्रण कर पाने में सफल रहे हैं। रेणु की कहानियों में उन्होंने आँचलिक जीवन के हर धुन, हर गंध, हर लय, हर ताल, हर सुर, हर सुंदरता, हर कुरूपता को शब्दों में बांधने की सफल कोशिश की है। उनकी भाषा शैली में जादूई-सा असर है जो पाठकों को अपने साथ बांधकर रखता है। रेणु एक अद्भुत किस्सागो थे और उनकी रचनाएँ पढ़ते हुए लगता है मानो कोई कहानी सुना रहा हो। इसके अलावा ग्राम्य जीवन के लोकगीतों का भी उन्होंने अपने कथा साहित्य में बड़ा ही सृजनात्मक प्रयोग किया है।

संदर्भ सूची

1. मधुरेश, प्रथम संस्करण 1996, हिन्दी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 89
2. रेणु की लोकप्रिय कहानियाँ, भूमिका
3. फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1984, प्रतिनिधि कहानियाँ, 'पंचलाइट' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
4. संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
5. संपा. भारत यायावर, संस्करण 2004, फणीश्वरनाथ रेणु की श्रेष्ठ कहानियाँ, भूमिका, राजेन्द्र यादव, नैशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली
6. फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1959, ठुमरी, 'तीर्थोदक' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
7. फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1982, आदिम रात्रि की महक, 'विघटन के क्षण' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

8. संपा. भारत यायावर, प्रथम संस्करण 1984, फणीश्वरनाथ रेणु, एक श्रावणी दोपहरी की धूप, 'संवदिया' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
9. संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'अच्छे आदमी' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
10. फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1982, आदिम रात्रि की महक, 'नैना-जोगिन' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
11. संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'एकला चलो रे' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
12. संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'लाल पान की बेगम' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 114
13. फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1959, ठुमरी, 'ठेस' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 49
14. फणीश्वरनाथ रेणु, प्रथम संस्करण 1982, आदिम रात्रि की महक, 'प्रजासत्ता' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
15. फणीश्वरनाथ रेणु, संस्करण 2016, सम्पूर्ण कहानियाँ, 'भित्ति चित्र की मयूरी' कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
16. संपा. भारत यायावर, द्वितीय संस्करण 1959, फणीश्वरनाथ रेणु: चुनी हुई रचनाएँ-1, 'अग्निखोर' कहानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 372

समग्र मानवीय दृष्टि का वाहक एक विशिष्ट कथा-शिल्पी: निर्मल वर्मा की नज़र से 'रेणु'

डॉ. संगीता कुमारी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
जगजीवन महाविद्यालय,
(मगध विश्वविद्यालय),
गया, बिहार

शोध सार

हिंदी साहित्य के क्षेत्र में कथा सृजन के लिए नयी संभावनाओं और नयी दिशा दिखाने वाले रचनाकारों में फणीश्वरनाथ 'रेणु' का स्थान अग्रणी है। प्रेमचंद के बाद अधिकांश रचनाकार जहाँ मध्यवर्गीय शहरी जीवन में मुख्य रूप से व्यक्ति विशेष के चित्रण के रूप में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और मनोविश्लेषणवाद से विशेषीकृत यथार्थवाद को प्रकट करने में अपनी रचनात्मकता को तुष्ट कर रहे थे। ऐसे समय में साहित्य जगत में रेणु का आगमन ग्रामीण जीवन के यथार्थ के सहज और सरल चित्रण के साथ हुआ। निर्मल वर्मा ने रेणु की रचनाओं और उनके व्यक्तित्व को केंद्र में रखकर दो लेख लिखे हैं। पहला लेख 1958 में परती परिकथा के प्रकाशित होने के बाद लिखा गया था। परती परिकथा के प्रकाशित होने के बाद जहाँ अधिकांश आलोचकों ने उसकी आलोचना की थी वहीं निर्मल वर्मा उन गिने-चुने आलोचकों में थे जिसने परती परिकथा को मैला आँचल के विकास के रूप में देखा था और उसे एक 'कथाशिल्प का विशिष्ट प्रयोग' तक माना था। दूसरा लेख उन्होंने रेणु के मरणोंपरांत एक संस्मरणात्मक लेख 1977 में लिखा था। इस लेख में उन्होंने रेणु के संपूर्ण व्यक्तित्व, उनकी कलात्मकता, रचनाधर्मिता, उनके साथ अपने आत्मीय संबन्धों इत्यादि की बात की है। यह लेख किसी रचना विशेष को केंद्र में रखकर नहीं लिखा गया है।

बीज शब्द: *साहित्य, आंचलिकता, रेणु, यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणवाद*

शोध आलेख

हिंदी साहित्य के क्षेत्र में कथा सृजन के लिए नयी संभावनाओं और नयी दिशा दिखाने वाले रचनाकारों में फणीश्वरनाथ 'रेणु' का स्थान अग्रणी है। प्रेमचंद के बाद अधिकांश रचनाकार जहाँ मध्यवर्गीय शहरी जीवन में मुख्य रूप से व्यक्ति विशेष के चित्रण के रूप में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और मनोविश्लेषणवाद से विशेषीकृत यथार्थवाद को

प्रकट करने में अपनी रचनात्मकता को तुष्ट कर रहे थे। ऐसे समय में साहित्य जगत में रेणु का आगमन ग्रामीण जीवन के यथार्थ के सहज और सरल चित्रण के साथ हुआ। रेणु की रचनाओं का सौंदर्य लोक-गीत, संगीत, लोक-नृत्य, लोक-भाषा से लैस जीवन में रस भरने को आतुर थी । फणीश्वरनाथ रेणु ने कथा-साहित्य की लगभग सभी विधाओं जैसे उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि पर लिखा। उनके द्वारा लिखा गया पहला उपन्यास *मैला आँचल* अपने प्रकाशन के साथ ही चर्चा के केंद्र में आ गया। *मैला आाँचल* इतना चर्चित हो गया कि आलोचना जगत ने रेणु की अन्य रचनाओं के प्रति निष्पक्षता छोड़ दी और उसी चश्मे से रेणु की अन्य रचनाओं को देखा जिस चश्मे से *मैला आँचल* को देखा था। हालांकि बाद की रचनाओं में उन्होंने ऐसा कोई संकेत नहीं छोड़ा परन्तु उनकी रचनाओं का मूल्यांकन आंचलिकता के आलोक में ही की गई।*मैला आँचल* ने हिंदी उपन्यास जगत में आलोचकीय मानदंडों के समक्ष नई चुनौतियां भी प्रस्तुत की। हिंदी साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में यह दुर्भाग्य है कि अधिकांश आलोचकों ने *मैला आँचल* को आंचलिक उपन्यास के चौखटे तक सिमटा कर छोड़ दिया। प्रगतिशील आलोचना के अग्रणी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने *मैला आँचल* को बहुत श्रेष्ठ उपन्यास की श्रेणी में नहीं रखा परंतु इस उपन्यास में व्यक्त वर्ग-संघर्ष की बेहतरीन प्रस्तुति को नकार नहीं पाए। एक तरफ जहां रेणु की रचनाओं पर अधिकांश आलोचकों ने सिर्फ *मैला आँचल* को आधार बनाकर उसका विश्लेषण किया वहीं निर्मल वर्मा जैसे सृजनात्मक आलोचक, जो आलोचक कम है और रचनाकार ज्यादा, उन्होंने फणीश्वरनाथ रेणु की रचनाओं को समग्रता में देखा।

निर्मल वर्मा ने रेणु की रचनाओं और उनके व्यक्तित्व को केंद्र में रखकर दो लेख लिखे हैं। पहला लेख 1958 में *परती परिकथा* के प्रकाशित होने के बाद लिखा गया था। *परती परिकथा* के प्रकाशित होने के बाद जहाँ अधिकांश आलोचकों ने उसकी आलोचना की थी वहीं निर्मल वर्मा उन गिने-चुने आलोचकों में थे जिसने *परती परिकथा* को *मैला आँचल* के विकास के रूप में देखा था और उसे एक 'कथाशिल्प का विशिष्ट प्रयोग' तक माना था। दूसरा लेख उन्होंने रेणु के मरणोंपरांत एक

संस्मरणात्मक लेख 1977 में लिखा था। इस लेख में उन्होंने रेणु के संपूर्ण व्यक्तित्व, उनकी कलात्मकता, रचनाधर्मिता, उनके साथ अपने आत्मीय संबन्धों इत्यादि की बात की है। यह लेख किसी रचना विशेष को केंद्र में रखकर नहीं लिखा गया है।

निर्मल वर्मा *परती परिकथा* के प्रकाशन के बाद उस पर व्यक्त विरोधी धारणाओं की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि विचार की आड़ लेकर कई बार वैयक्तिक स्तर पर अप्रासंगिक वाद-विवाद भी इसके परिणामस्वरूप खड़े हो चुके हैं। निर्मल वर्मा के अनुसार ऐसी स्थिति में किसी कृति पर सहज रूप से कुछ भी कह पाना कठिन हो जाता है क्योंकि जो हमारी मौलिक प्रतिक्रियाएँ हैं उस पर बहस की धूल जमा हो जाती है। हम आलोचना के मानदंडों से इतने अधिक संत्रस्त हो जाते हैं कि हमें खुद अपनी अनुभूतिओं पर अविश्वास होने लगता है। आलोचकों द्वारा *परती परिकथा* का मूल्यांकन करते हुए जो भी बातें कही गयी हैं निर्मल वर्मा के अनुसार वह गुण-दोषों का विश्लेषण कम है अपितु मानदंडो के 'अमूर्त चौखटों' (एब्सट्रेक्ट कैटेगरीज) में फिट करने का प्रयास अधिक। निर्मल के अनुसार अगर कोई रचना पद्धति से भिन्न है तो उसे देखने की दृष्टि भी लीक से हटकर होनी चाहिए। उनके अनुसार *परती परिकथा* हिंदी उपन्यासों की परंपरागत पद्धति से भिन्न है हालांकि वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि *मैला आँचल* के बाद रेणु के कथा शिल्प में कोई परिवर्तन नहीं आया है। अर्थात् उनके विचार में *परती परिकथा*, *मैला आँचल* की ही अगली कड़ी है।

आलोचकों द्वारा *परती परिकथा* पर लगाये गए आरोप कि यह केवल कच्चा माल है, कोई जीवन-दर्शन नहीं, कोई श्रृंखलाबद्ध योजना नहीं, किसी केंद्रीय सूत्र का सर्वथा अभाव इत्यादि का उत्तर देते हुए पुनः एक प्रश्न करते हैं कि क्या यह सब तत्व *मैला आँचल* में विद्यमान है? अगर नहीं, तो क्या हमें यह मान लेना चाहिए की *मैला आँचल* उपन्यास के स्वीकृत मानदंडों पर खड़ा नहीं उतरता।

इससे खिन्न होकर निर्मल वर्मा कहते हैं कि लगता है जैसे अब तक *मैला आँचल* की भावुकतापूर्ण प्रशंसा की गयी है। उनके विचार में *मैला आँचल* के द्वारा रेणु ने हिंदी उपन्यास के रचनाविधान और कथाशिल्प के क्षेत्र में जो परिवर्तन लाया है अगर उसे

स्वीकार कर अगर हमने अपने मानदंडों को परिवर्तित या परिमार्जित किया होता तो रेणु के 'कथाशिल्प' पर जो बहस *मैला आँचल* के बाद ख़त्म हो जानी चाहिए थी उसे दुबारा *परती परिकथा* पर आरम्भ करने की जरुरत न होती।

निर्मल वर्मा के अनुसार पहले उपन्यास की कथा वस्तु, पात्रों की मानसिक उथल-पुथल, समस्याएं, संवेदनाएं दूसरे उपन्यास में बदल सकती हैं परन्तु इनके प्रति एक लेखक का कलात्मक आग्रह और शिल्पगत दृष्टिकोण नहीं बदल सकता जब तक की लेखक स्वयं इसे बदलने की जरुरत न समझे। निर्मल वर्मा, *परती परिकथा* को *मैला आँचल* की पुनरावृति कहने की तुलना वर्जीनिया वुल्फ के दो उपन्यासों 'टू द लाइट हाउस' और 'मिसेस डे लोवे' से करते हैं और कहते हैं कि दूसरे को पहले की पुनरावृति हम सिर्फ इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि दोनों में एक ही प्रकार का कथाशिल्प दिखाई देता है।

निर्मल वर्मा रेणु की उस औपन्यासिक दृष्टि के कायल हैं जिसके द्वारा वे छोटी-छोटी घटनाओं को नाटकीयता प्रदान करते हैं। उनके विचार में इन घटनाओं के माध्यम से रेणु ने ठोस जीवन कथा-पात्रों (फिक्शनल कैरेक्टर) की सृष्टि की और यह उनकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। निर्मल वर्मा के अनुसार रोजमर्रा की घटनाओं के कुछ महीन सूत्रों द्वारा गंभीर सत्यों को उद्घाटित करना, उसके द्वारा पात्रों की आकांक्षाओं और असंगतियों की अभिव्यक्ति करना कठिन काम है। इसमें हमेशा यह खतरा बना रहता है कि कहीं लेखक "अपनी निरपेक्ष दृष्टि से च्युत होकर इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण न अपना ले।"[1] वे इन खतरों की बात यूँ ही नहीं करते, वे इसके पीछे पिछले दिनों हिंदी साहित्य में आये परिवर्तन को रेखांकित करते हैं। वे इसे और स्पष्ट करते हुए हिंदी उपन्यास में व्यक्त मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद (*नदी के द्वीप*) और सामाजिक विषमताओं (*बूँद और समुद्र* एवं *जयवर्धन*) के चित्रण पर लिखे लम्बे लेखों से थोड़े खिन्न प्रतीत होते हैं। उनके विचार में यह हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य है कि यहाँ लेखक अपने को 'सोसियोलॉजिस्ट' पहले समझता है और कलाकार बाद में। इसे वह एक 'काम्प्लेक्स'

[1] निर्मल वर्मा (1995), "कथाशिल्प का विशिष्ट प्रयोग" डॉ. देवी शंकर अवस्थी (सं.), *विवेक के रंग*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 192।

का दर्जा देते हैं और साथ ही घोषित करते हैं कि इससे न्यूनाधिक मात्रा में हर लेखक पीड़ित दिखाई देता है। आगे निर्मल वर्मा लिखते हैं- "यथार्थ के प्रति यह विकृत, विक्टोरियन दृष्टिकोण अधिकांश उपन्यासकारों के कलात्मक व्यक्तित्व को कुंठित-सा कर देता है। बाहरी नियंत्रण (एक्सटरनल रेज़ीमेंटेशन) का विरोध किया जा सकता है, क्योंकि हम उसके प्रति सजग हैं, किन्तु यथार्थ के प्रति यह 'सैद्धांतिक' दृष्टिकोण एक अंदरुनी-विकार (इनर रेज़ीमेंटेशन) उत्पन्न करता है, जो स्थूल रूप से दिखाई नहीं देता, इसलिए और भी अधिक घातक हैं।"[1]

उपरोक्त सन्दर्भ में निर्मल वर्मा का कहना है कि रेणु से एक कलाकार के रूप में जीवन-दर्शन की मांग करना अनुचित और असंगत है। वे आलोचना पद्धति पर पुनः सवाल खड़े करते हैं कि वह हर कलाकार से एक जीवन-दर्शन की मांग करता है और वे इसे आलोचना पद्धति की 'ट्रैजेडी' की संज्ञा देते हैं। निर्मल वर्मा की नजर में किसी उपन्यास की सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि वह हमारे अंतर्दृष्टि की सम्भांवनाओं को अधिक व्यापक और संवेदनशील बनाने में समर्थ है या नहीं। यदि हम इस व्यापक दृष्टि में किसी जीवन-दर्शन को खोज सकें तो यह अलग बात होगी।

निर्मल वर्मा का मानना है कि *परती परिकथा* में कथाशिल्प के स्तर पर बिखराव है जो रेणु द्वारा "ग्राम्य जीवन का वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय संबंधों को अभिव्यक्त करने के लिए अपनाया है-यही कारण है कि उपन्यास का हर पात्र चाहे थोड़े समय के लिए ही हमारे सम्मुख आये, हमारे मानसपटल पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोर जाता है। 'कार्निवाल' के कोलाहल में हम उनकी आवाज़ों को, लोगों की भीड़ में उनके चेहरों को आसानी से पहचान सकते हैं। हम उनके क्रियाकल्पों को अन्य व्यक्तियों और घटनाओं के सन्दर्भ में आसानी से परख सकते हैं।"[2] इसे और भी स्पष्ट करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं कि इन क्रियाकलापों के पीछे लेखक ने एक आधार निर्मित किया है इसलिए उनके जीवन का वैषम्य, सुख-दुःख और संवेदनाएं आपस में जुडी दिखाई पड़ती है। यहाँ व्यक्ति के चित्रण में 'टाइप' की समग्रता भी

[1] वही, पृ. 192
[2] वही, पृ. 194

मौजूद है और व्यक्तित्व का अलगाव भी। **इसलिए इस उपन्यास में 'बिखराव' की जो बात की गई है वह केवल शिल्पगत प्रयोग है।** इसके साथ वह यह भी जोड़ते हैं कि अगर यह प्रयोग उपन्यास में विश्रृंखलता या अराजकता उत्पन्न न करके मानवीय संबंधों को और भी अधिक गहन और स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है तब ऐसे में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध हो जाती है।

निर्मल वर्मा *परती परिकथा* के शिल्पगत बिखराव की तुलना मातीस के किसी चित्र में निहित रंगों के बिखराव से करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार मातीस के चित्रों को सतही तौर पर देखने से कैनवास पर यत्र-तत्र रंग के धब्बे नजर आते हैं, ऐसा लगता है कि इन धब्बों और टूटी-फूटी रेखाओं के पीछे कोई सोच नहीं है, यह बेडौल और अनगढ़ा सा प्रतीत होता है परन्तु यदि गौर से देखें तो इन धब्बों के पीछे एक एक अद्भुत सिम्फनी की संगीतमय धारा नजर आता है। उनके विचार में "यह सिम्फनी और कुछ नहीं परती की ही धूल धूसरित, स्नेहसिक्त गाथा है, जो जीवन की गतिमयता के संगीत से स्पंदित परानपुर के धूसर, वीरान अंतहीन प्रांतर में दिन-रात बहती है।"[1]

निर्मल वर्मा अपने लेखन के बारे में कहते हैं कि हम लिखते बहुत कम लोगों के लिए हैं, मैं जिन लोगों को ध्यान में रखकर लिखता था उनमें रेणु सबसे प्रमुख थे। वे कहते हैं कि अपनी रचना पर रेणु की प्रतिक्रिया से भयभीत होकर वे कुछ अच्छा लिख पाते थे। वे कहते हैं- "यह ख्याल ही मुझे कुछ छद्म और छिछला, कुछ दिखावटी लिखने से बचा लेता था। कुछ लोग हमेशा हमपर सेंसर का काम करते हैं -सत्ता का सेंसर नहीं, जिसमे भय और धमकी छिपी रहती है- किन्तु एक ऐसा सेंसर जो हमारी आत्मा और 'कांशस', हमारे रचना-कर्म की नैतिकता से जुड़ा होता है।"[2] निर्मल वर्मा 'रेणु' की तुलना उन साधु-संतों से करते हैं जिनके पास बैठने भर से असीम कृतज्ञता का अहसास होता है, हम अपने भीतर धुल जाते हैं, स्वच्छ हो जाते हैं। उनके अनुसार रेणु की मूक उपस्थिति से हिंदी साहित्य में ऐसी ही पवित्रता का अहसास होता था।

---

[1] वही, पृ. 194

[2] निर्मल वर्मा, (2006), "रेणु: समग्र मानवीय दृष्टि", *शताब्दी के ढलते वर्षों में*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 355

निर्मल वर्मा रेणु को हिंदी साहित्य का संत लेखक मानते हैं। वे संत की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- "एक ऐसा व्यक्ति जो दुनिया की किसी चीज को त्याज्य और घृणास्पद नहीं मानता- हर जीवित तत्व में पवित्रता और सौंदर्य और चमत्कार खोज लेता है- इसलिए नहीं कि वह इस धरती पर उगनेवाली कुरूपता, अन्याय, अँधेरे और आँसुओं को नहीं देखता, बल्कि इन सबको समेटनेवाली अबाध प्राणवत्ता को पहचानता है, दलदल को कमल से अलग नहीं करता, दोनों के बीच रहस्यमय और अनिवार्य रिश्ते को पहचानता है।"[1]

सौंदर्य की व्याख्या करते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं कि यह महज मनोहर चीजों का रसास्वादन नहीं, बल्कि "गहरे अर्थ में चीजों के पारस्परिक सार्वभौमिक, दैवी रिश्ते को पहचानना होता है।"[2] निर्मल वर्मा के अनुसार रेणु का संपूर्ण लेखन इस रिश्ते की पहचान है। और इसकी गवाही वे सिर्फ लेखन में ही नहीं अपितु जिंदगी के नैतिक फैसलों, न्याय और अन्याय, सत्ता और स्वतंत्रता की संघर्ष-भूमि में भी देते हैं। साथ ही इस पहचान में सौंदर्य की नैतिकता की भी उतनी ही महत्ता है जितनी नैतिक अंतर्दृष्टि की संवेदना। इन दोनों के भीतर एक सम्बन्ध है। *मैला आँचल* और जयप्रकाश जी की सम्पूर्णक्रांति इन दोनों के बीच के एक सम्बन्ध को दर्शाती है। निर्मल वर्मा के अनुसार ये दोनों अलग-अलग नहीं हैं; एक दूसरे पर आश्रित हैं। ये रेणु की समग्र दृष्टि का परिचायक है। इसे स्पष्ट करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं- "कलात्मक 'विज़न' और क्रांति दोनों की पवित्रता उनके समग्र दृष्टि में निहित है, सम्पूर्णता की मांग करती है: एक ऐसी सम्पूर्णता जो समझौता नहीं करती, भटकती नहीं, सत्ता के टुकड़ों पर या कोरे सिद्धांत की आड़ में अपने को दूषित नहीं करती। वह एक ऐसा मूल्य है जो खुली हवा में साँस लेता है और इसलिए अंतिम रूप से पवित्र और सुन्दर और स्वतन्त्र है।"[3]

निर्मल वर्मा जनवादी और प्रगतिवादी आलोचकों द्वारा 'रेणु' की इस समग्र मानवीय दृष्टि पर संदेह करने को आकस्मिक नहीं मानते। वे प्रगतिवादी, जनवादी आलोचकों

[1] वही, पृ. 356
[2] वही. पृ. 356
[3] वही, पृ. 357

के इन संदेहों को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं- "कैसा है यह अजीब लेखक, जो गरीबी की यातना के भीतर भी इतना रस, इतना संगीत, इतना आनंद छक सकता है, सूखी, परती जमीन के उदास मरुस्थल में सुरों, रंगों, और गंधों की रासलीला देख सकता है, सौंदर्य को बटोर सकता है, आँसुओं को परख सकता है, किन्तु उसके भीतर से झांकती धूल-धूसरित मुस्कान को देखना नहीं भूलता-एक सौंदर्यवादी की तरह नहीं, जो सुंदरता को अन्य जीवंत तत्वों से अलग करके उसका रसास्वादन करता है।"[1]

निर्मल वर्मा इसे विडंबना ही मानते हैं कि जिस मार्क्सवादी आलोचकों को रेणु के महत्व को सबसे पहले पहचानना चाहिए था उन्होंने ही सबसे ज्यादा इस जनवादी लेखक की अनदेखी की थी। आगे वे कहते हैं कि यह विडंबना नहीं अपितु एक दृष्टि की भयानक परिणति थी जो एक तरफ स्वयं को प्रगतिशील कहती थी तो दूसरी तरफ बिहार के जन-आंदोलन को फासिस्ट। निर्मल वर्मा इस दृष्टि को और भी कठोर शब्दों में व्यक्त करते हुए कहते हैं- "वह दृष्टि जो शब्दों के साथ इतना सिनिकल ढंग से बलात्कार कर सकती है, यदि वे रेणुजी को प्रतिगामी, सौंदर्यवादी लेखक प्रमाणित करने की कोशिश करें तो हमें क्षोभ अवश्य हो, आश्चर्य नहीं होना चाहिए।"[2]

निष्कर्षतः, निर्मल वर्मा के अनुसार रेणु ने *परती परिकथा* में जिस तरह से उदास, धूसरित ग्रामीण किसान के जीवन को नाटकीयता में प्रकट किया था उसने हिंदी के परंपरागत यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे को एकदम से ढहा दिया था। इसी कारण उनके विचार में *मैला आँचल* और *परती परिकथा* भारतीय साहित्य का उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास है। साथ ही इसने भारतीय उपन्यास का नया पथ प्रदर्शन किया जो यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे से पूरी तरह भिन्न थी। निर्मल वर्मा लिखते हैं कि- ‘‘उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव, कथ्यात्मक परंपरा को तोड़ा था-उसे अलग-अलग ‘एपिसोड’ में बांटा था, जिसे जोड़ने वाला धागा कथा का सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा लैंडस्केप था जो अपने आत्यंतिक लय में उपन्यास को रूप और फॉर्म देता है। रेणु जी के यहाँ समय में

[1] वही, पृ. 357

[2] वही, पृ. 357-358

बंधी घटनाएँ नहीं, उबड़-खाबड़ जिंदगियों की यह लय, यह स्पंदन उपन्यास के हिस्सों को एक-दूसरे से जोड़ता है।"[1]

निर्मल वर्मा के शब्दों में रेणु पहले ऐसे कथाकार थे जिन्होंने भारतीय उपन्यास की जातीय संभावनाओं की तलाश की थी। यह तलाश शिल्प और सिद्धांत के स्तर पर नहीं थी, एक ऐसे रचनात्मक स्तर पर थी जहाँ जिंदगी का कच्चा माल स्वयं अपने रचने वाले के हाथों से अपने लिए प्राण खींच लेता है ताकि वह एक नए खुले और अपेक्षाकृत मुक्त ढांचे से अपने लिए सांस ले सके। निर्मल वर्मा के अनुसार किसी रचना की असल उपलब्धि उसके फॉर्म में निहित है, तकनीकी और शिल्प के प्रश्न इसके बाद की प्रवृतियां हैं। हालांकि निर्मल वर्मा यह भी लिखते हैं कि कुछ कमियों और दोषों के बावजूद रेणु समाज के बदले सन्दर्भों में व्यक्तियों के विकास उनकी संश्लिष्ट मानसिक प्रक्रियाएँ और नैतिक दवाबों को चित्रित करने में समर्थ रचनाकार हैं। इस प्रकार निर्मल वर्मा के द्वारा व्यक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि रेणु एक गहन मानवीय दृष्टि की छवि वाले रचनाकार हैं।

संदर्भ सूची

1. निर्मल वर्मा (1995), "कथाशिल्प का विशिष्ट प्रयोग" डॉ. देवी शंकर अवस्थी (सं.), विवेक के रंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 192।
2. वही, पृ. 192
3. वही, पृ. 194
4. वही, पृ. 194
5. निर्मल वर्मा, (2006), "रेणु: समग्र मानवीय दृष्टि", शताब्दी के ढलते वर्षों में, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 355
6. वही, पृ. 356
7. वही. पृ. 356
8. वही, पृ. 357
9. वही, पृ. 357

[1] वही, पृ. 360

10. वही, पृ. 357-358
11. वही, पृ. 360

गोपालराम गहमरी : कुछ प्रश्न, कुछ विचार

गौरव भारती
पीएच.डी. (हिंदी), शोधार्थी
भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
मोबाइल- 9015326408
ईमेल- sam.gaurav013@gmail.com

शोध सार

गोपालराम गहमरी का लेखन तत्कालीन पाठकों की दिलचस्पी एवं स्वीकृति की देन है । ऐसे में तत्कालीन समय और रचना के पारस्परिक संबंध की उपेक्षा करके साहित्येतिहास लेखन की धारा के नैरंतर्य को नहीं समझा जा सकता । आज इस स्थिति से उबरने की आवश्यकता है। औपनिवेशिक परिवेश में जहाँ सत्ता के खिलाफ लिखना बहुत ही मुश्किल था वैसी परिस्थितियों में जासूसी उपन्यास लेखन की आवश्यकता क्यों पड़ी, यह एक महत्त्वपूर्णऔर वाज़िब प्रश्न है। गौरतलब है कि यूरोप में जहाँ सी. अगस्टे ड्यूपिन, इमील गाबोरियाउ, चार्ल्स डिकेन्स, आर्थर कॉनन डॉयल, अगाथा क्रिस्टी जैसे लेखकों ने जासूसी कथा लेखन की शुरूआत की वह परंपरा भारत में बंगाल होते हुए हिंदी में आई।

बीज शब्द :

गोपालराम गहमरी, उपन्यास, जासूसी उपन्यास, समाजशास्त्रीय, लोकप्रिय उपन्यास, साहित्येतिहास, पुनर्मूल्यांकन

शोध आलेख

"साहित्य के इतिहास का आधार है, साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा। साहित्य की निरंतरता और विकासशीलता में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास लेखन असंभव है।"[1] साहित्य की परिकल्पना उसकी विविधता की भांति ही बहुत गंभीर और विस्तृत है। इसी व्यापकता को बरकरार रखने के लिए उसके हर अंग को जीवित रखना और उसकी आवश्यक है। साहित्य की सही पकड़ पाठक वर्ग के पास होती है और वे ही किसी भाषा के साहित्य की विविधता को बनाए रखने में अहम भूमिका भी निभाते हैं। ऐसी स्थिति में पाठक वर्ग की रुचि को नजरअंदाज नहीं

किया जा सकता है। गौरतलब है कि समाज में पाठकों के कई वर्ग हैं और जिस प्रकार वर्ग अलग है ठीक वैसे ही उनकी रुचियाँ भी अलग-अलग हैं। हिंदी का जासूसी साहित्य भी उसी पाठकीय रूचि का परिणाम है। कहना न होगा कि हिंदी उपन्यास लेखन के प्रारंभिक दौर में इस तरह के उपन्यासों का लिखा जाना और पाठकों की स्वीकृति तत्कालीन समाज की व्याख्या एवं मनोविज्ञान को समझने की कुंजी साबित हो सकती है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से इनका आलोचनात्मक और समाजशास्त्रीय अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

गोपालराम गहमरी का लेखन तत्कालीन पाठकों की दिलचस्पी एवं स्वीकृति की देन है। ऐसे में तत्कालीन समय और रचना के पारस्परिक संबंध की उपेक्षा करके साहित्येतिहास लेखन की धारा के नैरंतर्य को नहीं समझा जा सकता। आज इस स्थिति से उबरने की आवश्यकता है। औपनिवेशिक परिवेश में जहाँ सत्ता के खिलाफ लिखना बहुत ही मुश्किल था वैसी परिस्थितियों में जासूसी उपन्यास लेखन की आवश्यकता क्यों पड़ी, यह एक महत्त्वपूर्णऔर वाज़िब प्रश्न है। गौरतलब है कि यूरोप में जहाँ सी. अगस्टे ड्यूपिन, इमील गाबोरियाउ, चार्ल्स डिकेन्स, आर्थर कॉनन डॉयल, अगाथा क्रिस्टी जैसे लेखकों ने जासूसी कथा लेखन की शुरूआत की वह परंपरा भारत में बंगाल होते हुए हिंदी में आई। यहाँ यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि हिंदी के जासूसी उपन्यास लेखन पर यूरोपीय जासूसी उपन्यासों का कैसा और कितना प्रभाव पड़ा जो बड़ी संख्या में अनुवाद के माध्यम से पाठक के सामने आ रहे थे ? यह भी देखना महत्त्वपूर्ण है कि यूरोपीय जासूसी उपन्यासों से हिंदी के जासूसी उपन्यास किन अर्थों में भिन्न है ? यथार्थवाद का जासूसी उपन्यासों के साथ क्या संबंध है ? अपराध का समाजशास्त्र इस प्रकार के साहित्य को समझने में किस तरह मदद कर सकता है ? तत्कालीन औपनिवेशिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार और विसंगतियों को इन जासूसी उपन्यासों में अभिव्यक्ति मिली या नहीं और मिली तो इसकी क्या सीमाएं रही ? जासूसी उपन्यासों की अभूतपूर्व लोकप्रियता के सामाजिक या मनोवैज्ञानिक कारण क्या रहे ? इन उपन्यासों की ऐतिहासिक उपलब्धि क्या रही ? हिंदी भाषा के विकास में इन उपन्यासों का क्या योगदान रहा ? इन उपन्यासों के माध्यम से लेखकों

ने कैसे साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रतिरोध किया ? हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में गोपालराम गहमरी का क्या योगदान है ? गौरतलब है कि प्रारंभिक हिंदी उपन्यास लेखन की यह धारा साहित्येतिहास में उपेक्षित रही है। यही कारण रहा है कि इसका संरक्षण भी उचित रूप से नहीं हो पाया। साहित्येतिहास में जहाँ इन उपन्यासों को मनोरंजन प्रधान कहकर फुटकर खाते में डाल दिया गया वैसे में इन उपन्यासों का विवेचन एवं पुनर्मूल्यांकन हिंदी उपन्यास की विकास धारा को समझने में सहायक है। वहीं उपन्यास लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों को आधुनिक अध्येता के समक्ष लाकर साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता को रेखांकित किया जा सकता है । इन उपन्यासों की गहन पड़ताल से हिंदी उपन्यास की प्रारंभिक स्थिति, विकास के आयाम और शिल्प संरचना तथा उसमें आए बदलाव को रेखांकित किया जा सकता है। हिंदी उपन्यास के उदय के साथ-साथ भारतीय मध्यवर्ग की सीमाओं और संभावनाओं की पड़ताल की जा सकती है। इसमें यह भी देखा जा सकता है कि जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके साहित्य में हुई है वे किस तरह तद्युगीन आचरण पुस्तकों के माध्यम से समाजसुधार के नवजागरण एजेंडे को पुष्ट करते हैं, और आगे बढ़ाते हैं। गहमरी जी ने अनेक विधाओं में रचना की। औपन्यासिक क्षेत्र में वे एक ओर पहले से चली आ रही पद्धति पर उपदेश प्रधान (ननद भौजाई, आशा, नए बाबू, आदमी बनो, संकट में शिक्षा गृहलक्ष्मी) आचरण पुस्तकें लिख रहे थे वहीं दूसरी ओर हिंदी के जासूसी उपन्यास लेखन परंपरा का सूत्रपात भी कर रहे थे एवं जासूसी उपन्यास साहित्य संसार को समृद्ध भी कर रहे थे। यह देखने वाली बात है कि हिंदी की औपन्यासिक परंपरा को समृद्ध करते हुए, हिंदी को उपन्यासों के माध्यम से लोकप्रिय बनाने का जो सराहनीय कार्य वे कर रहे थे, आगे चलकर साहित्येतिहासकारों, शोधार्थियों की उपेक्षा का शिकार वे क्यों और कैसे हो गए। यहाँ तक कि उनके द्वारा रचित मौलिक उपन्यास साहित्यिक परिदृश्य पर से भी गायब हो गए। इन उपन्यासों की लोकप्रियता के कारणों तक पहुँचने की यह यात्रा तत्कालीन समाज और पाठकों की मनोवृत्ति को समझने में सहायक है। यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि जासूसी उपन्यासों से पाठकों की किन मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही थी। पाठक समुदाय के इस विवेचन

से एक समाज के काल-विशेष की मानसिकता का अवलोकन किया जाना संभव है ।

गौरतलब है कि हिंदी साहित्येतिहास लेखन में हिंदी उपन्यास के उद्भव और विकास को लेकर तरह-तरह की मान्यताएं रही हैं । वहीं आरंभिक हिंदी गद्य लेखन के दौर में भाषा संबंधी विवाद ने भी साहित्य की दो धाराएं निर्मित की । उसी दौर में कलात्मक साहित्य और लोकप्रिय साहित्य के बीच एक विभाजन रेखा खींची जाने लगी और लोकप्रिय साहित्य मसलन तिलस्मी और जासूसी साहित्य को साहित्यिक कोटि से बाहर कर दिया गया । साहित्य की अवधारणा ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज होती है इसीलिए इतिहास प्रक्रिया में साहित्य की अवधारणा भी बदलती रहती है । गोपालराम गहमरी का साहित्य युगीन सन्दर्भों को जानने और समझने में सहायक है । हिंदी उपन्यास आलोचना के अंतर्गत आरंभिक लोकप्रिय उपन्यासों को लेकर जो उदासीनता है उस पर कार्य करने की आवश्यकता है ।

उपन्यास के विकास के साथ-साथ गोपालराम गहमरी के उपन्यासों का विश्लेषण सामाजिक बदलाव और पाठकीय रुचि की ओर भी ध्यान खींचता है । ध्यातव्य है कि प्रिंटिग प्रेस की सुलभता और सचित्र कलेवर में इसकी छपाई ने भी पाठकों को आकर्षित किया । इनके उपन्यासों के नाम भी प्रायः कौतूहल पैदा करने वाले होते थे । जो पाठकों को पढ़ने के लिए प्रेरित करता था । पाठक पढ़ते हुए एक रोमांच का अनुभव करता था । घटनाक्रम की बुनावट उसकी जिज्ञासा को बनाए रखती थी । कहना न होगा कि अपनी लोकप्रियता और व्यावसायिक सफलता के साथ इन उपन्यासों का ट्रीटमेंट यथार्थपरकता के करीब है । जिसके तहत तद्युगीन भारतीय समाज ख़ासकर मध्यवर्गीय समाज की इच्छाएँ, आकांक्षाएं, सपने, बनावटी जीवन, पूर्वाग्रह, संस्कार, आधुनिकता आदि का समावेश हुआ है । गोपालराम गहमरी ने राष्ट्र की चिंता, स्वदेशीयता आदि को भी उपन्यास के कलेवर में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । कहना न होगा कि आज जिस तरह से पूरी दुनिया में सरकारी, गैरसरकारी जासूसी संस्थाओं का विकास हुआ है वह देखने लायक है । जासूसी प्रधान फिल्मों और सीरियल्स की भरमार लगी हुई है । आज भी जनता का आकर्षण इसके

प्रति कम नहीं हुआ है। ऐसे में इन उपन्यासों का विश्लेषण जासूसी चरित्रों की विकास यात्रा साथ ही उपन्यास की विकास यात्रा को समझने में सहायक है।

हिंदी साहित्य में गोपालराम गहमरी का योगदान अविस्मरणीय है। गौरतलब है कि हिंदी को उस दौर में पाठकों तक पहुँचाने के लिए उन्होंने साहित्य की तमाम विधाओं में लेखन कार्य किया। यह हिंदी जगत का दुर्भाग्य है कि साहित्येतिहास में उपेक्षित गोपालराम गहमरी के साहित्य का संरक्षण भी सही से नहीं हो पाया। ज्ञानचंद जैन ने भी अपनी किताब 'प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी उपन्यास' में इस तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने गोपालराम गहमरी के साहित्यिक अवदान को रेखांकित करते हुए लिखा है-"कथा क्षेत्र में गोपालराम गहमरी के योगदान के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने अपने जासूसी उपन्यासों में भी सामाजिक उपन्यासों का रंग भरा है। यह बात उनकी सत्य घटनाओं पर आधारित रचनाओं पर विशेष रूप से लागू होती है। वह अपने जासूसी उपन्यासों की कथाभूमि अपने समकालीन समाज के जन-जीवन के अनेकानेक बोलते हुए चित्रों से सजा देते हैं। गोपालराम गहमरी ने अपनी जिस भाषा-शैली के आधार पर उपन्यास पाठकों के दिल में अपनी जगह बनाई वह 'जासूस' के संपादन काल में विकसित हुई। इस भाषा-शैली की विशेषताएँ थीं- दैनिक बोलचाल की व्यंजक भाषा, युगीन सामाजिक परिवेश का चित्रण तथा समकालीन शहरी तथा ग्रामीण जन-जीवन के बोलते चित्र।"[2]

हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी गोपालराम गहमरी का योगदान दिया अविस्मरणीय है। वे अपने समय के कई महत्वपूर्ण पत्रिकाओं से बतौर संपादक और सहायक संपादक के रूप में जुड़े रहें। इन पत्रिकाओं में 'जासूस', 'समालोचक', दैनिक 'हिन्दोस्थान' 'भारतमित्र', बंबई व्यापर सिंधु', 'भाषा भूषण', 'साहित्य सरोज', और 'बिहार बंधु' आदि को गिना जा सकता है। गौरतलब है कि गोपालराम गहमरी ने एक लंबा समय पत्रकारिता के क्षेत्र में व्यतीत किया। यह वह दौर था जहाँ एक तरफ औपनिवेशिक सत्ता प्रेस संबंधी सेंसरशिप लागू करने में जुटी थी तो वहीं इन पत्रिकाओं के माध्यम से भारतीय जनता में नवजागरणकालीन चेतना जगाने का

प्रयास किया जा रहा था। यह दौर साहित्येतिहास की दृष्टि में पाठकीय संस्कृति पैदा करने और भाषा के विकास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। कहना न होगा कि तद्युगीन साहित्यकार पत्रिकाओं के माध्यम से इस कार्य में जुटे थें। उन्होंने मई सन् 1900 में जासूसी मासिक पत्रिका 'जासूस' का प्रकाशन शुरू किया। ज्ञानचंद जैन लिखते हैं –"जिस प्रकार बालकृष्ण भट्ट ने अपना पेट काट और खून सुखाकर 'हिन्दी प्रदीप' को 33 साल तक प्रदीप्त रखा, उसी प्रकार गोपालराम गहमरी ने 'हैन्ड टू माउथ' जिन्दगी गुजारते हुए 'जासूस' को 38 वर्ष तक चलाया। उससे जो आय होती थी उसी में लग जाती थी।"[3] "जासूस अपने विषय की अकेली पत्रिका थी, जिसने लोकप्रियता के साथ-साथ स्थायित्व ग्रहण किया। यद्यपि इससे संबंधित कुछ और पत्रिकाओं का उल्लेख मिलता है लेकिन वे न इतनी लोकप्रिय हो सकीं और न उन्हें स्थायित्व ही मिल सका। यह गोपालराम गहमरी का जीवट और बुद्धिमत्ता ही थी कि उन्होंने अनेक झंझावतों-संघर्षों को झेलते हुए निरंतर प्रकाशित किया और हिंदी भाषा के विकास व विस्तार के लिए सदैव प्रतिबद्ध रहे।"[4]

गोपालराम गहमरी हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में जासूसी उपन्यासकार से अलग एक कुशल संपादक के रूप में नजर आते हैं जिसका अवलोकन उनके द्वारा संपादित 'समालोचक' के अंकों से गुज़रते हुए किया जा सकता है । यहाँ उनकी चिंता साहित्य, समाज और भाषा को लेकर उतनी ही थी जितनी तद्युगीन सम्मानित साहित्यकारों की रही है। लेकिन उन्हें वह सम्मान नहीं मिला जिसके वे हक़दार थे। गोपालराम गहमरी ने भी अपने समकाल को रेखांकित करते हुए जासूसी उपन्यासों के साथ-साथ सामाजिक उपन्यास भी लिखे। 'डबल बीवी', 'तीन पतोहू', 'पत्नी', 'ननद भौजाई', 'नए बाबू' आदि उनके सामाजिक उपन्यास हैं। गोपालराम गहमरी एक सजग रचनाकार के रूप में सामने आते हैं। वे अपने समय की चिंताओं से सीधा संवाद करते हैं। प्रश्न चाहे भाषा को लेकर हो या फिर खड़ी बोली की कविता को लेकर वे माकूल हस्तक्षेप करते हैं। उनके उपन्यासों में उनका समकाल अपने विविधवर्णी रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। आज ज़रूरत है कि हम अपने साहित्येतिहास और उसकी निर्मिती की प्रक्रिया की ओर पुनः दृष्टिपात करें और ऐतिहासिक उपेक्षाओं

के शिकार गोपालराम गहमरी सरीखे रचनाकारों के सम्यक मूल्यांकन को संभव बना सकें। इसके लिए हमें पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इतिहास की तरफ लौटना होगा।

संदर्भ सूची

1. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन,दिल्ली, संस्करण 2016, पृष्ठ:4
2. ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी उपन्यास,आर्य प्रकाशन मंडल,दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998, पृष्ठ- 170
3. वही, पृष्ठ- 163
4. संजय कृष्ण, गोपालराम गहमरी (विनिबंध), साहित्य अकादेमी, दिल्ली,प्रथम संस्करण 2017, पृष्ठ- 22-23

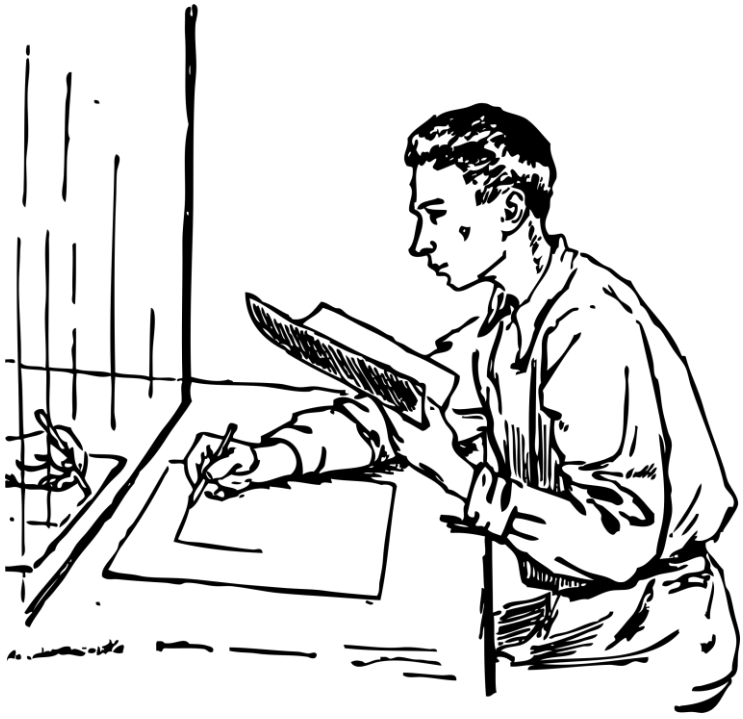

गोरा : राष्ट्रवाद एक अध्ययन

कमरूज़मा अंसारी
पीएच.डी. (हिंदी)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क- 9716371572
ईमेल: Kamaruzamaansari@gmail.com

शोध सार

वर्तमान समय में 'राष्ट्रवाद' जैसी अवधारणा फिर से तीव्र हो उठी है। आज भारतीय राजनीति से लेकर वैयक्तिक स्तर पर राष्ट्रवाद को व्याख्यायित करने की कोशिश की जा रही है तो ऐसे में राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि और इससे संबंधी विभिन्न मतों की चर्चा जरूरी जान पड़ती है। यह लेख यूरोपियन राष्ट्रवाद से लेकर भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि की बात करता है। इसके साथ ही रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा लिखित 'गोरा' उपन्यास के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद को समझने का प्रयास किया गया है। यह लेख राष्ट्रवाद संबंधी विभिन्न बहसों जैसे- क्या भारत जैसे बहुभाषी देश में राष्ट्रवाद ज़रूरी है या नहीं ? रवींद्रनाथ टैगोर क्यों राष्ट्रवाद की तीखी आलोचना करते हैं ? क्या 'गोरा' उपन्यास तत्कालीन राष्ट्रवाद का प्रतिफलन है ? आदि को गहराई से देखने की कोशिश करता है। इस लेख के अंत में 'गोरा' के हवाले से राष्ट्रवाद के बरक्स मानवतावाद को स्थापित करने की कोशिश की गई है।

बीज शब्द: राष्ट्रवाद, पुनरुत्थानवाद, बहुसंख्यक वर्ग, संकीर्ण राष्ट्रीयता, भारत की खोज, मानवतावाद।

शोध आलेख

'राष्ट्र' तथा 'राष्ट्रवाद' शब्द आधुनिक यूरोपियन अवधारणा है , जिसे पूँजीवाद का समर्थन प्राप्त है। दरअसल यूरोप में सामंतवाद के अवसान के फलस्वरूप पूँजीवाद का आविर्भाव हुआ। उस समय औद्योगिक उत्पादन प्रणाली में तीव्र गति से विकास हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप यूरोप को उत्पादित वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक बड़े बाजार की आवश्यकता पड़ती है। दूसरी तरफ राजनीतिक चेतना के विकास के परिणाम स्वरूप यूरोप में छोटे-छोटे राज्यों के एकीकरण का कार्य बड़े स्तर पर प्रारंभ होता है। अत: हम कह सकते हैं कि राष्ट्रों की निर्मिति का प्रमुख आधार आर्थिक एवं राजनीतिक कारण रहे हैं।

समय के साथ धीरे-धीरे ऐसा हुआ कि इसे भाषा और संस्कृति से जोड़कर देखा जाने लगा। ऐसा होने से यह हुआ कि सत्ता नायकों ने लोगों को एकजुट करने के लिए 'राष्ट्र' को भाषा, संस्कृति और धर्म के साथ जोड़कर देखने लगे। राष्ट्रीय गौरव के नाम पर यूरोप में विभिन्न देशों ने अपनी संस्कृति, अपनी भाषा तथा अपनी नस्ल एवं अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने की कोशिश की। श्रेष्ठता सिद्ध करने की इसी भावना ने बाज़ार तथा अर्थव्यवस्था का सहारा लेकर विश्वभर में साम्राज्यवाद की विकृति को जन्म दिया। राष्ट्रीय गौरव की भावना ने उग्र राष्ट्रवाद का रूप लेकर उत्तरोत्तर साम्राज्यवाद को विस्तार दिया। इसी तथाकथित यूरोपीय राष्ट्रवाद ने राष्ट्रीय गौरव बढ़ाने के नाम पर विभिन्न देशों के बीच संघर्ष को बढ़ाया। जिसके परिणाम स्वरूप विश्वभर में गुलामी उपनिवेशिकरण, जातीय एवं धार्मिक संकीर्णता का उग्र रूप बढ़ता गया। बहरहाल राष्ट्रवाद की विवेचना के कई आयाम हो सकते हैं।

अगर हम भारत के संदर्भ में देखें तो पता चलता है कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में जो राष्ट्रीय चेतना का स्वर दिखाई देता है, वह पश्चिम के राष्ट्रवाद से भिन्न था क्योंकि पराधीन भारत में जो राष्ट्रवाद उत्पन्न हो रहा था, उसमें अपनी अस्मिता को वापस पाने, अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव निहित था जो कि उस समय राष्ट्रीय चेतना की निर्मिती के लिए आवश्यक माना गया था। दरअसल रवीन्द्रनाथ टैगोर अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने तथा स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए केवल राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने के पैरोकार नहीं थे। वे मानते हैं कि संकीर्ण राष्ट्रीयता सिर्फ लोगों को बांटने का काम करती है। ऐसा भी नहीं है कि सिर्फ एकमात्र टैगोर ही राष्ट्रवाद से असहमति रखने वाले व्यक्ति थे बल्कि ज्योतिबा फूले, पण्डिता रमाबाई, बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर आदि नाम भी प्रमुख थे। आशीष नंदी 'टैगोर' को 'असहमतों के बीच असहमत' की संज्ञा देते हुए लिखते हैं "राष्ट्रवाद के इन विरोधियों में सिर्फ कुछ लोग ही ऐसे भी थे जिन्हें 'असहमतों के बीच असहमत' की संज्ञा दी जा सकती थी। वे राष्ट्रवाद को पश्चिमी राष्ट्र राज्य प्रणाली की पैदाइश

मानते थे। वे मानते थे कि इसे पश्चिमी विश्व दृष्टिकोण से निकली समरूपीकरण की शक्तियों ने जन्म दिया है।"3

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्रवाद की तीखी आलोचना करते हैं। उन्होंने अपने उपन्यास 'गोरा' में राष्ट्रवाद की विभिन्न बहसों को उठाया है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'गोरा' उपन्यास राष्ट्रवाद के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का प्रतिफलन है। सन् 1909 में रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा लिखा गया यह 'गोरा' उपन्यास 'राष्ट्रवाद' की बहस के साथ ही विकसित होता है। 'गोरा' न सिर्फ राष्ट्रवाद की बहस, तत्कालीन समय में चल रही सांस्कृतिक प्रक्रियाओं, घात-प्रतिघातों एवं मानवीय संभावनाओं की तलाश करने वाला उपन्यास है बल्कि इसमें हिन्दू पुनरुत्थानवाद, ब्रह्म समाज आदि की धमक को भी महसूस किया जा सकता है। इसमें सृजित समाज तदयुगीन समाज का प्रतिनिधि है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि 'गोरा' उपन्यास वास्तविक भारत की खोज है।

'गोरा' उपन्यास का मुख्य पात्र 'गौरमोहन-गोरा' 'हिन्दू हितैषी सभा' का सभापति है। गोरा कट्टर हिन्दू है। वह सिद्धांत को मनुष्य से ऊपर मानता है। वह आनंदमयी से कहता है कि "जो नियम है उसे मानना ही होगा उससे इधर-उधर किसी तरह नहीं हो सकता।"2 रवीन्द्रनाथ टैगोर स्वयं 'ब्रह्म समाज' से जुड़े रहे हैं परन्तु 'गोरा' में वह तत्कालीन हिन्दू पुनरुत्थानवादी तथा ब्रह्म समाज के अतिवाद को दरकिनार कर मनुष्य मात्र की गरिमा को ही प्रतिष्ठित करते हैं।

एक तरफ गोरा जहां अपने देश की प्रत्येक चीजों के प्रति श्रद्धा का भाव रखना चाहता है वहीं दूसरी ओर वह देश के लोगों से घुलमिलकर अपने आप को एक बड़ी धारा में बहा देना चाहता है। वह ऐसी भावना रखकर भी 'हिन्दू-ब्राह्मणत्व' से ऊपर नहीं उठ पाता है। अपने सिद्धांतों से वह कोई समझौता नहीं करना चाहता है- "गोरा के त्रिवेणी-स्नान करने जाने का संकल्प का कारण यह था कि वहाँ अनेक तीर्थ यात्री इकट्ठा होंगे। उसी साधारण जनता के साथ घुलमिलकर गोरा अपने को देश की एक बहुत बड़ी धारा में बहा देना और देश के हृदय की धड़कन को अपने हृदय में अनुभव

करना चाहता है... और पूरे मन से कहना चाहता है 'मैं तुम्हारा हूँ, तुम सब मेरे हो'।"3 पूरे उपन्यास में राष्ट्र के निर्माण में धर्म की भूमिका पर सर्वाधिक बहस है क्योंकि किसी राष्ट्र में किसी विशेष धर्म के प्रति पक्षपातपूर्ण आग्रह फाँसीवादी रूप ले लेता है। होता यह है कि जहां बहुसंख्यक धर्म के लोग रहते हैं। वह सोचते हैं कि हमारा ही धर्म राष्ट्र की रक्षा कर सकता है, जैसा कि गोरा यह बार-बार अहसास करता है कि मैं हिन्दू हूँ और हिन्दू धर्म के ही सिद्धांतों पर चलकर ही मैं अपने राष्ट्र का कल्याण कर सकता हूँ। वह कहता है "मैं भी तो हिन्दू हूँ। हिन्दू धर्म का गूढ़ मर्म आज न समझ सकूँ तो, कल तो समझूंगा। कभी भी न समझू तो भी इसी पथ पर तो चलना होगा। हिन्दू समाज के साथ पूर्वजन्म का संबंध नहीं तोड़ सका, तभी तो इस जन्म में ब्राह्मण के घर जन्मा।"4 गोरा के चरित्र का यह अंतर्विरोध उसके देशप्रेम तथा पुनरुत्थानवाद की सीमा बताता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर मानते हैं कि राष्ट्रप्रेम के लिए आवश्यक है 'जातिगत ऐक्य'। वह कहते हैं कि "भारत वर्ष की समस्या स्पष्ट है। यहाँ अनेक जातियों के लोग एकत्रित हुए हैं। पृथ्वी के किसी दूसरे देश में ऐसी परिस्थिति नहीं है। उन्हें एक करना ही होगा, यही भारत की सर्वप्रथम समस्या है और यह एकीकरण बाह्य व्यवस्था से नहीं, आन्तरिक आत्मीयता से ही हो सकती है।"5 स्पष्टतः हम कह सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्र के एकजुट होने के लिए जातिगत एकता, वर्गगत विभेद का खत्म करना आवश्यक मानते हैं क्योंकि बिना जातिगत ऐक्य लाए, प्रत्येक मनुष्य को गरिमा प्रदान किए बिना, केवल राष्ट्र के नाम पर जनता को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए संगठित करना उन्हें सहज पाच्य नहीं था। रवीन्द्रनाथ टैगोर देशभक्ति से भी बड़ा मूल्य मानवतावाद को मानते थे। इसलिए उनको संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना सरासर झूठी लगती थी। इसलिए वह राष्ट्रवाद के समानान्तर एक दूसरा विकल्प ढूंढ़ते हैं 'मानवतावाद' जिसमें सभी समाहित हैं। सभी ऐक्य हैं। उनकी नजर में मानवतावाद से बढ़कर कोई दूसरा साधन नहीं है। वे तमाम मतों के अतिवादों को अस्वीकार करते हुए मनुष्य को देश, धर्म, जाति तथा समाज के बंधनों से मुक्त रखते हैं।

'गोरा' उपन्यास में वह 'आनन्दमयी' तथा ' परेश भट्टाचार्य' आदि पात्रों के माध्यम से वह उपर्युक्त बंधनों से मनुष्य को मुक्त रखते हैं। जहाँ एक तरफ गोरा एक उत्साही हिन्दू नवयुवक है तो वहीं दूसरी तरफ आनंदमयी अपने अनुभव से ब्राह्मण परिवार से नाता रखने के बावजूद इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि "छोटे शिशु को छाती से लगाकर ही समझ में आता है कि दुनिया में जात लेकर कोई नहीं जन्मता।"6 इस तरह आनंदमयी इंसानियत के आगे धर्म, जाति और सम्प्रदाय को कोई महत्व नहीं देती है। परेश मट्टाचार्य भी ब्रह्म समाज द्वारा प्रसारित प्रगतिशील मूल्यों को अपने परिवार में लागू करते हैं। वे अपनी पुत्रियों को तमाम तरह का ज्ञान प्रदान करने एवं उनमें तार्किक दृष्टि का विकास करने वाले पिता के रूप में नज़र आते हैं। ललिता-विनय विवाह प्रसंग में वह अपने मत को गौण करते हुए पुत्री की वैयक्तिक इच्छा को आगे करते हैं तथा स्वयं समाज का आघात सहकर अपनी पुत्री का विवाह संपन्न कराते हैं।

गोरा उपन्यास के अंत तक जाते-जाते भारतवर्ष को खोजने की कोशिश करता है। गोरा भारतवर्ष को महसूस करने के लिए ही देहात में जाता है। पढ़े-लिखे भद्र समाज और कलकत्ता के बाहर हमारा देश कैसा है ? यह गोरा ने पहले-पहल देखा। गोरा भ्रमण करते समय समाज में दहेज प्रथा, विधवा-विवाह निषेध, बाल-विवाह आदि कुरुतियों को देखता है और भारतवर्ष की वास्तविक परेशानियों से रूबरू होता है। यहाँ उसे राष्ट्र नामक ढोल की आवाज़ नकली लगने लगती है। लेकिन जब तक गोरा को राष्ट्र के पीछे की सच्चाई नहीं मालूम होती है तब तक वह उग्र कट्टर, हिन्दू धर्म की मान्यताओं कठोरता का पालन करता है। वह चाहता है कि पहले अपने आप देश से प्रेम करें तथा बाद में कमी या कमियाँ होने पर उसमें सुधार करें। बजाय इसके कि बाहर रह कर देश की आलोचना करें। गोरा कहता है "सुधार ? सुधार बहुत बाद की बात है। सुधार से कहीं बड़ी बात है प्रेम की, श्रद्धा की, पहले हम एक हों, फिर सुधार भीतर से ही अपने आप हो जाएगा।"7 कहीं न कहीं राष्ट्र के प्रति इतना अधिक भावात्मक आवेग गोरा के व्यक्तित्व को उग्र बना देता है। उसके व्यक्तित्व का यह उग्र

रूप हिन्दूवादी पक्ष तत्कालीन राष्ट्रवादी वैचारकी को स्पष्ट करता हुआ दिखाई देता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर पश्चिमी राष्ट्रवादी प्रकृति को जानते थे और उन्हें बराबर संदेह था कि भारतीय देशभक्ति भी कहीं न कहीं उस ओर अग्रसर हो सकती है। इसलिए वह हर बार राष्ट्रवादी ताकतों का विरोध करते हुए दिखाई देते हैं। वह राष्ट्रवाद के संबंध में लिखते हैं कि "क्या हमें ऐसे राष्ट्रवाद के आगे अपने घुटने टेकने होंगे जो सारी दुनिया में भय, लालच, संदेह, कूटनीति के बेशर्म झूठ, शांति सद्भाव व मानव के सार्वभौम भाईचारे के दंभी झूठ के बीजों को बोने की खुले तौर पर घोषणा कर रहा है ?"8 यह विमर्श का विषय है कि बीसवीं शताब्दी का भारतीय राष्ट्रवाद भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को कैसी गति देता है ? परन्तु आजाद भारत के साथ उभरा राष्ट्रवाद रवीन्द्रनाथ टैगोर की शंकाओं को सही साबित करता है। भारत और पाकिस्तान का विभाजन इसी राष्ट्रवादी चेतना का परिणाम है जिसके कारण एक देश टूटकर दो अलग-अलग राष्ट्रों में विभक्त हो गया। इस राष्ट्रवाद के दूरदर्शी चिन्तक रवीन्द्रनाथ टैगोर के संबंध में नामवर सिंह लिखते हैं "बीसवीं शताब्दी के आरंभ का भारतीय राष्ट्रवाद इसी हिन्दू पुनरुत्थानवाद का अगला चरण है किन्तु उसकी चकाचौंध भी रवीन्द्रनाथ की देशभक्ति को अंधा न बना सकी। सन् 1905 के बंग-भंग के विरोध में उठे स्वदेशी आन्दोलन का नेतृत्व करने के बावजूद उन्होंने उग्र राष्ट्रवाद का प्रतिवाद करना जरूरी समझा। यह उग्र राष्ट्रवाद रवीन्द्रनाथ के लिए वैसा ही खतरा था, जैसे उनके हिन्दुत्व के लिए हिन्दू पुनरुत्थानवाद उन्होंने राष्ट्रवाद के विरोध में आवाज़ उस समय उठाई जब राष्ट्रीय जागरण पूरे उभार पर था।"9 निश्चय ही गोरा का उग्र रूप हिन्दू सुधारवादी तत्कालीन हिन्दू पुनरुत्थानवादी चेतना का परिणाम है जिसका शोर साहित्य से लेकर राजनीति तक था। अपनी संस्कृति, धर्म, भाषा और अपने इतिहास को लेकर गौरव का भाव रखना आदि कहीं न कहीं तत्कालीन भारत में विकसित राष्ट्रवाद (बीसवीं शताब्दी के भारत का) पुनरुत्थानवाद का विकास था जो अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपनी भाषा और इतिहास पर गर्व करने पर बल देता है। इस तरह हम देखते हैं कि यह गर्व की भावना उग्र, एकांगी और सत्य पर पर्दा डाल

देती है जिसके कारण बहुसंख्यक हिन्दू धर्म का एकांगी रूप उभरकर हमारे सामने आता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ऐसे राष्ट्रवाद के खिलाफ हैं जो सिर्फ किसी एक धर्म, संस्कृति, इतिहास से जोड़कर अपने अंदर गौरव का भाव रखता है। अब यहाँ एक यह सवाल उठता है कि क्या भाषा, धर्म, संस्कृति तथा इतिहास के आधार पर राष्ट्रवाद जैसे भाव को बनाया जायेगा ? शायद नहीं क्योंकि भारत जैसे देश में अनेक भाषा, अनेक जाति, अनेक संस्कृति, अनेक धर्म को मानने वाले लोग रहते हैं। क्या ऐसी स्थिति में राष्ट्रवाद जैसी नींव कायम हो सकती है ? शायद नहीं। इसी प्रकार के राष्ट्रवाद का विरोध करते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि "राष्ट्रवाद की जीत अन्ततः भारतीय सभ्यता पर पश्चिम की जीत है।"10 जिस राष्ट्रवाद के मूल में भाषा, जाति, संस्कृति और धर्म रहा है। ऐसे राष्ट्रवाद का टैगोर ने सबसे अधिक रचनात्मक विरोध किया है। उन्होंने 'गोरा' उपन्यास में नाटकीय घटनाक्रम बनाते हुए यह दिखाया है कि हिन्दू धर्म में आस्था रखने वाले, हिन्दू विधि-विधान का कठोरता से पालन करने वाले गोरा को जब यह ज्ञात होता है कि वह एक आयरिश दंपत्ति का पुत्र है तो क्षणभर में उसकी वह दुनिया बिखर जाती है, जिसमें सगर्व एवं श्रेष्ठ भाव से जीवन-यापन करता था तथा प्रतिपल जिसकी शुद्धता का ख्याल रखता था। इस घटना के फलस्वरूप गोरा तमाम संकीर्णताओं, जातिगत बंधनों, शुद्धता-अशुद्धता के मानदण्डों से ऊपर उठकर एक समतल भावभूमि पर आ जाता है। जहां सब बराबर हैं। वह कहता है- "आज इस भारतवर्ष की समस्त जाति ही मेरी जाति है-सबका अन्न मेरा अन्न है। अब मुझे अपने पतित होने का तनिक भी भय नहीं।"11 इसके साथ ही जिस माँ के अगाध प्रेम रखने पर भी गोरा न खान-पान, छुआ-छुत बरतता था, उसी के पांव में गिरकर माँ के साथ समस्त भारतवर्ष की प्रकृति का चित्रण करता है-"गोरा ने कहा, मां तुम्हीं मेरी माँ हो। जिस मां को मैं खोजता फिर रहा था, वह तो मेरे कमरे में बैठी हुई थी। तुम्हारी जात नहीं है, तुम ऊंच-नीच का विचार नहीं करती, घृणा नहीं करती-तुम केवल कल्याण की प्रतिमा हो। तुम मेरा भारतवर्ष हो। माँ तुम अपनी लछमियां को बुलाओ-उसे कहो-मुझे पानी पिला दे।"12 रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गोरा के माध्यम से वास्तविक भारत की

खोज की है और यह दिखाने कि कोशिश की है कि सच्चा भारतवर्ष वह है जहाँ कोई जाति, ऊँच-नीच, घृणा, द्वेष आदि नहीं है।

'गोरा' का राष्ट्रवाद संकीर्ण राष्ट्रवाद से मुक्ति दिलाने का प्रयास है क्योंकि राष्ट्र का विचार बुरा नहीं है लेकिन उसकी अंधभक्ति, कट्टरता, असहिष्णुता, श्रेष्ठता की भावना बुरी है। इसलिए रवीन्द्रनाथ टैगोर पूरे भारत वर्ष को ऐक्य भाव से देखने की कोशिश करते हैं। उन्होंने सभी को समान धर्म, छुआ-छूत, द्वेष, भाषा, परम्परा आदि से परे मानव कल्याण को तरजीह दिया हैं। उनके लिए मानव का कल्याण ही सब कुछ है। वे मानवतावाद को राष्ट्रवाद के जगह पर स्थापित करना चाहते हैं। वे लिखते हैं- "राष्ट्रवाद हमारी अंतिम मंजिल नहीं हो सकता। मेरी शरणस्थली तो मानवता है, मैं हीरो की कीमत पर शीशा नहीं खरीदूंगा और जब तक मैं जीवित हूँ देशभक्ति को मानवता पर कदापि विजयी नहीं होने दूँगा।"13

निष्कर्ष : - उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्रवाद की जगह बहुलतावाद के ज्यादा नजदीक थे क्योंकि वे ऐसे भारत की खोज में लगे थे जिसमें कोई छोटा-बड़ा न हो। सभी ऐक्य हों। इसीलिए वे पश्चिमी राष्ट्रवाद का तीखा विरोध करते हुए भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति अत्यधिक चिंतित दिखाई देते हैं। वे राष्ट्रवाद के पीछे छिपे सच को जानते थे इसीलिए उन्होंने राष्ट्रवाद की जगह मानवता को तरजीह दिया। उन्होंने मनुष्य को धर्म, संस्कृति, परम्परा, असमानता, भेद-भाव आदि से परे रखकर मानव का सिर्फ कल्याण चाहा। इसलिए रवीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्रवाद के बरक्स मानवतावाद को स्थापित करते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. आशीष नंदी, 2005, राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति, अनुवाद-अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.64
2. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 2014, गोरा, हिंदी अनुवाद-अज्ञेय, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ.23
3. वही पृ.56

4. वही पृ.28
5. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 2010, रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (भाग-1), अनुवाद- ममता, नया साहित्य केंद्र प्रकाशन, पृ.19
6. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 2014, गोरा, हिंदी अनुवाद-अज्ञेय, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ.17
7. वही पृ.56
8. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 2016, राष्ट्रवाद, अनुवाद-सौमित्र मोहन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृ.20
9. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 2013, रवीन्द्रनाथ का शिक्षा दर्शन, अनुवाद- गोपाल प्रधान, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, पृ.148
10. आशीष नंदी, 2005, राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति, अनुवाद-अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.87
11. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 2014, गोरा, हिंदी अनुवाद-अज्ञेय, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ.404
12. वही पृ.404
13. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 2016, राष्ट्रवाद, अनुवाद-सौमित्र मोहन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृ.36

दस्यु समस्या पर आधारित उपन्यास 'डांग'

डॉ. उमा मीणा
सहआचार्य, हिंदी विभाग, मिरांडा हाउस,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल: druma.miranda@gmail.com
संपर्क: 9871015995

शोध सार

आदिवासी विमर्श के चिंतक और लेखक श्री हरीराम मीणा का उपन्यास 'डांग', चंबल नदी के आसपास फैले 'डांग' के बीहड़ों में स्थित गांवों के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य और दस्यु समस्या पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण उपन्यास है जो एक साथ उपन्यास, जीवनी और इतिहास का आनंद देता है। कथ्य और तथ्य के संतुलन ने उपन्यास की प्रमाणिकता और रोचकता को बनाए रखा है। दशकों तक सामाजिक और प्रशासनिक उपेक्षा का शिकार रहा 'डांग' क्षेत्र किन स्थितियों में जीता मरता रहा , इसका गहराई से अंकन करते हैं हरिराम जी।उपन्यास में 'डांग' की भौगोलिक संरचना, सामाजिक उत्पीड़न, प्रशासनिक उपेक्षा, बाहरी लोगों की घुसपैठ, शोषण के साथ -साथ दस्युओं के पनपने के कारण, दस्यु समस्या से निपटने के लिए चलाए गए पुलिस अभियान और उनके संघर्ष के साथ-साथ पुलिस विभाग की आंतरिक और बाह्य दुर्बलताओं और शक्तियां से भी परिचय प्राप्त होता है। मानसिंह जैसे रॉबिनहुड से लेकर गब्बर सिंह जैसे दुर्दांत डाकू तक अनेक डाकू हमारी समक्ष आते हैं और अपनी कहानी कहते हैं। लोकगीतों, लोककथाओं, इतिहास के खंडहरों से जुड़ें मिथकों ने डांग की आंचलिकता को जीवंतता प्रदान की है। ग्रामीणों के संवादों में कठिन जीवन और अनुभवों से प्राप्त ज्ञान, जिज्ञासाएं और चिंताएं पाठक को उनकी जीवन परिस्थितियों से जोड़ती है। छोटे से कलेवर में यह उपन्यास एक ऐसे अंचल से हमें रूबरू कराता है जो अब तक साहित्य में अपने इतने विस्तृत रूप में हमारे सामने नहीं आ सका था। लेखक के गंभीर शोध और जीवन अनुभवों से सृजित उपन्यास 'डांग' एक विश्वसनीय और प्रामाणिक कृति के रूप में पाठक को आकर्षित करता है।

बीज शब्द- *दस्यु, पुलिस, चंबल, मुठभेड़, अन्याय, रोजगार ,अभियान, पर्यटन*

शोध आलेख

डांग एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जो दस्यु उन्मूलन के लिए चलाये गए पूरे अभियान के साथ हमें दस्यु समस्या के कारणों की तह तक ले जाता है। युवाओं के डाकू बनने के कारणों में डांग क्षेत्र की भौगोलिक संरचना और सामाजिक उत्पीड़न महत्वपूर्ण कारण रहे हैं। कुछ तो अपनी भौगोलिक संरचना के कारण ये इलाका उपेक्षित और विकास की धारा से दूर रहा है और जन जागरूकता के अभाव में शोषण स्थली भी रहा है। लेखक कहते हैं कि यदि डांग की पुरानी तस्वीर देखें तो "इस इलाके में सड़कों के नाम पर ऊबड़ खाबड़ रास्ते हुआ करते थे। रास्ता बताने वाले भी ढूंढने पड़ते थे। हाँ, चुनावी मौसम में राजनेता जरूर पहुँच जाते। अंचल के ग्रामीण दुर्भाग्यशाली। उनका जीवन बड़ा कठिन। पहाड़ी पठारी अंचल में थोड़ी बहुत खेती बाड़ी या पत्थर खनिया मजदूरी(खानों में मजदूरी) चोरी डकैती किसी की आदत में नहीं। ऐसे कर्म को आर्थिक दबाव का धंधा अवश्य कहा जा सकता था, जिसे कोई मजबूरी में ही अपनाता, जो बाद में जाकर खतरनाक बन जाती थी। जैसे बुरे कर्म करने वाले शख्स दो प्रकार के हुआ करते थे। एक स्थानीय और दूसरे वे जो अपने इलाके में पुलिस का दबाव पड़ने के कारण आश्रय की तलाश में कुछ दिन ठहरने या उधर से गुज़रने के लिए आते थे।"1

अपराधों के पनपने और अपराधियों को आश्रय देने के कारण चंबल और उसका क्षेत्र बेहद बदनाम थे। चंबल को लेकर बहुत सारे मिथक जुड़े हैं "कहते हैं, 'चंबल किसी की नहीं ' जो नहीं जानते इस नदी को वे कहने लगे, "कभी भी उफान ले सकती है चम्बल" चंबल उत्तर भारत की सबसे गहरी नदी। जहाँ तक चंबल के जानकार बताते हैं, अपने इतिहास में उसने आज तक अपने तटबंध नहीं तोड़े। चंबल कब की एक मिथक बन चुकी है। लोक में चंबल के रूप में विख्यात नहीं, कुख्यात! ... पृथ्वी के गर्भ में जितनी गर्मी होगी उससे कम गर्म व गुस्सैल नहीं है यह नदी।... चम्बल की घाटियों में किसी सभ्यता के खंडहरों के अवशेष नहीं दिखाई देते। भारत में करीब सभी नदियों की पूजा होती है, उनके तटों पर तीर्थ स्थल है, उनके जल में स्नान करने से पाप धुल जाने की मान्यता है, लेकिन चंबल के भाग्य में यह सब नहीं। शास्त्रों में

पितरों की प्रिय चर्मण्वती जो निकली पारियात्र पर्वत की घाटियों से। सतयुग में राजा रतिदेव ने यहाँ अग्निहोत्री यज्ञ कर इतने जानवरों की बलि दी बताई कि इस नदी के किनारे चमड़े से भर गए। इसी कारण इस नदी का नाम चक्र चर्मणी हुआ। देश-दुनिया में आदर्श पुत्र के नाम से विख्यात श्रवण कुमार का भी माथा चकरा गया था चंबल के निकट आते ही।"... श्रवण के माता-पिता चंबल के रहस्यों को भांप गए थे। " वे जानते थे कि इस नदी के प्रभाव क्षेत्र में साधु-संतों के भी दस्युओं में परिवर्तित हो जाने की मानसिकता बन जाने की दुर्संभावना रहती है…चंबल का अपना कोई रहस्यमय अभिशाप है। उस अभिशाप का वह प्रतिरोध करती है अपनी ही तरह प्रतिशोध लेकर। इसलिए तटबंध तोड़ सकने तक के स्तर की बाढ़ नहीं आने देती वह अपने में। इस काम के लिए पैदा करती है बागी जो कुछ ही दिनों में बनते हैं धाड़ेती(हल्ला बोलते हुए लूटनेवाले गिरोह) और फिर डाकू।"2

अपनी भौगोलिक संरचना के कारण तो चंबल क्षेत्र उपेक्षित रहा ही है लेकिन उसकी उपेक्षा का एक कारण प्रशासन द्वारा उसकी अवहेलना भी है। व्यवस्था की कमी की ओर संकेत करते हुए लेखक कहते हैं कि "कैसी विकट विडंबना है डांग के नाम से पहचानी जाने वाली इस धरती की कि आसमान में मुंबई महानगर से चलकर फिल्मी गीत की धुन कितने नदी-नालों -पर्वत-अरण्यों को पार करती हुई पहाड़ों के मध्य निर्मित बारेठा के बांध तक क्षण भर के भीतर आसानी से पहुँच जाती है किंतु लोकतंत्र और विकास का कोई भी हिस्सा देश की राजधानी दिल्ली या राज्य की राजधानी जयपुर अथवा जिला भरतपुर के मुख्यालय से यहाँ तक नहीं पहुँच पा रही है!3… डांग की प्रमुख समस्या भौतिक विकास की है जो हमारी समग्र व्यवस्था पर बड़ा प्रश्न खड़ा करती है।

डांग की भौगोलिक संरचना के अनुरूप वहाँ के लोगों ने अपने को ढाल लिया था लेकिन डकैतों और पुलिस बल के बीच की तनातनी में वे शोषण का शिकार होते रहे। आये दिन डकैत और लुटेरों का आतंक था। ग्रामीणों के लिए समस्या थी कि वे या तो उन्हें शरण दे या फिर उनकी ज्यादतियां सहें। "शरण और सेवा के बावजूद बस्ती की कोई बहन-बेटी सुरक्षित नहीं रह पाती थी।"4 दूसरी ओर उनकी सुरक्षा के

लिए तैनात किए गए पुलिसकर्मी भी कभी उनके लिए परेशानी का सबब हो जाया करते थे। आरएसी के डिप्टी कमांडेंट रहमत खान ने इसीलिए आरएसी की पोस्ट बस्ती से दूर 300 फिट ऊपर एक टीले पर बनाने का आदेश दिया ताकि पोस्ट पर तैनात कोई जवान बस्ती की किसी महिला के साथ बदफैली न कर दें।

गरीबी,बेकारी और बेरोजगारी ने इनके जीवन को दुष्कर बना दिया था। रोजगार के बेहद सीमित अवसर और बाहरी लोगों की घुसपैठ ने संसाधनों तक इनकी पहुँच को धीरे-धीरे खत्म कर दिया। कभी राजपरिवारों के आश्रम में रहने वाले सातों जातियों के समाज, उनकी सेवा-चाकरी के विभिन्न कार्यों में लगा निश्चित होकर अपना जीवन यापन करता था लेकिन बदलते हुए वक्त के साथ जब राजपरिवारों की रुचि राजनीति में पसरने लगी तो उससे जुड़े लोग आवासीय महल तक सिमटने लगे। इनकी जीवन स्थितियां बदलने लगीं। सिंघाड़े की खेती से कीर परिवारों का जीवनयापन नहीं हो पा रहा था इसलिए वे पत्थर की खानों में मजदूरी करने लगे। बारेठा के बांध में मछली पकड़ने के ठेके की नीलामी की दरें बढ़ा दी गई इसीलिए उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल की तरफ से बड़े-बड़े ठेकेदारों का इस व्यवसाय पर एकाधिकार हो गया।

जिसतरह एक कुशल फोटोग्राफर एक बड़े दृश्य को एक छोटी तस्वीर में समेट लेता है उसी तरह हरिराम जी डांग क्षेत्र की संपूर्ण स्थिति की तस्वीर बेहद कम शब्दों में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। यह तस्वीर केवल एक दृश्य को ही नहीं दिखाती वरन उसके पीछे के यथार्थ को भी उजागर करती है। "डूंगरों की डांग और डांग के डूंगर। बीच-बीच में चौड़े पठार। यहाँ-वहाँ खड़ी डांगरों की खिरकाड़ियाँ। डूंगरों के ढलानों से उतरते और घाटियों से गुजरते नदी-नाले। तलहटियों में चरते हुए ढोर-डंगर। बीच-बीच में रोड़े-कंकड़ों को साफ कर बनाए गए खेत, खेतों के इर्द-गिर्द बसी बस्तियां, बस्तियों में पसरी गरीबी, भुखमरी, बीमारी। ऊबड़-खाबड़ पथरीली राहों के आसमान में भरा हुआ जीवन का सूनापन। इस सूनेपन को घेरे हुए चिंताएं, अनिश्चय, आशंकाएं, असुरक्षा, भय। यह दृश्य है जीवन से जूझती डांग की साधारण जनता का संघर्ष! और दूसरी तरफ डांग की पहाड़ी धरा की छाती को रौंदते बुलडोजर, अर्थ-मूवर, धरा की नसों में बिछाए गए डायनामाइट, लाल व भूरे पत्थर की खदानें, विक्रय

हेतु संचयित पत्थरों के लंबे-चौड़े शोरूम, खान मालिको की आलीशान कोठियां, राजनेताओं के दौरे व जादुई दावों और प्रशासनिक खानापूर्ति के बीच खानिया मज़दूरों के फेफड़ों में फैलता सिलिकोसिस का रोग!"5

ऐसी कठिन स्थितियों में जहाँ व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए संघर्ष कर रहा हो वहाँ समाज व्यवस्था में उच्च वर्ग, जमींदारों, मालिकों, दलालों और पुलिस की प्रताड़ना के कारण सहनशक्ति छीजने लगती है और समस्त अभावों से ग्रस्त मानव, आक्रोश से भरा प्रतिशोध का मार्ग अपनाता है। उपन्यास में हमें बहुत से भोले भाले ग्रामीण युवकों के डाकू बनने की कहानियाँ मिलती हैं । डांग के एक गांव निठार में भीषण अकाल के बावजूद रियासती हुकूमत द्वारा लगान की उगाही जारी रखने का विरोध किसना व मन्नु द्वारा किया गया। किसना और मन्नू के कहने पर गांववालों ने लगान देने से इनकार कर दिया इस पर पुलिस के दरोगा के साथ रियासत के जमींदार ने आकर गांववालों के साथ बुरी तरह मारपीट की और उनके घरों में आग लगा दी। किसना और मन्नू को पुलिस द्वारा पकड़ लिया गया लेकिन वे दोनों जेल तोड़कर फरार हो गए और उन्होंने अपना दल बनाकर रियासत व ब्रितानी हुकूमत के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया। पुलिस ने दोनों के खिलाफ़ राजद्रोह सहित डाकाजनी व लूट वगैरह के दर्जनों मुकदमे दर्ज कर उन्हें बाकायदा दस्यु करार दे दिया। और इस प्रकार सरकारी रिकॉर्ड में उन्हें हमेशा के लिए डाकू बना दिया गया लेकिन लोक में ये बहादुर नायकों के रूप में याद किए जाने लगे। उनकी प्रशंसा में गीत गाए जाते। पुलिस और प्रशासन की नजरों में ये अपराधी होंगे लेकिन ग्रामीणों की नजरों में ये अपने हक के लिए आवाज उठाने वाले बहादुर नायक हैं।

उपन्यास में हमें दमन और शोषण के कई रूप दिखाई देते हैं। हम देखते है कि राष्ट्र की सीमाओं का रक्षक फौजी और समाज का शांतिप्रहरी पुलिस का सिपाही किस प्रकार समाज का दुश्मन बन जाता है। कर्नल हरभानसिंह गुर्जर करौली जिले के सलेमपुर थाने में था। उसका भतीजा जगबीर सिंह फौज में भर्ती था। कैप्टन द्वारा माँ-बहन की गाली देने पर उसने कैप्टन की पिटाई कर दी थी जिसपर उसके खिलाफ़ कोर्ट मार्शल

की कार्यवाही की गई। वह परेशान होकर वहाँ से भाग गया और डाकुओं के गिरोह में शामिल हो गया।

लेखक ने अपने अनुभव से जाना है कि "इस डाँग में दस्युओं का जन्म अभाव और अन्याय की धरती से होता रहा है। डाकू बनना कोई नहीं चाहता। यह भौतिक विवशता है जो ताकतवर होते -होते 'नायकत्व' की छवि ग्रहण करने लगती है। दस्यु कितना भी बुरा हो, किंतु डांग का यथार्थ यह है कि वह सेठ-साहूकारों और राजनेता व अफसरों से बुरा नहीं होता। सच तो यह है कि सबका अपना-अपना यथार्थ होता है।"6

कुछ ऐसे भी युवक थे जो डकैतों के गिरोह के द्वारा जबरन दस्यु बना दिए गए जैसे डाकू उमराव। बचपन में ही माँ का साया उठ जाने के बाद पिता ने माँ-बाप दोनों की भूमिका निभाई लेकिन राजा की कोठी से बेरोजगार हो जाने के पश्चात् बेगार करके अपने बच्चे को पालने वाले उमराव के पिता क्षयरोग से मृत्यु को प्राप्त हो गए थे। पिता का साया उठने के बाद उसने खान में मजदूरी करना शुरू किया और वहीं उसका संपर्क दस्युओं के एक दल से हुआ जिसने उसे कई किस्म के प्रलोभन देकर उसके हाथों में बंदूक थमा दी। न चाहते हुए भी डर के कारण वह गिरोह से मुक्त नहीं हो सका था।

कई बार सत्ता और पुलिस की भागीदारी थी किसी को अपराध की राह की ओर अग्रसर करती है। चंबल क्षेत्र का नामी डकैत मलखान सिंह एक पत्रकार को बताता है कि "मेरे गांव के सरपंच ने मंदिर की सार्वजनिक भूमि को जबरन हड़प लिया। जब मैंने इसका विरोध किया तो स्थानीय पुलिस से मिलकर मेरे ऊपर झूठा मुकदमा लगवा दिया और मुझे गिरफ्तार करवा दिया। यही नहीं मेरा जो मित्र इस प्रकरण में मेरी मदद कर रहा था उसकी हत्या तक करवा दी। गांव का वह सरपंच प्रदेश के ताकतवर मंत्री का सगा था। उसके प्रभाव में पुलिस ने यह सारा षड्यंत्र रचा। मेरे पास कोई चारा शेष नहीं था। हार थककर मुझे बंदूक उठानी पड़ी।"7

उपन्यास में हम ऐसे डाकुओं से भी साक्षात्कार करते हैं जो ये बताते हैं कि वे एक साधारण जिंदगी जीने के आकांक्षी थे किंतु प्रताड़ना ने उनके भीतर प्रतिशोध को जन्म दिया 1 आत्मसमर्पण कर चुके डाकू पंचमसिंह ने कारावास की सजा के बाद अपना

सारा जीवन आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक कार्यों में व्यय किया । उसके आचरण को देखते हुए उसकी उम्रकैद की सजा को कम कर दिया गया। वही दुर्दांत डकैत आज देशभर में कॉलेज छात्रों और जेल में सजा काट रहे बन्दियों को अहिंसा का पाठ पढ़ा रहा है। हालत ने उसे भी अल्पआयु में इस अपराध की दुनिया की ओर धकेल दिया। पंचायत चुनाव के समय प्रभावशाली लोगों के द्वारा बार-बार प्रताड़ित किए जाने के बाद वह अपने एक दर्जन साथियों के साथ चंबल में कूद गया और बागी हो गया अपने दुश्मनों से प्रतिशोध लेने के लिए "आज यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि बदले की भावना ने मुझे अंधा कर दिया था। वैसे मैं आज भी इस आयु में बिना चश्मे के देख सकता हूँ लेकिन प्रतिशोध की भावना के अंधे को आप क्या कहेंगे?"8

यहाँ कुछ ऐसे भी युवक हैं जो अनजाने में अपराध कर बैठते हैं और फिर पुलिस से बचने के लिए चंबल के बीहड़ों में चले जाते हैं। गांव के सरपंच की हत्या कर भूतपूर्व सरपंच मीठालाल गुर्जर का लड़का सिरमोहर गुर्जर इसी प्रकार बागी बन जाता है। वह अपनी इच्छा से डाकू नहीं बना परन्तु मजबूरी ने उसे डाकू बनाया। अपने गैंग के लोगों से कहा हुआ उसका यह कथन इस बात की ओर संकेत करता है "डकैतीन में कछु पल्ले ना परे भैनचो ... पहले खतरों, बस्ती में काउ पे बंदूक है सकै। दूजी, ससुरा या गहनेन (जेवरात) ने किते बेचते फिरें। फिर मडर है जाय तो बड़ो केस। पकड़ (अपहरण) करो। वा बी काउ बच्चा की नहीं। बीमार या बूढ़े की बी नायं । इन आफ़तन ने कौन संभाले?"9

'डांग रहस्य' के संपादक प्रेमराज तिवारी को चंबल के बीहड़ों पर राज़ करने वाले कुख्यात डाकू मोहर सिंह ने कहा था "जब तक अन्याय हैं, बागी पैदा होते रहेंगे।"10

लेखक इस बात पर भी विचार करते हैं कि आखिर चम्बल की इस धरती में दस्यु पीढ़ी खत्म क्यों नहीं होती। वे उन कारणों की तह तक जाते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि " अनेक किस्म के सामाजिक कारणों के अतिरिक्त सरकारी व्यवस्था भी इसके लिए काफी हद तक जिम्मेदार है। ठेठ मानसिंह राठौड़ से लेकर फूलनदेवी

तक की कहानी जहाँ से जड़े लेती है वहाँ कहीं न कहीं स्थानीय पुलिस का गैरजिम्मेदाराना आचरण एक बड़ा कारण बनता है। ऐसे शांतिप्रिय जीवन जीने वाले नागरिकों ने आखिर अन्याय का बदला लेने के लिए ही तो हथियार उठाए। अगर पुलिस एवं उससे आगे की न्यायिक प्रक्रिया अपनी भूमिका समय पर और सही रूप में निभा लेती तो शायद इन लोगों के बागी होने की नौबत नहीं आती। यह बात काफी सीमा तक सही है कि पुलिस सहित आपराधिक न्याय प्रणाली धनबलियों तथा अन्य प्रकार के असरदार लोगों के प्रभाव में काम करती रही है। पीडित पक्ष की व्यवस्था एवं स्थापित प्रक्रिया के तहत न्याय मिलना बहुत मुश्किल रहा है और वह भी वहाँ जहाँ लोग गरीब हैं, अशिक्षित हैं, व्यवस्था के क्रिया-व्यवहारों से वाकिफ नहीं हैं।"11

यहाँ गब्बर सिंह जैसे डाकू है जो गांव वालों पर अत्याचार करते हैं तो मानसिंह जैसे डाकू भी जिनके मंदिर बनाकर गांव वालों द्वारा पूजा जाता है। " पुलिस रिकॉर्ड में डाकू मानसिंह के खिलाफ़ डकैती लूट के एक हजार एक सौ बारह व क़त्ल के एक सौ पिचासी मुकदमे शामिल थे।अपनी कुख्याति के बाद भी इलाके में वह एक सम्माननीय व्यक्ति था।.. बड़ा इनाम था उसके ऊपर। सरकार उसे मरा हुआ देखना चाहती थी। कहते हैं कि वह रॉबिनहुड से कम नहीं था। उसके सम्मान में गांव में मंदिर बनाया गया था । मानसिंह अलग किस्म का बागी था। वह ऐसा बागी था जो किसी भी तरह किसी साधु से भिन्न नहीं था। " उसका जिक्र लोक गीतों में होता था-

रास्ता चलता कोई ने लूटा, ना बहनों से छीने हार।
जो भी मिला सो बाँट दिया, बहनों को पहनाये भात (मायरा)12

डांग क्षेत्र में पुलिस की शह पर भी बहुत से अपराध पनप रहे थे। धौलपुर का राजाखेड़ा कस्बा जुआ सट्टा जैसे सामाजिक अपराध के लिए बदनाम था और "पुलिस खुद माहवारी लेती थी ऐसे तत्वों से। कस्बे के व्यापारी वर्ग की सट्टेबाजी में संलिप्तता बड़ी मात्रा में थी। राजाखेड़ा के सट्टे के तार सीधे बम्बई के मटका-माफिया से जुड़े थे। साधारण सट्टे से अधिक यहाँ के व्यापारी जुड़े हुए थे, जिन्स के सट्टे से जिसका सीधा ताल्लुक था आगरा की अनाज मंडी से।"13

इन अपराधों में पुलिस की संलग्नता ने स्थिति को और बदतर बना रखा था।l "स्थानीय विधायक ने खुलेआम कहा "पुलिस स्वयं नहीं चाहती कि डाकू का आतंक चंबल बेल्ट से समाप्त हो। पुलिस के लिए डकैती की समस्या कोई समस्या न होकर कमाई का साधन रही।.. "कई वरीष्ठ पुलिस अफसरों ने इस बात से अप्रत्यक्ष रूप से सहमति जताई। एक ने तो यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया, "कई दफा हमारे अपने आदमी डाकुओं से मिल जाते हैं और हमारे दस्यु उन्मूलन अभियान की गुप्त खबर उन तक पहुंचाते पाए गए हैं।"14

पहले के जमाने में डाकू ऐलानिया डाका डाला करते थे शायद उन्हें मालूम था पुलिस विभाग की कमजोरियों का। एस.पी जगन्नाथन को आश्चर्य था कि तीन प्रांतों की पुलिस भी मिलकर उस डाकू को नहीं पकड़ पाई जिसने अपने द्वारा की जाने वाली डकैती का समय और तिथि भी निश्चित कर दी थी। उस घटना के संदर्भ में पुलिस की नाकामी के कारणों का विश्लेषण करते हुए लेखक बताते हैं कि "वो ज़माना अलग था। आजादी के बाद राजस्थान नया नया बना था। पुरानी रजवाड़ी पुलिस के कुछ अफसरों को ज्यों का त्यों समायोजित करने की मजबूरी थी। धौलपुर का वह पुलिस अफसर भी कुछ इसी किस्म का होगा, जिसके पास रियासती अनुभव से आगे आज जैसे अंतरप्रांतीय अनुभव और अकल कहाँ से आती?"15

फिर थानेदार मुरलीधर और एस.पी उमेशसिंह भाटी जैसे पुलिस अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करके जनता की सुरक्षा के लिए बनाई गए पुलिस विभाग पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं। थानेदार मुरलीधर की मूढ़ा पंचायत में "सबसे वजनदार ऐसे शख्स हुआ करते थे जो सूखी सिफारिश में विश्वास न कर उसके साथ दलाली का तड़का लगाते हुए रिश्वत का लेन देन करते करवातें थे। मुरलीधर के सबसे प्रिय आदमी इसी श्रेणी के होते थे। आधे फैसले तो मुरलीधरन बिना रपट के ही करवा देता था। जो मामले संगीन किस्म के होते या जिनमें तनातनी की राजनीति होती या कोई अन्य अड़ियल कारण पृष्ठभूमि में होता उन्हीं मुकदमे को दर्ज करने की नौबत आती थी। थानेदार मुरलीधर की ऊपर की कमाई में दारू के ठेकेदारों, पुलिस थाने के जांच अधिकारियों, डग्गामारी वाहन संचालकों, ट्रैफिक पुलिसकर्मियों तथा मूढ़ा पंचायत

के 'इज्जतदार' दलालों का योगदान मुख्य रूप से होता था।... फिर भी वह अफसरों का चहेता था क्योंकि "ऊपर की कमाई में से जो खर्चा होता था निश्चित रूप से उसमें अफसरों की बंदी, उनकी बेकार, थाना स्टाफ के मनोबल व मोटिवेशन हेतु विशेष खाना पीना शामिल होता था।"... एक और जो विशेष बात थी उसके नुस्खे में वह थी कि" जिस किसी भी पक्ष से वह रिश्वत लेता उसका करीबन दस फीसदी हिस्सा देने वाले को तुरंत लौटा देता था यह कह कर कि अपने बाल बच्चों के लिए बाजार से मिठाई लेते जाना। जिसका फायदा यह होता कि रिश्वत देने वाला रिश्वत की बात करने के बजाय मुरलीधर की तारीफ करता" मुरलीधर की खामियां और खूबियाँ बताते हुए लेखक एक और बात यहाँ जोड़ते हैं "न जाने यह पाठ मुरलीधर को किस गुरु ने पढ़ाया। पुलिस की ट्रेनिंग में तो ऐसे नुस्खे नहीं सिखाए जाते।"16

राजनेताओं का दखल भी अपराधियों को शह देने और ईमानदारी से अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए पुलिस अधिकारियों की राह में रोड़े डालने का काम करता हैं। "धौलपुर के तीन घराने... तीनो के मुखिया अपने अपने इलाके में धाक जमाते आए राजनीतिक व्यक्तित्व थे वह सभी कांग्रेस पार्टी में अपना अच्छा खासा स्थान रखते थे। इन तीनों नेताओं की सहमति के बिना किसी भी महकमे के अधिकारी का पदस्थापन धौलपुर जिले में संभव नहीं था। एक और लिखित समझौता चलता था कि तीनों में से पहले दो बड़े घराने एस.पी व कलेक्टर में से एक एक को बांटकर अगली बार की अदला बदली के आधार पर पदस्थापित करवातें थे।"17

डाकुओं को उनके अपराधों के कारण बुरी नजर से देखा जाता है लेकिन राजनीति में होने वाले अपराधों के संबंध में प्रायः ऐसा नहीं होता। डकैती से राजनीति में आएं डाकू हरिसिंह अपने मित्र टीकम को राजनीति के अखाड़े के सारे दांवपेंच बताते हुए कहते हैं कि जब वह बागी था तो डांग के बिहार में सिंह बनकर घूमता था लेकिन राजनीति में, सत्ता में आने के लिए वॉटर्स के हाथ जोड़ने पड़ते हैं ,कंबल बांटना, दारू सप्लाई करना, पैसे देना इस सबके बावजूद भी परिणाम के प्रति निश्चित नहीं हुआ जा सकता क्योंकि आज के वोटर चालाक और सजग है जो अपने कान खुले रखते हैं लेकिन मुँह बंद रखते।

ऐसा नहीं है कि इस क्षेत्र के विकास के लिए योजनाएं नहीं बनाई गई लेकिन हकीकत यह भी है कि इन बनाई गई योजनाओं का क्रियान्वयन ईमानदारी से नहीं हो पाया। योजनाओं का लाभ उठाने वाले असली हकदार तो वंचित ही रह गए। लेखक बताते हैं कि " नेता है, सेठ है, अफसर हैं, उनके भ्रमण है, उनके कैंप लगते हैं, जन कल्याणकारी संगठनों के बहुप्रचारित कार्यक्रमों के उद्घाटन होते हैं और उनके साथ होता है पूरा का पूरा सरकारी लवाजमा, सजावट, ढोल धमाका, मीडिया लेकिन भौतिक यथास्थिति बरकरार है। सरकारी नीतियां हैं , योजनाएं हैं, बजट है, फाइलें बनती हैं , निस्तारित होती है किंतु लोगों की जीवन दशा में कोई परिवर्तन नहीं। अभियान चलाए जाते हैं, टारगेट दिए जाते हैं, आंकड़े-प्रतिवेदन-विश्लेषण किए जाते हैं और बैठक-विमर्श-प्रेसवार्ता वगैरह के माध्यम से गत वर्षों की तुलना में प्रति वर्तमान वर्ष सफलता एवं उपलब्धियों के ऊंचे ऊंचे दावे किए जाते हैं। हर साल सबकुछ चालू होता दिखाया जाता है लेकिन सब कुछ अडिग है। जैसे देश दुनिया में बहुत प्रगति हो रही होगी परंतु इस डाँग के क्षेत्र के लिए समय की सुई प्रकट तौर पर जहाँ की तरह ठहरी हुई प्रतीत होती है.. लेखक कहते हैं कि सृष्टि के प्रत्येक तत्व और उसकी नैसर्गिकता में परिवर्तन का क्रम निरंतर चल रहा है किंतु "जो यहाँ का जन साधारण है चाहे वह कृषक है, श्रमिक है, शिल्पी है, सेवक हैं, पशुपालक हैं वनोपजीवी है, डेराबंद घुमंतू जन समूह है अथवा हरजीनाथ जैसे यायावर हैं , उन सब के इर्द गिर्द कालचक्र क्यों नहीं घूमता, परिवर्तन की आहट क्यों नहीं सुनाई देती, लोकतांत्रिक सहभागिता और विकास में साझेदारी क्यों नहीं दिखाई देती? वही सदियों पुरानी भूख,, कुपोषण बीमारी, गरीबी के साथ जीवन के लिए आधारभूत अनिवार्य भौतिक सुविधाओं का अभाव और तज्जन्य अपुष्ट बचपन, उमंग हीन युवावस्था, अशक्त प्राणतत्व और अंत में समय से पूर्व ही मृत्यु का आह्वान करने के लिए अभिशप्त कष्टप्रद बुढ़ापा!... डांग क्षेत्र में हुए विकास पर व्यंग करते हुए लेखक लिखते हैं " ऐसा नहीं है कि डांग की इस भूमि ने बदलाव नहीं देखे हैं, लेकिन वे सारे बदलाव मनुष्यों के एक विशिष्ट वर्ग के खातों में जमा हुए हैं। यहाँ राजनेताओं के कद ऊंचे उठे हैं, सेठों की तोंद फैली है, सरकारी अफसर कर्मचारियों के घरों में समृद्धि बढ़ी है, ठेकेदारों, दलालों, वकीलों व ऐसे ही अन्य लोगों के यहाँ बदलाव आया है। खास आदमी की

खुशहाली और आम आदमी की बदहाली का एकमात्र कारण जो आसानी से समझ में आता है, वह है खास आदमी की बदमाशी और आम आदमी का भोलापन।" लेखक कहते हैं कि ये सब साजिश के तहत किया गया जिसमे इन आदमियों के भोलेपन का फायदा उठाकर इस असमानता को दैवीय योजना के रूप में थमा दिया गया "ताकि वह कोई प्रतिकार नहीं कर सके, अपने तथाकथित भाग्य के शिलाखंड को पलटने का संकल्प नहीं कर बैठे, अपनी हथेलियों की भाग्य-रेखाओं को स्वयं परिवर्तित नहीं कर सके।"18

अपराध को पैदा करने, विकसित करने और बनाए रखने में बहुत सारे लोगों का स्वार्थ सिद्ध होता है। इसी के चलते अपराधियों को मिलने वाली चौतरफा सहायता के आगे पुलिस के प्रयास नाकामयाब हो जाते हैं। आत्मसमर्पण कर चूके डाकू मोहरसिंह बताते हैं कि "हम भारतीय सेना से जुड़ें लोगों के माध्यम से हथियारों का प्रबंध किया करते थे। चंबल क्षेत्र के काफी आदमी भारतीय सेना में फौजियों के रूप में भर्ती होते रहे हैं। उनमें से कई जने डाकुओं को हथियार उपलब्ध कराते रहे हैं। दूसरा रास्ता है नेपाल से हथियार व कारतूस की आपूर्ति का। डाकू दयाराम गड़रिया तथा बाबूराम प्रायः जम्मू कश्मीर के आतंकवादियों से हथियार खरीदा करते थे। एक अन्य स्रोत पुलिस हुआ करती। डाकुओं के आतंक से बचाव हेतु भारी मात्रा में जोग संयोग से लाइसेंसी हथियार चंबल इलाके के वाशिंदों को प्रशासन द्वारा दिए जाते रहे हैं।"19

बड़ी समस्याओं से निजात पाने के लिए सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता होती है। डांग क्षेत्र का विकास करने के लिए 'साहसिक पर्यटन अथवा चंबल सफारी' नाम से एक योजना बनाई गई जिसमें चंबल के दस्यु प्रभावित इलाके के उन डाकुओं को शामिल करने की योजना थी जो आत्मसमर्पण कर चुके थे या मुकदमे से दोषमुक्त हो गए या अपनी सजा काट चुके। सक्रिय डाकुओं को भी आत्मसमर्पण करवा के इस योजना का हिस्सा बनाने का प्रयास था। इसके माध्यम से समाज की मुख्यधारा में आ चुके दस्युओं को पर्यटन गाइड के रूप में रोजगार देने की योजना थी।

बहुत से डाकुओं को इस शर्त पर आत्मसमर्पण करवाया गया था कि उन्हें राजस्थान पुलिस में नौकरी दी जाएगी। हरनामसिंह भाटी मारवाड़ का कुख्यात डाकू रहा था लेकिन आजादी के पश्चात जब राजस्थान का एकीकरण हुआ तब आत्मसमर्पण के बदले उसे राजस्थान पुलिस में हवलदार के पद पर सीधी नियुक्ति दे दी गई।

यहाँ हम देखते हैं कि पी. जगन्नाथन जैसे कानून के रक्षक, बेहद ईमानदार और कुशल पुलिस अफसर हैं जो कानून के दायरे में रहकर अपने निर्धारित कर्तव्यों का निर्वाह करते हैं लेकिन एस.पी उमेशसिंह भाटी के जैसे पुलिस अफसर भी हैं जो अपनी मनमर्जी की राह अख्तियार कर के कानून का उल्लंघन करते हैं। आगरा से सिरमोहर को गिरफ्तार करने के बाद उम्मेदसिंह भाटी उसका फर्जी एनकाउंटर करवा देते हैं जिसका पता पी. जगन्नाथ को लग जाता है l सिरमोहर की हत्या करने के संबंध में उम्मेदसिंह भाटी द्वारा दी गई सभी दलीलों को सुनने के बाद वे कहते हैं "अल्टीमेटली वी आर गाइड बाय लॉl फर्जी मुठभेड़ गैरकानूनी होती है। अपराध है। हमें कानून ने किसी को मारने का अधिकार नहीं दिया है चाहे वह दुर्दांत डाकू ही क्यों न हो। आप उसे गिरफ्तार करते। मजबूत साक्ष्य जुटाते। अगर जघन्य हत्या जैसा अपराध किसी के विरुद्ध सिद्ध हो जाता है तो अदालत से फांसी तक की सजा का प्रावधान है।"20 पी. जगन्नाथन ऐसे जांबाज और समर्पित पुलिस अफसर हैं जो दस्यु समस्या के उन्मूलन को एक बड़ी जिम्मेदारी के रूप में लेते हैं और उन्होंने इस समस्या के कारणों पर गहराई से विचार किया है। जो एक सबसे बड़ा कारण इस समस्या का उन्हें नजर आया वह था वह था युवा वर्ग में बेरोजगारी और इस बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए ही वे केंद्रीय रिज़र्व पुलिस फोर्स के महानिदेशक और अपने घनिष्ठ मित्र की सहायता से धौलपुर और करौली जिले में सिपाही पद की भर्ती के व्यापक प्रयास करते हैं। ऐसे अधिकारी ही पुलिस विभाग की स्थापना के उद्देश्य को सही मायने में पूरा करते हैंl

पर्यटन विभाग, पुलिस विभाग, सूचना क्रांति और नई तकनीक से पुलिस की कार्यशैली में आई तेज़ी, खेल जगत, भूतपूर्व दस्युओं का सहयोग ,मीडिया और प्रशासन के सम्मिलित और निरंतर सहयोग से डांग क्षेत्र पूर्ण रूप से दस्यु समस्या से

मुक्त हो पाया। और अब "चंबल न कठोर है, न निर्मम, न संवेदना शून्य, न दस्यु प्रसूता और न ही प्रतिशोध आतुर द्रौपदी। "21

पुलिस की नौकरी निरंतर सतर्कता, गतिशीलता और कठिन परिश्रम की मांग करती है। कई बार सामाजिक और प्रशासनिक दायित्वों को निभाते हुए पारिवारिक दायित्वों की उपेक्षा होने लगती है। कई बार ऐसा भी होता है कि इस कठिन जीवन से व्यक्ति कुछ पल के लिए अवकाश चाहता है। उपन्यास में कुमार विवेक द्वारा अपने अफसर को लिखी गई चिट्ठी उसकी इसी आकांक्षा को व्यक्त करती है। वह लिखता है "मेरी इच्छा है कि जागृत व निद्रावस्था में इस माहौल से छुटकारा पाऊँ। धौलपुर के इस डांग व चम्बल नदी से दूर मैं देखना चाहता हूँ उन पर्वत श्रृंखलाओं को जहाँ मेरे एस.पी होने का कोई संबंध नहीं हो। मैं उन अरन्यान्चालों में विचरण करना चाहता हूँ जिनमें किसी तरह के दस्यु-दल अथवा माफिया न हो। मैं उन बागों में घूमना चाहता हूँ जहाँ कोयल कुक रही हो, मयूर नाच रहे हों , मदमाता पवन बह रहा हो, फूल खिल रहे हो, कोपलें फूट रही हों , दूब की नन्ही पत्तियाँ झूम रही हों। मैं नौका विहार करना चाहता हूँ चांदनी रातों में उन नदियों की लहरों पर जहाँ बंदूक की गोलियों की आवाजें नहीं सुनाई दें। मैं टहलना चाहता हूँ सांझ-सवेरे पक्षियों के कलरव के बीच।… इन सबके बीच मैं भावनाओं के सागर में डूब कर करना चाहता हूँ प्रेम मेरी पत्नी से जो मुझसे मिलने की प्रतीक्षा करती रहती है प्रतिपल।… कहते हैं पुलिसवालों को फुर्सत मिलती है श्मशान या कब्र में। मैं इस कहावती मिथक को तोड़ना चाहता हूँ।"22

विचारों का ताल, तिमनगढ़ का किला और उससे जुड़ी अमली नटनी की कथा,धौलपुर के कस्बे बाड़ी व सरमथुरा तथा भरतपुर के थाना गढीबाजना की त्रिकोणीय सीमा स्थल पर स्थित पुरानी शिकारगाह ,मचकुंड, मुगल गार्डन से लेकर अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक स्थलों से इस प्रकार लेखक पाठक को परिचित कराते चलते हैं कि उसे यह आभास होता है जैसे कि वह साक्षात उन स्थलों से गुजर रहा है। उनसे जुड़ी लोक कथाओं और मिथकों के वर्णन ने पाठक को एक रोचक चंबल सफारी का आनंद दिया है।

डांग के ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक समस्याएं, सामुदायिकता, जीवन और प्रकृति से प्राप्त उनके अनुभव, संघर्षपूर्ण जीवन में भी गांव के सामूहिक मंच पर समय-समय पर आयोजित परंपरागत लोकविधाओं द्वारा मनोरंजन, लोक की वाचिक परंपरा में भरतरी-गूजरी की कथा, कामाख्या देवी की स्त्री उपासकों और मत्स्येन्द्रनाथ की कथा, भरतरी -पिंगला की कथा डांग की पूरी आंचलिकता को अपने में समेटती है। कथ्य और तथ्यों का संतुलन उपन्यास की रोचकता को बनाए रखता है। डांग की पूरी आंचलिकता को प्रस्तुत करते हुए, डांग ,चंबल और डकैतों के इतिहास को समेटते हुए, लेखक ने डाकुओं और पुलिस कर्मियो की जीवन कहानियों को सामने रखा है।

निष्कर्ष

अस्सी -नब्बे के दशक में राजस्थान में फैले चंबल के डांग क्षेत्र में पुलिस विभाग में अपनी सेवाएँ देते हुए हरिराम मीणा इस अंचल के स्याह उजले पक्ष से परिचित होते हैं। इस अंचल से सीधे प्राप्त अपने अनुभवों को अपने उपन्यास के माध्यम से पाठकों के समक्ष रखते हैं। डांग क्षेत्र के दस्यु उन्मूलन अभियान में अपनी सक्रिय भूमिका निभाते हुए उन्होंने यहाँ पनपते और पल्लवित होते अपराधों की जड़ों तक पहुंचने की कोशिश की है। यह उपन्यास एक साथ पुलिस के अपने अनुभव, डकैतों के जीवन और इस डांग अंचल के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिदृश्य को प्रस्तुत करता है। लोक संस्कृति के इंद्रधनुषी रंग, डांग क्षेत्र की भौगोलिक संरचना को समझते हुए वहाँ के ऐतिहासिक स्थलों की यात्रा और उनसे जुडी मिथक कथाएँ उपन्यास की आद्रता को बनाए रखती हैं। 'डांग' के रूप में एक पुलिस अधिकारी के द्वारा अपने प्रामाणिक अनुभवों की कलात्मक प्रस्तुति पाठक को सहज आकर्षित करती है।

संदर्भ सूची

1. मीणा, हरिराम, प्रथम संस्करण 2019, डांग, राजपाल एंड सन्ज , दिल्ली, पृष्ठ 8
2. वही, पृष्ठ 15-16

3. वही, पृष्ठ 75
4. वही, पृष्ठ 28
5. वही, पृष्ठ50
6. वही, पृष्ठ 76
7. वही, पृष्ठ 121
8. वही, पृष्ठ 124
9. वही, पृष्ठ 95
10. वही, पृष्ठ 118
11. वही, पृष्ठ 120
12. वही, पृष्ठ 29-30
13. वही, पृष्ठ 25
14. वही, पृष्ठ 121
15. वही, पृष्ठ 22
16. वही, पृष्ठ 24
17. वही, पृष्ठ 12
18. वही, पृष्ठ 74
19. वही, पृष्ठ 122
20. वही, पृष्ठ 100
21. वही, पृष्ठ 150
22. वही, पृष्ठ 89-90

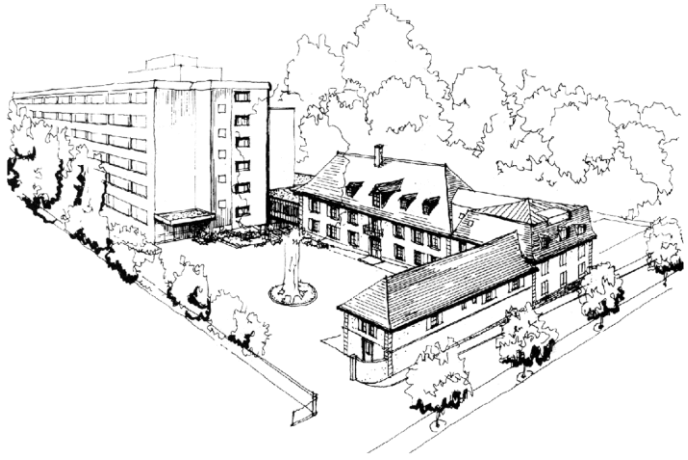

नयी कविता का मूल्यांकन और विजयदेव नारायण साही की आलोचना-दृष्टि

कादिर हुसैन
पीएच. डी. (हिंदी)
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-07
मोबाईल नंबर- 7503701632
ईमेल- kadirhusain107@gmail.com

शोध सार

नयी कविता आधुनिक हिंदी कविता के विकास परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। जिसने न केवल पहले से चली आ रही काव्यात्मक संवेदना में व्यापक अर्थ में परिवर्तन किया बल्कि अपने समय के सवालों से जूझते हुए उसने एक ऐसा मार्ग निर्मित किया जिससे काव्यानुभूति की नयी समझ विकसित हुई। यह काल ऐसा है जहाँ हमें वाद-विवाद की एक ऐसी परंपरा देखने को मिलती है जिसने काव्य जगत् की परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ने एवं उनमें कुछ मूलभूत बदलाव करने का भी प्रयत्न किया है। नयी कविता के दौर में काव्यात्मक मूल्यों के लिए रचनाकारों एवं आलोचकों ने जो संघर्ष किया है। वह अभूतपूर्व रहा है। नयी कविता का समय हिंदी साहित्य के लिए एक ऐसा समय है जहाँ रचनाकार और आलोचक कविता के माध्यम से मूल्यों की तलाश ही नहीं करते बल्कि उसे स्थापित करने के लिए आपस में वैचारिकी बदलाव की माँग भी करते हैं। मसलन की जिस ढंग से कविता और विचारधारा के सवाल पर आलोचकों में आपसी मतभेद उजागर हुए। उनको इस आलेख में समझने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा नयी कविता के मूल्यांकन में विजयदेव नारायण साही ने जो अपना पक्ष रखा उस पर प्रकाश डाला गया है। इन्हीं सभी के आलोक में विजयदेव साही की आलोचाना- दृष्टि के निर्माण को देखा और परखा जा रहा है।

बीज शब्द- *नयी कविता, विजयदेव नायारण साही, आलोचना-दृष्टि, जायसी, विचारधारा, प्रयोगवाद, तार सप्तक, बहस, वाद-विवाद, मूल्यांकन*

शोध आलेख- आधुनिक हिंदी साहित्य में स्वाधीनता प्राप्ति के बाद नयी काव्य चेतना को व्यापक अर्थों और सन्दर्भों में प्रयोगवाद और नयी कविता के नाम से संबोधित किया जाता रहा है। ध्यातव्य रहे कि प्रयोगवाद का जन्म छायावाद की अतिशय-अशरीरी कल्पना, सूक्ष्मतावादी सौंदर्य बोध और एकांगिकता के विरोध में हुआ माना जाता है। एक विचारधारा के लोग यह मानते हैं कि जीवन से कटकर कभी कोई काव्यधारा लंबे समय तक प्रवाहमान नहीं रह सकती इसलिए छायावादी काव्य की स्थिति बहुत दिनों तक संभव नहीं रही। कारणवश सामाजिक भावना के विकास के साथ कवियों के एक बड़े वर्ग ने साम्यवादी राजनीति से प्रेरणा ग्रहण की। हिंदी काव्य के इतिहास में पहली बार इतनी तीव्रता और गहराई से यह महसूस किया गया कि "साहित्य के सौंदर्य का कारण समाज है।"[1] इस पृष्ठभूमि में आगे के कवियों ने मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए साहित्य में प्रगतिवाद का समर्थन किया अर्थात् इस काव्यधारा में सामाजिक क्रांति का तीव्र स्वर सुनाई पड़ा। प्रगतिवादी कवियों ने कविता को आत्मपरक होने से बचाया और जीवन तथा कविता के संतुलन को बनाये रखा। समग्र रूप में प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी काव्यधारा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी के साथ यह कहना असत्य नहीं होगा कि प्रयोगवाद में छायावाद और प्रगतिवाद की बहुत सी मान्यताएँ और कसौटियाँ आलोचकों के द्वारा या तो अमान्य घोषित कर दी गयीं या उन्हें संशोधन और परिष्कार के साथ आत्मसात कर लिया गया। यह परिवर्तन इतनी प्रबल गति से घटित हुई कि "कविता की प्रेरणाभूमि, उपकरण, विचारधारा, काव्य और अंतर्दृष्टि से लेकर अभिव्यंजना का माध्यम भाषा, बिंब, प्रतीक, मिथक, उपमान, भंगिमा, लय, छंद, शैली सभी में परिवर्तन आया।"[2] प्रयोगवाद के कवियों ने प्रगतिवाद पर आरोप लगाये कि 'प्रगतिवाद साहित्य का संकीर्णतावादी

[1] इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2009 पृ.38

[2] https://www.iasbook.com, 'प्रयोगवाद और नयी कविता' शीर्षक से

आंदोलन है, जिसमें रचनाकार की स्वतंत्रता का अपहरण किया जाता है'। अर्थात् कविता में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल दिया गया। अज्ञेय ने प्रगतिवाद से असंतुष्ट होकर 'व्यक्ति स्वातंत्र्य सिद्धांत की स्थापना का अभियान' तक चलाया। ऐसा नहीं है कि प्रगतिवाद पर केवल आरोप तय किये गये बल्कि प्रयोगवाद पर भी आरोप लगें। विभिन्न आलोचकों ने प्रयोगवाद पर टीका-टिप्पणी कीं। इसको विशेषकर 'तार सप्तक' की भूमिका के माध्यम से देखा जा सकता है।

नयी कविता की शुरूआत कब और कैसे हुई इस पर आलोचकों में मतभेद है। सबके अपने- अपने तर्क हैं। किसी भी युग को सम्पूर्ण रूप से जानने के लिए उसके विकास की पृष्ठभूमि को जानना जरूरी होता है। नयी कविता का मूल्यांकन करते समय अज्ञेय और नयी कविता के पारस्परिक संबंध को समझना बहुत जरूरी है। दरअसल नयी कविता का नामकरण अज्ञेय ने एक रेडियो वार्ता के माध्यम से दिया है। इसी रेडियो वार्ता का प्रकाशन 'नये पत्ते' पत्रिका के जनवरी-फरवरी सन् 1953 के अंक में हुआ। इलाहाबाद में नये लेखकों की गोष्ठी जिसका नाम 'परिमल' था। इस गोष्टी से भी अज्ञेय का निकट संबंध रहा है । अज्ञेय और 'परिमल' के निकट संबंधों से ही मानों प्रयोगवाद से नयी कविता का संक्रमण संभव हुआ। इसके साथ ही 'नयी कविता' पत्रिका सन् 1954 में जगदीश गुप्त के संपादकत्व में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इस पत्रिका के अंकों में रघुवंश, साही, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय जैसे काव्य मर्मज्ञों की टिप्पणियाँ और लेख प्रकाशित हुए। साही का प्रसिद्ध लेख 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' भी इसमें शामिल है। तार सप्तक की भूमिकाएँ भी नयी कविता के स्वरूप और उसकी प्रकृति को व्याख्यायित करने में महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में रही हैं। इस दृष्टि से कहना चाहिए कि 'दूसरा सप्तक' नयी कविता की पहचान कराने का बेजोड़ दस्तावेज है। इसके साथ ही 'तीसरा सप्तक' नयी कविता की चेतना का विस्तार है। इन गोष्ठियों और संस्थानों ने नयी कविता के रचनाकारों पर जो प्रभाव डाला उसकी तरफ संकेत करते हुए साही ने एक

जगह लिखा है कि "इन गोष्ठियों का उदय पिछले दशक की अत्यंत महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। इन्होंने न केवल नयी और पुरानी पीढ़ियों के लेखकों जो उनके विकास के लिए घातक संकीर्णता से भरे हुए वातावरण से मुक्ति देकर एक ऐसी भावभूमि पर ला खड़ा किया जहाँ वे अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए भी सामाजिकता को आत्मसात कर सकें।"[1]

सम्पूर्णता में यह कहना ठीक होगा कि नयी कविता नयी परिस्थितियों की उपज रही है। नयी कविता में आधुनिक युग का सम्पूर्ण परिवेश है मसलन कि "जिसने एक ओर हमारी वैयक्तिक व सामाजिक जीवन-पद्धति को प्रभावित किया तथा दूसरी ओर संवेदनशील कलाकार की मानसिकता को प्रभावित करके कविता को नयी दिशा प्रदान की।"[2] नयी कविता सामान्य और विशिष्ट दोनों अर्थों में "अनुभूति और अभिव्यक्ति की नयी व्यवस्था की कविता है। वह एक ऊर्जावान संलाप है जिसने साहित्य तथा जीवन को प्रासंगिक, सार्थक, मानव-मूल्य प्रदान किये हैं, युग की प्रकृति के अनुसार काव्य-दृष्टियों में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का प्रयास किया तथा मानव-मुक्ति के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।"[3] नयी कविता ने अपने लिए जो राह बनायी वह उसे आसानी से उपलब्ध नहीं हुई बल्कि अपने पूर्व की कविता संबंधी मान्यताओं से संघर्ष करते हुए उसने अर्जित किया। नयी कविता में जीवन की विषम परिस्थितियाँ, रागात्मकता और यथार्थ के योग के साथ अभिव्यकि हुई है। रचनाकार मानसिक उलझनों से गुजरने के साथ अपने अनुभव को भी व्यक्त करने का उपक्रम करते हैं। नयी कविता ने शिल्प और भाव दोनों स्तरों पर अलग तरह की जीवंत कविता है। जिसके मूल्यांकन के लिए नये मानदण्ड निर्मित करने की बहस ने तीव्र गति ली। इसी बहस का नतीजा है कि इस युग की कविता के मूल्यांकन के लिए एक

[1] छठवाँ दशक, विजयदेव नारायण साही, पृ.22

[2] नई कविता, देवराज, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति-2009, पृ.10

[3] नई कविता, देवराज, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति-2009, पृ.09

तरफ 'नयी कविता के प्रतिमानों' की बात की जाने लगी तो दूसरी तरफ 'कविता के नये प्रतिमान' की खोज पर बल दिया जाने लगा। नयी कविता ने कविता की पूर्वप्रचलित समस्त अवधारणाओं को युग-जीवन की आवश्यकता के अनुरूप ढालकर नयी अर्थवेत्ता देते हुए अपना स्वरूप निर्धारित किया। विजयदेव नारायण साही ने उस समय की बहसों पर ध्यान रखकर ही लिखा है कि "नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भुक्त रही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नये प्रतीकों या बिम्बों या शब्दावलियों की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर तक काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है।"[1]

नयी कविता के वैविध्यपूर्ण स्वरूप के विषय में मुक्तिबोध का कहना है कि "जीवन की विविधता के कारण नयी कविता में कहीं गीत का स्वर है, कहीं आलोचना का स्वर, कहीं रमणीय प्रकृति की अनुभूति का स्वर है तो कहीं आत्मालोचन का रंग। सच तो यह है कि नयी कविता के भीतर कई स्वर हैं, कई शैलियाँ हैं, कई शिल्प हैं, और कई भाव पद्धतियाँ।"[2] वहीं अज्ञेय का मानना है कि "नयी कविता नयी मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब है, एक नये मूड का-एक नये राग संबंध का रूप है।"[3] अतः नयी कविता के लिए कोई भी विषय, भाव, विचार त्याज्य नहीं है, वह समस्त विचारों, आंतरिक द्वंद्वों का, मनःस्थितियों का, एक ऐसा समुच्चय है, जहाँ एकांत का एकालाप नहीं वरन् समाज से, मानव से सीधा वार्तालाप है।

नयी कविता पर बात करते हुए उसके मूल्यांकन की पद्धति अर्थात् हिंदी आलोचना के माध्यम से ही नये कवियों की विषय वस्तु, भावभूमि, वैचारिकी और सैद्धान्तिकी से अवगत होते हैं। काव्य या साहित्य के अन्य रूप को अच्छी

[1] छठवाँ दशक, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1987, पृ.195

[2] नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, मुक्तिबोध, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, संस्करण-1977, पृ.78

[3] सर्जना और संदर्भ:नयी कविता, अज्ञे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.172

तरह समझने व उनके सम्यक मूल्यांकन के लिए आलोचना महत्त्वपूर्ण टूल्स के रूप में निरंतर कार्य करती है। नयी कविता की पड़ताल करते हुए विजयदेव नारायण साही का कृतित्व हिंदी आलोचना के लिए हमेशा से ही बहस का विषय बना रहा है। बहस केवल साही को पढ़ने और समझने की ही नहीं बल्कि उनकी रचनात्मकता की कालधार्मिता एवं प्रासंगिकता की भी है। इन बहसों ने साही के कृतित्व को प्रासंगिक बनाया हो या नहीं पर इतना अवश्य किया है कि सन् 1950 की हिंदी आलोचना को समझने के लिए अनेक पहलू इस माध्यम से उद्घाटित होते चले गये। नयी कविता के संदर्भ में साही की पहचान उनकी दो पुस्तकों के आधार पर बनी- 'छठवाँ दशक' और 'जायसी'। किंतु यदि विचार किया जाए तो यह समझना कठिन नहीं है कि साही की अब तक प्रकाशित अन्य पुस्तकें भी उनके नयी कविता युगीन भावबोध से संपृक्त हैं। उनकी आलोचना की शक्तियों में नयी कविता की युगीन आलोचना की शक्तियाँ तथा सीमाओं में नयी कविता आलोचना की सीमाओं की पहचान बड़ी आसानी से की जा सकती है। 'साहित्य क्यों ?' नामक निबंध में साही एक वाजिब प्रश्न करते हैं कि आखिर साहित्य क्यों ? इस प्रश्न के पूछे जाने के पीछे साही का क्या दृष्टिकोण रहा होगा ? ऐसा नहीं लगता कि एक लेखक जो अपनी पूरी जिंदगी में बार-बार लगातार उधेड़बुन कर रहा है, विचारों को मथ रहा है, पूरी तन्मयता और शिद्दत से यह जानने में लगा है कि अपने रचनाकाल में उसने जो भी साहित्य रचा, जो भी विचार, आलोचना या कविता के रूप में प्रस्तुत किया क्या वे अपने रचनाकर्म को करने में पूर्ण ईमानदारी का निर्वहन कर सका है ? ऐसे प्रश्नों से टकराते हुए साही ने अपनी नवीन दृष्टि का निर्माण किया है।

नयी कविता के दौर ने साही के रचना-कर्म को किस प्रकार प्रभावित किया उनके इस वाक्य से समझा जा सकता है। वे लिखते हैं कि "साहित्यकार अपने युग की विशिष्ट चेतना की अभिव्यक्ति करता है। उस विशिष्ट चेतना की गंध उसे चारों ओर के वातावरण में मिलती है। और जहाँ-जहाँ वह चेतना उसके

समानधर्मा कृतिकारों को झंकृत करती है, वह सब उसका क्षेत्र है।"[1] यही साही की आलोचना का केन्द्र बिंदु है। एक कवि- आलोचक होते हुए वह निरंतर अपने रचनाकर्म का आत्मावलोकन करते रहते हैं। आंतरिक एकलाप के द्वारा वह अपने विचारों को निरंतर आलोचना की कसौटी पर कसते रहते हैं। और अपनी मौलिक समझ और स्थापनाओं से आलोचना को नयी राह देते हैं।

विजयदेव नारायण साही केवल नयी कविता के रचनाकार ही नहीं हैं बल्कि वे अपने समसामयिक मुद्दों से हमेशा टकराते उलझते रहने वाले आलोचक भी हैं। साही के आलोचना दृष्टि के निर्माण में मुख्यतः भारत का साम्राज्य, मनुष्य और साहित्य की साहित्यिकता, प्रगतिशील लेखक संघ, द्वितीय विश्वयुद्ध, गाँधी की हत्या, नेहरू युग से मोहभंग आदि घटनाओं का प्रभाव उनके रचनाकर्म में देखने को मिलता है। साही का मानना था कि व्यापक परिवेश जन्मी तनाव और संघर्ष को अभिव्यक्ति देने का काम नयी कविता में हुआ है क्योंकि कविता में सिर्फ कविता ही नहीं वरन् पूरे रचना युग की प्रवृत्तियों के साथ साथ 'सहज मानव या लघु मानव' (जिसे साही ने लघुमानव का नाम दिया) की व्याख्या अपनी सम्पूर्णता व समग्रता में व्यंजित होती है। साही साहित्य में आलोचना और विचारधारा को एक में मिलाकर देखने के खिलाफ नजर आते हैं। इसलिए वह प्रगतिशीलों की तरह साहित्य में राजनीति और राजनीति में साहित्य की बात करने के वकालत करने के पक्ष में नहीं थे। यही कारण है कि जायसी के काव्य पर किसी भी विचारधारा मतलब सूफ़ी विचार के प्रभाव को पुरजोर रूप में अस्वीकार किया। अपने लोहियावादी चिंतन के सहारे अपने युग में मार्क्सवादी आलोचना और सैद्धान्तिकी को अनेक चुनौतियाँ दिये हैं। विचारधारा और साहित्य के प्रश्नों से साही बार-बार उलझते हैं अपनी स्पष्ट राय भी देते हैं। निर्मला जैन साही के आलोचना- दृष्टि के विषय में लिखती हैं कि

[1] छठवां दशक, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1987, पृ.107

"अपनी आलोचना-दृष्टि का निर्माण करने के लिए उन्होंने मार्क्सवादी विचारकों की आलोचना-पद्धति का सूक्ष्म अध्ययन किया था और निष्कर्ष निकाला कि जो आलोचक 'प्रगतिवाद का नकाब लगाये या 'सामाजिक यथार्थ' का जामा पहने- जब भी साहित्य के अपने नियमों के विरुद्ध सीधी प्रतिच्छाया का आग्रह करेगा, साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता को आघात ही पहुँचाएगा'।"[1] आलोचना में विचारधारा का यह संघर्ष साही के कृतित्व को लगातार प्रभावित करता दिखाई देता है। जिस समय हिंदी में 'प्रगतिशील आलोचना का जोर था तब साही वैकल्पिक प्रगतिशीलता की देशी जमीन निर्मित कर रहे थे'। जिसके संदर्भ में जगदीश गुप्त कहते हैं कि "साही जी सिद्धांतों के अनुसरण में आस्था रखने से अधिक सिद्धांतों की खोज में विश्वास रखते थे। क्योंकि नये सिद्धांत नयी वैचारिक भूमिका से ही उपजते हैं। पुराने सिद्धांतों का विश्लेषण उन्हें ग्राह्य नहीं था, पर वे उनकी सही समझ के कायल थे।"[2] यहाँ साही लेखक और पाठक दोनों से यह कहना चाहते हैं कि हमें अपनी बनी बनायी मान्यताओं पर फिर से प्रश्नवाचक दृष्टि डालने की जरूरत है। साहित्य को जस का तस नहीं बल्कि नवीन दृष्टिकोणों से देखने- समझने की जरूरत है। सभी प्रकार के दबाव से मुक्त होकर तभी साहित्य के मूल्य को प्राप्त किया जा सकता है।

यह विचारणीय है कि साही एक सफल आलोचक के साथ-साथ कवि भी थे। उनका कवि मन जीवन की विशिष्टता, मानव की सम्पूर्णता को व्याख्यायित करने के पक्षधर के रूप में उभरा है। कविता में कुछ भी व्यक्त कर देना उन्हें मान्य नहीं था। वे इसकी कड़ी निंदा करते हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है कि "कुछ कवि हैं जो अपनी वैयक्तिक, उलझी, कुण्ठित और विद्रुपात्मक संवेदनाओं या एकांगी बौद्धिक मान्यताओं को ऐसी अनुभूतिहीन, दुरूह और

[1] निबंधों की दुनिया: विजयदेवनारायण साही, संपा. निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2007, पृ.10

[2] वही, पृ.07, प्रकाशकीय से

गद्यात्मक शैली में व्यक्त करने लगे हैं जिसका उद्देश्य सामान्य पाठकों तक अपने भाव-विचारों का प्रेषण नहीं होता।"[1]

'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' नामक लेख में साही मानते हैं कि साहित्य का दायित्व साहित्यकार के दायित्व से अलग नहीं है। दायित्व का बोध साहित्यकार के भीतर निहित होता है। इसका सीधा अर्थ है कि साहित्य और साहित्यकार के दायित्व में परिवर्तन निहित नहीं है। इस विषय में उनका मानना है कि कोई भी सामाजिक या साहित्यिक मूल्य जब बहुत अधिक चिंता का विषय बन जाता है तो वह जस का तस बनाएँ रखने की ओर बढ़ता है। यही कारण है कि वे साहित्यकार से सम्पूर्ण चेतना के दायित्व की माँग करते हैं। वे लिखते हैं कि "समसामयिक विचारक एवं कलाकार अंधकार से घिरा होता है, लेकिन साहस से परिपूर्ण; अनिश्चयशीलता में विवश होता है, किंतु प्रयास में अपराजित; उत्तरहीन प्रश्नों से ग्रस्त होता है, किंतु झूठे उत्तरों का प्रतिरोधी; साम्प्रतिक सत्य से सीमित होता है, किंतु आडंबर का विरोधी; त्रास और दुःख का अस्तित्व स्वीकार करता है, किंतु स्वतंत्रता का सैनिक होता है। उसका विवेक उसकी आस्था है, उसका संशय उसकी ईमानदारी है; उसका साहस उसके व्यक्तित्व की पूर्णता है और उसकी लघुता उसकी सार्थकता है।"[2]

समग्र रूप में कहा जाए तो भले ही साही हिंदी साहित्य के अकादमी जगत् में चर्चित और विवादस्पद व्यक्तित्व रहे हों या उन्हें एक पूर्णकालिक आलोचक के रूप में नहीं देखा गया हो। फिर भी हिंदी साहित्य के आलोचना जगत् में उनकी प्रतिभा और अवदान से किसी को इंकार भी नहीं रहा है। कारण यही है कि उन्होंने जिस तरह से नयी कविता युगीन विचारधारा के आलोक में अपना रचनाकर्म शुरू किया वह खुद ही विवादों के घेरे में रहा। इसीलिए वे रचना

[1] वही, पृ. 54

[2] समकालीन हिंदी आलोचना, संपा. परमानंद श्रीवास्तव, साहित्य अकादमी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.361

को किसी भी प्रकार की विचारधारा से अलग करने की बात करते हैं। उनके द्वारा किये गये व्यवहारिक आलोचना के माध्यम से देखा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप जायसी और शमशेर बहादुर सिंह की आलोचना पद्धति में देखा जा सकता है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि साही ने अपनी आलोचना शक्ति के माध्यम से यह घोषणा करते हैं कि 'जायसी हिंदी साहित्य के विशुद्ध कवि हैं।' यह घोषणा आचार्य शुक्ल के आलोचना के मान्यताओं से एकदम अलग थी। यहाँ उन प्रसंगों में नहीं जाते हैं परंतु साही ने जायसी को सूफ़ीवाद के चौखटों से मुक्त करने की बात किया जो साहित्य में विचारधारा की मुक्ति की बात से जुड़ती है। ऐसे ही वह नयी कविता के मूल्यांकन में किसी भी विचारधारा से मुक्ति की बात करते हैं। यह सवाल बार-बार उठते रहे हैं कि क्या किसी कृति के मूल्यांकन के लिए उसे किसी विचारधारा के आलोक में ही पढ़ना चाहिए, इस तरह क्या उस कृति के पाठ को समग्रता में पढ़ पाना संभव है ? साही की अनेक बहसें इन्हीं विचारधारा, साहित्य और साहित्यकार के दायित्व, साहित्य क्यों ? जैसे प्रश्नों से संबद्ध रही है।

निष्कर्ष- इस आलेख को समेटते हुए अंत में कहना उचित होगा; जैसा कि साही खुद मानते रहें कि "मेरा काम संदर्भ को उजागर करने भर का है, कोई सिद्धांत या मतवाद प्रस्तुत करने का नहीं। आज की तमाम साहित्यिक चीख पुकार, आंदोलन, टकराहट, गिरोह-बंदियों, घोषणा-पत्रों की सतह के नीचे अगर मैं किसी हद तक उस गहरे अतल की ओर आपको उन्मुख कर सका हूँ और आप महानुभावों को इस विचार विमर्श में योगदान देने के लिए कुछ भी प्रेरित कर सका हूँ तो मैं अपने काम को पूरा समझूंगा।"[1] साही की साहित्यिक बहसें ही उनकी आलोचना-दृष्टि के मूल में हैं। उन्होंने नयी कविता को सभी प्रकार के दबाव से मुक्त होकर विशुद्ध कविता के रूप में पढ़ने की वकालत की। किसी भी

[1] वही, पृ.149-150

विचारधारा के दबाव से मुक्त रखने के पक्ष में थे। यही उनके आलोचना-दृष्टि के मूल में निहित है।

संदर्भ सूची

1. इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2009 पृ.38
2. https://www.iasbook.com, 'प्रयोगवाद और नयी कविता' शीर्षक से
3. छठवाँ दशक, विजयदेव नारायण साही, पृ.22
4. नई कविता, देवराज, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति-2009, पृ.10
5. नई कविता, देवराज, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति-2009, पृ.09
6. छठवाँ दशक, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1987, पृ.195
7. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, मुक्तिबोध, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, संस्करण-1977, पृ.78
8. सर्जना और संदर्भ:नयी कविता, अज्ञे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.172
9. छठवां दशक, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1987, पृ.107
10. निबंधों की दुनिया: विजयदेवनारायण साही, संपा. निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2007, पृ.10
11. वही, पृ.07, प्रकाशकीय से
12. वही, पृ. 54
13. समकालीन हिंदी आलोचना, संपा. परमानंद श्रीवास्तव, साहित्य अकादमी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.361
14. वही, पृ.149-150

पं. वंशीधर शुक्ल: व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आशुतोष
शोधार्थी (पीएच.डी.)
हिंदी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
Mo- 7905464001
मेल- tkr667@gmail.com

शोध सार

किसी भी समाज और संस्कृति का मूल भाव लोक संस्कृति में समाहित होता है। लोक संस्कृति समाज के त्यौहारों, लोककलाओं, खानपान, वेशभूषा को निश्छलता के साथ हमारे सामने प्रस्तुत करती है। पं वंशीधर शुक्ल लोक संस्कृति के माध्यम से समाज और उसकी स्वभाव को अपनी कविताओं में समेटतें हैं। पंडित वंशीधर शुक्ल का जन्म अंग्रेजों की गुलामी के समय हुआ था जिससे श्री शुक्ल को अंग्रेजों के अत्याचारों और परतंत्रता के दंश का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हुआ। श्री शुक्ल ने गुलामी के अत्याचार, राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना और मनुष्य को अपनी कविता का केंद्र बिंदु बनाया। शुक्ला जी का इसके पीछे उद्देश्य था- सबका हित साधन, सामाजिक समरसता, दोष दलन तथा सर्वथा पूर्ण मानव मूर्ति की स्थापना करना व आदर्श समाज का प्रतिदर्श स्थापित करना। शुक्ल जी ने अपनी कविता में किसानों को विशेष महत्व दिया क्योंकि यह भी एक किसान परिवार में पैदा हुए थे। वंशीधर शुक्ल सामंतवाद के मुखर विरोधी थे। इन्होंने राजा, जमीदार, नेता और ईश्वर के आधिपत्य को भी चुनौती दी। वंशीधर शुक्ल मानवतावादी कवि हैं। वंशीधर शुक्ल के इन्हीं तत्वों का वर्णन शोध आलेख में विस्तार से करने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द- *समाज, संस्कृति, लोक, मानव, सामंतवाद*

शोध आलेख

किसी भी समाज व संस्कृति को यदि उसकी सम्पूर्ण वास्तविकता में देखना हो तो उसे केवल लोकसंस्कृति में ही देखा जा सकता है। लोकसंस्कृति में चाहे समाज-विशेष के तीज त्यौहार हों, लोककला और खानपान हो या लोकभाषा आदि सभी अपनी सम्पूर्ण निश्छलता के साथ हमारे सामने आते हैं।

इन अर्थों में स्वीकार करना होगा कि हिन्दी साहित्य को उसकी विभिन्न बोलियों ने जितना कुछ दिया है, उसे शब्दों में नहीं बांधा जा सकता है। ब्रज हो या अवधी, भोजपुरी हो या बुंदेली, मैथिली हो या खड़ीबोली, ऐसी अनेकानेक बोलियों में न केवल समाज अपनी पूरी निश्छलता के साथ हमारे सामने आता है अपितु हिन्दी विकास की परंपरा भी परिलक्षित होती है।

इस परंपरा में प्रमुख रुप में अवधी और खड़ीबोली कविता सदा से ही महाप्राण रही हैं। इनकी प्रकृति ओजस्वी और प्रवृत्ति सात्विक है। लोक से इनका रागिक जुड़ाव रहा है। सीधा-सपाट जानने और करने वाला यह विशद विस्तृत अवधी-खड़ीबोली क्षेत्र तासीर में ओज तेजवाला है। इसे परतंत्रता से चिढ़ और गुलामी से बैर है। अन्याय, अत्याचार, सम्प्रदायिकता आदि का यह मुखर विरोधी है। इनका क्रोध-विरोध भी तामसिक न होकर लोकहितैषी है। इनके काव्य-नायक दीन-दुखियों, मजदूर-किसानों, भले मानुस-सद्गुणियों के तरफदार और मित्र रहे हैं।

अवधी और खड़ीबोली कविता पर समदृष्टि रखने वाले पं. वंशीधर शुक्ल का रचना संसार नितांत श्लथ और आसवित है। उनकी अनुभूतिजन्य सघन लयात्मकता और संवेदनीयता को किसी चौखट पर आबद्ध करना दुष्कर कार्य है। उनकी कविता विचलित करती है, झकझोरती है, प्रश्न खड़ा करती है, क्योंकि उनकी कविता में निहित शब्दार्थ की सत्ता अनुभूति के तादात्म्य हेतु सह-अनुभूति उत्पन्न करती है और पाठक का साधारणीकरण भी करती है। इसी बिंदु पर शुक्ल जी का काव्य सामाजिक संस्था का रूपाकार ग्रहण करता है, इसी रूपाकार ग्रहण में वे अपनी परंपरा और इतिहास की निरंतरता विकसित करते हैं। इस निरंतरता से एक सर्वसमावेशी मूल्यदृष्टि का प्रस्फुटन अनायास ही हो उठता है।

श्री शुक्ल की कविता समय सापेक्ष होते हुए भी अपने समय का अतिक्रमण करती है। ऐसा होने का कारण उनकी वैचारिक गतिशीलता थी, जो उनकी अन्यतम जनपक्षधरता से व्युत्पन्न है। इसी गतिशीलता की ऊष्मा ने समय की चट्टानों पर जमी बर्फ को पिघलाया और एक नई गंगा को उद्गमित करने का

प्रयास किया। जिसमें राष्ट्रप्रेम, सांस्कृतिक-चिंता और दुःख-दैन्य से कराहते हुए मनुष्य को दुलारने की, शीतल करने की तथा अक्षुण्ण अमरत्व की कामना सन्निहित है।

श्री शुक्ल की कविता का केन्द्रक मनुष्य है। उसके हर्ष, विषाद, साहस, दैन्य, करुणा, वत्सलता और उसकी जिजीविषा का आख्यान ही उनकी कविता का प्रतिपाद्य है। उनकी कविताओं में प्रकृति एवं अन्य अवयव सहचर के रूप में ही हैं, क्योंकि उनका विस्तारीकरण प्रांजलता ही पैदा करता है। इसके पीछे भी इनका उद्देश्य था- सबका हित साधन, सामाजिक समरसता, दोष-दलन तथा सर्वथा पूर्ण मानव मूर्ति की स्थापना करना और एक आदर्श समाज का प्रतिदर्श स्थापित करना। उनका समूचा काव्य इसी मानव विजय का, मनुष्यता की रक्षा का और मानवीय गौरव का महाख्यान है।

श्री शुक्ल का रचनाकाल बीसवीं शताब्दी के लगभग छः दशकों को आच्छादित किये हुए है। यह समय उपनिवेशवाद का पतनोन्मुख और स्वाधीनता के प्रथम आंदोलन से उपजी ऊर्जा के सम्प्रसार के प्रकर्ष का था। गांधी स्वाधीनता आंदोलन की बागडोर संभाल चुके थे। इसी समय पं. वंशीधर शुक्ल की कविता संक्रमित हुई। जिसने जनचेतना को सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अंतःसंग्रहित कर राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित किया।

शुक्ल जी का जन्म संवत 1961 में वसंत पंचमी के पावन अवसर पर हुआ। पं. छेदीलाल शुक्ल इनके पिता थे। इनका जन्मस्थान उत्तर प्रदेश के लखीमपुर खीरी जिले का मन्योरा ग्राम है। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। चेचक व गृहकलह से पीड़ित होने के कारण शुक्ल जी की शिक्षा-दिक्षा का प्रबंध न हो सका। 15 वर्ष की उम्र में पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण जिम्मेदारियों का बोझ इनके सिर पर आ गया। इन्होंने कुछ उर्दू का अध्ययन करने के बाद संस्कृत प्रथमा की परीक्षा उत्तीर्ण की। जीविकोपार्जन के लिए इन्होंने किताब की दुकान खोली फलतः इनकी साहित्य में अभिरुचि उत्पन्न हुई। इसके बाद ये अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के संपर्क में आये और उनसे प्रेरणा लेकर 1921ई० में राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय भूमिका अदा करने लगे। नमक, जंगल तथा झंडा

सत्याग्रह में शुक्ल जी ने बड़ी तत्परता से भाग लिया। शुक्ल जी ने कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में "किसान की अर्जी" नामक कविता पढ़ी, जिसे सुनकर अधिवेशन के अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू रो पड़े।

शुक्ल जी को काव्य सुनाने की अद्भुत कला अभिज्ञात थी। वे कविताओं में जितने ग्रामीण थे उतने ही बाह्य-व्यक्तित्व से भी ग्रामीण थे। उनमें अंतर-बाह्य व्यक्तित्व का अद्भुत समन्वय था। ये अवधी किसान की साक्षात मूर्ति थे।

शुक्ल जी प्रतिभासंपन्न कवि थे। उन्होंने सर्वप्रथम 50 छन्दों में 'आल्हा सुमिरनी' कृति का सृजन किया। इसके पश्चात उन्होंने कृषक-मिलाप, बेटी-बेचन, युगल-चंडालिका, मेलघुमनी, कुकड़ूँ-कूँ, राष्ट्रीय गान आदि कृतियों की रचना की। नौकरी करते समय उन्होंने 'अब ग्राम सुधार करो पुतवा' और 'अब दुनिया बदल गयी' नामक रचनायें प्रस्तुत की। स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात उनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं- पंतपुराण, नेहरू सावधान, कमला-आख्यान, गुप्ता-भाषण, कांग्रेस की कुकड़ूँ कूँ, कांग्रेस सरकार स्वाहा, नसबंदी बंद करो आदि। शुक्ल जी ने राजनीति प्रेरित रचनाओं के अतिरिक्त सैकड़ों साहित्यिक कविताओं का भी सृजन किया। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम, मजदूर, दहेज, श्री कृष्णचरित्र प्रभृति ध्वनि नाटकों की भी सृष्टि की है।

शुक्ल जी की प्रारंभिक कृतियों- खूनी परचा, दिल्ली षड्यंत्र, किसान की अर्जी, आदि में राजनीतिक-राष्ट्रीय विचारधारा दिखाई पड़ती है। इन कविताओं के पश्चात शुक्ल जी ने अवध की ग्राम-मूर्ति का हृदयहारी सृजन किया। अवधी भाषा में लिखी गयी उनकी कविताओं का मुख्य विषय ग्रामीण परिवेश ही रहता है। उनके काव्य में अवध के ग्रामीण क्षेत्र तथा लोक संस्कृति का मनमोहक और यथार्थ चित्रण मिलता है। वे जहाँ ग्रामीण परिवेश के सिद्धहस्त चित्रकार हैं, वहीं उनकी कविताओं में विद्रोहात्मकता के तत्व भी मिलते हैं।

शुक्ल जी ने अपनी कविताओं में ग्राम्य-संस्कृति, सौंदर्य, किसान-जीवनयापन, ग्रामीणों की वास्तविक स्थिति, सामंतवादी व्यवस्था, किसानों की निर्धनता, राज्य कर्मचारियों के अत्याचार, लोकसंस्कृति एवं उत्सवों तथा पर्वों

का तो मार्मिक चित्रण किया ही है साथ ही साथ राष्ट्रीय जागरण और उच्चस्तरीय हास्य-व्यंग्य का भी मनोहारी वर्णन किया है।

शुक्ल जी का जीवनयापन ग्रामीण वातावरण में हुआ। इसलिए वे वहाँ के नैसर्गिक सौंदर्य आदि से अधिक प्रभावित हुए। जिसका वर्णन शुक्ल जी ने अपनी कविताओं में भावुकतापूर्ण रूप में किया है। ग्राम प्रकृति का कोई अंग उनसे छूटने नहीं पाया है, उन्होंने सभी ऋतुओं को ग्राम-प्रकृति के संदर्भ में बड़ी बारीकी से देखा है और इस क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी के सभी कवियों को पीछे छोड़ दिया है। ऋतुओं का वर्णन इनकी 'तलैया' नामक कविता में वर्णित है। तलैया कविता में प्रकृति की संश्लिष्ट योजना और उसका मानवीकरण देखने योग्य है। शब्दों से वह ध्वनि निकलती है जिससे वातावरण साकार होकर समक्ष नृत्य कर उठता है। शुक्ल जी प्रत्येक बात बिम्ब के सहारे कहते हैं, अतः प्रकृति साकार हो उठती है। शुक्ल जी जैसा ऋतु वर्णन जिसमें प्रमुख ग्रीष्म ऋतु वर्णन हिंदी काव्य में इससे पूर्व नहीं किया गया। इनकी ग्राम्यानुभूति देखिये, जवासा, ढाख, मदार, ग्रीष्म ऋतु में पुष्पित पल्लवित होते हैं। यह अनुभूति उन कवियों को कहाँ से होगी जो इन वनस्पतियों को पहचानते तक नहीं हैं। बरसात आते ही जब अन्य वनस्पतियां हरी-भरी होती हैं तब ये वनस्पतियां झुलसने लगती हैं।

शुक्ल जी जैसा ग्राम्य जीवन-चित्रण भी हिंदी काव्य में उपलब्ध नहीं है। उनके काव्य का अधिकांश भाग ग्राम्य जीवन से ही संबंधित है। किसान, मजदूर, घट-दुआर, देहरी गलियारा, चारागाह, खेत-खलिहान, हल, बैल, चरवाहा, हरवाहा, खेती, किसानी, तालाब, नहर, सूखा, अतिवृष्टि, बहिया, पाथर-वर्षा, अग्निकांड, खंडहर, उजड़े गाँवो के डीह, अमराइयाँ इत्यादि विषय उनके ग्राम्य जीवन वर्णन के अंग हैं।

वंशीधर शुक्ल एक जनवादी साहित्यकार थे साथ ही साथ गाँव में जन्में वे एक किसान कवि थे। पराधीन भारत में किसान की जितनी यातनाएं थी, वे सब उन्होंने भोगी थी। प्रखर स्वतंत्रता-संग्राम सेनानी होने के कारण व्यवस्था विद्रोह और शासकों तथा शोषकों के द्वारा शोषितों के दमन का चित्रण उनकी जन्मघूँटी में पड़ा था। यही कारण है कि शोषण, अत्याचार और अनाचार का जो

चित्रण उन्होंने किया है, वह हिंदी काव्य में अनूठा और उनका अपना है। वे सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि थे। 1935 में लिखी गयी हृदय द्रावक कविता 'किसान की अर्जी' इसका एक प्रमुख उदाहरण है।

शुक्ल जी सामंतवाद के समक्ष कभी नहीं झुके। चाहे राजा हो, जमींदार हो या नेता हो, यहां तक कि ईश्वर का आधिपत्य भी उन्हें स्वीकार न था। किसी भी मानव या समाज की शोषक व्यवस्था में बंधकर रहना उन्हें अंगीकार नहीं था। वे भयंकर व्यवस्था-विरोधी थे। महात्मा गांधी और पं. जवाहर लाल नेहरू उनके प्रियनेता थे परन्तु किसी की भी सामंतवादी प्रवृत्ति उन्हें सहन न थी। सन 1940 के पूर्व जब नेहरू व गांधी की पूजा होती थी तब शुक्ल जी ने 'शंकर वंदना' लिखकर दोंनो पर प्रहार किया।

शुक्ल जी मानवतावादी कवि हैं, इसी कारण वे कृषक, श्रमिक, पशु-पक्षी तक का भी शोषण नहीं देख सकते थे। सभी के प्रति उनमें असीम संवेदना थी, इसलिए वे कांग्रेस की सामंतवादी प्रवृत्ति पर 'लीडराबाद' (1937) कविता के द्वारा चोट की।

वंशीधर शुक्ल के काव्य का एक अतिमहत्वपूर्ण स्वर उनका देश-प्रेम है, जिसके लिए उनके जीवन के कई पड़ाव जेल में व्यतीत हुए। 1925 से ही वे अंग्रेजों के प्रति आग उगलते रहे। सन 1929 में गणेशशंकर विद्यार्थी के निर्देश पर 'ख़ूनी परचा' नामक कविता लिखी जिसका नामकरण पं. जवाहरलाल नेहरू ने किया। राष्ट्र की शर्मनाक गुलामी को वे विस्फारित नेत्रों से ताक रहे थे जबकि बहुसंख्य जनमानस सोया पड़ा था। ऐसे में उन्होंने सोतों को जगाने का बीड़ा उठाया और 'उठ जाग मुसाफिर!' (1925) नामक कविता लिखी। उनकी इस कविता में उद्बोधन है तो संबोधन भी है और श्रेष्ठ तत्व की पूर्ण प्राप्ति की पूर्ण कामना भी। इसीलिए इनके उद्बोधन गीतों को देशभक्त और सत्याग्रहियों ने अपना कण्ठहार बना लिया और यह कविता प्रभात फेरी में गाई जाने लगी। महात्मा गांधी भी नित्यप्रति अपनी प्रार्थना सभा में यह कविता गाया करते थे-

उठ जाग मुसाफिर भोर भई,
अब रैन कहाँ जो सोवत है।

जो सोवत है वो खोवत है,
जो जागत है वो पावत है।
× × × × × × × ×
उठो सोने वालों सबेरा हुआ है,
वतन के फकीरों का फेरा हुआ है।

शुक्ल जी की इस गर्जना ने गीदड़ों तक में शौर्य साहस का संचार कर दिया। कल तक जो जुबान खोलने तक से कतराते थे, वे खुलेआम क्रान्ति का गीत गाने लगे। अंग्रेजों ने लाख सितम ढाये पर कारवाँ जुड़ता गया, बढ़ता गया, लड़ता रहा और मर-मिटता रहा।

कवि के मन में युयुत्सा का भाव अनायास नहीं है अपितु उसे घुट्टी में मिला है। घोर संक्रमण काल के वातावरण में जन्म लेना और उस वातावरण के प्रभाव से अछूता रहना किसी भी जातक के लिए असंभव है। इसलिए शुक्ल जी इसे स्वीकारते हुए स्वयं कहते हैं-

"हम क्रान्ति काल में जन्में रण रंग हमें अति प्यारा"

इसी स्वाधीनता और देश-प्रेम के क्रम में उन्होंने 'कदम कदम बढ़ाये जा'(1930) मार्चिंग सॉन्ग लिखा, जो नेता जी के "जयहिन्द सेना" में गाया गया। यह कविता आज भी विद्यालयों में मार्चिंग सॉन्ग के रूप में गायी जाती है-

कदम-कदम बढ़ाये जा,
खुशी के गीत गाये जा,
ये जिंदगी है कौम की,
तू कौम पे लुटाये जा।

जीवन-जगत की तमाम स्थितियों-परिस्थितियों ने उनमें व्यवस्था के प्रति विद्रोही स्वर पैदा किया था। आजादी के बाद लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा कि अब उनके लिए खाने को रोटी होगी, पहनने को कपड़े और रहने को मकान होंगे तथा आजाद परिंदों की तरह खुली हवा में उड़ने-चहकने की आजादी होगी। मगर हमारे नवप्रशासक सत्ता के मद में सबकुछ भूलते चले गए। वे उन बलिदानों को भी भूल गए जिनकी बदौलत उन्हें सत्ता नसीब हुई थी। उन्हें बस

इतना ही याद रहा कि कैसे जल्द से जल्द अपनी झोली भर लें। नतीजा ये निकला कि मालिक बदल गए, पर गुलाम वहीं के वहीं रह गए। भला शुक्ल जी को ऐसी स्थिति कैसे सहन हो पाती, उन्होंने सत्ताधीशों की अवसरवादिता का साफ-साफ खुलासा कर दिया। शुक्ल जी ने अपनी 'अवसरवादी नेता' नामक कविता में कहा-

अब मत समझो समाजवादी,
ये पक्के अवसरवादी है।

स्वाधीनता के बाद भी शुक्ल जी का क्रांतिकारी मन कभी संतोष की सांस न ले सका। जब सभी सत्ता से मिलबाँटकर अपना उल्लू सीधा करने में लगे थे तब यह क्रांतिकारी कवि सेनानी, गरीब-दुखियों व शोषितों के बीच भटकता फिर रहा था। उनकी बस एक ही पीड़ा थी कि कैसे उन बदनसीबों का शोषण थमे। शुक्ल जी के प्रभु राजभवनों में नहीं, खेतों-कारखानों और गाँव की मड़ैया में बसते थे। शुक्ल जी ने व्यवस्था विरोध में अवसरवादी नेता, पलटिये बार-बार सरकार, कांग्रेस की कुकड़ूँ कूँ, कांग्रेस सरकार स्वाहा, ओ शासक नेहरू सावधान जैसी क्रांतिकारी कविताओं की रचना कर व्यवस्था का तीक्ष्ण विरोध किया।

शुक्ल जी के काव्य में हास्य-व्यंग्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आज हिंदी में हास्य व्यंग्य लिखने वाले दर्जनों कवि दृष्टिगोचर होते हैं, परंतु यह वह समय था जब पराधीन भारत में अंग्रेजी शासन तथा राजा महाराजाओं पर व्यंग्य कसने के लिये बड़े साहस की आवश्यकता थी। शुक्ल जी जैसा कवि ही यह कार्य कर सकता था, जिसे जेल से प्रेम हो।

शुक्ल जी के व्यंग्य हास्य की निधि हैं। हास्य मनोरंजनार्थ होता है, जबकि व्यंग्य सोद्देश्य होता है। शुक्ल जी व्यंग्य को हास्य की चासनी में लपेटकर परोसने की क्रिया में सिद्धहस्त हैं। शुक्ल जी अपनी विचित्र एवं नवीन भावभिव्यंजना के माध्यम से हास्य तो उत्पन्न करते ही हैं साथ ही व्यवस्था व परिस्थिति पर एक करारी चोट करने से भी नहीं चूकते। समाज के अराजक तत्वों, बदमाशों को जब वे अवतार की संज्ञा से सुशोभित करते हैं तो स्वाभाविक हास्य

उत्पन्न होता है। ऐसी क्रम में उन्होंने बदमाश वंदना, भारत तुम्हारा है(1934), जैसी रचनायें लिखी। द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन द्वारा स्त्रियों को युद्ध में भेजने पर शुक्ल जी ने 'गोरियां ब्रिटेन की' नामक कविता से व्यंग्य किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सरकार ने स्वतंत्रता आंदोलन की स्थिति की गंभीरता से निपटने के लिये सर स्टाफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा, जो "क्रिप्स मिशन" कहलाया। लेकिन इसका काफी विरोध हुआ और कांग्रेस की 'पूर्ण स्वराज्य' की मांग तेज हो गई जिससे यह क्रिप्स मिशन असफल हुआ। इस पर व्यंग्य करते हुए शुक्ल जी ने 'क्रिप्स से' नामक कविता लिखी। इसी दौरान 1946 में ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपना शासन समाप्त करने की घोषणा की तथा एक संविधान सभा की घोषणा की गई, परन्तु सत्ता सुख की लालच में मुस्लिम लीग ने एक अलग राष्ट्र पाकिस्तान की मांग की। इसी संदर्भ में शुक्ल जी ने 'बनाओ मियाँ न पाकिस्तान' कविता में जिन्ना पर गहरी चोट की। तत्पश्चात देश के स्वतंत्र होने के बाद आम चुनावों में देश का नागरिक वोटर में तब्दील हो गया। नेता मदमस्त होने लगे व जनता की स्थिति बदहाल होने लगी। चुनावी राजनीति की इस विसंगति पर शुक्ल जी ने 'वोटर भगवान' नामक कविता के माध्यम से गहरी चोट की है।

शुक्ल जी 1925 ई० के बाद मृत्युपर्यंत समाज की मूल-समस्याओं, व्यवस्था में फैली अनैतिकता, नेताओं के सत्ताभोग, मानवता व संवेदना से बढ़ती दूरी, प्रकृति की दशा, किसानों की दयनीयता, स्वाधीनता से जुड़ी समस्या और आजादी के बाद की स्थिति का सजीव व प्रभावशाली वर्णन किया है।

श्री शुक्ल जी अपने समय के रचनाकारों से ऊपर उठकर जनसामान्य की भाषा अवधी व सम्पूर्ण भारत में जागृति की दृष्टि से खड़ीबोली में रचना कर तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा पराधीन भारत की समस्याओं को केंद्र में रखा। शुक्ल जी से पूर्व के रचनाकारों ने भी अपने समय में घटित हो रहे यथार्थ का वर्णन किया है परन्तु शुक्ल जी ने जिस प्रकार तत्कालीन व्यवस्था का डटकर

विरोध किया और आजादी के बाद कांग्रेस के बदलते चरित्र का वर्णन किया वह अन्यत्र मिलना दुष्कर है।

देश के करोड़ों कंठ जिन अमर गीतों को सदा गाया और गुनगुनाया करते थे, उनमें बहुतों को पता ही न था कि इन गीतों को लिखा किसने है, क्योंकि वंशीधर शुक्ल में न प्रदर्शन की ललक थी न प्रचार पाने की लालसा। शुक्ल जी ने अपनी मातृभाषा अवधी में काव्य की ऐसी धारा बहाई की पूरा देश वाह-वाह कर उठा परन्तु जनजागरण व जनक्रांति के अधिकांश गीतों का सृजन प्रायः खड़ीबोली में ही किया क्योंकि स्वाधीनता आंदोलन के राष्ट्रव्यापी फलक को देखते हुए ऐसा करना आवश्यक था।

संदर्भ सूची

1. वंशीधर शुक्ल रचनावली: संपादक-डॉ० श्यामसुंदर मिश्र 'मधुप' एवं डॉ० सत्यधर शुक्ल, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिंदी भवन-6, महात्मा गांधी मार्ग लखनऊ, उत्तर प्रदेश, 226001, प्रथम संस्करण-2003
2. वंशीधर शुक्ल का काव्य: डॉ० सुरंगमा यादव, मनसा पब्लिकेशन्स, विराम खंड, गोमती नगर, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, 226010, प्रथम संस्करण-2016
3. अवधी साहित्य:सर्वेक्षण और समीक्षा: जगदीश पीयूष, प्रकाशन संस्थान, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 110002, प्रथम संस्करण-2014

भारतेंदु की आलोचना दृष्टि

विवेक विक्रम सिंह
शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क: 9717238820

शोध सार

भारतेंदु मुख्य रूप से नाटककार और निबंधकार है। इसके अलावा मुख्य रूप से कविवचन सुधा, हरिश्चंद्र मैगजीन और बालाबोधिनी पत्रिका का संपादन करते हैं। 'नाटक' नामक निबंध और इन पत्रिकाओं में उनके द्वारा व्यक्त किये गए विचार ही प्रमुख रूप से उनकी आलोचना दृष्टि के परिचायक है। भारतेंदु मध्यममार्गी आलोचक है। भारत की प्राचीन ज्ञान परंपरा से जरुरत के अनुसार चीजों को ग्रहण करते हैं और पश्चिमी ज्ञान की नवीन दृष्टि से भी प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। नाटक में वध, आलिंगन के प्रयोग तथा पारसी कंपनियों के सस्ते फूहड़पन का भी भरसक विरोध करते हैं। जरुरत पड़ने पर अंग्रेजों की प्रशंसा करते हैं और जहाँ उनकी नीतियों से असहमत है वहां उनकी आलोचना भी करते हैं। राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति दोनों भारतेंदु में दिखाई पड़ता है। 'निज-भाषा' के विकास की वकालत भारतेंदु जोर-शोर से करते हैं।

बीज शब्द: *नाटक, निबंध, पत्रिका, आलोचक, प्रयोग, भाषा*

शोध आलेख

आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना का आविर्भाव भारतेंदु युग से होता है, जिसमें भारतेंदु का 'नाटक' नामक निबंध प्रमुख है। वैसे रीतिकाल में भी लक्षण ग्रंथों की परंपरा मिलती है, जहां कवि या आचार्य लक्षण ग्रंथों की रचना करते हैं परंतु उनका आधार संस्कृत काव्यशास्त्र है। आधुनिक युग में भारतेंदु के उदय के साथ हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ने लगा था जिसका प्रभाव भारतेंदु के साहित्य पर भी दिखाई पड़ता है। वैसे मूलतः भारतेन्दु नाटककार थे शायद इसी कारण से 'नाटक' निबंध में उनका दृष्टिकोण इतना व्यापक है। इसके अलावा पत्र-पत्रिकाओं में भी उनकी आलोचक दृष्टि दिखाई पड़ती है। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' और 'कविवचनसुधा'' में विविध विषयों से संबंधित लेख प्रकाशित होते थे। कुंवरपाल सिंह के अनुसार- "सन 1873 ई. में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' नामक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र का कागज तथा छपाई बहुत सुन्दर थी। इस पत्र ने 'कविवचनसुधा' की भांति एक बार फिर हिंदी पत्रकारिता जगत में धूम मचा दी। यह विविध विषयों को लेकर चलने वाली

पत्रिका थी लेकिन इसमें मुख्यतः राजनीतिक और सामाजिक लेख अधिक संख्या में प्रकाशित होते थे।"1

भारतेंदु ने जीवन और साहित्य के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने परंपरागत संस्कृत शिक्षा शास्त्र में युग के अनुरूप परिवर्तन करने में कोई संकोच नहीं किया। नाटकों की रचना के संदर्भ में वे युग प्रवृत्ति के अनुकूल परिवर्तन के पक्ष में थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा- "वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रूचि उस काल की अपेक्षा अनेकांत में विलक्षण है। इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंब करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।"2

भारतेंदु की प्रतिभा का पूर्ण विकास नाटकों में देखा जा सकता है। ये नाटक हिंदी गद्य साहित्य को भारतेंदु की बहुत बड़ी देन है। नाटकों की रचना में उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया। संस्कृत नाट्यशास्त्र, बांग्ला की नाटक पद्धति तथा अंग्रेजी नाटक विधान सभी के संयोग से उन्होंने अपना नाट्यादर्श उपस्थित किया। उन्होंने 'गर्भांक' को 'दृश्य' के अर्थ में स्वीकार किया और बंग्ला नाटकों की ओर संकेत करते हुए कहा कि- "प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों को बदलने में हैं और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है।"3

नंदी पाठ, प्रस्तावना, विष्कंभक, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख आदि की योजना पर उन्होंने अधिक बल नहीं दिया है। वध, आलिंगन, स्नान, यात्रा, मृत्यु आदि भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार वर्जित दृश्यों की योजना भी की है। भारतेंदु ने प्राचीन संस्कृत नाटकों की चरित्र चित्रण पद्धति का अनुगमन किया; फलस्वरूप पात्रों का स्वरूप आदर्शात्मक ही रहा। पात्रों में अंतर्द्वंद्व का अभाव लक्षित होता है। अपने नाटकों में उन्होंने निम्नवर्गीय पात्रों का चित्रण नहीं किया। जहां उनका चित्रण किया भी, वहां उनका उत्थान-पतन नहीं दिखाया।

वे पारसी कंपनियों के प्रभाव को भरसक प्रयत्न करके भी पूर्णतया नहीं हटा सकें। फलस्वरूप पद्यात्मक संवादों की परंपरा उनके नाटकों में मिल जाती है। उनके नाटकों में आवश्यकतानुसार प्रयुक्त कविताओं पर रीतियुग का प्रभाव भी दिखता है। प्राचीन संस्कारों का पूर्ण परित्याग वे नहीं कर सके। गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो स्पष्ट

देखा जा सकता है कि 'भारतेन्दु' के नाटकों की आत्मा संस्कृत नाट्यशास्त्र के अधिक निकट है। संस्कृत नाट्य-विधान को उन्होंने युग की आकांक्षा के अनुकूल थोड़ा शिथिल अवश्य कर दिया है। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार- "भारतेंदु ने नाटक संबंधी विचार नाटककार की हैसियत से व्यक्त किए हैं, समीक्षक या आलोचक की हैसियत से नहीं। वे लेख में आद्यंत रचना पर बल देते हैं और नाटककार को किन बातों पर ध्यान देना उचित है, यह बताते रहते हैं। इस लेख में उनके सर्जक का चिंतक रूप प्रकट हुआ है। अन्य काव्यांगों में जो वर्णन हम पढ़ते या सुनते हैं उसे दृश्य काव्य हमें दिखा देते हैं इसी से इसमें अधिक आनंद होता है।"4

भारतेंदु की आलोचना दृष्टि पत्र-पत्रिकाओं में भी देखने को मिलती है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भारतेंदु युग में साहित्य के सभी रूपों को विकसित होने का एक नवीन माध्यम मिला। इन्हीं पत्रों के माध्यम से हिंदी आलोचना का एक नया रूप भारतेंदु युग में देखने को मिला। भारतेंदु द्वारा संपादित 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका' में समीक्षा के स्तंभ भी रहते थे। भारतेंदु युग के अन्य पत्र हिंदी प्रदीप, भारत मित्र, ब्राह्मण, आनंद कादंबिनी आदि में भी पुस्तकों की समीक्षाएं प्रकाशित की जाती थी। इन समीक्षाओं द्वारा नए ढंग की व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात हुआ, जो भारतीय आलोचना के विकास में सर्वथा नवीन थी। तात्पर्य है कि एक ओर तो भारतेंदु युग में परंपरागत संस्कृत समीक्षा सिद्धांतों को विकसित करने की स्थिति निर्मित हुई और दूसरी ओर नवीन ढंग की व्यावहारिक समीक्षा का सूत्रपात हुआ। भारतेंदु ने स्त्रियों के उपयोग की दृष्टि से 'बालबोधिनी' पत्रिका निकाली जो चार वर्षों तक चली।

भारतेंदु के विचार उनके नाटकों में परोक्ष रूप से और निबंधों में प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त हुए हैं। सन 1884 ई. में उन्होंने बलिया में ददरी मेले के अवसर पर 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' विषय पर ओजस्वी एवं सारगर्भित भाषण दिया था। इस भाषण में भारतेंदु के दृष्टिकोण का निचोड़ आ गया है। उनके इस भाषण तथा अन्य निबंधों एवं लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि वे एक सच्चे समाज सुधारक और मध्यममार्गीय दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति थे। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार- "भारतेंदु ने 'नाटक' नाम के निबंध में आलोचना के कुछ मूल सिद्धांत स्थिर किए हैं जो हमारे लिए बहुत ही मूल्यवान हैं। उनके अनुसार मनुष्य की वृत्तियां शाश्वत न होकर

परिवर्तनशील है। परिवर्तित वृत्तियों का ध्यान रखकर नाटक लिखना चाहिए। आधुनिक काल में देश-प्रेम और समाज संस्कार के नाटक लिखे जाने चाहिए। साहित्य में अलौकिक विषयों की जगह लौकिक विषयों को जगह देनी चाहिए। पुराने नियमों को युग की आवश्यकताओं के अनुसार परखकर अपनाना चाहिए। नाटक लिखने के लिए समाज का व्यापक अनुभव होना बहुत जरूरी है।"5

भारतेंदु भाषा पर भी लोगों को हिदायत देते हैं और स्वभाषा अपनाने की सलाह देते हैं-

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।।

भारतेंदु कई भाषाओं के जानकार थे। उनके द्वारा लिखित नाटकों की विषय-वस्तु विविधरूपी है। भारतेंदु का जीवन कम वर्षों का रहा लेकिन उतने में ही भारतेंदु ने अपने युग को एक रास्ता दिखाया। रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'परम्परा का मूल्यांकन' पुस्तक में भारतेंदु पर विचार करते हुए लिखते हैं- "वे अंग्रेजी के अलावा बांग्ला, उर्दू आदि अनेक भारतीय भाषाएँ अच्छी तरह जानते थे। उनमें ज्ञान की अदम्य पिपासा थी। उन्होंने नाटक से लेकर पुरातत्व तक अनेक विषयों पर कलम चलाई थी। उनके जो नाटक, पद्य और निबन्ध संकलित किये गए हैं, उनका परिणाम काफी है। किन्तु इनसे बहुत बड़े परिणाम में उनका वह गद्य है, जो 'कविवचनसुधा' आदि पत्रिकाओं में है किन्तु असंकलित है। उन्होंने हजारों पत्र लिखे थे जिनमें कुछ बच रहे हैं, शेष नष्ट हो गये हैं। यह सब उन्होंने 34 वर्ष की छोटी उम्र में ही कर डाला। उनका सा परिश्रम करने वाले हिन्दी में बिरले ही हुए हैं।"6

भारतेंदु ने किसी कवि विशेष को विषय बनाकर आलोचना नहीं लिखी हैं। किसी विषय का वर्णन करते हुए किसी कवि का जिक्र आ गया तो उनकी समीक्षा करने में संकोच भी नहीं करते थे। मध्यकालीन संतों को वे उदार मानते थे। रामविलास शर्मा के अनुसार- "भारतेंदु ने विस्तार से कवियों आदि की आलोचना नहीं लिखी, लेकिन जहाँ तहाँ उनकी टिप्पणियों से भी उनके मूल्यांकन की विशेषता दिखाई दे जाती है। कालिदास के काव्य में चरित्र चित्रण की स्वाभाविकता की उन्होंने प्रशंसा की है। कालिदास और शेक्सपियर दोनों को मानव समाज का गंभीर समलोचक दिखाया है।

'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' नाम के निबंध में भारतेंदु ने 'दादू, नानक, कबीर प्रभृति और ज्ञानी' लोगों को देवताओं के लिबरल दल में रखा है, जिसका अर्थ है, वह संतों की विचारधारा को उदार मानते थे। वैष्णव कावियों की परम्परा के वह स्वयं अनुवर्ती थे, यह स्पष्ट ही है।"7

भारतेंदु ने विभिन्न विषयों जैसे धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और पुरातत्व आदि पर निबंध लिखे। 'नाटक' नाम से आलोचना लिखकर भारतेंदु ने आधुनिक हिन्दी आलोचना को जन्म दिया। हिन्दी में व्यंग्यपूर्ण आलोचना का सूत्रपात करने वाले भी भारतेंदु ही है। रामविलास शर्मा के अनुसार- "भारतेंदु ने आलोचना में ऐतिहासिक दृष्टिकोण और सोद्देश्य साहित्य रचना के सिद्धांत ही प्रतिपादित नहीं किये, उन्होंने निर्भीक और व्यंग्यपूर्ण आलोचना की परिपाटी भी चलाई।"8

भारतेन्दु ने वैसे तो अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा की है लेकिन जरुरत पड़ने पर उनकी आलोचना करने से भी पीछे नहीं हटते। राष्ट्रभक्ति और स्वदेशी को बढ़ावा देने का प्रबल समर्थन भारतेंदु ने किया है। भारतीय धन-संपत्ति विदेश चली जा रही है इसकी वे खुली आलोचना करते हैं। 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' से यह बिल्कुल स्पष्ट होता है। इसीलिये वे स्वदेशी को बढ़ावा देने की वकालत करते है। रामविलास शर्मा के अनुसार- "भारतेंदु ने मान-अपमान और संपत्ति-विपत्ति की परवाह न करके निर्भीकता से अंग्रेजी राज्य की आलोचना की। उत्तर भारत में वह स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता हैं, भारत में विदेशी पूंजी के शोषण के सबसे पहले आलोचक हैं। उनके साहित्य का मूल श्रोत देशभक्ति है। उन्होंने अपने साहित्य से साम्राज्य प्रेमी और रूढ़िवादी विचारधारा का प्रभाव संकुचित किया और जनता के आत्मसम्मान और उसकी राजनीतिक चेतना को जागृत किया।"9

भारतेंदु की आलोचक दृष्टि उनके संपूर्ण साहित्य में दिखाई पड़ती है जिसमें 'नाटक' नामक निबंध मुख्य है। नाटक में दृश्य और श्रव्य के संयोजन से जो प्रभाव पड़ता है, उसको विशिष्ट मानते हैं। 'नाटक' निबंध में भारतेंदु कहते हैं- यदि श्रव्य काव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रंथ में पढ़िए तो काव्य जनित आनंद होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गणित आनंद होता है।

समयानुसार लोगों की रुचि भी बदलती है। अतएव साहित्यकार को भी युगानुसार परिवर्तन करना चाहिए। भारतेंदु कहते हैं- जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करे और देशीय रीति नीति का प्रवाह जिस रुप से चलता रहे, उस समय में सहृदयगण के अंतःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन आलोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना योग्य है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी आलोचना को काव्य का जीवन मानते हैं और कहते हैं- "यह आलोचना काव्य का शास्त्र नहीं काव्य का जीवन है। जो बार-बार रचा जाता है। नाटक के विकास के प्रसंग में यह देखा गया था कि अपने युग की केंद्रीय रचना वृत्ति से जुड़कर आलोचना का उदय भारतेंदु के निबंध 'नाटक'(1883) के माध्यम से होता है।"10

'नाटक' निबंध में भारतेंदु प्राचीन नाट्य विधान को युग की जरूरतों के अनुसार बदलने का समर्थन करते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी भारतेंदु को प्रथम आलोचक मानने के पक्ष में है। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार- "भारतेंदु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जन रुचि एवं प्राचीन नाट्य शास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होंने बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्य रचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है। भारतेंदु के नाटक विषयक लेख में आलोचना के गुण मिल जाते हैं। ऐसी दशा में उन्हें आधुनिक हिंदी साहित्य का प्रथम आलोचक कहना अनुचित न होगा।"11

इस प्रकार कह सकते हैं कि भारतेंदु आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम आलोचक है। वे समन्वयवादी आलोचक है। जहाँ उन्हें भारतीयों का हित दिखलाई पड़ता है वहाँ अंग्रेजी शासन की प्रशंसा करते हैं, इसके बरक्स जहाँ उन्हें लगता है कि अंग्रेज भारतीय लोगों का शोषण कर रहे हैं वहाँ उनकी भर्त्सना भी करते हैं। उनकी आलोचक दृष्टि पर संस्कृत, बांग्ला एवं पाश्चत्य का मिला-जुला असर है। उनकी आलोचना दृष्टि 'नाटक' निबंध में स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होती है। इसके अलावा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके लेख उनकी आलोचना दृष्टि के परिचायक है। भारतेंदु मुख्य रूप से

नाटककार है। नाटकों में व्यक्त किये गए विचार भी भारतेंदु की आलोचना दृष्टि को समझने में सहायक है।

संदर्भ सूची

1. भारतेंदु और भारतीय नवजागरण, सं. शंभुनाथ, भारतेन्दु की पत्रकारिता, कुँवरपाल सिंह, प्रकाशन संस्थान, 4715/21, दयानन्द मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण : 2009, पृ. 83
2. भारतेन्दु समग्र, पृ. 599
3. वहीं, पृ. 558
4. हिंदी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ. 18
5. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पहला छात्र संस्करण : 2012, पृ. 149-150
6. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, छात्र संस्करण-आवृत्ति : 2016, पृ. 106-107
7. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पहला छात्र संस्करण : 2012, पृ. 150
8. वहीं, पृ. 150
9. वहीं, पृ. 151
10. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, पृ. 169
11. हिंदी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ. 19

वीरकाव्य: सृजन की परम्परा एवं प्रयोजन

प्रियंका सिंह
शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय
मोबाईल नंबर-9064567141
ईमेल- priyankadu0403@gmail.com

शोध सार

हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल अपने रीति-निरूपण एवं श्रृंगारिकता की प्रवृत्ति के कारण साहित्य जगत एवं इतिहास में जाना गया, किन्तु रीतिकालीन काव्यों में न सिर्फ़ रीति-निरूपक एवं श्रृंगारिक ग्रंथ लिखे गये बल्कि इस दौर में नीतिकाव्य, वीरकाव्य, उपदेशपरक लौकिक काव्य, कृषि, व्यवसाय, मौसम, पशुपालन आदि से सम्बन्धित कुछ लोकोपयोगी काव्य भी लिखे गये, साथ-साथ भक्तिपरक काव्य एवं नाटक आदि भी लिखे गये हैं। रीतिकालीन दौर में लिखे गये वीरकाव्य अपने काव्यत्त्व, नायकत्त्व तथा तत्कालीन समाज और इतिहास की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

वीरकाव्यों के निर्माण की एक लम्बी परम्परा रही है। संस्कृत साहित्य में लिखे गये वीरकाव्य एवं प्रशस्तिकाव्य, अपभ्रंश साहित्य में लिखे गये चरितकाव्य एवं आदिकालीन वीरकाव्य एवं रासों साहित्य आदि को रीतिकालीन वीरकाव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

बीज शब्द: *साहित्य, इतिहास, रीतिकाल, वीरकाव्य, काव्य*

शोध आलेख

हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल अपने रीति-निरूपण एवं श्रृंगारिकता की प्रवृत्ति के कारण साहित्य जगत एवं इतिहास में जाना गया, किन्तु रीतिकालीन काव्यों में न सिर्फ़ रीति-निरूपक एवं श्रृंगारिक ग्रंथ लिखे गये बल्कि इस दौर में नीतिकाव्य, वीरकाव्य, उपदेशपरक लौकिक काव्य, कृषि, व्यवसाय, मौसम, पशुपालन आदि से सम्बन्धित कुछ लोकोपयोगी काव्य भी लिखे गये, साथ-साथ भक्तिपरक काव्य एवं नाटक आदि भी लिखे गये हैं। रीतिकालीन दौर में लिखे गये वीरकाव्य अपने काव्यत्त्व, नायकत्त्व तथा तत्कालीन समाज और इतिहास की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

वीरकाव्यों के निर्माण की एक लम्बी परम्परा रही है। संस्कृत साहित्य में लिखे गये वीरकाव्य एवं प्रशस्तिकाव्य, अपभ्रंश साहित्य में लिखे गये चरितकाव्य एवं आदिकालीन वीरकाव्य एवं रासों साहित्य आदि को रीतिकालीन वीरकाव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल का समय संवत् 1700 से 1900 वि. निर्धारित किया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है- "वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई।"

दरबारी संस्कृति की प्रधानता के कारण इस कालखंड में जहाँ कवियों का एक वर्ग श्रृंगार रस की विलासितापूर्ण रचनाओं में अपने आश्रयदाताओं को डुबकियां लगवा रहा था, वहीं दूसरा वर्ग अपने आश्रयदाताओं की वीरता, शौर्य एवं पराक्रम का गुणगान कर वीरकाव्य का सृजन कर रहा था

डॉ. सुधीर कुमार के अनुसार- "विषय की दृष्टि से रीतिकाल की कविता ने परंपरागत सभी भक्तिरूपों विशेषतया राधाकृष्ण की लीला का गायन किया, साथ ही इतिहास, युद्ध, वीर-प्रशस्ति, श्रृंगार, भक्ति, नीति आदि की व्यंजना के माध्यम से तत्कालीन जीवन की बहुआयामी झलकियां भी प्रस्तुत की।"

अतः रीतिकालीन काव्यों में जितनी श्रृंगार रस की रचनाएँ प्रमुख हैं उतनी ही वीररस की रचनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं।

डॉ. टीकम सिंह तोमर ने अपने शोध प्रबंध 'हिंदी वीर काव्य' में वीरकाव्य के अंतर्गत 'उन समस्त कवियों के काव्य ग्रंथों को सम्मिलित किया है जो किसी ऐतिहासिक घटना पर आधारित है अथवा कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों की प्रशंसा में लिखा गया है।'

डॉ.भगवान दास तिवारी के अनुसार-"वीरकाव्यों में सामान्यतः युद्धवीरों का ही प्राधान्य है, पर कवियों ने इन युद्धवीरों को ही दान, दया, धर्म वीर सिद्ध कर चतुर्विध वीररस की सृष्टि करने के प्रयास किए हैं।"

डॉ.सतीश कुमार भार्गव के अनुसार-"वीरकाव्य में औदात्यगुण से परिपूर्ण नायकों का चरित्र ओजगुण प्रधान शब्दावली में वर्णित होता है, जिसको सुनने मात्र से कायरों के हृदय में भी उत्साह का संचार हो जाता है, वे भी एक बार युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। आज भी ग्रामों में जब आल्हा-गीत गाया जाता है तो श्रोतागण मंत्र-मुग्ध होकर उसे सुनते हैं, तथा उत्साहित होते रहते हैं, उनके धमनियों में रक्त का तीव्र गति से संचार होने लगता है।"

रीतिकालीन वीरकाव्यों में ये सभी तत्व समाहित होने के कारण ही वो अपने आप में बेजोड़ और उत्कृष्ट हैं, रीतिकालीन वीरकाव्यों को पढ़ने से पाठक में उत्साह एवं वीरता का भाव सहजता से ही उमड़ने लगता है, साथ ही हमें तत्कालीन युग के यथार्थ के भी दर्शन सरलतापूर्वक हो जाते हैं।

वीरकाव्य लेखन की परंपरा उतनी ही पुरानी है जितना की काव्य लेखन। प्राचीनकाल में वेद, पुराण और साहित्य में युद्धों का वर्णन किया जाता रहा है। भले ही इनकी शैलियों एवं रूपों में थोड़ा बहुत परिवर्तन हमें देखने को मिले, लेकिन यह परिवर्तन भी युगानुरूप तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों की उपज है।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में अपने अस्तित्व को बनाए रखने हेतु मानव के लिए युद्ध एवं संघर्ष एक मात्र माध्यम है। प्राचीन काल से ही आदिमानव के द्वारा आत्मपोषण के उद्देश्य से पशुओं के शिकार करने तथा विभिन्न कबीलों से आत्मरक्षार्थ युद्ध एवं संघर्ष करने की प्रवृत्ति अनायास ही देखने को मिलती है। ये लोग युद्ध एवं शिकार पर जाने से पहले अपने उत्साहवर्धन हेतु सामूहिक रूप से नित्य एवं गीत गाते थे। इनके नृत्यों में ओज और औदात्य तथा गीतों में शत्रुओं से संघर्ष करने का उत्साह रहता था। इन गीतों को आदिम वीरकाव्य कहा जा सकता है।

भारतीय वीरकाव्य का आदि रूप हमें वैदिककाल में ही देखने को मिलता है। ऋग्वेद में यद्यपि यज्ञपरक सूक्तों, काव्यों की प्रमुखता है' परंतु उनमें ऐसे सूक्तों एवं प्रसंगों की कमी नहीं है, जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं, तत्कालीन राजाओं के पराक्रम तथा पारंपरिक युद्धों एवं इंद्र और असुरों के बीच हुए विभिन्न युद्धों का विस्तार पूर्वक वर्णन

न मिलता हो। अतः जिन सूक्तों में इस प्रकार के युद्ध का वर्णन किया गया है, उन्हें वैदिककालीन वीरकाव्य कहा जा सकता है।

बार्नेट के अनुसार- 'इंद्र और अश्विन ऋग्वेद के प्रधान वीर थे।' केगी ने 'द ऋग्वेद' में लिखा है- 'इंद्र वैदिक कालीन आर्यों के वीर नेता, आदर्श पुरुष, संरक्षक और सम्राट थे। वेदों में हमें इंद्र की शौर्यपूर्ण स्तुति के अलावा भी अनेक राजाओं, संरक्षकों की युद्धवीरता और दानवीरता का बखान देखने को मिलता है। साथ ही ऋषियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं के नाम और उनके वंश आदि का विवरण भी दिया गया है।

डॉ मंजू रानी के अनुसार-"वैदिक साहित्य में देवताओं की शौर्य कथाएं, राजाओं के युद्ध कौशल तथा उनके आश्रितों को धन, पशु, दास-दासी आदि दान देने की परंपरा भी वीरकाव्य परंपरा के आदि रूप के द्योतक हैं।"

शतपथ ब्राम्हण में भी अनेकानेक राजाओं की युद्धवीरता एवं दानवीरता की प्रशंसा मुक्तकंठ से की गई है। पुराणों में भी सूर्य और चंद्रवंशीय राजाओं के पराक्रम एवं शौर्य का वर्णन पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है, किंतु इनमें पूर्वापर संबंध निर्वाह और अन्विति का अभाव है। रामायण, महाभारत के कथा प्रसंगों में ऐसे वीरतापूर्ण घटनाओं की भरमार है ।

डॉ. भगवानदास तिवारी के अनुसार-"पुराणकालीन इतिहास और वीरकाव्य परंपरा का क्रमिक विकास निरूपित करना बहुत जटिल कार्य है। महाभारत में तो वीरचरित्रों, युद्ध, दान, दया और धर्मवीरों के अत्यंत ओजस्वी वर्णन प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं ।"

संस्कृत साहित्य में वीरकाव्य प्रायः राजनैतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर लिखे गये हैं। इनमें भारवि का 'किरातार्जुनीयम्', भट्टी कवि का 'रावणवध', माघ का 'शिशुपाल वध' श्री हर्ष का 'नैषधीयचरित' आदि उल्लेखनीय हैं। 'वाल्मीकि रामायण' अपने राम-रावण युद्ध प्रसंग के कारण काफी महत्वपूर्ण है। इसमें यत्र-तत्र अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन देखने को मिलता है, जैसे राक्षसों का मारा जाना, पृथ्वी का कंपायमान होना आदि। इसी प्रकार महाभारत में वीरचरित्रों की भरमार देखने को मिलती है। इसमें युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर, कर्मवीर आदि सभी प्रकार के कर्मों के

आधार पर वीरता का वर्णन किया गया है। साथ ही तत्कालीन राजाओं से संबंधित ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियों का वर्णन भी किया गया है।

वीरकाव्य की यही परंपरा आगे चलकर नाटकों में भी देखने को मिलती है। इस परंपरा में भवभूति कृत 'उत्तररामचरित', भट्टनारायण कृत 'वेणीसंहार', बाणभट्ट का 'हर्षचरित' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में लव की वीरता तथा वेणीसंहार में पांडवों की वीरता का सजीव चित्रण किया गया है।

हर्षवर्धन द्वारा रचित 'हर्षचरित' एक ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें तत्कालीन राजनीति का चित्रण किया गया है। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसमें हर्ष के जीवन संबंधी प्रामाणिक घटनाओं का वर्णन है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' राजनैतिक,आर्थिक दृष्टी एवं ऐतिहासिकता के कारण महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके संबंध में इतिहासकारों का मानना है कि यह प्राचीन भारतवासियों द्वारा प्राप्त ऐतिहासिक ज्ञान की उच्चतम सीमा को दर्शाती है।

हरिवंश कोछड़ा के अनुसार- आठवीं सदी से अपभ्रंश भाषा में चरित्र नायकों के कर्मों को आधार बनाकर काव्यों की रचना की गई। इसमें महापुराण, चरित्र ग्रंथों तथा कथात्मक कृतियाँ लिखने की एक समृद्ध परंपरा रही है। चरित्र ग्रंथों में किसी तीर्थंकर या महापुरुषों के चरित्र का वर्णन देखने को मिलता है।

अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध चरितकाव्य एवं वीरकाव्य स्वयंभू द्वारा रचित ग्रंथ 'पउमचरिउ' रामकथा पर तथा 'रिट्ठणेमिचरिउ' महाभारत कथा पर आधारित ग्रंथ है। 'पउमचरिउ' पांच कांडों में विभक्त है- विद्याधर कांड, अयोध्या कांड, सुंदर कांड, युद्धकांड तथा उत्तरकांड। कथा के प्रायः सभी पात्र 'जिन-भक्त' हैं। इसमें पावसराज और ग्रीष्म तथा मेघवाहन और हनुमान के बीच हुए युद्ध जैसे प्रसंगों के माध्यम से वीर रस का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। पुष्पदंत द्वारा रचित ग्रंथ 'णयकुमारचरिउ' में मगध राज्य के कनकपुर नरेश जयधर के पुत्र नागकुमार की वीरता की कथा वर्णित है। नागकुमार ने अपने पराक्रम के बल पर तत्कालीन समय के विभिन्न राजाओं को युद्ध में पराजित करते हुए अनेक राजकुमारियों को बंधन से मुक्त करवाया। इसके

अलावा धनपाल का 'भविष्यतकथा', पुष्पदंत का 'जसहरचरिउ', देवसेनगणि का 'सुलोचना चरिउ' आदि काव्यग्रंथ प्रसिद्ध है।

अपभ्रंश महाकाव्यों की कथावस्तु के संदर्भ में बट्टेकृष्ण ने लिखा है- "अपभ्रंश की रचनाएं धार्मिक हैं, तथापि इसमें शास्त्रीय रचनाविधान का पालन हुआ है। यह काव्य संस्कृत महाकाव्यों की तरह ही प्रायः राज्याश्रय में ही लिखे गए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन प्रबंधो को सांप्रदायिक रूप देने के लिए कथावस्तु में कुछ अस्वाभाविक काट-छांट की गई है।"

इस काल के वीर मुक्तक काव्य में हेमचंद्र कृत 'सिद्धहेमशब्दानुशासन', सोमप्रभ सूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध', मेरुतुंग कृत 'प्रबंध चिंतामणि', शारंगधर कृत 'शारंगधर संहिता', 'पुरातन-प्रबंध संग्रह', वंशीधर कृत 'प्राकृत पैग़लम' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिंदी साहित्य के प्रथम कालखंड को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीरता की प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण ही 'वीरगाथाकाल' नाम दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कालखंड भारतीय इतिहास का घोरअशांति तथा विप्लवकारी काल था। केंद्रीय शक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावना के अभाव के कारण संपूर्ण भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। उस समय भारत में राजपूतों का शासन विद्यमान था। उनमें परस्पर ईष्या और द्वेष की भावना देखने को मिलती थी।

डॉ. मंजू रानी के अनुसार-"राजपूतों में व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था लेकिन वास्तव में उनका कोई आदर्श न था। विवाह जैसे मांगलिक कार्य भी बिना युद्ध के संपन्न नहीं होते थे।"

इस काल में राष्ट्र, राज्य की अपेक्षा व्यक्तियों को काव्यों में प्रधानता मिलने लगी तथा अतिरंजना पूर्ण काव्य से हिंदी कविता आप्लावित हो उठी। विद्यापति द्वारा रचित 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' इस प्रकार के काव्य हैं। कीर्तिलता में विद्यापति ने राजा कीर्ति सिंह के यश और पराक्रम का वर्णन इस प्रकार किया है-

तहिं एक्कहिं एक्क पहार पले, जहिं खग्गहिं खग्गहिं धार धरे।

हअ लग्गिय चंगिम चारु कला,तरवारि, चम्मकर विज्जु झला।
टरि टोप्परि टूटिट शरीर रहे, तनु शोणित धारहिं धार बहे।
तनुरंग तुरंग तरंग बसे, तनु झडडई लग्गर रोस रसे।
सव्वउँ जन पेक्खइ जुज्झू कहा, महाभावइ अज्जुन कन्न जहा।

अर्थात् एक दूसरे पर प्रहार होने लगे, तलवार तलवार की धार को रोकने लगी, घोड़े सुशोभित हो रहे हैं। तलवार बिजली की तरह चमक रही है। शरीर टूट टूट कर गिरने लगा। परिणामस्वरुप रक्त की धाराएं बहने लगी। घोड़ों का शरीर रुधिर तरंगों से रंजीत हो गया। ऐसा लग रहा है मानो क्रोध छोड़कर वहां सभी युद्ध देखते हुए अर्जुन और कर्ण के बीच हुए युद्ध की कल्पना कर रहे हैं।

भारतीय इतिहास में आदिकाल में रचे गए वीरगाथात्मक ग्रंथों को रासों काव्य भी कहा जाता है। डॉ.सतीश कुमार भार्गव के अनुसार- "रासो काव्य परंपरा में विशुद्ध रुप से ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनगाथा, वंश परंपरा, युद्ध, शौर्य, वीरता और पराक्रम आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। इनमें कवियों का लक्ष्य अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गुणगान करना है...किंतु इन काव्यों में ऐतिहासिकता का नितांत अभाव है।"

रासो काव्य की रचना करने वाले कवियों को चारण और भाट के नाम से भी जाना जाता है। इन चारणों द्वारा अपने आश्रयदाताओं को निरंतर युद्ध के लिए प्रेरित करना तथा युद्धोन्माद उत्पन्न करने वाले घटनाओं को अपने काव्य में स्थान दिया गया। ये चारण कवि आवश्यकतानुसार युद्ध भूमि में तलवार उठाने से भी पीछे नहीं हटते थे।

रासो ग्रंथ में दलपति विजय कृत 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' तथा चंद्रबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' महत्वपूर्ण रासोकाव्य हैं। पृथ्वीराज रासो में कवि चंद्रबरदाई ने अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज के द्वारा किए गए युद्ध एवं विवाह का वर्णन वीररसात्मक शैली में किया है। उदाहरण -

बज्जिय घोरनिसान रान चौहान चहुँ दिसि।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र-मंत्र तिसि।।
उटिठ राज पृथ्वी राज बाग लग्ग बीरनट।

कढ़त तेग मनोवेग लगत बीज झट्ट घट्ट।।
थकि रहि सूर कौतिग गिगन, रगन मगन भई श्रोन धरा।
हर हरिष वीर जग्गो हुलस, हुल्व रंगि नव रत्त वर।

यहां मोहम्मद गोरी के सेना के साथ पृथ्वीराज और उसके सहयोगियों की रणभूमि में आपसी प्रतिक्रिया का वर्णन किया गया है। अंतिम दो पंक्तियों में कवि कहता है कि राजा के इस रण कौशल को देखकर सूर्यदेव थककर,मुग्ध होकर एक स्थान पर स्थिर हो गए हैंऔर धरा रक्त से लाल हो गई है।

'बीसलदेव रासो' में विग्रहराज चतुर्थ और राजमती की प्रेमकथा को वीर रसात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। जगनिक कृत 'परमाल रासो' में आल्हा और उदल की वीरता का वर्णन है। जगनिक ने वीरता को क्षत्रियधर्म से संबंधित मानते हुए लिखा है-

बारह बरिस लै कूकर जीऐं औ तेरह लौ जिएं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन को धिक्कार।।

'विजयपाल रासो' में नल्हसिंह ने अपने आश्रयदाता विजयगढ़ के शासक विजयपाल सिंह और बंगराज के बीच हुए युद्ध का सजीव चित्रण किया है। 'रणमल्ल छंद' श्रीधर की कृति है। इसमें कवि रणमल्ल के द्वारा किए गए वीरतापूर्वक युद्धों का एवं उसके प्रतिद्वंदी जाफर खां को पराजित करने की कथा का वर्णन किया गया है। इस काल के अन्य वीरगाथात्मक काव्यों में भट्ट केदार कृत 'जयचंद्र प्रकाश', मधुकर कृत 'जयमयंक जसचंद्रिका', बादर कवि कृत 'वीर रामायण', मान कृत 'राजविलास', करणीदान कृत 'सूरज प्रकाश', शारंगधर कृत 'हम्मीर रासो' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय वीरकाव्य हैं।

हिंदी साहित्य का पूर्व मध्यकाल भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है। इस कालखंड में भक्ति परक रचनाओं की प्रधानता देखने को मिलती है। भक्तिकाल में वीरकाव्य लिखे तो गए लेकिन इनकी संख्या बहुत कम है, भक्ति तत्व की प्रधानता के कारण इन वीरकाव्यों को प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हो पायी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार-"हिंदी साहित्य के इतिहास की विशेषता यह भी रही कि एक विशिष्ट काल में किसी रूप की जो काव्यसरिता वेग से प्रवाहित हुई। वह

यद्यपि आगे चलकर मंदगति से बहने लगी, पर 900 वर्षों के हिंदी साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सुखी नहीं पाते।" शुक्ल जी का यह कथन वीरकाव्यों के संदर्भ में पूर्णतया सत्य प्रतीत होती है।

भक्तिकाल में वीरगाथात्मक काव्य के अभाव के बावजूद वीरता से परिपूर्ण नायक एवं घटनाओं का वर्णन राम एवं कृष्ण आधारित प्रबंधकाव्यों में मिलता है। रामकथा से संबंधित प्रबंधकाव्य में भी वीररस का परिपाक देखने को मिलता है। रामकथा पर आधारित काव्य की भांति कृष्णकथा पर आधारित काव्य में भी कृष्ण की असुर संहारिणी लीलाओं में जैसे पूतनावध, कंसवध, शिशुपालवध, बकासुरवध आदि प्रसंगों में कृष्ण के वीरता का वर्णन किया गया है।

प्रेमाख्यानक काव्यों जायसी कृत 'पद्मावत' में गोरा-बादल युद्ध खंड में रत्नसेन और गोरा बादल के वीरता का सुंदर वर्णन देखने को मिलता है।

वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार- "अलाउद्दीन की कैद से छूटते समय रत्नसेन, सिंह की भांति गर्जना करता है, जो उसके वीरत्व का परिचायक है। गोरा बादल जैसे योद्धा सामान्य योद्धा नहीं अपितु एक-एक योद्धा हजारों वीरों के समान हैं। जायसी गोरा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं- रणक्षेत्र में उसकी वीरता देखने योग्य है। उसके रणकौशल को देखकर भाट भी धन्य-धन्य कह उठते हैं।

भाट कहा धनि गोरा तू भोर रन राउ
आँति सैति करि काँधे तुरै डेट है पाउ।

अर्थात् हे गोरा! तू धन्य है। रणभूमि में तो तू भोला के समान है क्योंकि तू अपने आँतो को समेट कर और उसको कंधे पर डालकर घोड़े पर सवार हो रहा है।

पद्मावत में जायसी के द्वारा गोरा की प्रशंसा के साथ-साथ उसके विरोधी अलाउद्दीन की सेना की वीरता का वर्णन भी किया गया है-

आउ कटक सुल्तानी गगन छपा मीस मांह।
परम आव जगकारी होतआव आब दिन साँझ।।

अर्थात् सेना के चलने के गति से जो धूल उड़ रही है उसके कारण आकाश में अंधेरा छा गया है। संसार काली घटाओं से घिरती जा रही है जिसके कारण दिन में ही संध्या जैसा आभास हो रहा है।

जायसी की भांति उस्मान ने भी 'चित्रावली' में 'सोहिला खंड' में सुजान सोहिला की लड़ाई तथा 'दलगंजन खंड' में सूजन और दलगंजन मदमत्तहाथी की लड़ाई दिखाकर वीररस का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

भक्तिकाल के अन्य वीरकाव्यों में श्रीधर का 'रणमलछंद', दुरसा आढा कृत 'विरुद्ध छिहतरी', दयाराम का 'राणारासो' कुंभकर्ण कृत 'रतनरासो', गुरु गोविंद सिंह कृत 'चंडी चरित्र' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

रीतिकालीन वीरकाव्यों में संस्कृत, अपभ्रंश तथा आदिकालीन रासो काव्य के अलावे तत्कालीन 'तवारीखी' परंपरा का भी प्रभाव देखने को मिलता है। डॉ.भगवानदास तिवारी ने कहा है- "रीतिकालीन हिंदी वीरकाव्य की रचनाएं कश्मीर से महाराष्ट्र तक और बंगाल से गुजरात भुज, कच्छ काठियावाड़ तक सारे देश में बिखरी पड़ी है। इसका संकलन, अध्ययन, विश्लेषण, वर्गीकरण और मूल्यांकन अत्यंत श्रमसाध्य, व्ययसाध्य क्लिष्ट कार्य है। रीतिकालीन हिंदी वीरकाव्य का सर्वांगीण अध्ययन अद्यावधि नहीं हो पाया है।"

रीतिकालीन वीरकाव्य पर तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का सीधा प्रभाव देखने को मिलता है। राजनीतिक दृष्टि से यह कालखंड घोर अशांति का था। युद्ध की आशंका हर समय बनी रहती थी। जिसके कारण राज्याश्रित कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं में वीरता का संचार करना था।

रीतिकाल के कवियों द्वारा अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में उनके द्वारा किए गए युद्ध, विजय, उनके जन्म, विवाह, राज्य प्राप्ति, पूर्वजों की वंशावली, दया, धर्म आदि का वर्णन ओजपूर्ण वाणी में किया गया है। जहाँ रीतिकालीन कुछ कवियों द्वारा आदिकालीन चारण काव्यधारा के समान ही कोरी प्रशंसात्मक काव्यों की रचना की

गई वहीं इस दौर में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं के वास्तविक गुणों का बखान किया है। ।

नरहरि को हुमायूँ, शेरशाह, सलीमशाह, रीवा नरेश वीरभानु के पुत्र महाराज रामचंद्र, जगन्नाथपुरी के राजा मुकुंद गजपति, अकबर आदि के दरबार में रहने का मौका मिला। उन्होंने अपने समस्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा में उनकी दानशीलता, युद्ध एवं वैभव का अत्यंत प्रभावशाली वर्णन किया है। इसके साथ ही जगन्नाथपुरी के राजा मुकुंद गजपति का तुलादान, चित्तौड़गढ़ विजय, नरहरि और अकबर की ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर जाकर पुत्र-फल के लिए किए गए प्रार्थना आदि ऐसे अनेकों ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन इनके छंदों में अनायास ही देखने को मिल जाता है।

केशवदास कृत 'रतनबावनी', 'वीरसिंहदेव चरित्र', 'जहांगीर जस चंद्रिका' भी वीररसात्मक काव्य है। कवि गंग के स्फुटछन्दों में भी महाराणा प्रताप की युद्धवीरता तथा बीरबल की दानवीरता आदि का प्रशंसात्मक वर्णन देखने को मिलता है। पद्माकर द्वारा रचित 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' और 'प्रताप सिंह विरुदावली' भी प्रशस्तिपरक काव्यों में गिना जाता है। मान कवि कृत 'अनूपप्रकाश' भी गोसाई हिम्मतबहादुर (अनूप गिरी) के जीवन वृत्त पर आधारित प्रशस्तिपरक काव्य है। भूषण 17 वीं शताब्दी के दो महानायकों छत्रसाल और शिवाजी के दरबार में रहे। इनका 'शिवराज भूषण' ग्रंथ शिवाजी और उनके वंश परिचय के साथ उनके जीवन से संबंधित प्रमुख घटनाओं पर आधारित वीरगाथात्मक काव्य है। 'शिवाबावनी' में शिवाजी और साहू जी की प्रशस्ति का बखान देखने को मिलता है। 'छत्रसालदशक' में दस छन्दों में महाराज छत्रसाल बुंदेला का प्रशस्ति गान है।

भूषण का साहित्य इतिहास और काव्य का अनूठा संगम है, जिसमें अतिशयोक्ति पूर्ण शब्दों का प्रयोग तो है किंतु शैली में चाटुकारिता का भाव नहीं बल्कि राष्ट्रीयता का ओज है, इनमें स्वधर्म एवं स्वदेश के उद्धार का भाव देखने को मिलता है। भूषण ने शिवाजी के पराक्रम का वर्णन करते हुए लिखा है-

इंद्र जिमि जंभ पर, बाडव सुअंभ पर,रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है

पौन बारिवाह पर, संभु रतिराह पर, ज्यों सहस्त्र बाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर, भूषण विवुड पर, जैसे मृगराज हैं।
तेज जिमि अंस पर कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मलेच्छवंश पर सेर सिवराज हैं।

भूषण के इन पंक्तियों में स्वदेश के प्रति जितना भक्ति भाव देखने को मिलता है उतना ही शत्रु के प्रति क्रोध भी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- "भूषण ने जिन दो नायकों की कीर्ति को अपने वीरकाव्य का विषय बनाया था, वे अन्याय दमन में तत्पर, हिंदू धर्म रक्षक, इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिंदू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति बन गए। भूषण की कविता कवि-कीर्ति संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है।"
मान कवि का पूरा नाम मानसिंह है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ 'रासविलास' 18 विलासों का वीररसात्मक बृहदकाव्य है। इसमें सिसोदिया वंश का वर्णन किया गया है। इसकी कथावस्तु महाराणा राजसिंह के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर आधारित है। इसमें राजपूतों और मुगलों तथा गुजरात के सूबेदारों के बीच हुए दस युद्ध का वर्णन किया गया है, जो राजपूत राजाओं की स्वतंत्रता की रक्षा की भावना को दर्शाता है।

गोरेलाल या लाल कवि छत्रसाल के दरबारी कवि थे। इन्होंने छत्रसाल की वीरता का वर्णन अपने ग्रंथ 'छत्र-प्रकाश में किया है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह प्रशस्ति काव्य होते हुए भी इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का सटीक निर्वहन देखने को मिलता है। जैसे- शेर अफगान के विरुद्ध युद्ध में छत्रसाल को भागना पड़ा उसका भी वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। इससे इस ग्रंथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। 'छत्र-प्रकाश' में महाराज छत्रसाल की वीरता और बलिदान का ओजपूर्ण वर्णन इसप्रकार मिलता है-

मारि तुरक कौ मुँह मुरकयों। रन में विजै बुंदेला पायौ।।
मुरके तुरक खग्ग फिर खोल्यों। बल दिवान पर हल्ला बोल्यों।।
बजे नगारे फेर जुझाऊ। रन में रुप्यों उमड़ि बलदाऊ।।
पहर राति भर मार मचाई। मुरक्यो तुरक उहां खम खाई।।
ओड़ि अरिन के ढाल ढकेला। भलौ लरयौ बल करन बुंदेला।।

खभरि खेत तहवर बिचलायौ।सूबन के उर साल सलायौ।।
सले साल सुबानि कै, धक्कनि हलै पठान।
दियौ भाल छत्रसाल कै, राजतिलक भगवान।।

छत्र-प्रकाश में कवि ने जहां एक ओर छत्रसाल के पौरुषमय जीवन का चित्रण किया है वहीं दूसरी तरफ उसकी राजनैतिक उपलब्धि का वर्णन भी किया है।

श्रीधर कृत 'जंगनामा' में बहादुरशाह के बाद सत्ताप्राप्ति के लिए जहांदारशाह और फर्रूखसियर के बीच हुए युद्ध का वर्णन किया गया है। कवि सूदन भरतपुर के महाराजा बदन सिंह के पुत्र सुजान सिंह (सूरजमल) के आश्रित कवि थे। इनकी रचना 'सुजानचरित' में सुजान सिंह के द्वारा लड़े गए 7 युद्धों का वर्णन है। यह सात लड़ाईयां- सूरजमल द्वारा फतेहअली खान की सहायता, ईश्वरी सिंह की सहायता, सलामत खा की पराजय, पठानों के विरुद्ध सफदरगंज की सहायता, राजा बहादुर सिंह की पराजय, दिल्ली की लूट तथा बादशाही और मराठों के सम्मिलित सेना से सूरजमल का युद्ध आदि हैं। इसके साथ ही युद्ध में सुजान सिंह के साथ मराठों की लड़ाई से पूर्व की गई तैयारियों का वर्णन भी देखने को मिलता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- "सूरजमल की वीरता की जो घटनाएं कवि ने वर्णित की है वह कपोल कल्पित नहीं ऐतिहासिक है। जैसे अहमदशाह के सेनापति असद खां का फतेह अली पर चढ़ाई करने पर सूरजमल का फतेह अली के पक्ष में होकर असद खां का ससैन्य नाश करना, मेवाड़ आदि जीतना, संवत्-1804 में जयपुर की ओर से मराठों को हराना, संवत् 1805 में बादशाही सेनापति सलावत खां बक्सी को परास्त करना, संवत् 1807 में शाही वजीर सफदरजंग मंसूर की सेना से मिलकर बंग पठानों पर चढ़ाई करना, बादशाह से लड़कर दिल्ली लूटना इत्यादि। इन सब बातों के विचार से 'सुजान-चरित' का ऐतिहासिक महत्व भी बहुत कुछ है।"

चंद्रशेखर वाजपेयी द्वारा रचित ग्रंथ 'हम्मीर हठ' भी वीररसात्मक काव्य है, इसमें रणथंभौर के चौहान वंश के राजा हम्मीरदेव और दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन के बीच होने वाले युद्ध का सजीव चित्रण किया गया है। जोधराज की कृति 'हम्मीर रासो' में हम्मीर हठ की ही भांति रणथंभौर के राजा हम्मीरदेव और अलाउद्दीन का युद्ध,

अलाउद्दीन की हार, उसको बंदी बनाकर हम्मीर के सामने प्रस्तुत करना, हम्मीर की उदारता से उसका मुक्त हो जाना, सेना की भूल के कारण दुर्ग के समस्त नारियों द्वारा जौहर करना, जिससे दुखी होकर हम्मीर का अपना सिर काटकर महादेव को समर्पित कर देना तथा हम्मीर की मृत्यु का समाचार सुनकर अल्लाउद्दीन का डूब मरना आदि प्रसंगों का वर्णन किया गया है।

इस कालखंड के अन्य वीरगाथात्मक काव्य में लालचंद जैन कृत 'गोरा बादल', कवि रणंजय कृत 'जयसिंहचरित', श्रीपति भट्ट कृत 'हिम्मत-प्रकाश', सबलसिंह चौहान कृत 'महाभारत-चक्रव्यूह', निवाज तिवारी कृत 'छत्रसाल-विरुदावली', जैतसिंह कृति 'मुअज्जमशाह के कवित्त', महाराजा जयसिंह कृत 'जयदेव-विलास', सेनापति कृत 'गुरु शोभा' करणीदान कृत 'सूरज प्रकाश' वीरभान कृत 'राज रूपक' महाराणा राजसिंह कृत 'बाहु-विलास' शाहूजी पंडित कृत 'बुंदेला वंशावली' आदि उल्लेखनीय हैं।

रीतिकालीन हिंदी वीरकाव्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं आदिकाल के प्रशस्तिकाव्य एवं रासो साहित्य का ही विकसित रूप है। वैदिक काल में प्रशस्ति का आधार अलौकिक था वही धीरे-धीरे समय के साथ रूप बदलकर लौकिक बन गया।अर्थात् लौकिक पात्रों को कथा का नायक बनाया जाने लगा। वीरकाव्य की परंपरा वीरगाथाकाल तथा रीतिकाल में अनुकूल परिवेश पाने के कारण अपने चरम उत्कर्ष पर रही। इसके माध्यम से तत्कालीन युग की राजनैतिक, सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं घटनाओं का वर्णन किया जाता रहा है।

कोई भी रचना निरुद्देश्य नहीं होती बल्कि जब भी कोई लेखक या कवि कुछ लिखता है, तो उसके सामने कोई ना कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। साहित्य सृजन के आरंभ में ही संस्कृत आचार्यों द्वारा काव्य प्रयोजन को अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया गया है। मम्मट के द्वारा दी गई परिभाषा सर्वमान्य एवं सटीक प्रतीत होती है-

"काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परिनिवृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे।।"

अर्थात् काव्य से यश और अर्थ की प्राप्ति होती है,व्यक्ति व्यवहार कुशल बनता है, काव्य से अशिव का नाश होता है तथा काव्य पत्नी के समान मधुर उपदेश देने वाला होता है।

रीतिकालीन समाज सामंती व्यवस्था पर आधारित समाज था। राजा और सामन्तों का जीवन सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होने के कारण विलासिता की प्रवृत्ति अपने चरम पर थी। सामन्तों और सरदारों का संपूर्ण जीवन भोग-विलास में इस प्रकार डूब गया था कि जैसे उनके पास इससे इतर सोचने के लिए कुछ रह ही नहीं गया था।

डॉ.मंजू रानी के अनुसार-"बौद्धिक ह्रास और चिंतनहीनता के इस युग में उनके विचारणीय विषय भोग-विलास तक ही सीमित थे।" ऐसे वातावरण से इस दौर के कवि भी अछूते नहीं रह पाए तथा उन्हें विवश होकर कविता को ही अपने जीविकोपार्जन का साधन बनाना पड़ा। इस युग के कवि राजा, नवाबों तथा सामंतों के आश्रय में रहने लगे, विलासी मनोवृति के अनुकूल ही श्रृंगारिक एवं वीर रस की कविताओं के माध्यम से अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा कर समाज में धन, पद और सम्मान प्राप्त करने लगे।

अपने आश्रयदाताओं की वीरता एवं उसके द्वारा किए गए युद्धों का वर्णन करने में इस काल के कवियों का एक वर्ग इतनी प्रवीणता प्राप्त कर चुका था कि वे कवि 'चारण' और 'भाट' जाति के रूप में समाज में पहचाने जाने लगे थे। इन चारण और भाट कवियों का इस दौर में सम्मान सबसे अधिक राजाओं और सामंतों द्वारा किया जाता था। क्योंकि उनके सम्मान का अर्थ था राजाओं और सामंतों द्वारा अपनी प्रतिष्ठा को काव्य के माध्यम से वर्तमान और भविष्य को सुरक्षा प्रदान करना। यही कारण था कि अकबर द्वारा गंग और नरहरि महापात्र जैसे कवियों को अपने दरबार के नवरत्नों में शामिल किया गया था। इन दोनों ही कवियों द्वारा अकबर की प्रशंसा एवं प्रशस्ति में बहुत कुछ लिखा गया था। इसके लिए अकबर के द्वारा उन्हें सम्मानित भी किया गया था। गंग ग्रंथावली के अनुसार- "गंग ने स्वंय सूचित किया है कि उन्होंने चंद्रबरदाई का पृथ्वीराज रासो सुनाकर अकबर से एक करोड़ पसाव दक्षिणा के रूप में प्राप्त किए

थे।...अकबर ने नरहरिदास को केवल एक दोहे पर ही आधा सेर सोना पुरस्कार में दिया था।"

शिवसिंह सेगंर के अनुसार-"खूबचंद नामक कवि ने एक छंद में अकबर काल के दान खाते में अकबर के दरबारियों द्वारा अनेक कवियों को दिए गए दानों की सूचना दी है। उसने लिखा है कि अकबर के सेनापति और जहांगीर के साले, आमेर नरेश मानसिंह ने नरहरि के पुत्र हरीनाथ के एक दोहे पर दस लाख दिए, बीरबल ने केशवदास की कविता से प्रसन्न होकर छः करोड़ रुपए दिए। शिवाजी ने भूषण की कविता सुनकर हाथी भेंट किया। अब्दुल रहीम खानखाना ने गंग के छप्पय छंद पर छत्तीस लाख दिए।"

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस दौर के कवियों ने केवल दान और माल पाने के लिए ही अपने आश्रयदाताओं को काव्य का नायक बनाकर ऐतिहासिक एवं प्रशस्तिपरख ग्रंथों की रचना नहीं की अपितु इसी दौर में कुछ कवि ऐसे भी हुए, जिन्होंने अपने कवि कर्म को पहचानते हुए युग और अवसर के अनुकूल उद्बोधन गीतों के माध्यम से जनता को औरंगजेब के धार्मिक विद्वेष एवं हिंदू विरोधी नीतियों से अवगत कराया। ताकि जनता में चेतना जागृत हो सके। सुंदरदास ने अपने ग्रंथ 'सुंदर दर्शन' में औरंगजेब के दंड एवं धार्मिक विद्वेष पर आधारित शासन से जनता को अवगत कराया है-

शाहजहां सूत औरंगजेब, चले स्वपन्थ सभा
\- - - - -
काजी मुल्ला की करैं बड़ाई, हिन्दू को जजिया लगवायी
हिन्दू डांड देई सब कोई, बरस दिनन में जैसा कोई।।

भूषण ने भी औरंगजेब के द्वारा किए गए अमानवीय कार्यों एवं नीतियों की आलोचना की है-

क़िबले के ठार बाप बादसाह साहजहां
वाको कैद कियो मानो मक्के अगि लाई है
बड़ो भाई दारा बाकों पकरि के मारि डारयों
मेहरहू नाहिं वाको जायौ सगो भाई है

खाइके कसम त्यों मुराद को मानय लियौ
फेरि ताहू साथ अति किन्हीं तै ठगाई है
भूषण सुकवि कहै सुनौ नवरंग जेब ऐसे ही
अनीति करि पातसाही पाई है।।

भूषण ने अन्यत्र औरंगजेब की नीतियों के कारण उसे कुंभकरण का अवतार कह दिया है। औरंगजेब की हिंदू विरोधी नीतियों एवं अमानवीय कार्यों से तंग आकर जनता में जातीय चेतना एवं राष्ट्रीयता के भाव को जगाने हेतु रीतिकालीन कवियों ने अवतारी पुरुष के रूप में भी अपने आश्रयदाताओं का वर्णन किया है। भूषण शिवाजी को धर्मरक्षक का अवतार मानते हैं। भूषण ने शिवाजी को विष्णु का अवतार मानते हुए लिखा है- 'ब्रह्मानन देखि करत सुदामा सुधि मोहि देखी काहे सुदी भृगु की करत है।'

डॉ.सत्येंद्र के अनुसार-" उनकी (भूषण की) दृष्टि में अवतार का कार्य....धर्म की ग्लानि को दूर करने का, संसार से अत्याचार और कलुष मिटाने का है।"

पद्माकर को जगत सिंह के धर्म रक्षक रूप में राम और कृष्ण के अवतार की झलक मिलती है-

प्रबल प्रताप कुल दीपक छता के पुन्य
पातक पिता के राम राजा क्यों भगतराज
कान्ह अवतार बैरी-बारिधि-मथन काज,
सील के जहाज बली विक्रम तखज राज।

डेविन लॉरेजन और विलियम पिंच ने हिम्मत बहादुर को 'हिंदू धर्म रक्षक' के रूप में चित्रित करते हुए उन्हें शस्त्रधारी संन्यासी की संज्ञा दी है।

इस कालखंड में तत्कालीन राजनीतिक परिवेश के परिणामस्वरूप कुछ राजाओं द्वारा मुगल वंश से संबद्ध होने के कारण अपनी वीरता को मुगल वंश के हित में समर्पित कर दिया गया था। स्वामी भक्ति के प्रदर्शन में इन राजाओं ने काफी यश एवं गौरव प्राप्त किया। इसका वर्णन वीरकाव्यों में देखने को मिलता है। रतन सिंह जहांगीर का कृपा पात्र होने के कारण मुगल वंश पर होने वाले आक्रमणों का दमन वीरतापूर्वक करता था। मतिराम ने रतन सिंह की प्रशस्ति में लिखा है-

बंस बारिनिधि-रतन भो रतन भोज को नंद
साहिन सो रन रंग में जीत्यों बरवत बलंद।।

रतन सिंह का मुगलों से संबद्ध होने के बावजूद उनमें हिंदू-धर्म रक्षा का भाव वंश परंपरा के अनुसार बना रहा। वह अपनी वीरता एवं स्वामी भक्ति के बदले कुछ पुरस्कार ना लेकर धार्मिक दृष्टि से मुगलों से अपनी शर्ते बनवाते थे। उनके गौरक्षक रूप को मतिराम ने कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया है-

जोर दल जोरि सअहिजादो साहिजहाँ जंग
जुरि मुरि गयो, रही राव मैं सरम सी।
कहै 'मतिराम' देव मंदिर बचाए जाके
बर वसुधा में बेद-सुति-विधि यो बसी।।
जैसो राजपूत भयो भोज को सपूत हाड़ा
ऐसे और दूसरो भयो न जग में जसी।
गायन को बकसी कसायनि की आयु सब
गायन की आयु सौ कसायनि को बकसी।।

अतः जो हिंदू राजा मुगलों की तरफ से अपनी वीरता प्रदर्शित करते थे। उनमें भी धर्म प्रेम किसी ना किसी रूप में बचा हुआ था और यदि किसी आश्रयदाता के पास विधान रक्षण की शक्ति नहीं होती थी तो कवियों द्वारा उनके पूर्वजों की अस्तुति गाकर एवं लिखकर उनमें इस तत्व को उभारा जाता था।

राजमल बोरा ने 'भूषण और उनका साहित्य' नामक पुस्तक में लिखा है- "प्रायः वीर नायक उन्हें कहा जाता है जिन्होंने किसी राज्य की स्थापना की है, जो किसी युग की सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले महापुरुष है, जिन्होंने मानवता का संदेश दिया या मानवता के रक्षार्थ अपना जीवन लगा दिया।"

रीतिकाल में इस सृष्टि को ध्यान में रखते हुए भी कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं के वंशावली में धर्म रक्षक के तत्वों को दिखाकर उन्हें गौरवान्वित किया जाता था। ताकि उनके अंदर भी अपने धर्म के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव जगे और वे धर्मरक्षण को अपना दायित्व समझे। रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य केशवदास ने अपने आश्रयदाता के वंशजों की धर्मवीरता की चेतना का बखान किया है। केशवदास के

अनुसार- 'ओरछा राज्य की परंपरा में ऐसे राजा होते रहे जिनमें हिंदू धर्म के प्रति प्रेम और स्वाधीनता की चेतना लंबे समय तक देखने को मिलती है। यही कारण है कि जहां एक तरफ इंद्रजीत सिंह में कला और विलास के प्रति प्रेम था तो वहीं दूसरी तरफ वीरसिंह देव आजीवन अकबर से संघर्ष करता रहा।

अतः रीतिकालीन वीरकाव्यों के प्रयोजन को जब हम संकुचित अर्थ में देखते हैं तो पाते हैं कि इस काल के कवियों द्वारा धन, यश और प्रतिष्ठा के लोभ में अपने आश्रयदाताओं को काव्य नायक बनाकर उनकी वीरता की प्रशंसा की गई है। परंतु जब हम वीरकाव्यों का व्यापकता एवं गंभीरतापूर्वक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि इन वीरकाव्यों को रचने के पीछे उनका मुख्य उद्देश्य सुप्त भारतीय जनता में जागृति लाकर उनमें राष्ट्रीयता एवं जातीय चेतना को जागृत करना था। जनता को उनके सही प्रतिनिधियों से अवगत कराना था। इसके लिए कवियों ने अपने समय के श्रेष्ठ पुरुषों को अपने काव्य का नायक बनाया। साथ ही उनके वीरता, आदर्श एवं उदात्त रूप का चित्रण किया।

रीतिकालीन कवियों ने तत्कालीन समय के राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संकट को भांप लिया था एवं उस संकट से भारतीय जनता को उबारने के लिए इस काल के कवियों- केशव, गोरेलाल, भूषण, पद्माकर, मान ने वीरसिंह देव, सुजानसिंह, शिवाजी, छत्रसाल, हिम्मतबहादुर और अनूपगिरि जैसे राष्ट्रीयता एवं जातीयता की भावना से ओतप्रोत पुरुषों का चरित्रगान करके जनता को जागृत करने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने ऐसे वीर पुरुषों को कहीं भगवान का अवतार तो कहीं हिंदू धर्म रक्षक, वीर योद्धा कहीं शस्त्रधारी सन्यासी के रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया। जिन्होंने अपना पूरा जीवन भारतीय संस्कृति के रक्षार्थ, धर्म-रक्षार्थ और लोक कल्याण हेतु समर्पित कर दिया था।

अतः रीतिकाल में जो भी वीरकाव्य लिखे गए हैं, वह उस कालखंड की कोई नवीन या अभूतपूर्व उपलब्धि नहीं है। बल्कि उसकी एक सुदीर्घ परंपरा प्राचीनकाल से ही भारतीय साहित्य के इतिहास में देखने को मिलती है। रीतिकालीन वीरकाव्य में जहां

एक ओर शिवाजी, छत्रसाल, वीरसिंह, रतनसिंह, सूरजमल, हिम्मतबहादुर आदि जैसे राष्ट्रीयता एवं जातिय गौरव के उन्नयकों के वीरता, शौर्य, पराक्रम का बखान किया गया है। वहीं काव्यों में युगीन सभ्यता, संस्कृति, समाज एवं उनमें घटित घटनाओं का वर्णन करके तत्कालीन इतिहास को भी संजोया गया है।

सन्दर्भ सूची

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. हिंदी साहित्त्य का इतिहास .(2005). नागरी प्रचारणी सभा. काशी
2. कुमार, डॉ. सुधीर. रीतिकाव्य की इतिहास दृष्टि.(2020). वाणी प्रकाशन. नयी दिल्ली
3. भार्गव, डॉ.सतीश कुमार.रीतिकालीन वीरकाव्य में रीतितत्त्व.(1982).दिनमान प्रकाशन .दिल्ली
4. मिश्र, विश्वनाथप्रसाद. संस्करण-1959 ई०, केशवग्रन्थावली, तीन भागों में, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
5. पद्माकर, हिम्मतबहादुर विरदावली, सम्पादकः लाला भगवानदीन, ना0प्रा0स0,काशी
6. मिश्र, विश्वनाथप्रसाद. 1972 ई. ,पद्माकर ग्रंथावली, ना0प्रा0स0,काशी
7. नगेन्द्र, 1949ई०, 'रीतिकाव्य की भूमिका', नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
8. मिश्र, भगीरथ, 1965ई०, 'हिन्दी रीति साहित्य', प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली
9. बोरा, राजमल, 1979ई०, 'हिन्दी वीरकाव्य', नमिता प्रकाशन, औरंगाबाद
10. सिंह, महेन्द्र प्रताप, 1977ई०, 'रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या', श्रीपटल प्रकाशन, नई दिल्ली
11. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, 2006ई०, 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (भाग2), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
12. नगेन्द्र, 1973ई०, 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहस' (षष्ट भाग), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
13. तिवारी, भगवानदास, 1987ई०, 'रीतिकालीन हिन्दी वीर काव्या के कवि और उनकी रचनाएँ', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

14. तोमर, टीकम सिंह, 1954ई०, 'हिन्दी वीरकाव्य', हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
15. पिंच, विलियम, 'वारियर एसेटिक्स एण्ड इंडियन एम्पायर' केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस
16. लरेंजन, डेविड, 'वारियर एसेटिक्स इन इंडियन हिस्ट्री', जॉनल ऑफ अमरिकन ऑरियन्टल सोसायटी
17. गुप्त, जगदीश .रीतिकाव्य संग्रह. (1983).रामबाग.इलाहबाद
18. गुप्त, जगदीश . रीतिकाव्य.(1968). वसुमती प्रकाशन. इलाहबाद
19. शोध प्रबंध. डिम्पल . भूषण और मतिराम के प्रशस्तिकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन
20. शोध प्रबंध. वीणा कपूर. रीतिकालीन वीरकाव्य का युगबोध.
21. शोध प्रबंध. आशुतोष शर्मा . भूषण और गोरेलाल के वीरकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन (2009)
22. शोध प्रबंध . मंजुरानी. रीतिकालीन रीतिकाव्य में राजप्रशस्ति
23. रमण. राव वेंकट.रीतिकालीन काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

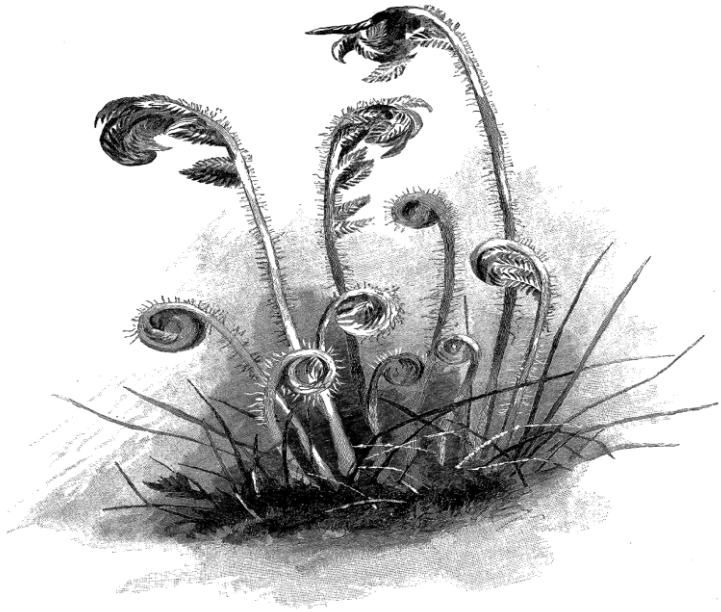

किसान के चतुर्मुखी शोषण का यथार्थ दस्तावेज : होरी

डा. मनीषा ठक्कर
असिस्ट्ण्ट प्रोफेसर , हिंदी विभाग,
कला संकाय, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा।

शोध सार

गोदान उपन्यास में प्रेमचंद ने किसानों के चतुर्मुखी शोषण का यथार्थ चित्रण किया है। इस उपन्यास में उन्होंने बहुत से किसान पात्रों को उभार कर रखने के बदले होरी पर ध्यान केंद्रित किया है। वह उन तमाम गरीब किसानों की विशेषताएं लिए हुए हैं जो जमींदारों और महाजनों की धीमे धीमे लेकिन बिना रुके हुए चलने वाली चक्की में पिसा करते हैं। मैंने यहां विष्णु प्रभाकर के होरी नाटक को लिया है जो प्रेमचंद के गोदान उपन्यास का नाट्य रूपांतरण है। इस नाटक में उन्होंने सिर्फ और सिर्फ गांव में स्थित किसान होरी के जीवन को लिया है दूसरी शहर की कथा को छोड़ दिया है और इसीलिए उन्होंने इस नाटक का शीर्षक होरी रखा है। मैंने भी इसीलिए अपने आलेख के लिए होरी नाटक का चयन किया है क्योंकि पूरे नाटक में कृषक होरी के जीवन को केंद्र में रखा गया है।

बीज शब्द: *नाटक, साहित्य, किसान, त्रासदी, जीवन*

शोध आलेख

साहित्य समाज का दर्पण है अतः समाज में जो होता है वह साहित्य में आए बिना नहीं रहता। हमारा देश कृषि प्रधान देश है, तो कृषक जीवन भला साहित्य से कैसे अछूता रह सकता है। हमारे यहां हिंदी साहित्य में कृषक के जीवन संघर्ष, उसके जीवन की विभिन्न समस्याएं एवं उसके जीवन की त्रासदी का चित्रण भी बहुत हुआ है।कथा सम्राट एवं युग निर्माता प्रेमचंद ने अपनी कुछेक कहानियों एवं उपन्यासों में कृषक जीवन की दयनीय स्थिति का यथार्थ चित्रण किया है। हमारे कृषि प्रधान देश में पहले से ही किसानों की स्थिति बड़ी ही दयनीय रही है। कृषक जो कि सब का पेट भरता है और वही भूखों मर रहा है। वह कर्ज से इतना दब जाता है कि आखिरकार वह या तो मजदूर बन जाता है या तो असह्य स्थिति के कारण आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाता है। आज भी हम आए दिन किसानों के आत्महत्या की खबरें सुनते रहते हैं। ऐसी स्थिति भी गांव खेड़े के साधारण किसानों के जीवन में आती है वही इस प्रकार अपना दयनीय जीवन जी रहे हैं। जो बड़े बड़े किसान होते हैं वे तो सारी योजनाओं का फायदा

उठाकर अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। प्रेमचंद ने किसानों के जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर उपन्यास लिखे हैं जैसे प्रेमाश्रम कर्मभूमि और गोदान। 'प्रेमाश्रम' में बेदखली और इजाफा लगान पर, 'कर्मभूमि' में बढ़ते हुए आर्थिक संकट और किसानों की लगान बंदी की लड़ाई पर तथा 'गोदान' में कर्ज की समस्या को लिया गया है। गोदान उपन्यास में प्रेमचंद ने किसानों के चतुर्मुखी शोषण का यथार्थ चित्रण किया है। इस उपन्यास में उन्होंने बहुत से किसान पात्रों को उभार कर रखने के बदले होरी पर ध्यान केंद्रित किया है। वह उन तमाम गरीब किसानों की विशेषताएं लिए हुए हैं जो जमींदारों और महाजनों की धीमे धीमे लेकिन बिना रुके हुए चलने वाली चक्की में पिसा करते हैं। 1 मैंने यहां विष्णु प्रभाकर के होरी नाटक को लिया है जो प्रेमचंद के गोदान उपन्यास का नाट्य रूपांतरण है। इस नाटक में उन्होंने सिर्फ और सिर्फ गांव में स्थित किसान होरी के जीवन को लिया है दूसरी शहर की कथा को छोड़ दिया है और इसीलिए उन्होंने इस नाटक का शीर्षक होरी रखा है। मैंने भी इसीलिए अपने आलेख के लिए होरी नाटक का चयन किया है क्योंकि पूरे नाटक में कृषक होरी के जीवन को केंद्र में रखा गया है। इस नाटक में प्रभाकर जी ने प्रेमचंद के गोदान उपन्यास की कथा को काट छांट कर लेने के बावजूद भी मूल कथा को बरकरार रखा है। इस नाटक के मंचन के दिल्ली, मुंबई, कोलकाता आदि शहरों में कई कई प्रयोग हुए हैं और उनकी नाट्य प्रस्तुति साहित्य जगत एवं नाट्य जगत उभय में काफी चर्चित रही है। उसे कई पुरस्कारों से नवाजा भी गया है।

"होरी" नाटक दो अंको में लिखा गया है। इसमें मुख्य ऋण की समस्या है पर यहां तो महाजन, जमींदार के अलावा अपने परिवार के, अपनी बिरादरी के लोग, सरकारी कर्मचारी, पुलिस, पुरोहित, पटवारी, गांव के मुखिया आदि भी किस तरह से किसान का शोषण करते हैं इसका यथार्थ चित्रण किया गया है।

होरी अपने घर में एक गाय को लाना चाहता था। उसका भी वही सपना था जो हर किसान का होता है। वह भोला से 80 रुपये में एक गाय लेता है और मानो वहीं से उसके जीवन की त्रासदी शुरू हो जाती है। गाय के आते ही उसके भाई उस पर यह इल्जाम लगाते हैं कि अलग होते समय होरी ने जायदाद में से कुछ रुपए दबा लिए थे और इसीलिए उनके घर गाय आई है। दूसरी ओर राय साहब भी इस बार कड़काइ से

पेश आते हैं और कह देते हैं कि जब तक बाकी ना चुक जाएगी, किसी को खेत में हल ना ले जाने देंगे।2 झिंगुरसिंह भी पैसा देने से इंकार कर देता है। वह भी गाय बेचकर पैसा ले जाने को कहता है। इस प्रकार अगर वह खेती करना चाहे तो गाय जाती है और गाय को रखना चाहे तो खेती जाती है। आखिरकार वह गाय बेचने का फैंसला करता है पर लड़कियों का गाय के प्रति प्रेम देखकर वह तय करता है की गाय को नहीं बेचेगा। कैसे भी करके वह पैसे चुका देगा। इधर होरी का भाई हीरा गाय को जहरीली बूटी खिला देता है और गाय मर जाती है। उस दिन होरी ने हीरा को अपने घर के बाहर देखा था। धनिया को तुरंत पता चल जाता है कि उसी ने गाय को मारा है वह थाने जाकर रपट लिखवाना चाहती है पर होरी उसे नहीं जाने देता दातादीन सब जान लेता है और वहां से जाता है। उसके बाद दारोगा आते हैं उसके साथ झिंगुरी सिंह , नोखे राम, चार प्यादे, दातादीन, पटेश्वरी सब थे। दरोगा जब हीरा के घर की तलाशी लेना चाहता है तब अपनी इज्जत बचाने के लिए होरी मना करता है। दरोगा को जब पता चलता है कि होरी के पास कुछ नहीं है और उसकी हालत भी अच्छी नहीं है तब वह वहां से जाने के लिए तैयार हो जाता है पर पटवारी कहता है- "जब ऐसा कोई अवसर आ जाता है तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा सकते हैं नहीं तो पटवारी को पूछता कौन है ?" 3 इस प्रकार यह सभी मिलीभगत है जो लोग उसे पहले पैसे नहीं देते थे वही आज गौ हत्या के केस को रफा-दफा करने के लिए रुपए देते हैं क्योंकि उसमें से उनको भी तो कुछ मिलेगा।

नाटक के दूसरे अंक का आरंभ गोबर और झुनिया के प्रसंग को लेकर होता है। झुनिया को गोबर का गर्भ रह जाता है। गोबर भाग जाता है और झुनिया होरी के घर आती है। पहले तो धनिया और होरी दोनों उसे अपने घर में नहीं रखेंगे ऐसा तय करते हैं, पर उसके गिडगिडाने पर उन दोनों का दिल पसीज जाता है और उसे अपने घर रख लेते हैं। इस बात को लेकर पंचायत बैठती है। जिसमें होरी को दंड के रूप में 100 रुपये नगद और तीन मन अनाज देने के लिए कहती हैं। पंचायत के फैंसले को सुनकर धनिया पहले तो खूब बिल बिल आती है और पंचों को भी जली कटी सुनाती है। झींगुरसिंह की पत्नियों एवं दातादीन के लड़के मातादीन के चरित्र की भी पोल खोलती है पर आखिर में उसको भी झुकना पड़ता है क्योंकि बिरादरी का डर बहुत बड़ी बात होती है। बिरादरी से बाहर जाने की बात दोनों सोच भी नहीं सकते क्योंकि

इन्हें दो लड़कियों की भी चिंता फिकर है। किसी तरह से यह मामला हल हो जाता है। वहां एक दूसरी आफत भोला के रूप में आती है। वह गाय के पैसे वसूल करने आता है और कुछ ना मिल पाने पर गोई को ले जाने की बात करता है। वह कहता है अगर आप लोग झुनिया को घर से निकाल देते हैं तो वह बैल भी ना ले जाएगा और गाय के पैसों को भी भूल जाएगा क्योंकि झुनियाने बिरादरी में उसकी नाक कटवा दी थी। पर होरी और धनिया तैयार नहीं होते और भोला गोई लेकर चला जाता है। अब बिना गोई होरी खेती बाड़ी का काम भी नहीं कर सकता। दातादीन अपने साथ सांझे की खेती करवा कर एक तरह से होरी को अपना बंधुआ मजदूर ही बना देता है। शुगर मिल के खुल जाने पर होरी को आशा की एक किरण दिखती है कि अब ऊख की अच्छी कीमत मिलेगी। उसे 120 रुपये मिलते भी हैं पर उस समय सारे महाजन होरी को घेर लेते हैं और वह खाली हाथ ही घर आता है। महाजन किस प्रकार से किसानों का शोषण करते हैं यह एक अन्य किसान के माध्यम से बताया है। उसने झिंगुरीसिंह से बीस रूपये लिए थे उसके उसने 160 रुपए भरे। इस प्रकार अंततः होरी किसान से मजदूर बन जाता है इसके लिए वह अपने भाग्य को ही दोष मानता है। वह कहता है- "मजूरी करना भाग्य में ना होता तो यह सब विपत आती ही क्यों ? गाय क्यों मरती ? लड़का क्यों नालायक निकलता ?"। 4 होरी के विरोधी बड़े सतर्क है वैसा काम करने में झिझकते है। जिसे होरी दस – पांच को इकट्ठा करके उनका मुकाबला करने को तैयार हो जाए। वह उनके चंगुल में फंस कर तिल तिल कर मरता है लेकिन समझ नहीं पाता कि यह सब क्यों हो रहा है ? वह तकदीर को दोष देकर रह जाता है। समझता है यह सब भाग्य का खेल है मनुष्य का इसमें कोई बस नहीं। 5

उसके बाद गोबर शहर से वापस आता है और फिर बहुत समय के बाद होरी और धनिया की गृहस्थी में खुशी की लहर सी दौड़ जाती है। वह होरी का थोड़ा कर्ज भी चुका देता है पर आखिरकार वह भी झुनिया को लेकर के शहर वापस चला जाता है। गोबर के जाने के बाद होरी को दो बेटियों के विवाह की चिंता होती है। मंगरुसाह मुकदमा जीत जाता है और उस पर डेढ़ सौ की डिग्री हो जाती है। इसलिए मंगरूसाह खेत काट कर ले जाता है। किसी तरह एक बेटी की शादी हो जाती है। दूसरी बेटी का विवाह अधेड़ रामसेवक से करता है। होरी को उससे भी कुछ रुपए लेने पड़ते हैं और इसी बात की उसे बड़ी पीड़ा थी। उसे गाय लेनी थी, जमीन बचानी थी, कर्ज उतारना

था। वह हार नहीं मानता। जब कंकड़ खोदने का काम शुरू करता है तब मानो एक नया जीवन शुरू कर रहा हो पर आखिरकार एक दिन मजूरी करते करते लू लग जाने पर अपना दम तोड़ देता है।

पूरे नाटक पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि होरी का कैसे चतुर्मुखी शोषण होता है। एक ओर गाय के घर आते ही उसके छोटे भाई उस पर संपत्ति हडप लेने का आरोप लगाते है। इतने से ही पेट नहीं भरता है तो उसका छोटा भाई ही गाय को जहरीली जडी खिलाकर उसकी हत्या कर देता है। गौहत्या के अपराघ से अपने भाई को बचाने के लिए होरी को पुलिस के दरोगा को पैसे देने पडते है , जिनमें पटवारी आदि का भी हिस्सा है। भोला की विधवा लडकी को गोबर का गर्भ रह जाने पर गोबर भाग जाता है तो झुनिया को यही होरी और धनिया उसको आश्रय देते हैं इस पर भोला और उसकी बिरादरी के लोग विरोध करते हैं और पंचायत दंड भरने का फैंसला सुनाती है। इसमें सजा उसे इस बात की होती है जो उसने की ही नहीं है। न तो उसने गाय को मारा है और न ही उसने झुनिया को घर में रखने का कोई गलत काम किया है। अगर वे दोनों उसे घर में नहीं रखते तो एक स्त्री को दर दर कि ठोकर खाने पर मजबूर करने का पाप हो सकता था। पर यहां तो बिरादरीवालें अपनी संकुचित सोच और रीतिरिवाज के नाम पर होरी के निर्दोष होने के बावजूद भी उससे दंड वसूल करके उसका शोषण करते हैं। महाजन जो व्याज की दुगुनी रकम वसूल करता है। गांव का पट्वारी, दरोगा जैसे सरकारी अधिकारी यहां तक की धर्म के नाम पर पंडित दातादीन भी उसका शोषण करते हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि गरीब किसान का चतुर्मुखी शोषण होता है। महाजन , पंडित पुरोहित, सरकारी अधिकारी और उनके अपने घर परिवार एवम बिरादरी के लोग भी उनका शोषण करने से नहीं चुकते।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत नाटक 'होरी' में नाटककार ने होरी अर्थात किसान के शोषित जीवन की यथार्थ झांकी करवाई है जो प्रेमचंद के गोदान उपन्यास में है। इस चतुर्मुखी शोषण लीला के कारण एक साधारण किसान जो दिन-रात मेहनत करने के बावजूद भी मजदूर बनने को विवश हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारी समाज व्यवस्था ही शोषणोन्मुखी है, जिसमें गरीब व्यक्ति का शोषण ऊपर के तबकें अर्थात सबल लोग ही करते हैं। किसान का शोषण सरकारी अमलदार,

पुलिस के दारोगा और गांव के पटवारी आदि तो करते ही है परंतु गांव में जो महाजन होते हैं वे भी किसान का शोषण करने के लिए तत्पर रहते हैं। महाजनों की नीति तो ऐसी है कि उसके अति आवश्यक कार्यों के लिए तो पैसे न दिए जाय परंतु ऐसे कार्य जिनकी कोई आवश्यकता नहीं होती उसके लिए वे पैसे देने के लिए तत्पर रहते हैं। प्रस्तुत नाटक में हम देखते हैं कि होरी को लगान चुकाने के लिए जब रूपयों की जरुरत होती है तो कोई उसे देने को तैयार नहीं होता बल्कि ये नौबत आती है कि होरी और धनिया गाय को बेचने के लिए तैयार हो जाते है। गाय का सपना न केवल होरी और धनिया का था बल्कि पूरे परिवार का था। सच पूछा जाय तो वह सच्चे भारतीय किसान का सपना होता है। पर आखिरकार उन्हें गाय बेचने की नौबत आ जाती है। परंतु वैसा भी नहीं होता। गाय को बेचकर होरी लगान चुका देता तो कम-से-कम उसके ऊपर एक बोझ तो कम होता परंतु यहां तो आंतरिक, पारिवारिक कलह में होरी का भाई हीरा ही गाय को विष देकर मार डालता है। एक दूसरी ध्यान देने वाली बात यह है कि किसानों के प्रति उदार और दयाभाव का व्यवहार रखनेवाले रायसाहब भी लगान के लिए अब की बार ज्यादा सख्त और कठोर हो जाते है। इससे प्रतीत होता है कि होरी द्वारा गाय का लाना रायसाहब को भी अच्छा नहीं लगा है। शोषण का एक पहलू यह भी है कि शोषक बराबर चाहता है कि शोषित व्यक्ति गरीब , पीडित और मजदूर बना रहे , लाचार बना रहे। उसकी स्थिति में सुधार कभी न हो। गाय के आ जाने से होरी की स्थिति में जरुर फरक पड सकता था पर यही तो वे नहीं चाहते। उदयशंकर भट्ट ने भी "पर्दे के पीछे" एकांकि में घीसालाल के द्वारा कहलवाया है – "ईश्वर को क्या पडी है कि किसी को मालदार और किसी को गरीब बनाये। यह तो हमारी समाज व्यवस्था की ही कमजोरी है।" 6 आज भी हम देखते हैं कि मूलत: प्रेमचंद द्वारा लिखित गोदान उपन्यास और विष्णु प्रभाकर द्वारा किया गया नाट्य रुपांतरण "होरी" नाटक उतना ही प्रासंगिक है। हां हो सकता है शोषण के रूप बदले हो।

संदर्भ सूची:

1. प्रेमचंद और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : राजकमल प्रकाशन : नयी दिल्ली, पटना, इलाहाबाद : छठी आवृत्ति : 2011 : पृ. – ९६-९७।

2. होरी : नाट्य रुपांतर : विष्णु प्रभाकर : राजपाल एण्ड सन्ज मदरसा रोड, कश्मीरी गेट- दिल्ली, 110006 : प्रकाशन वर्ष : संस्करण – 2015 : पृ. - ३२।
3. वही : पृ. - ४५।
4. वही: पृ. - ६२।
5. प्रेमचंद और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : राजकमल प्रकाशन : नयी दिल्ली, पटना, इलाहाबाद : छठी आवृत्ति : 2011 : पृ. - ९८।
6. कलापूर्ण एकांकी : सं – डा. विजयपाल सिंह तथा डा. अमीता सिंह : जय भारती प्रकाशन , इलाहाबाद : प्रकाशन वर्ष – संस्करण 2008 : पर्दे के पीछे : उदयशंकर भट्ट : पृ - ६३।

सूरदास का काव्य: लोक जीवन के अनुभवों की रागात्मक परिणति

अनिल कुमार
सहायक प्राध्यापक (अतिथि)
दिल्ली विश्वविद्यालय
दूरभाष - 8750158144
ई. मेल पता - akumarnishad5@gmail.com

शोध सार

महाकवि सूरदास पन्द्रहवीं - सोलहवीं शताब्दी की अद्भुत देन है। जहाँ उस युग की परिस्थितियों ने सूर की धर्मसाधना एवं काव्य - जगत को प्रभावित किया है , वहाँ अपनी भक्ति - भावना, काव्य प्रतिभा एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व से उन्होंने अपने युग के निर्माण में भी योग दिया। सूरदास केवल युग दृष्टा ही नहीं युग सृष्टा भी थे।

सूरदास जब तक वल्लभाचार्य की शरण में नहीं आये थे तब तक विनय के पदों की रचना करते रहे किन्तु इसके पश्चात केवल लीला - पद - गान ही उनका उद्देश्य रहा। सूरदास के विनय के पद लीला पदों की अपेक्षा अधिक समाजोन्मुख और परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करने वाले हैं। इन पदों में सत्तालिप्सा, भ्रष्टाचार, कर्महीनता, शोषणवादी प्रवृत्ति, सामंतवादी विचारधारा आदि का नग्न चित्रण पूरी सिद्धस्तता के साथ किया है।

बीज शब्द - *समाजोन्मुखता, लोक- पक्ष, समसामयिक परिस्थितियां, सामंतवादी विचारधारा, स्त्री अस्मिता*

शोध आलेख

सूर की भक्ति किसी कल्पनालोक का मार्ग नहीं दिखाती , बल्कि इसी जीवित संसार में भक्ति को लोक कल्याणकारी रूप में प्रस्तुत करती है। सूर ने निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण - साकार ईश्वर की आराधना की, जो भक्ति का एक व्यवहार्य और सुगम मार्ग सभी मनुष्य के लोक कल्याण के लिए प्रस्तुत करती है। सूर ने साधारण मानवीय दुर्बलताओं को सहज रूप में स्वीकार किया और उनसे मुक्त होने के लिए प्रभु की वन्दना की। सूर की भक्ति - भावना में 'लोक - संग्रह -भाव' अपने पूर्ण रूप में दिखाई देता है।

शिवकुमार मिश्र ने सूरसागर के वात्सल्य और श्रृंगारिक पदों में लौकिकता और सामाजिक चेतना का भाव देखा है। उनका कहना है कि वात्सल्य प्रेम और

श्रृंगारिक पदों में हमें सिर्फ माता और पुत्र प्रेम या गोप - गोपियों के प्रेम के अतिरिक्त इन वर्णनों के भीतर से उभरने वाली दूसरी व्यंजनाओं को भी समझना चाहिए। यह दूसरी तरह की व्यंजनाएँ हैं : कृष्ण का ईश्वरीय रूप हटाकर उन्हें सामान्य बालक की तरह उनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को मानवीय और लौकिक धरातल पर देखना। ठीक इसी प्रकार माता , और उनकी प्रेमिका राधा के प्रेम और उनके विरह वर्णन को सामान्य नारी की भांति आंकना। तो हम देखेंगे कि इस वात्सल्य प्रेम और श्रृंगारिक प्रेम के साथ स्त्री अस्मिता का प्रश्न भी उभर कर सामने आता है। नारी का जो उन्मुक्त स्वच्छंदतावादी स्वरूप सूरसागर में उभर कर सामने आता है , वह स्वरूप न कबीर के काव्य में दिखाई देता है और न ही तुलसी के काव्य में। कबीर के अनुसार स्त्री माया है , ठगिनी है। वह यहां तक कह देते है कि -'नारी की झाँई परत अँधा होत भुजंग' और तुलसीदास तो नारी को स्वतंत्रता देने के पक्ष में ही नहीं हैं , उन्होंने लिखा हैं -'जिमि स्वतंत्र भई बिगरई नारी'। समाज में भक्त कवियों की नारी के प्रति ऐसी सोच थी। इन सब से स्वतंत्र सोच लेकर अवतरित हुए भक्त कवि सूरदास , जिन्होंने वात्सल्य प्रेम के माध्यम से समाज में नारी , माता और पत्नी की एक साफ - सुथरी छवि पेश की।

परम्परा से प्राप्त जो आलोचक सूर काव्य पर वल्लभाचार्य के संप्रदाय का प्रभाव लक्षित कर उनकी कविता का मूल्यांकन करते हैं , वह सूर के काव्य की मौलिकता को नहीं समझ सकते। सूरसागर में सूर ने मात्र कृष्ण -लीला और रास - लीला के रूप में परम्परा से प्राप्त कथा ही नहीं कहीं बल्कि समाज में व्याप्त सभी प्रकार के संबंधों का जीवित और सार्थक ढंग से वर्णन भी किया है। समाज में व्याप्त नारी के मातृत्व की , गार्हस्थ जीवन की विशद व्यंजनाओं के साथ ही उन्होंने नारी अस्मिता और नारी के आत्मस्वाभिमान जैसे प्रश्न को उठाकर नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का बड़ा सुंदर चित्रण किया है। जिसमें रसलोलुप्ता के स्थान पर लोकोन्मुखता है। शुक्ल जी ने सूर की प्रेम - भावना पर आक्षेप किया है कि वह एकांतिक है और लोकधर्म की प्रतिपादक नहीं है - "वह भक्ति की एकांत साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है , लोक धर्म के किसी अंग का नहीं।"1

आचार्य शुक्ल को सूर - काव्य का संयोग प्रेम वर्णन ही नहीं वियोग प्रेम वर्णन भी पसंद नहीं आता। आचार्य शुक्ल को वियोग वर्णन ' रामचरितमानस' में , राम और सीता का , या फिर जायसी कृत 'पद्मावत' में नागमती का ही पसंद आता है। सूरसागर में वर्णित 'वियोग वर्णन' उन्हें उच्च कोटि का नहीं लगता । गोपियों का वियोग उन्हें अस्वाभाविक - सा लगता है। उनके अनुसार गोपियां कृष्ण के इतना निकट होते हुए भी विरह में तड़पा करती है पर चार कदम चलकर उनसे मिल नहीं पाती। उन्हें इस पर भी आपत्ति है कि विरह से परेशान सिर्फ गोपियाँ हैं , कृष्ण नहीं। और तो और गोपियों के वियोग में सीता के वियोग की सी गंभीरता नहीं है। सूर के काव्य में वात्सल्य प्रेम और वियोग के चित्रण के प्रसंग में नारी अस्मिता की जो पहचान मिलती है। वह प्रेम के संयोग और वियोग वर्णन में पूरी तरह से उभरकर सामने आती है। सूर का वियोग वर्णन बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों की भांति उपहासास्पद या औपचारिकता पूर्ण लिखा वियोग वर्णन नहीं हैं। बल्कि "उसमें वियोग के त्रासद चित्रण को उभारने और उसे लंबे समय तक झेलते रहने की अद्भुत क्षमता हैं।"2 उसमें गोपियों के चरित्र का स्वरूप इतना निखर कर सामने आया है कि जो उनकी पहचान , उनके अस्तित्वबोध , स्वाभिमान को उभारता ही नहीं बल्कि उसे बनाए रखने के लिए उसमें शक्ति और ऊर्जा का संचरण भी करता है। "वियोग का तन्मय कर देने वाला त्रासद चित्रण ही नहीं , उस वियोग चित्रण के बीच से मानिनी नारी की , नारी अस्मिता की जो छवि सूर ने उभारी है , उसका कोई भी मुकाबला नहीं है।"3

सूर की गोपियाँ स्वाभिमानिनी और अपने आत्मसम्मान को बनाए रखने वाली गोपियाँ है। वह चाहती तो दो कोस दूर कृष्ण से मिलकर अपनी विरह - वेदना को कम कर सकती थीं। परन्तु नहीं , उन्होंने ऐसा नहीं किया , क्योकि उन्होंने कृष्ण से सच्चा प्रेम किया था , पर अपना आत्मसम्मान खोकर नहीं। इसके अलावा सूर के काव्य में सामंती - परिवेश भी कहीं प्रत्यक्ष रूप में कहीं सांकेतिक रूप में दिखाई देता है , परन्तु उसकी अभिव्यक्ति सभी आलोचकों के यहाँ नहीं हुई।

प्रगतिशील आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने विशेष रूप से तुलसी के काव्य का मार्क्सवादी दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया तो नामवर सिंह ने कबीर का पुनर्मूल्यांकन किया। एक ने आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं का विकास तुलसी के सम्बन्ध में किया , तो दूसरे ने आचार्य द्विवेदी की स्थापनाओं का विकास कबीर के सम्बन्ध में किया। चाहे रमेश कुंतल मेघ हों या फिर तुलसी को लोकवादी कहने वाले डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी सभी का झुकाव तुलसी काव्य और कबीर काव्य की आलोचना पर ही वशेष रूप से रहा है। इन आलोचकों की तुलना में मैनेजर पांडेय और शिवकुमार मिश्र ने मार्क्सवादी दृष्टि से सभी भक्त कवियों का पुनर्मूल्यांकन किया। जिसमें सूर के काव्य का मार्क्सवादी दृष्टि से मूल्यांकन अति महत्वपूर्ण है।

मैनेजर पांडेय ने सूर के काव्य की सामाजिकता को उजागर कर निर्गुण काव्य की सामाजिकता के समकक्ष रखकर उसका मूल्यांकन किया और कहा कि निर्गुण काव्य में जो सामाजिक चेतना के स्वर दिखाई देते हैं , वैसा ही सामाजिक परिवेश की व्यख्या का वर्णन सूर ने अपने काव्य में किया। उन्होंने लिखा है -"निर्गुण संतों की तरह सगुण भक्तों की कविता में सामंती समाज और उसकी विचारधारा के विरुद्ध ललकार की भाषा में उग्र विद्रोह घोषणाएँ कम हैं , लेकिन उनकी कविता में चरित्रों का निर्माण , कथा की संरचना , यथार्थ बोध , भावबोध और जीवन मूल्य के बोध के स्तर पर सामंती व्यवस्था और विचारधारा का विरोध प्रकट हुआ है। सूर और तुलासी ने कृष्ण और राम की जिन कथाओं को आधार बना कर काव्य रचना की , वे संस्कृत काव्य की उदात्त परम्परा की उपज और लोकजीवन में प्रचलित कथाओं के नायक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाले वीर पुरुष हैं। सामंती समाज - व्यवस्था के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाली जनता इन कथा -नायकों के संघर्ष में अपने संघर्ष की आकांक्षा का मूर्त रूप देखती है। यही इन कथाओं की व्यापक लोकप्रियता का रहस्य है। सूर और तुलसी के कृष्ण और राम अन्यायी , अत्याचारी और दमनकारी शासकों को मारकर उनकी दमनकारी सत्ताओं के स्थान पर लोकहित - कारी राज्य - व्यवस्था की स्थापना करते हैं।"4

इस आधार पर अगर हम यहाँ सूर और तुलसी के काव्य की सामाजिकता या उनके काव्य में सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह की बात आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक दृष्टिकोण में करें तो हम पाते हैं कि आचार्य शुक्ल निर्गुणियों की काव्य धारा में 'लोक - संग्रह का अभाव' बताकर उसकी आलोचना करते हैं। साथ ही उन्हें सगुण भक्त में सूर और तुलसी में से तुलसी के काव्य में चरित्रों के निर्माण , कथा की संरचना , यथार्थ बोध , भावबोध और जीवन मूल्यों के बोध के स्तर पर सामंती व्यवस्था और विचारधारा का विरोध तो होता दिखाई देता है , पर सूर के काव्य में ये सभी स्तर कम या नहीं के बराबर दिखाई देते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बाल कृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। इस संबंध में उन्होंने लिखा है -"बाल लीला के भीतर कृष्ण चरित्र का लोक - पक्ष अधिकतर आया है , जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना , काली नाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना। इंद्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करने और नन्द को वरुण - लोक से लाने का वृतांत यद्यपि प्रेमलीला आरम्भ होने के पीछे आया है , पर उससे सम्बद्ध नहीं है।"5

बड़ी ही आश्चर्य की बात है कि आचार्य शुक्ल इन सभी सामाजिक कृत्यों के पीछे प्रेम - भावना का कारण बताकर उसे 'लोकसंग्रह के भाव' से अलग कर देते हैं और उनके प्रेम को भी वासनायुक्त कह उसकी निंदा करते हैं। इंद्र के कोप से पूरी बस्ती को बचाने , असुरों से गोप - गोपियोँ की रक्षा करने या फिर काली नाग से गाँव वालों को बचाने में क्या कहीं भी व्यक्तिगत प्रेम वासना दिखाई देती है?

कबीर की आलोचना हो या फिर सूर के काव्य की आलोचना और या फिर जायसी के काव्य की आलोचना आचार्य शुक्ल हमेशा तुलसी के काव्य की सामाजिकता , प्रेम - भाव या फिर भक्ति -भाव को , यहाँ तक की भाषा की तुलना भी अन्य भक्त कवियों के समक्ष रख कर करते हैं। उन्हें जो ओज और उत्साह तुलसी द्वारा वर्णित मारीच , ताड़का , खरदूषण आदि में दिखाई देता है। वही ओज और उत्साह उन्हें सूरदास द्वारा वर्णित बकासुर , अघासुर , कंस के वध और इंद्र के गर्व मोचन में नहीं दिखाई देता। इस सम्बन्ध में डॉ.रामविलास शर्मा लिखते है -"शुक्ल जी

ने मारीच , ताड़का और खरदूषण के निपात -वर्णन की प्रशंसा की है। लेकिन तुलसी के ये अपेक्षाकृत कमजोर अंश हैं , इसे कौन नहीं जानता ? स्वयं शुक्ल जी को ये अंश बहुत प्रिय न थे , तर्क युद्ध में विजयी होने के लिए दलील देना और बात है। पथिक वेश में वन जाते हुए राम , लक्ष्मण और सीता का वर्णन शुक्ल जी को कितना प्रिय था , यह इससे मालूम हो जाता है कि तुलासी की भावुकता का विवेचन करते हुए उन्होंने बार - बार उस प्रसंग के उद्धरण दिये हैं और यह जानकर की एक ही जगह से बहुत उद्धरण दे रहे हैं , उन्होंने यह सरस् वाक्य लिख भी दिया है -"क्षमा कीजियेगा , यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है , इसी से बार - बार सामने आया करता है।"6

यदि राम का रावण को मारना एक लोक कल्याणकारी कार्य था तो ठीक उसी प्रकार कृष्ण का कंस को मार कर अपने माता - पिता को उनके चंगुल से मुक्त कराना भी एक लोक कल्याणकारी कार्य है। डॉ. शर्मा तुलसी और सूर के काव्य में मौलिकता को आदि से अंत तक स्वीकारते हुए कहते हैं - "यदि लोक संग्रह का भाव वन जाते हुए राम , लक्ष्मण और सीता में है , तो वैसा ही भाव कृष्ण की बाल लीला , रासलीला और उद्धव - गोपी संवाद में भी है।"7 इस प्रकार सूरसागर में डॉ. शर्मा ने कई जगहों पर कृष्ण का लोकरक्षक रूप दिखाकर उसमें 'लोक - संग्रह भाव' की अपनी स्वीकृति दी। सूरसागर में इसी लोक -संग्रह भाव ' और स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति का आलोचनात्मक विकसित रूप मैनेजर पांडेय की आलोचना में दिखाई देता हैं। मैनेजर पांडेय ने सूर के काव्य को किसान - जीवन से जोड़कर देखा। और वह पाते हैं कि सूर के काव्य में अप्रत्यक्ष रूप से किसान - जीवन की झलकियाँ लोगों के सुख - दुख , हर्ष , उल्लास , प्रेम के आलम्बन रूप में अपने पूरे परिवेश के साथ विद्यमान हैं। वह डॉ. रामविलास शर्मा की इन बात से सहमत है कि -"भक्ति आंदोलन किसी एक वर्ग का आंदोलन नहीं था , उसमें किसान , शिल्पकार , व्यापारी आदि सभी शामिल थे। वास्तव में भक्ति आंदोलन सामंती व्यवस्था से पीड़ित और उससे मुक्ति के लिए छटपटाते संघर्षशील सभी वर्गों का व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन था। लेकिन उसमें मुख्य भूमिका शिल्पकारों और किसानों की थी , इसलिए वह जनसंस्कृति के उत्थान का आंदोलन बन सका।"8

डॉ. रामविलास शर्मा ने कबीर को शहरी कारीगर , सूरदास को चारागाह संस्कृति और तुलसी को किसान जीवन का कवि माना है। परंतु सच यह है कि सिर्फ तुलसी ही नहीं बल्कि कबीर , सूर और जायसी में भी किसान - जीवन अपने पूरे विकसित रूप में दिखाई देता है। 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक अपनी पुस्तक में मैनेजर पांडेय ने आरम्भ में ही कहा है कि भक्ति काव्य की व्याख्या आचार्य शुक्ल , आचार्य द्विवेदी , डॉ. शर्मा और डॉ. नामवर सिंह सभी आलोचकों ने अपने - अपने मानदंड और स्थापनाओं के आधार पर की। वही मानदंड वह सभी भक्त कवियों की आलोचना करते समय समान रूप से लागू करते हैं। और बाद में यह समस्या आती है कि कौन -सा कवि श्रेष्ठ है ? जबकि सभी भक्त कवि अपनी - अपनी अलग - अलग विशेषताएं लिए हुए हैं और उनका मूल्यांकन अपनी इन्हीं विशेताओं के आधार पर किया जाना चाहिए न कि तुलसी के समक्ष कबीर या सूर को रखकर उनका मूल्यांकन करना चाहिए। जो तुलसी के काव्य की विशेषता है। वह सूर या कबीर या फिर अन्य भक्त कवियों के काव्य की विशेषता नहीं हो सकती। सभी कवि अपना ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भ लिए हुए हैं , हमें उसे भी समझना चाहिए। इस ओर हमारा ध्यान मैनेजर पांडेय कराते हुए लिखते हैं -"आचार्य शुक्ल ,आचार्य द्विवेदी , डॉ. रामविलास शर्मा , प्रो.नामवर सिंह के महत्वपूर्ण आलोचनात्मक प्रयत्नों के बावजूद भक्ति काव्य की व्याख्या हिंदी आलोचना के लिए आज भी एक चुनौती है। इसका एक कारण भक्ति काव्य की अपार सृजनात्मक समृद्धि है। कबीर , जायसी , सूर , तुलसी और मीरा की कविता एक -सी नहीं है। उनमें से हरेक की कविता का अपना विशिष्ट रूप , रंग और स्वर है। एक की कविता से निकलकर दूसरे की कविता में प्रवेश करना लगभग कविता की दूसरी दुनिया में पहुंचना है। जो आलोचक इन कवियों की कविताओं में केवल समान्य एकता ढूंढते रहते हैं , वे सृजनात्मक विशिष्टताओं और विविधताओं को देख नहीं पाते।"9

यही कारण है कि आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के भक्ति काव्य संबंधी स्थापनाओं का ही विकास प्रगतिशील आलोचकों की भी भक्ति संबंधी आलोचना में पाया जाता है। वह भक्त कवियों को आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी

के ही दृष्टिकोण से देखते हैं। जबकि होना यह चाहिए कि आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की भक्ति काव्य संबंधी आलोचना के जो प्रगतिशील तत्व हैं , उनका आलोचनात्मक रूप से सार्थक तरीके के साथ विकास करना चाहिए। और जो रूढ़ व परम्परावाद तत्व हैं , उन्हें छोड़ देना चाहिए। मैनेजर पांडेय की भक्ति काव्य की आलोचना में यही तकनीक दिखाई देती है। उन्होंने किसी आलोचक या भक्त कवि का मूल्यांकन श्रद्धा - भाव या भक्ति - भाव से नहीं बल्कि तटस्थ रहकर वस्तुवादी दृष्टिकोण से किया है।

मैनेजर पांडेय ने कहा कि आचार्य शुक्ल की सूर के काव्य संबंधी आलोचना से यह संकेत मिलता है कि सूरसागर में पशुचारण - काव्य की प्रवृत्ति मिलती है। इस सन्दर्भ में वह आचार्य शुक्ल का यह उद्धरण प्रतुत करते हैं कि - "बाललीला के आगे फिर उस गोचारण का दृश्य सामने आता है , जो मनुष्य जाति की अत्यंत प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशों के काव्य का प्रिय विषय रहा है.....।"10

आचार्य शुक्ल का संकेत पा कर डॉ. शर्मा ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि सूर पशुपालकों के कवि हैं , तुलसी किसान जीवन से जुड़े हैं ,और उस युग में किसान - जीवन के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास ही हैं। आचार्य शुक्ल जब सूरसागर में बाल लीला के बाद गोचारण के मनोरम दृश्य का जिक्र करते हैं , तो उनका मतलब सूर के सम्पूर्ण काव्य को गोचारण काव्य या प्रागैतिहासिक पशु - चारण काव्य सिद्ध करना नहीं है। बल्कि ऐसा वही आलोचक सूर के काव्य के सम्बन्ध में कहते हैं , जो सूर - काव्य के मूल्यांकन के नाम पर सरलीकरण करते हैं या फिर वह जो तुलसीदास के समक्ष तुलनात्मक स्वरूप किसी अन्य कवियों को आने ही नहीं देते। पांडेय जी के अनुसार गोचारण या पशु - चारण काव्य के संकेत सूरसागर में दिखाई देते हैं। वह प्रसंगवश आए भी है। परंतु किसान - जीवन का सम्पूर्ण परिवेश ही सूरसागर में कही प्रत्यक्ष और कही अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है। इसीलिए उनके काव्य को किसान - जीवन से जोड़कर देखा जाए न कि गोचारण या पशु - चारण काव्य संस्कृति से।

सांकेतिक रूप या प्रत्यक्ष रूप में लगभग सभी भक्त कवियों के काव्य में किसान जीवन के चिह्न अवश्य मिलेंगे। मुगलों के समय और उससे पहले सामन्त या राजाओं की आमदनी का मुख्य स्रोत थी कृषि। यह आकारण ही नहीं था कि डॉ. शर्मा भक्ति - आंदोलन को किसान चेतना से जोड़कर देखते हैं। इस संबंध में वह लिखते हैं -"इतिहासकारों का यह कहना है कि शाहजहां के समय में किसानों की बुरी दशा हो गई। किसान जमीन छोड़ - छाड़कर भागने लगे और औरंगजेब को यह आज्ञा देनी पड़ी की अगर कहने से किसान जमीन न जोते तो उन्हें कोड़ों से पिटवाकर खेत जुतवायें जायें। उस समय का मुख्य संघर्ष सामन्त और किसानों के बीच था। ज्यों - ज्यों हम औरंगजेब की ओर बढ़ते हैं , त्यों -त्यों संघर्ष तीव्र होता जाता है। अकबर से पहले विभिन्न युद्धों के कारण उस पर पर्दा पड़ा रहा। दूसरी - दूसरी समस्याओं में लोग उलझे रहे। इसलिए हम किसी मध्यकालीन कवि से यह आशा नहीं कर सकते कि वह इस वर्ग - संघर्ष का स्पष्ट चित्रण करेगा। किसी न किसी रूप में उस समय के महान साहित्यिकों की रचनाओं में उसकी छाया मिलेगी ही।"11

डॉ. रामविलास शर्मा जिस प्रकार तुलसी युग का ऐतिहासिक विश्लेषण कर और उसे तुलसी साहित्य से जोड़कर उसमें सामाजिक महत्व की विवेचना करते हैं , ठीक उसी प्रकार सभी भक्त कवियों के अपने - अपने समय का ऐतिहासिक सन्दर्भ हैं , जो उनकी रचनाओं में दिखाई देता है।

किसानों की निर्धनता के कारण लगान देने में असमर्थता , सामन्तों की लूट , सामन्तों के कर्मचारियों के अनाचार , ऋण की प्रथा की क्रूरता , ठाकुर , कोतवाल , पटवारी और जमींदार के अत्याचार की अभिव्यक्ति सूर के विनय सम्बन्धी भक्ति पदों में आसानी से देखी जा सकती है। जैसे इस उदहारण में सामंती व्यवस्था का प्रत्यक्ष चित्रण मिलता है -

" प्रभु जू , हौं तो महा अधर्मी।
अपत, उतार, अभागौ, कामी, विषयी, निपट, कुकर्मी।
घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी, कुमति, जुलाई।
औगुण की कछु सोच न संका, बड़ौ, दुष्ट, अन्याई।

बटपारी, ठग, चोर, उचक्का, गाँठि-कटा, लठबाँसी।
चंचल, चपल, चबाई, चौपटा, लिये मोह की फाँसी।"

कृषक- समाज जहाँ एक ओर सामंतों एवं छोटे कर्मचारियों से परेशान था, वही दूसरी ओर सूदखोर से भी। सूरदास ने इस सूदखोरी प्रथा का वर्णन इस प्रकार किया है-

" सबै क्रूर मोसो ऋन चाहत, कहौ कहा तिन दीजै !
बिना दियैँ दुःख देत दयानिधि, कहौ कौन विधि कीजै।

मैनेजर पांडेय ने सूर - काव्य की साजिकता के पक्ष में जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही है वह हैं उसकी भाषा। सूर के काव्य में भाषा के उपकरणों के माध्यम से किसान - जीवन का चित्रण हो पाया है। उस समय की सामंती - व्यवस्था , सामाजिक सम्बन्ध , ग्राम प्रबंध , भूमि व्यवस्था और किसान जीवन का चित्रण सूरदास ने अपनी काव्य - भाषा के उपकरण रूपक , अलंकार , बिम्ब , प्रतीक , मुहावरों , लोकोक्तियों इत्यादि के माध्यम से किया है।

सूर की काव्य भाषा के सन्दर्भ में मैनेजर पांडेय ने लिखा हैं -"सूर ने परम्परा से पाई भाषा में कविता लिखने के बदले किसान - जीवन की वास्तविक भाषा से अपनी कविता की दुनिया बनाई है , इसलिए उनकी काव्य - भाषा में अनेक स्तरों पर ग्राम -समाज और किसान - जीवन प्रतिबिम्बित है। वे ही यौवन को 'हरियर खेत' और प्रिय को 'हारिल की लकड़ी' कह सकते हैं। वास्तव में सूर की भाषिक संवेदना में उनकी सामाजिक सम्वेदनशीलता प्रकट हुई है।"12

सन्दर्भ सूची

1. भ्रमरगीतसार , आचार्य रामचंद्र शुक्ल , लोकभारती प्रकाशन , संस्करण 2007 , पृष्ठ (19)
2. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य , शिवकुमार मिश्र , अभिव्यक्ति प्रकाशन , संस्करण 2005
3. वही.

4. भारतीय साहित्य के निर्माता , मैनेजर पांडेय , साहित्य अकादमी , प्रथम संस्करण 2008 , पृष्ठ (भूमिका से)
5. भ्रमरगीतसार , आचार्य रामचंद्र शुक्ल , लोकभारती प्रकाशन , संस्करण 2007 , पृष्ठ (19)
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, डॉ.रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, सं.1993, पृष्ठ (93-94)
7. वही... पृष्ठ (94)
8. वही.....
9. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य , मैनेजर पांडेय , वाणी प्रकाशन , प्रथम संस्करण पृष्ठ (12)
10. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, सं.1993,पृष्ठ (22)
11. साहित्य: स्थाई मूल्य और मूल्यांकन , डॉ. रामविलास शर्मा , पृष्ठ (39)
12. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य , मैनेजर पांडेय , वाणी प्रकाशन , प्रथम संस्करण पृष्ठ (302)

स्त्री चेतना और मीरा का काव्य

संचना
सहायक प्राध्यापक (अतिथि)
दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क. - 9811585276
ईमेल- sanchna3@gmail. com

शोध सार

आज जब स्त्रियां समाज ,इतिहास और शास्त्र को, अपनी जगह से अपने नजरिए से देख रही हैं-तो सच्चाई के कई ऐसे पक्ष सामने आ रहे हैं; जिससे वह विस्मित हैं। और वह फिर से पूरे सामाजिक इतिहास को लिखने की जरूरत को मेहसूस कर रही हैं। अर्थात् अब वह इतिहास,शास्त्र,समाज सबको अपनी आखों से देख कर उसे नये सिरे से विश्लेषित करना चाहती है। स्त्री चेतना के उभार से हिंदी की कई रचनाओं और साहित्यिक पक्षों को, एक ऐसी जगह से देखने की सम्भावना खुल गई है; जहाँ से इन चीजों को पहले कभी नहीं देखा गया। भुक्त भोगी होने के कारण स्त्री, समाज के रीति-रिवाजों परम्परा के उन पक्षों को महसूस करने लगी है, जिसने उसे सदियों से शोषित बनाए रखा है। इसी सन्दर्भ में यह महसूस होता है मीरा के पदों को भी स्त्री चेतना के परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने और समझने की आवश्यकता है।

बीज शब्द *आत्मबोध, अस्मिता, चेतना, पुरुषवर्चस्ववाद, संवेदनाशून्य, राजनितिक सत्ता, पराधीनता इत्यादि।*

शोध आलेख

हिंदी साहित्य में संभवतः पहली बार मीरा की रचनाओं में ही स्त्री चेतना और आत्मबोध का सशक्त स्वर सुनाई पड़ता है। मीरा द्वारा स्वतंत्र व्यक्तित्व की पहचान और उसके लिए जीवनपर्यंत संघर्ष ही वह तथ्य है, जो उन्हें आधुनिक स्त्री चेतना से जोड़ता है। मीरा आज से लगभग चार शताब्दी पहले वह देखती है जो आज भी सामान्य स्त्री नही देख-समझ पाती है। मीरा की कविता ऊपर से देखने में आध्यात्मिक और व्यक्तिगत है; किन्तु सामाजिक दृष्टि से वह शोषित,पीड़ित और अपमानित नारी जाति के दुःख का प्रकाशन भी है और उस दुःख के विरूद्ध विद्रोह भी। मीरा का सम्पूर्ण साहित्य, नारी पर पुरुषों के न्यायहीन तथा संवेदनशून्य आधिपत्य के विरूद्ध है। मीरा के काव्य में पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह स्त्रियों के

ऊपर सदियों से लादी गई अमानवीय व्यवस्था के विरूद्ध है। मीरा अपने विरोधियों को सीधी चुनौती देती हुई कहती हैं-

सीसोद्यो रूठ्यो म्हांरो काई करलेसी
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यां,हो माई।
राणा जी रूठ्यां बारो देस रखासी
हरि रूठ्यां कुम्ह्लास्यां, हो माई
लोक लाज की काण ना मानूं
नरभै नीसाण घुरासयां हो माई।1

सदियों से स्त्रियों को सत्ता, संपत्ति और प्रतिष्ठा से वंचित रखा गया। स्त्री इस व्यवस्था के विरुद्ध बगावत न करे, इसलिय यह व्यवस्था ईश्वर ने बनाई है तथा पत्नी के लिए पति ईश्वर का रूप होता है ऐसा रूप प्रतिपादित किया गया है। इस दुर्भेद व्यवस्था में मीरा का उक्त स्वर निश्चय ही पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के लिए एक कड़ी चुनौती है। यह पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के विरुद्ध खुला विद्रोह है। मैं भी भक्त हूं, और मुझे भी अन्य पुरुष भक्तों के समान हक मिलना चाहिए, इस चेतना से इस विद्रोह का जन्म हुआ है। मीरा के काव्य में व्यक्त हुआ यह जीवन दर्शन अन्य भक्त पुरुषों के अनुभव संसार से अलग है। एक नया संसार एक नया समाज, एक नया मनुष्य पहले पहल मीरा के काव्य में दिखाई देता है। कहा जा सकता है कि मीरा के लिए यह महज पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध आत्मनिर्णय की भावना हो। मीरा उतनी परिष्कृत नहीं थी जितनी की आज की स्त्री चेतना समर्थक स्त्रीयां, जिन्होंने आत्मनिर्णय की जगह एक ज्यादा व्यापक और सामान्य विशेषण स्त्री चेतना का प्रयोग किया। लेकिन इस चेतना का बीज निस्संदेह आत्म निर्णय का अधिकार है, जिसके लिए मीरा ने जीवनपर्यंत संघर्ष किया।

लगन को नाव न लीजै, री भोली!
लगन लगे को पैन्ड़ों ही न्यारो,
पांव धरत तन छीजै।
जो तू, लगन लगाई चाहै,
सीस को आसन कीजै।2

प्रो.मैनेजर पांडेय के अनुसार-"यह कोई काव्योक्ति नहीं मीरा के जीवन की सच्चाई है।3 ऐसी पंक्तियां जिनमें किसी स्त्री की वेदना अपने अतीत और वर्तमान के सन्दर्भ में प्रतिबिंबित हो रही हो, जिनमें लगभग पूरे समूह की हालत का बयान हो, जिसमें स्त्री की अपनी पहचान की छटपटाहट व्यक्त हो रही हो मीरा से पहले नहीं मिलती। जो समूह सामाजिक राजनितिक सत्ता के साथ आत्म- निर्णय के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया हो, जिसकी नियति पहले से ही तय कर दी गई हो, उसे पहचान-आस्मिता का संकट ज्यादा सालता है, लेकिन इसका बोध और उस बोध की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है, जो पहले पहल मीरा के काव्य में मिलता है।

सीसोद्यो रूठ्यो म्हारा काई करलेसी
निरभै निसण घुरास्यां हो माई।4

मीरा जैसी स्वचेता स्त्री के लिए उस युग के पुरुष प्रधान समाज में पराधीन और शोषित स्त्री के लिए यह उद्बोधन जितना प्रासंगिक था, उतना ही आज भी है। मीरा की उक्त पंक्तियां स्वचेता स्त्री के संघर्ष को अभिव्यक्त करती हैं,अतः ये पंक्तियां देशकाल तक सिमित न रहकर सार्वभौम अर्थ की व्यंजना करती हैं। मीरा इन पंक्तियों में अपनी संघर्ष शक्ति की मौलिकता को स्वर देती हैं। वह शक्ति जो मध्यकालीन समाज में संभवत: किसी स्त्री के यहां नहीं मिलती, इस संघर्ष की शक्ति मीरा द्वारा स्वतः अर्जित की गई है। जयशंकर प्रसाद की श्रद्धा का उद्बोधन इस प्रसंग में अनायास याद हो आता है-

शक्ति के विद्युतकण जो व्यस्त
निकल बिखरे हैं हो निरुपाए
समन्वय उसका करे समस्त
विजयनी मानवता हो जाए।5

इस सन्दर्भ में निराला की पंक्ति-"शक्ति की करो मौलिक कल्पना"6 याद हो आती है। संघर्ष का यह स्वर मीरा की कविता को कोरे वाग्जाल से बचाकर अनुभव के निकट ले जाता है। संघर्ष के इस उद्बोधन शक्ति के साथ मीरा परम्परागत स्त्री न रहकर स्वचेता स्त्री का प्रतीक बन जाती हैं। स्त्री की परम्परागत छवि को तोड़ती हुई मीरा की यही संघर्ष शक्ति उन्हें आधुनिक स्त्री की संवेदना के निकट ले जाती है। पीड़ा

और वेदना की कमजोर भावनाओं से संघर्ष शक्ति को हानि पहुंचने की सम्भावना जैसे मीरा ने महसूस की हो; इसलिए पीड़ा और वेदना के निरीह क्षणों में भी संघर्ष का सशक्त स्वर मीरा के यहां सुनाई दे जाता है।

मूल प्रश्न मीरा की कविता में निहित स्वचेतना के अनुभव का है जो पूरे स्त्री समाज से जुड़ा हुआ है, सिर्फ भक्त स्त्री अथवा स्त्री के किसी एक वर्ग विशेष से नहीं। व्यक्तिगत स्तर पर यह मीरा की भक्ति की स्वतंत्रता से जुड़ा हो सकता है पर अपनी सम्पूर्णता में यह हर स्त्री की पराधीनता से जुड़ा है। केंद्र में अगर भारतीय स्त्री की पराधीनता है मध्यकाल में भी और आज भी तो यह एक सीमा तक समाज में स्त्रियों की स्थिति का प्रतिफलन ही है। इस प्रकार मीरा की कविता व्यक्तिगत स्तर से उठकर सम्पूर्ण स्त्री समाज की व्यापक परिधि तक व्याप्त हो जाती है, जो उनके वेदना और संघर्ष दोनों में दृष्टव्य है।भारतीय काव्य में प्रारंभ से लेकर अब तक स्त्री को प्रेमिका, माँ,बहन ,देवी के रूप में चित्रित किया गया है,लेकिन मीरा के यहां शायद पहली बार एक शोषित, पीड़ित और पराधीन स्त्री सामने आती है। यहां मीरा की वेदना और पीड़ा वाले पद सम्पूर्ण स्त्री समाज की वेदना और पीड़ा की अभिव्यक्ति वाले पद बन गए हैं। और इन पदों की विश्वसनीयता के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, सामान्य भारतीय स्त्रियों का जीवन ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में -" भारतीय मानस नारी स्थिति की करुण दशा से बहुत परिचित है। मीरा की इस असहाय और विवश अभिव्यक्ति की सपाटबयानी उसके मानस में तत्काल उचित संदार्भों में जुड़ जाती है और वह अनुभूति-स्पंदित हो उठती है। वे स्थितियां जिनमें रहकर नारी अपने मन की भावनाओं को दबाते-दबाते भी प्रकट करने पर विवश हो उठती है, भारतीय पाठक की बहुत परिचित है।"7

मीरा की कविता का सम्बन्ध स्त्री जीवन की उस वेदना और पीड़ा से है, जिसकी और अन्य पुरुष रचनाकारों का ध्यान कम जाता है अथवा गया है। भक्ति काव्य जहां घोषित रूप से भक्ति के धरातल पर समाज में हमेशा से हाशिए पर रखे गय लोगों का पक्षधर है वहीं मीरा की कविता सदियों से हाशिए पर रखी गई स्त्री की वास्तविक स्थिति का बयान करती है। भक्ति काव्य के सामान्य लक्षण-ईश्वर की

विराटता और उसके दयालु स्वरुप तथा उस ईश्वर के साथ संयोग-वियोग की तमाम स्थितियों को पार करते हुए मीरा की रचना अंतत: एक स्त्री के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के दु:ख और संघर्षों तक आ पहुंचती है।

भक्ति आन्दोलन ने भगवान का जो रूप खिंचा था, दीनबन्धु और करुणानिधान का था, लेकिन साथ ही इसका गहरा सम्बन्ध एक स्त्री के वास्तविक जीवन के दर्द और वेदना से भी है, जिसमें वह ऐसे ईश्वर की कल्पना करती है जो पतित पावन है। अर्थात् स्वयं को कृष्ण की प्रेयसी मानकर संयोगात्मक वियोगात्मक अवास्थाओं से गुजरते हुए मीरा कब दीन-हीन भाव से पतित पावन कृष्ण को संबोधित करने लगती है पता ही नहीं चलता।

इसी प्रकार मीरा ने अपने पदों में स्वयं को बार-बार 'अबला'कहा है।

म्हां अबला वह म्हारों गिरधर, थे म्हारों सरताज।8

अबला होने के बावजूद तमाम विरोध और संघर्ष को झेलते हुए मीरा ने अपने समय के सच का बेबाक चित्रण किया। इस सन्दर्भ में मीरा का एक पद देखा जा सकता है, जिसमें मीरा ने सृष्टि में व्याप्त असंगति पर विचार करते हुए अन्त में लिखा है कि- सिंहासन पर मुर्ख बैठे हैं, विद्वान द्वार-द्वार मारे फिरते हैं, और राणा भक्तों का संहार करता है। पद इस प्रकार है_

दीरघ नेण मिरघ कूं देखां वणवण फिरता मारा
उजलो वरण नागलां पावां, कोयल वरणा कारां
नदयां नदयां निरमल धारा समुंद्र कर्यां जल खारा
मूरख जण सिंहासन राजा, पंडित फिरतां द्वारां
मीरों रे प्रभु गिरधर नागर, राणों भगत संघोरौं।9

लगभग इसी संवेदना का एक और पद है- मुझसे हरी के बिना रहा नही जाता। सास लड़ती है, ननद खीजती है, राणा क्रुद्ध है उसने पहरा बिठा रखा है, चौकी बिठा रखी है ताला जड़वा दिया है-

हेल म्हंसू हरि बिन रह्यो न जाय
सास लड़े मेरी ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय

पहरो भी राख्यो, चौकी बिठायौं तालो दिया जड़ाय।10

विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में-"ऐसी सीधी और कटु उक्ति भक्तकवियों में से कम ने ही की होगी। मीरा को अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा सिन्हासनासिनों की मुर्खता को अनुभव करने का मौका अधिक निकट से मिला था। उन्होंने इस मुर्ख राजा की मुर्खता प्रत्यक्षत: झेली थी। सिंहासनासीन, मुर्ख ही नहीं अन्यायी भी है। उसमें मुर्खता और नीचता का विरल संयोग है। वह मुर्ख भी है और भक्तों का संहारक भी।"11 एक स्त्री का अपने परिवार और समाज के दुर्व्यवहार के प्रति ऐसी सीधी और स्पष्ट उक्तियां अन्यत्र नहीं मिलती। प्रो.मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में-" मीरा का विद्रोह अंधे के हाथ लगा बटेर नहीं है। वे अपने संघर्ष की परिस्थितियों के बारे में पूरी तरह सजग हैं। विरोधी शक्तियों के खूंखार स्वभाव और अपनी वास्तविक स्थिति की पहचान के बाद ही उन्होंने कहा की 'तन की आस कबहूं नहिं कीनो, ज्यों रण मांही सूरो।' उनका संघर्ष सचमुच आसाधारण है। जीवन की बाजी लगाकर लड़ा जाने वाला एक युद्ध है। संकल्प उनकी शक्ति का मुख्य स्रोत है। संकल्प के पीछे प्रेम में अटूट आस्था का बल है। तभी वे विरोधियों को चुनौती देती हुई घोषणा करती हैं-

लोकलाज कुल कानि जगत की, दइ बहाय जस पानी
अपने घर का परदा कर ले, मै अबला बौरानी।

यह चुनौती उन लोगों को है जो लोकलाज और कुल की मर्यादा के नाम पर मीरा की स्वतंत्रता को कुचलना चाहते थे और असफल होने पर खीझ कर उन्हें बावरी,दीवानी,कुलनासी आदि कहते थे।12

मीरा के यहां अनेक ऐसे पद हैं, जो मात्र स्त्री होने के कारण किए गए भेदभाव और शोषण से उत्पन्न वेदना और दु:ख को अभिव्यक्त करती हैं-

हेरी म्हा दरद दिवाणां म्हारा दरद न जाण्या कोय
घायल री गति घायल जाण्या हिवड़ों अगण संजोयं
दरद की मारयां दर दर डोल्यां वैद मिल्या णा कोय।13

मीरा के ये वेदनापरक पद हमे झकझोरते नहीं, न ही अधिकांश आधुनिक महिला लेखन की तरह कोई संवेदनात्मक आघात पहुंचाने का प्रयास करते हैं और न

आधुनिक महिला लेखन में प्रयुक्त बिम्बों की तरह एक तिक्त वास्तविकता के अस्वाद से विक्षुब्ध करते हैं; बल्कि एक ग्रामीण स्त्री की तरह सीधे सरल शब्दों में अपने दुःख और आक्रोश को ज्यों का त्यों रख देते हैं, जो हर स्त्री को अपने जीवन का दुःख प्रतीत होता है।

मीरा की वेदना और पीड़ा के अनुभव समाज परिवार के बंधनों में जकड़ी हुई किसी भी पराधीन स्त्री के अनुभव हैं। इसलिए ये अनुभाव एक स्त्री के होते हुए भी पूरी स्त्री जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं वेदना और पीड़ा के पदों को लेकर मीरा पर सिमित अनुभव क्षेत्र की कवयित्री होने का अरोप बार-बार लगाया जाता है। यह ठीक है की हिंदी के अन्य बड़े भक्तिकालीन कवियों जैसा रचना विस्तार, अनुभव कोटि और महज आकार; दोनों दृष्टियों से मीरा में नहीं मिलेगा। पर मीरा की कविता विस्तार और ब्यौरों में न जाकर अनुभव से सीधा टकराती है और स्त्री जीवन के हर क्षण की अनुभूति समेट लेना चाहती है। वह अनुभूति इतनी वास्तविक और निष्कपट है की देशकाल में स्थित होकर भी उसका अतिक्रमण कर जाती है; इसी कारण मीरा की रचना स्त्री जीवन के चरम यथार्थ का अनुभावन और आख्यान है।

यह बिलकुल सही है कि मीरा एक ऐसी कवयित्री हैं, जिनकी कविताओं को उनके जीवन से अलग करके समझा ही नहीं जा सकता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में-" मीरा का काव्य उन विरल उदाहरणों में है जहां रचनाकार का जीवन और काव्य एक-दूसरे में घुल-मिल गए हैं, परस्पर के संपर्क से वे एक-दूसरे को समृद्ध करते हैं, इसका अर्थ यह भी है कि जीवनवृत्त से अलग किये जाने पर इस काव्य की सर्जनात्मक क्षमता घट जाती है।"14

मीरा के काव्य में आधुनिक स्त्री चेतना के कौन-कौन से तत्व विद्यमान हैं, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण और संगत नहीं जितना यह की मीरा के रचना-विधान में वह कौन-सा वैशिष्ट्य है जो मीरा के काव्य को आज भी प्रासंगिक बनाय हुए है। मीरा का काव्य यदि आधुनिक स्त्री चेतना के सन्दर्भ में प्रासंगिक है तो वह निश्चय ही आधुनिक स्त्री चेतना के बुनियादी सवालों से टकराता है। कई बार आधुनिक स्त्री

चेतना के बोद्धिक विलास को देखकर लगता है कि स्त्री चेतना की वास्तविक स्तिथि मीरा के यहां है,आज अधिकांश लेखिकाओं में उसका काल्पनिक वर्णन भर है। स्त्री जीवन की मूलभूत समस्या परतंत्रता को महसूस करने के कारण ही मीरा के काव्य में वह गहराई आ सकी है, जो धीरे-धीरे परत-दर-परत खुलती हुई हर स्त्री की अपनी पीड़ा और वेदना प्रतीत होती है।

मीरा की कविता स्त्री चेतना के इतिहास की एक विलक्षण धरोहर हैं। आज तक जितनी भी स्त्री चेतना परक कविताएं लिखी गई हैं उनके बरक्स मीरा की कविताओं को रख दिया जाए तो इनकी विलक्षणता की पहचान ज्यादा आसान हो जाएगी और शायद ज्यादा तीखेपन की भी। स्त्री चेतना के सन्दर्भ में मीरा एक खास अर्थ में प्रासंगिक और आधुनिक हैं और सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि वह आधुनिकता के सारे प्रचलित प्रतिमानों से दूर रहते हुए भी आधुनिक और प्रासंगिक हैं।

सदियों तक मीरा की कविता उपेक्षित रही, आज भी स्त्री चेतना के सन्दर्भ में मीरा की कविता को जो स्थान मिलना चाहिए, वह उसे नहीं मिला है। मीरा की कविता स्त्री की वास्तविक स्तिथि को स्वर देने का रचनात्मक उपक्रम है, इस क्रम में वह स्त्री चेतना की अभिव्यक्ति का प्रस्थान बिन्दु बन गया है। महानता दरअसल से काल-प्रावह में कई बार उपफल के रूप में ही प्राप्त होती है।

अपने रचनाकाल से 400-500 वर्ष पश्चात् प्रगतिशील आलोचना के दौरान ही कबीर की वास्तविक महत्ता सामने आई, जब कबीर को महान कवि के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रतिष्ठित किया और आज तो कबीर सबसे अधिक प्रासंगिक कवि बन गए हैं। इसी तरह सदियों बाद स्त्री चेतना के उभार से मीराबाई के जीवन और काव्य को नए परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जा रहा है। प्रो.मैनेजर पाण्डेय के अनुसार- "राजस्थान में देवराला के सतीकाण्ड के बाद इस नृशंस सामन्ती प्रथा के विरुद्ध जो आवाज उठी और आन्दोलन चला उसमें मीरा बाई को बार-बार याद किया गया। यह स्वाभाविक और जरूरी भी था। आज भी भारतीय नारी को गुलाम बनाए रखने में

राजसत्ता,पुरुषसत्ता,लोकरुढ़ी और कुलकानि की बहुत बड़ी भूमिका है। मीरा के काव्य और जीवन से इन चारों के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा मिलती है। आज हिंदी आलोचना में मीराबाई के वास्तविक महत्त्व की खोज और पहचान बाकी है। अनेक आलोचक तो उन्हें भक्तिकाल के बड़े कवियों में गिनने के लिए भी तैयार नहीं हैं। लेकिन जब इस देश में नारी स्वाधीनता का आन्दोलन पूरी तरह विकसित होगा, वह शहरों से बढ़कर गावों तक पहुंचेगा और यहां का स्त्री समुदाय सचमुच स्वतन्त्र होगा तब मीराबाई हिंदी ही नहीं,गुजराती जनता के बीच भी सबसे अधिक लोकप्रिय होंगी।"15

वस्तुतः मीरा भारतीय समाज और परिवार में लगभग पूरी तरह पराधीन स्त्री की दयनीय स्तिथि को प्रतिबिम्बित करने वाली कवयित्री कही जा सकती है। स्त्री जीवन की वेदना ,उसकी टूटन,स्वयं राह चुनकर उस राह पर चलने की अदम्य अकांक्षा- यह सब यदि किसी एक की कविता में मिलता है तो वह मीरा की कविता है। एक और तो मीरा की कविता उस चरम भक्ति का आभास दिलाती है, जिसमें भक्त समाज परिवार और स्वयं तक को भूलकर ईश्वर के साथ संयोगात्मक-वियोगात्मक अवस्थाओं में लीन हो जाता है, परन्तु दूसरी और उनकी कविता शोषण के विरुद्ध स्वचेतन स्त्री को निरंतर बेधने वाली विद्रोही वृत्ति तथा गहरे विक्षोभ का भी प्रतिनिधित्त्व करती है, जो उसे समकालीन स्त्री चेतना से जोड़कर प्रासांगिक बनाती है। सदियों बाद भी मीरा के पदों की प्रासांगिकता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है- खासतौर से स्त्री की वेदना और शोषण से जुड़े हुए पद। ये पद एक खास अर्थ में स्त्री चेतना के उस आधार भूमि की ओर संकेत करते हैं, जिनके एहसास के बिना कोई भी स्त्री स्वचेतन हो ही नही सकती।

सन्दर्भ सूची

1. मीराबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मलेन प्रयाग, आठवां संस्करण,1989, पद संख्या(35)
2. वही... पद संख्या(191)
3. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण,1993,पृष्ठ(42)।

4. मीराबाई की पदावली- परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मलेन प्रयाग पद संख्या(35)
5. कामायनी- जयशंकर प्रसाद, किताब वाला,खजांची रोड,पटना प्रथम संस्करण, 1935
6. राग-विराग निराला- रामविलाश शर्मा(संपादक), लोकभारती प्रकाशन, सोलहवां संस्करण,1992 पृष्ठ(100)
7. मीरा का काव्य-विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1989,पृष्ठ(95)
8. मीराबाई की पदावली- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ(99)
9. वही.....पृष्ठ(155)
10. वही.....पृष्ठ(112)
11. मीरा का काव्य- विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण,1989, पृष्ठ(59)
12. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य- मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन प्रथम संस्करण,1993, पृष्ठ(41)
13. मीराबाई की पदावली-परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मलेन प्रयाग, पृष्ठ(120)
14. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास- रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, पृष्ठ(59)
15. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य-मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाश प्रथम संस्करण,1993, पृष्ठ(49-50)

न भेज्यो बिदेस: प्रवासी स्त्री के जीवन का यथार्थ

शालू
शोधार्थी, हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय
धर्मशाला, काँगड़ा- 176215
संपर्क- 9953806976
ई-मेल- shalubabbar0@gmail.com

शोध सार

अमेरिका की प्रवासी महिला लेखिका सुदर्शन प्रियदर्शिनी कृत 'न भेज्यो बिदेस'(2013) स्त्री जीवन के यथार्थ को रेखांकित करता उपन्यास है। इस उपन्यास में एक ओर भारतीय परिवेश से बाहर निकल कर खुले आसमान में पक्षियों की तरह उड़ने की सुनहरी कल्पनाएं हैं, वहीं दूसरी ओर चकाचौंध व तेज रफ्तार से क्षणभर में परिवर्तित कर देने वाले रिश्ते भी। स्त्री जीवन तब अधिक कठिनाइयों वाला प्रतीत होने लगता है जब विदेश में ब्याही बेटियों को सुसराल वालों के काले सच का पता चलता है। तब वह स्त्री न तो विदेश में खुलकर साँस ले पाती है और न ही अपने देश में पहले की तरह आकर सामान्य जीवन व्यतीत कर पाती है। इस प्रकार वह दोहरी यंत्रणा का शिकार हो जाती है।

बीज शब्द: *प्रवासी, लेखिका, उपन्यास, स्त्री, जीवन, परिस्थिति*

शोध आलेख

सामान्यतः जब हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन करते हैं तो हम अलग-अलग अनुभवों एवं परिस्थितियों से होकर गुजरते हैं। अगर वह आवागमन अपने देश के भीतर होता है तो अनुभव सुखद होता है। लेकिन यही आवागमन देश के बाहर हो तो संभवतः हमें ऐसे अनेक कष्टों, पीड़ाओं को झेलना पड़ता है जिनकी हमने भविष्य में कल्पना भी नहीं की होगी। प्रवासी जीवन एक ऐसा ही यथार्थ है। परिस्थितिवश मनुष्य दूसरे देश में जाता तो हैं परन्तु उसे अनेक कटु अनुभव से गुजरना पड़ता है। 'न भेज्यो बिदेस' एक ऐसी ही स्त्री की संघर्ष गाथा है जिसके माध्यम से लेखिका सुदर्शन प्रियदर्शनी ने स्त्री के समाजार्थिक पक्ष को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

साहित्य समाज को नया रूप व दिशा प्रदान करता है। साहित्य ने प्रवासी स्त्रियों को अनेक रूढ़िवादी मान्यताओं व शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रेरणा प्रदान की है। वास्तविकता यह है कि बदलते दौर में प्रवासी जीवन मुक्ति की तलाश के लिए छटपटाने लगा। लेखिका सुदर्शन प्रियदर्शिनी ने समुद्र पार की प्रवासी स्त्रियों के अलग-अलग अनुभवों, मूल्यों, दृष्टिकोणों को समाज के सामने साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जिससे उनकी अस्मिता के प्रति उठे प्रश्नों, अनुभूतियों एवं भीतरी छटपटाहट का साहित्य में सजीव चित्रण व्यक्त हो सके।

अमेरिका की प्रवासी महिला लेखिका सुदर्शन प्रियदर्शिनी कृत 'न भेज्यो बिदेस'(2013) स्त्री जीवन के यथार्थ को रेखांकित करता उपन्यास है। इस उपन्यास में एक ओर भारतीय परिवेश से बाहर निकल कर खुले आसमान में पक्षियों की तरह उड़ने की सुनहरी कल्पनाएं हैं, वहीं दूसरी ओर चकाचौंध व तेज रफ्तार से क्षणभर में परिवर्तित कर देने वाले रिश्ते भी। स्त्री जीवन तब अधिक कठिनाइयों वाला प्रतीत होने लगता है जब विदेश में ब्याही बेटियों को सुसराल वालों के काले सच का पता चलता है। तब वह स्त्री न तो विदेश में खुलकर साँस ले पाती है और न ही अपने देश में पहले की तरह आकर सामान्य जीवन व्यतीत कर पाती है। इस प्रकार वह दोहरी यंत्रणा का शिकार हो जाती है।

"न भेज्यो विदेस"उपन्यास की मुख्य पात्र रत्ती भारत से विवाह करके अमेरिका में बसती है। विवाह से पूर्व अक्सर वर पक्ष अपने पुत्र की बुरी आदतें व घिनौने अपराधों को छिपाने का प्रायस करता है। यही सब प्रीतम के पिता बिशन सिंह ने भी किया। बिशन सिंह अपने पितृसत्तात्मक सोच के कारण अपने परिवार को बांधकर रखते हैं और रिश्ते को बिजनेस की तरह चलाते हैं। इसके लिए वह अपनी फूल-सी बेटी (जस्मीत) को दांव पर लगाकर अर्थात् उसका विवाह उसकी उम्र के दुगने व्यक्ति रत्ती के चाचा (पुन्नी सिंह) से करवा देते हैं तथा बदले में उन्हें अमेरिका ले जाने के लिए पचास लाख रुपये की मांग करते हैं। अमेरिका में बसने और इसके लिए विवाह जैसे पवित्र रिश्ते को हथियार बनाना यह पश्चिम के दूषित चरित्र को उजागर करता है,

"अपनी लड़की जस्मीत की हिंदुस्तान जाकर रत्ती के चाचा के साथ फर्जी शादी करवा दी जाय और साल-डेढ़ साल बाद डाइवोर्स करवा दिया जाय। यह स्कीम कानूनन थी और काम भी कर सकती थी ।इसमें जस्मीत को और उसकी माँ को मनाना ही बड़ा काम था जो नैतिकता की दृष्टि से ठीक नहीं था ।"1

वैश्वीकरण के युग में मनुष्य रिश्तों को कपड़ों की तरह बदलता है। यही सब रत्ती का पति प्रीतम कर रहा है उसने भारतीय महिला रत्ती के विवाह से पूर्व उसकी अमेरिका में प्रेमिका लूना एवं पहली पत्नी चिंकी के साथ संबंध भी है लेकिन प्रीतम अपने पिता की तरह बिज़नेस को आगे बढ़ाने की कोशिश में लगा रहता है। वह चिंकी को रुपये देकर उसे उम्र भर के लिए बनवासी कर देता है। "जा नी धीया रावी न कोई आवी, न कोई जावी (जा बेटी प्रदेश दूर, रावी के किनारे जहाँ न कोई आ सके, ना जा सके)"2

बिशन सिंह के क्रूरतापूर्ण व्यवहार का सबसे अधिक कष्ट उसकी बहु को झेलना पड़ता था। क्योंकि बिशन रत्ती के गर्भवती होने पर भी वह उससे रेस्टोरेंट में अत्यधिक काम करवाता था। उसे अपनी पुत्रवधू की बिल्कुल भी चिंता नहीं थी क्योंकि वह महत्वाकांक्षी एवं धन लोलुप व्यक्ति था और धीरे-धीरे रत्ती ने इसी जीवनशैली को अपना भाग्य मानकर स्वीकार कर लिया था। "अपने आप को सर्वे-सर्वा समझ अपने भाग्य को हाथों में लेकर तोड़ते-मरोड़ते रहते हैं। हमारा प्रयत्न होता है शायद भाग्य हमारी मर्ज़ी से चल निकले या क्षण भर के लिए ही सही हमारी स्थिति बदल जाए। कभी स्थिति क्षणिक बदल भी जाती होगी पर होई-बहि जो राम रूचि राखा ।"3

परदेश की चारदीवारी के भीतर रत्ती अनेक प्रकार की परिस्थितियों से जूझती है। जैसे स्वयं को पति की दूसरी पत्नी के रूप में स्वीकारने की कोशिश करना लेकिन अतीत की स्मृतियां उसे भावनाओं में डूबा देती हैं। जिस पति के साथ सात फेरे लेकर सात समुंदर का सफ़र तय करके अमेरिका आई। वही पति उसके साथ बेरुखी से पेश आता है। प्रीतम के मन में रत्ती के प्रति कभी भी समर्पण की भावना उद्घाटित नहीं हुई जबकि रत्ती प्रीतम को तन और मन दोनों रूपों से प्रेम करती थी।

"जब हम बीत रहे होते हैं, तो लगता नहीं कि हम बीतते जा रहे हैं। समय-स्थिति एक जड़ता-सी लिए हमें उबा देते हैं पर जब बीत जाता है वह पल तो लगता है उस समय को हम ने उस अतीत से चुरा कर क्यों न रख लिया। यों भी जिसे हम बीतना कहते हैं वह वास्तव में बीतता कभी नहीं, कहीं हमारे अंदर ही साँसों की तरह गुथा रहता है और रह-रहकर हर स्थिति, हर क्रिया कलोल के साथ साक्षात उठ खड़ा होता है।"4

प्रत्येक स्त्री अपने दुःख, दर्द को दूसरी स्त्री के साथ बांटने में ज्यादा सहज महसूस करती है। रत्ती के पास परदेश में न तो माँ थी और न ही कोई सहेली थी।जिससे वह अपनी पीड़ाओं को साझा कर सके कि वह परिवार वालों से अलग किसी और दुनिया में कितने कष्टों में अपना जीवन व्यतीत कर रही है। उपन्यास में लेखिका ने रत्ती की दयनीय स्थिति का यथार्थ रूपों में वर्णन किया है। विवाह के बाद प्रीतम रत्ती के साथ होते हुए भी अमेरिकी प्रेमिका लूना की स्मृतियों में खोया रहता है। लेखिका ने रत्ती के दांपत्य जीवन की मनोस्थिति का यथार्थ चित्रण किया है। जब उसका पति उसके साथ होते हुए किसी दूसरी स्त्री के सपनों में गूँथा चला जा रहा हो। इस पीड़ा, कुण्ठा, दयनीय अवस्था को रत्ती और उस जैसी अन्य स्त्रियाँ चाहकर भी किसी को बताने में सहज महसूस नहीं करेंगी।

"किन-किन कगारों पर चली होगी। कैसी-कैसी परीक्षायें दी होगी। नट की रस्सियों पर झूलते-उतरते। कैसे बाँधी होगी, उसने अपने आसपास बचाव की पाल। नाव को घेरने जैसी । तटस्थ एकाकी अपने अंधेरों से जूझती । जिन दीवारों में वह अपने-आप को रोज चिन्हा देखती होगी वे तो दीवारें भी उसकी अपनी न थी। न बाबुल की आवाज़, न भैय्या की मनुहारी पुकार, न भैया की ममताई तेर ।"5

रत्ती की सास गुरमीत उसके मन की पीड़ा एवं चेहरे के भाव को समझ लेती है। क्योंकि परदेश में आई गुरमीत भी इन्हीं पीड़ाओं का अनुभव कर रही थी। अतीत की स्मृतियाँ व उसके साथ हुए धोखे से वह रोती रहती है। गुरमीत के अंतर्मन में भी रत्ती के जैसी ही बेबसी और लाचारी थी। वैसे वे दोनों एक नयी चिंगारी को जन्म दे सकते थे। लेकिन उनके सामने विवशता परदेश की थी। लेखिका सुदर्शन लिखती हैं, "अतीत

कभी मरता नहीं बल्कि समय के साथ वह हमारा वजूद बन जाता है जो बाहर की दुनिया से परे होकर अपने अंदर ही अंदर एक अलग संचार की संरचना में लगा रहता है। इंसान विषम परिस्थितियों में भी अपने अंदर अपने अतीत को झाँक-झाँक कर जीता चला जाता है।"6

रत्ती का एकमात्र सहारा उसकी सास गुरमीत ही थी जो अपने उनके दाम्पत्य जीवन को पटरी पर लाने के लिए प्रायसरत है। रत्ती ने भी सास की बातें को आत्मसात कर लिया था। वह कहती है- "रत्ती! आदमी जितना प्यार दे उसी में आदमी को तसल्ली रखनी चाहिए । वह रात को घर आता है यही औरत की जीत है। वह सोहना-गभरू (सुंदर-जवान) हो तो औरत बोलने योग्य नहीं रहती ।गाँव का आदमी हो या शहर का कहीं कभी एक के साथ बंध कर रहा है फिर वह यह तो अमेरिका है।"7

लेखिका ने गुरमीत की स्थिति अत्यंत भावुक सी दिखाई है। बेबस माँ और असहाय सास के रूप में गुरमीत रत्ती की 'डूबते को तिनके का सहारा'बनती है। बेचारी गुरमीत रत्ती की तरह दुल्हन बनकर अमेरिका आई थी तथा आते ही घर और फैक्ट्री की चक्की में पिस गयी। घर और परिवार दोनों का निर्वाह गुरमीत भली-भांति करती है। दिन भर फैक्ट्री में गरम लोहे से कीले बनाकर डिब्बों में सजाती है और रात के समय अपने पति बिशन सिंह को खुश करने के लिए खुद सजती है। मानो भाग्य के साथ समझौता कर लिया हो।

"बड़े-बड़े देगचों जैसे डब्बों में भरना होता है। उसके नीचे ऊपर लेबल चिपका कर डब्बे करने होते हैं। जो जितने करता है, उसी हिसाब से उसे तैयार करने होते हैं। जो करता है, उसी हिसाब से उसे पैसे मिलते हैं एक डब्बे के ढाइ-डॉलर। एक दिन में लोग दस-दस, बीस-बीस डब्बे भी भरते हैं, सोच कितना कमायेगी तू । यहाँ उस फैक्ट्री में वे लोग शनि-इतवार भी काम करने देते हैं। यह काम मुझे मालूम है तू बड़ी मुस्तैदी से कर सकेगी बैलों के खलियानों में तुड़ी की ककर्शता में हाथ सधे हुए हैं।"8 आज के समय में अमेरिका जैसे विकसित देशों में भारत से आई स्त्रियों से कम आय में ज्यादा काम करवाया जाता है। उन्हें इतनी स्वतंत्रता भी नहीं दी जाती कि वे परिवार वालों के

साथ समय बिता सकें। क्योंकि भूमंडलीकरण के कारण स्त्री के लिए रोजगार के नए साधन तो उपलब्ध हुए लेकिन उनके श्रम का शोषण भी हुआ है। साथ ही प्रवासी स्त्री स्वयं के बारे में कम अपने परिवार के बारे में अधिक सोच कर अपनी इच्छाओं का बलिदान दे देती है। "स्त्री को बड़े समूह में फैक्ट्रियाँ रोजगार देते हैं, क्योंकि उनका श्रम सस्ता होता है और छंटनी करने में भी सुविधा होती है तथा उपद्रव का भय भी नहीं रहता। अविवाहित स्त्रियाँ ऑवरटाइम काम करती हैं और उनको अवकाश एवं शिशुगृह की व्यवस्था की जरूरत भी पड़ती, अत: उनकी अधिक मांग होती है। स्त्री के काम के घंटे भी ज्यादा होते हैं, क्योंकि वह घर जाकर भी काम करती है मगर उसके काम को सेवा का नाम देकर श्रम में नहीं आंका जाता।"9

लेखिका ने गुरमीत की बेबसी का यथार्थ शब्दों में वर्णन किया है कि स्त्री को इतनी कुर्बानियों के बाद भी दो पल की ख़ुशी नसीब नहीं हो पाती न ही उसका पति उसके साथ खुश है और न ही बच्चे। गुरमीत मानो निर्जीव-सी मूर्ति बन गयी है। यह व्यथा एवं पीड़ा अमेरिका में बसी गुरमीत और रत्ती की ही नहीं है बल्कि प्रत्येक भारतीय प्रवासी महिला को इसका शिकार होना पड़ता है। गुरमीत रत्ती को बिशन सिंह के हाथ की कठपुतली बनने से रोकती है। "उसके बाप ने तो उम्र-भर जिंदगी को एक व्यापार और औरत को इस्तेमाल की चीज़ ही समझा है। औरत अगर काम आ सकती है तो ठीक, नहीं तो उसकी जगह दरवाजे के पीछे लगी जूतियों की कतार में है। सदियों से यही दुहराया जाता रहा है और आज भी कुछ नहीं बदला।"10

समाज में पति-पत्नी दोनों एक दुसरे के सुख-दु:ख के साथी हैं। एक के बिना दूसरे का जीवन महत्वहीन हो जाता है, दोनों को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य प्रेम करता है। लेकिन जब प्रेम के रिश्ते में ही धोखे हो, तो वह सुचारू रूप से आगे बढ़ नहीं सकता। इसलिए स्त्री चाहे अपने देश में रहे या विदेश में उसे शिक्षित होना चाहिए ताकि वह आर्थिक रूपों में सक्षम व आत्मनिर्भर बन सके। उपन्यास में रत्ती स्वयं से प्रण लेती है कि वह रोज कुछ नया सीखेगी तथा अपनी हिम्मत स्वयं बनेगी। रत्ती के शब्दों में लेखिका यही कहती है कि "वह हर दिन कोई न कोई नयी बात सीखेगी।

वही बातें जो भविष्य में उसे आत्मनिर्भर बनने में सहायता कर सकें। धीरे-धीरे रत्ती ने अपनी गली, रास्ते, घर का पता आदि लिखना शुरू कर दिया। घर आने वाली डाक से वह सब कुछ डायरी में उतारती रहती।"11

स्त्री की अस्मिता का हनन व उस पर कुठाराघात तब होता है जब उसके परिवार के सदस्य ने ही उसके साथ दुष्कर्म किया हो। प्रीतम के चाचा (मोहन सिंह) ने रत्ती के साथ दैहिक संबंध बनाने की कोशिश की थी। विडंबना यह कि रत्ती अपनी शिकायत पुलिस में दर्ज नहीं करवा सकती। क्योंकि परदेश में बिशन सिंह की पहुँच ऊपर तक है हालांकि बिशन सिंह जानते है कि गलती उसके भाई की है। फिर भी मोहन सिंह को पता है कि बिशन मेरी ही बात सुनेगा, रत्ती से कहते हुए- "मेरा क्या बिगाड़ लोगी, बिशना तो मेरी ही सुनेगा...। तुझ दो टके की छोकरी की बात क्यों सुनेगा... जिसे एक दिन वह छोड़ भी देगा...। और वह प्रीतम! वह तो तुम्हें प्यार ही नहीं करता।... रत्ती के अंदर एक नि:सत्व नदी बहने लगी।"12

बिशन सिंह और प्रीतम के सभी मनसूबे पूरे होने पर वे रत्ती और उसके चाचा को भारत भेजने के लिए सोचते है। बलात्कार के बाद रत्ती अस्पताल से शारीरिक घाव ठीक करवाकर तो आ गई परंतु उसके मानसिक घाव वैसे ही बने हुए थे। वह सोचती है कि उसकी सुंदरता ही उसकी दुश्मन है अर्थात् अमेरिका आकर उसने क्या पाया? चाचा को जेल, हरमीत का अनाथ होना, चिंकी का गायब होना, जस्मीत का घर के लिए तपड़ना, गुरमीत का अपने परिवार से दूर होना, पूरण के सिर से माँ का साया उठ जाना। इन सभी परिस्थितियों से दुखी रत्ती जैसी अनेक स्त्रियाँ ऐसे ही जीवन निर्वाह करने के लिए मजबूर हो रही हैं क्योंकि माता-पिता तो अपनी बेटी के लिए सुयोग्य वर की तलाश करते हैं लेकिन उनके लिए यह अभिशाप बन जाता है तभी सभी लड़कियाँ परदेश के लिए कहती है- 'न भेज्यो बिदेस'

संदर्भ सूची

1- सुदर्शन प्रियदर्शिनी, न भेज्यो बिदेस, नमन प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, संस्करण: 2013, पृष्ठ- 45

2- वही पृष्ठ- 88
3- वही पृष्ठ- 54
4- वही पृष्ठ- 71
5- वही पृष्ठ- 8
6- वही पृष्ठ- 33
7- वही पृष्ठ- 34
8- वही पृष्ठ- 35
9- डॉ. कृष्णा जाखड़, प्रभा खेतान के साहित्य में नारी विमर्श, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर राजस्थान, संस्करण: 2012, पृष्ठ- 56
10- सुदर्शन प्रियदर्शिनी, न भेज्यो बिदेस, नमन प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, संस्करण: 2013, पृष्ठ- 89
11- वही पृष्ठ- 76
12- वही पृष्ठ- 67

भारतीय संस्कृति बनाम् पाश्चात्य संस्कृति का अंतर्द्वंद्व और प्रवासी हिंदी कविता

योगेन्द्र सिंह
शोधार्थी, हिंदी विभाग
चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ।
ई-मेल: yogendrasin77@gmail.com
मो० नं०: 09837127252
प्रो० नवीन चंद्र लोहनी
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ।

शोध सार

कविता प्रवासी साहित्य की महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय विधा है। यह सर्वप्रथम गिरमिट प्रथा के द्वारा निर्वासित हुए गिरमिटिया मजदूरों के कंठ से फूटी है। इसलिए प्रारंभिक दौर की प्रवासी हिंदी कविता के मूल स्वर भारत के लोकजीवन, लोकसंस्कार एवं लोकव्यवहार से जुड़े हुए हैं। कालांतर में इनकी संतानों तथा नए गए प्रवासियों ने इसे देश, दुनिया के साथ-साथ निर्वासित देशों के समाज एवं सरोकारों से जोड़कर और अधिक समृद्ध किया है। प्रवासी देशों में बसे ये भारतीय भारत एवं निर्वासित देशों के बीच में जीते हैं। वे पूरी तरह से न तो भारत के मोह से विमुक्त हो पाते हैं और न ही पूर्ण रूप से निर्वासित देश को ही अपना पाते हैं। भारतीय संस्कृति एवं मूल्यों के निर्वहन तथा पाश्चात्य संस्कृति के उन्मुक्त परिवेश में वे मध्य मार्ग का अनुसरण करने की कोशिश करते रहते हैं। परिणामस्वरूप ये लोग न पूरी तरह भारत के रह पाते है और न ही पूरी तरह वहाँ को स्वीकार्य होते हैं। प्रवासी भारतीयों की यही आत्म वेदना एवं छटपटाहट प्रवासी कविता का मूल बनती है, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न देशों में बसे प्रवासी कवियों की रचनाओं में स्पष्टतः दिखलाई देती है। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से प्रवासी हिंदी कविता में अभिव्यक्त भारतीय संस्कृति बनाम पाश्चात्य संस्कृति के अंतर्द्वंद्व को रेखांकित करने का प्रयास किया जाएगा।

मुख्य शब्द: *प्रवासी, कविता, भारत, संस्कृति, पाश्चात्य, अंतर्द्वंद्व।*

शोध आलेख

प्रवासी भारतीय डायस्पोरा ने विदेशी भूमि पर भारतीयों के संघर्ष एवं सफलता की नई कहानी लिखी हैं। विदेशों में प्रवासी भारतीय समाज की समृद्धि एवं वैभव की इस संघर्ष कथा के पात्र एवं नायक ये विश्वभर में बसे प्रवासी भारतीय ही हैं,

जिन्होंने अपने संघर्ष, श्रम, कौशल एवं धैर्य से न केवल इन देशों के विपरीत परिवेश में स्वयं के अस्तित्व को बचाए रखा है, अपितु अपने साथ-साथ अपनी भाषा, समाज एवं संस्कृति को भी पुष्पित एवं पल्लवित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। प्रवासी भारतीयों का अपनी मातृभूमि एवं मातृभाषा से यही जुड़ाव परदेश में उनकी भावनाओं की थाती बनता है। अपने हृदय की इन्हीं स्मृतियों को प्रवासी मन अपनी भाषा में कहता एवं जीता है। संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का यही जुड़ाव प्रवासी साहित्य का मूल है, जिसकी अभिव्यक्ति भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों से गए प्रवासियों ने अपनी-अपनी भाषा एवं बोलियों में की है, अलग-अलग भाषिक प्रवाहों से होते हुए भी इस साहित्य की सामूहिक पहचान प्रवासी हिंदी साहित्य के रूप में की जाती है।

इक्कीसवीं सदी के नव विमर्शों, नव चिंतनों एवं नई विचारधाराओं में प्रवासी हिंदी साहित्य भी एक नव विमर्श एवं नई चिंतनधारा के रूप में उभरकर सामने आया है। अब जब प्रवासी हिंदी साहित्य अपना अस्तित्व बना चुका है, तो भारतेत्तर देशों में रचे जा रहे इस साहित्य का विश्लेषण एवं विवेचन किया जाना अनिवार्य हो जाता है। प्रवासी हिंदी साहित्य के स्वरूप एवं अवधारणा के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि इस साहित्य की एक लोकप्रिय परंपरा विकसित हो चुकी है, जिसने साहित्य की सभी विधाओं को समृद्ध किया है। प्रवासी हिंदी साहित्य का मूल गिरमिटिया मजदूरों के द्वारा अपने साथ ले जाई गई लौकिक परंपराएँ एवं मानवीय अनुभूतियाँ ही हैं। परदेश में अपनी मातृभूमि एवं अपने अपनों के बिछोह की वेदना जब मौखिक लोकगीतों के स्वरों में अभिव्यक्त हुई, तो उसने काव्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया। पुरा-प्रवासी देशों में लोकगीतों की यही परंपरा कालांतर में प्रवासी काव्य धारा के रूप में विकसित हुई। इस तरह 'कविता' ही प्रवासी हिंदी साहित्य की प्रथम विधा के रूप में जानी जाती है।

अट्ठारहवीं सदी में गिरमिटिया देशों में लोक गीतों के रूप में प्रारंभ हुई काव्य-धारा ने प्रवासी हिंदी 'कविता' के रूप में अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित की है। अस्तु प्रवासी हिंदी कविता से तात्पर्य, प्रवासी देशों में लिखी जा रही काव्य धारा से है। भारत से बाहर अलग- अलग देशों में रची जा रही प्रवासी हिंदी कविता का स्वरूप एवं संवेदना परस्पर एक-दूसरे से भिन्न है। जिसका सबसे बड़ा कारण प्रत्येक देश के

भिन्न परिवेश एवं प्रकृति का होना है। एक ओर जहाँ पुरा-प्रवासी देशों मॉरीशस, फीजी, सूरीनाम इत्यादि में गिरमिटिया जीवन की वेदना एवं संघर्ष है, तो वहीं दूसरी ओर नव-प्रवासी देशों अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया आदि में भौतिकता, परिवेश स्वातंत्र्य, पीढ़ीगत द्वंद्व, अलगाव एवं पाश्चात्य जीवन-शैली में सामंजस्य न बिठा पाने की पीड़ा की मुखर अभिव्यक्ति हुई है। विश्व में सर्वत्र रचे जा रहे प्रवासी साहित्य की इसी वैचारिक भिन्नता के कारणों के विषय में डॉ॰ रविन्द्र एस॰ अमीन लिखते हैं, "मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, त्रिनिदाद, दक्षिण अफ्रीका, गुयाना, मलेशिया समेत कई देशों में जड़ से उखड़ी पीढ़ी नए परिवेश में जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करने को विवश हुई। तत्पश्चात् आकर्षण, आर्थिक समृद्धि, वैयक्तिक विकास आदि प्रलोभनों, आवश्यकताओं से संचालित मनुष्य ने स्वेच्छा से प्रवासन स्वीकार कर मातृभूमि से सुदूर प्रदेशों में नए परिवेश, नयी भाषा, नया समाज, नयी संस्कृति के मध्य अपने आपको स्थापित करना स्वीकार किया। औपनिवेशिक क्षेत्रों में पहुँचाये गए भारतीय लोगों की संवेदना में अन्तर हो, यह बहुत सहज है। जाहिर- सी बात है कि अपनी संस्कृति के प्रति दोनों समूहों का लगाव एक-सा न हो। परिणामतः हिन्दी प्रवासी साहित्य के अंतर्गत दोनों की अभिव्यक्ति में सहज रूप से भेद दिखलाई पड़ता है।"[1] अस्तु एक ही विधा होने के पश्चात् भी प्रवासी हिंदी कविता नए तेवर एवं स्वरूप ग्रहण किए हुए हैं, जिसमें मानवीय संवेदनात्मक अनुभूतियों के साथ-साथ वैश्विक उथल-पुथल एवं पाश्चात्य जीवन दर्शन भी परिलक्षित होता है। डॉ॰ कमल किशोर गोयनका प्रवासी हिंदी कविता के इसी वैशिष्ट्य को इस प्रकार से रेखांकित करते हैं, "इन दोनों देशों में कवियों की काव्य-चेतना में अंतर मिलेगा, लेकिन एक बात सामान्य है कि ये सभी भारतीय मन के कवि हैं। भारत अर्थात् स्वदेश आपको सर्वत्र दिखाई देगा। साथ ही दोनों में स्वदेश और परदेश का द्वंद्व, दो भिन्न जीवन परिस्थितियों में अंतर एवं नॉस्टेल्जिया का प्रबल भाव आपको अनुभव होगा। इन प्रवासी कविताओं का यह वैशिष्ट्रय हैं कि ये अपने रचना-देश के साथ-साथ अपनी मूल भूमि, अपने मूल-देश की संस्कृति को भी अपनी स्मृति में तथा अनुभूतियों में जीते रहे हैं।"[2] वस्तुतः प्रवासी हिंदी कविता का फलक अत्यंत विस्तृत एवं बहुआयामी है। इसमें एक ओर जहाँ प्रवासी जीवन की संवेदनाओं की गहन अभिव्यक्ति होती है तो

वहीं दूसरी ओर निर्वासित देशों के समाज एवं संस्कृति की झलक एवं अंतर्द्वंद्व भी स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होती है।

भारतेत्तर देशों में बसे प्रवासी भारतीयों की दृष्टि में पुरा-प्रवासी देश मॉरीसस, फीजी एवं सूरीनाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अट्ठहारवीं सदी के मध्य में अंग्रेजों के द्वारा भ्रम व धोखे से जबरन ले जाकर बनाए गए गिरमिटिया मजदूरों ने असहनीय पीड़ा को झेलते हुए अपने संघर्ष एवं जिजीविषा की नई कहानी लिखी है। इन देशों से हजारों मील दूर रहकर भी इन प्रवासी भारतीयों ने वहीं पर अपना एक अलग समाज निर्मित कर लिया है, जिसमें भारतीय विश्वास, परंपराएँ एवं मान्यताएँ रची बसी हैं। आज इन लोगों ने विश्व भर में लघु भारत की नई संकल्पना निर्मित की है। मॉरीशस की पहचान तो भारत से बाहर लघु भारत या दूसरे भारत के रूप में ही होती है। इन देशों के प्रतिनिधि कवि अभिमन्यु अनत प्रवासियों की पहले पीढ़ी में गए अपने गिरमिटिया पूर्वर्जों के संघर्ष एवं वेदना को अपनी कविता 'वह अनजान आप्रवासी' में इस प्रकार रेखांकित करते हैं-

"वह अनजान अप्रवासी
देश के अंधे इतिहास ने न तो उसे देखा था
न तो गूँगे इतिहास ने
कभी सुनाई उसकी पूरी कहानी हमें
न ही बहरे इतिहास ने सुना था उसके चीत्कारों को
जिसकी इस माटी पर बही थी पहली बूँद पसीने की
जिसने चट्टानों के बीच हरियाली उगाई थी
नंगी पीठों पर सहकर बाँसों की बौछार
बहा-बहाकर लाल पसीना
वह पहला गिरमिटिया इस माटी का बेटा
जो मेरा भी अपना था, तेरा भी अपना।"[3]

गिरमिटिया मजदूरों की पहली पीढ़ी ने पुरा-प्रवासी देशों में अपने रक्त, पसीने एवं आँसूओं से भारतीयता के बीज बोए हैं। आज उन्हीं के रक्त से संचित उनकी पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों की अंतर्व्यथा को अपने समाज एवं साहित्य में उज़ागर कर रही है। आज यद्यपि पुरा-प्रवासी देशों में गिरमिटिया प्रवासियों की तीसरी और चाथी

पीढ़ियाँ रह रही हैं तथा यह अब भी पूरी तरह से अपने धर्म, दर्शन एवं आस्थाओं से जुड़े हुए हैं।

प्रत्येक समाज की संस्कृति विशिष्ट होती है, जो उसे अन्य समाज से भिन्नता प्रदान करती है। धर्म, आस्था, विश्वास एवं मान्यता संस्कृति के ही प्रतिनिधि घटक होते हैं, जो कि उस समाज का जीवनदर्शन बनकर सदैव उनके साथ रहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशिष्ट संस्कृति के अनुरूप ही आचरण करता है। सांस्कृतिक प्रतिमानों का यही कार्य व्यवहार उस राष्ट्र के नागरिकों की जीवनचर्या में प्रवाहित होता है। मानव समाज की ये सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ उसके जीवन का आधार होती है, जिनके निर्वहन के द्वारा ही वह समाज अपने वर्तमान को अतीत से जोड़े रखता है। प्रवासी समाज की इन्हीं धार्मिक आस्थाओं के विषय में उपासना अपने लेख "धार्मिक संदर्भों में प्रवासी मानव: दशा व दिशा (संदर्भ-तेजेंद्र शर्मा की कहानियाँ)" में लिखती हैं, "प्रवास में प्रवासी को अपने धर्म की प्रति आस्था और ईश्वर के प्रति सकारात्मक सोच उसे प्रतिकूल परिस्थितियों में आस्थावान रखते हुए उसे उसकी जड़ों से जोड़े रखती है किंतु धर्म के बाह्य स्वरूप के प्रति प्रवासी मानव की अत्यधिक आसक्ति तभी तक स्वीकार्य होती है, जब तक उसकी धार्मिक स्थापनाएँ या क्रियाकलाप अन्य धर्मों (संप्रदायों) के विपरीत खड़ी नहीं होती वरन् कहीं-न-कहीं एकत्व की घोषणा करती हैं।"[4] वस्तुतः आस्था, विश्वास, परंपरा एवं मान्यताएँ मानव जीवन के ऐसे ही विशिष्ट उपादान हैं जो कि सदैव उसके साथ रहते हैं एवं सर्वत्र उसकी पहचान को परिभाषित करते हैं। लेकिन प्रवासी भारतीय निर्वासित देशों में इनको पालन करते हुए अंतर्द्वंद्व में जीते रहते हैं। इसी की अभिव्यक्ति प्रवासी हिंदी कविता में हुई है-

"प्रवासी भारतीयों पर
देश-जाति-धर्म और संस्कृति पर
आक्रमण होता है
कूटनीति से आतंकवाद से
- - - - - - - - -
- - - - - - - - -

हर धर्म अलग-अलग है?
क्या
मनुष्य-मनुष्य अलग है?
हर देश दूसरे देश से अलग है?
क्या मिट्टी अलग-अलग है।"[5]

व्यक्ति जब अपने देश एवं समाज में होता है तो उस विदेशी परिवेश में एक समान विचारधारा के कारण उसकी एक सामाजिक एवं सामूहिक पहचान बन जाती है, जो कि उसे एवं उसकी राष्ट्रीयता को व्याख्यायित करती है, किंतु जब कोई व्यक्ति अपने देश एवं समाज से इतर किसी अन्य देश एवं सामाजिक परिवेश में जाता है तो इस अपरिचित संसार में उसकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक आस्थाएँ एवं मान्यताएँ ही न केवल उसकी स्वयं की पहचान स्थापित करती है अपितु निर्वासित देश की जीवनशैली में घुलने-मिलने तथा तटस्थ आचरण करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार विकसित देश के सामाजिक परिवेश एवं सांस्कृतिक विविधता में सामंजस्य स्थापित करने के साथ-साथ अपनी स्वयं की आस्था, विश्वास एवं मान्यताओं को बचाए रखना, यहाँ रह रहे प्रवासियों के लिए सबसे बड़ी चुनौती एवं अंतर्द्वंद्व होता है। निर्वासित देशों की संस्कृति एवं समाज में सामंजस्य न बिठा पाने की जिद्दोजहद को कनाड़ा में रह रहे प्रवासी कवि श्याम त्रिपाठी इस रूप में रेखांकित करते हैं-

"वे देश जहाँ हम रहते हैं।
उसकी अपनी ही है भाषाएँ
अपना साहित्य और अपनी कलाएँ
किंतु हम सब का एक प्रश्न
कि किस प्रकार अपनी भाषा
और संस्कृति को बचाए
सभी जानते हैं कि पश्चिम का रंग गहरा
सब पर ही चढ़ जाता है।"[6]

विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में रह रहा प्रवासी समाज इसी मूलभूत समस्या से सबसे अधिक गुजरता है। जिन देशों की सांस्कृतिक समृद्धता एवं संस्कार बहुत अधिक समृद्ध एवं गतिशील होते हैं, उनके नागरिक थोड़ी बहुत जिद्दोजहद के पश्चात् सामंजस्य

का ऐसा मार्ग निर्मित कर लेते हैं कि उनके स्वयं के संस्कारों पर कोई आँच नहीं आती है। भारत भी ऐसा ही सांस्कृतिक विविधता से सम्पन्न राष्ट्र है, जिसके नागरिकों ने आदिकाल से लेकर अब तक संसार के अलग-अलग देशों में भारतीयता की छाप छोड़ी है। भारतीय व्यक्ति जहाँ-जहाँ गया, वहाँ वह अपनी संस्कृति को साथ लेकर गया। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी उसने अपनी सामाजिकता एवं सांस्कृतिक आस्थाओं को डगमगाने नहीं दिया, अपितु वहाँ पर अपने श्रम एवं संघर्ष से अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए उर्वर भूमि को निर्मित कर दिया।

भारत से बाहर जाकर भारतीय संस्कृति के विस्तार की यही यात्रा केवल गिरमिटिया देशों तक नहीं ठहरती है अपितु गिरमिटिया देशों से इतर विश्व के विभिन्न भू-भागों में जाकर बसे भारतीयों ने भी भारतीय संस्कृति एवं भारतीयता को विस्तार प्रदान किया है। विश्व के विकसित एवं वर्चस्वशाली देशों अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जर्मनी आदि देशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों ने न केवल वहाँ अपनी उपयोगिता सिद्ध की है, अपितु भारत की एक मजबूत एवं शक्तिशाली छवि भी निर्मित की है। आज इन देशों में प्रवासी भारतीयों की एक बड़ी जनसंख्या निवास कर रही है, जिसके कारण यहाँ के रहन-सहन एवं अन्य कार्यों में भारतीयों को अन्य भारतीयों से पर्याप्त सहयोग एवं अपनापन मिलता है। इस प्रकार अजनबी एवं अपरिचित देशों में भी इन प्रवासी भारतीयों ने अपना अलग संसार निर्मित कर लिया है, जो उन्हें इन देशों की स्वछंदता एवं भागदौड़ भरी जिंदगी की तेज रफ्तार से दूर अपने देश को मिट्टी एवं संस्कारों से जोड़े रखता है। ब्रिटेन, अमेरिका एवं कनाड़ा में प्रवासी भारतीयों की संख्या अन्य देशों की तुलना में काफी अधिक है। यहाँ रह रहा प्रवासी भारतीय डायस्पोरा अपनी जीवनशैली एवं जीवनदर्शन में भारतीय धर्म, दर्शन एवं आस्थाओं को आत्मसात किए हुए हैं, जिसकी झलक इनके रहन-सहन, खान-पान, विश्वास एवं मान्यताओं में स्पष्टतः दिखाई देती है। किंतु इस सबके बावजूद भी वे भारत और वहाँ के लोगों के लिए विदेशी ही कहलाते हैं। प्रवासी भारतीयों के बाहरी और विदेशी होने की छटपटाहट को फीजी में प्रवासी हिंदी साहित्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर पं० कमलाप्रसाद मिश्र अपनी कविता 'हम विदेशी' में इस प्रकार रेखांकित करते हैं-

"अपने ही देश में/अपने ही वेष में

आज हम विदेशी/अपने ही नाम में
अपने ही धाम में/आज हम विदेशी
अपने ही कर्म में/अपने ही धर्म में
आज हम विदेशी
- - - - - - - - - - - -
- - - - - - - - - - - -
अपने ही राज में/संस्कृति में, साज में
आज हम विदेशी।"[7]

विदेशों में जाकर बसे प्रवासी भारतीय एवं उनकी वर्तमान पीढ़ियाँ आज भी इसी दोहरी स्थिति में जीवन जी रही है। वे न तो पूरी तरह से वहाँ के समाज एवं सरोकारों को ग्रहण कर पाते हैं और न ही उनका अपना देश उन्हें स्वीकार कर पाता है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति बनाम् पाश्चात्य संस्कृति के अंर्तद्वंद्व में पिसता प्रवासी भारतीय समाज अकेलेपन, कुंठा, अवसाद जैसे जीवन संत्रासों को भोगने को अभिशप्त है।

अमेरिका में भारत का सबसे बड़ा प्रवासी भारतीय डायस्पोरा है। पश्चिमी देशों में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केंद्र होने के कारण यहाँ की जीवनचर्या एवं दर्शन पाश्चात्य संस्कृति से ओत-प्रोत है। ऐसे में यहाँ रह रहे प्रवासी भारतीय समाज के जीवन में इसका प्रवेश स्वाभाविक ही है।यहाँ पर स्थापित होने की प्रक्रिया में उसे यहाँ के संस्कार एवं जीवनशैली में स्वयं को ढालना पड़ता है। वह अंतरमन से भारतीय एवं बाहरी रूप से अमेरिकी के रूप में जाना पहचाना जाने लगता है। विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों का निर्वासित देशों की संस्कृति एवं सामाजिक परिवेश में भारतीय धार्मिक आस्थाओं, विश्वासों एवं मान्यताओं को बचाकर रखना एवं उसका पालन करना भारतीय संस्कृति की अक्षुणता एवं वैश्विकता का ही परिचायक है, जो कि भारत से बाहर भी भारतीयता के भाव को जीवंत किए हुए है। विदेशी परिवेश में अपने धर्म, विश्वास एवं मान्यताओं के पालन के द्वारा ही व्यक्ति को आलंबन मिलता है। वहाँ की स्वछंदता में भारतीय मन डोलने लगता है अधिकांश लोगों का तो डोल भी जाता है, तब ये सांस्कृतिक प्रतिमान ही बार-बार उसे उसकी

भारतीयता का बोध कराते हैं। गुलाब खंडेलवाल विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों की आस्था एवं जीवन दर्शन को इन पंक्तियों में अभिव्यक्त करते हैं-

"मन रे, विश्वास कर, प्रतीक्षा कर, वहन कर
अनुक्षण, अनुचिंतन कर, अनुभव कर, ग्रहण कर
गहन तम-भाल से उठेगी, भ्रम-दहन शिखा
आस्था रख, आस्था रख, सहन कर, सहन कर।"[8]

विदेश में अपने धर्म का पालन करना और अन्य धर्मों का सम्मान करना प्रवासी भारतीयों के संस्कार हैं। वे धर्म के इसी स्वरूप को मानते एवं जीते हैं, किंतु पाश्चात्य परिवेश में बार-बार इनकी आस्थाएँ चोटिल होती है क्योंकि जिन पर्व, उत्सवों को मनाने की उत्सुकता एवं कौतूहल उनके मूल देश भारत में होता है। विदेश में उतना नहीं रहता है। सुदर्शन प्रियदर्शिनी अमेरिका में भारतीयों द्वारा मनाये जाने वाले पर्व एवं उत्सवों का चित्र इन पंक्तियों में उकेरती हैं-

"क्योंकि
इस देश को तो
मालूम ही नहीं
राम क्या होता है
और दीपावली क्या
यहाँ तो ऐश्वर्य का
रावण ही पूजा जाता है।"[9]

प्रवासी व्यक्ति अपने देश एवं समाज से दूर रहकर सदैव अपनी जड़ों से जुड़े रहने को प्रयासरत रहता है। अपनी धार्मिक आस्थाओं का पालन करता है, अपने पर्व एवं उत्सवों को मानता है, ताकि अपने बच्चों को उनकी संस्कृति से जोड़े रख सकें, किंतु जो उत्साह एवं सौंदर्य भारत में होता है वह विदेशों में नहीं मिल पाता है। जिसकी वजह वहाँ के लोगों का इन सबके महत्त्व से अनभिज्ञ होना है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवयित्री सुदर्शन प्रियदिर्शनी ने अमेरिकी समाज एवं संस्कृति के वैभव एवं विविधता के पश्चात् भी भारतीय संस्कृति एवं संस्कारों के प्रति अनभिज्ञता को दर्शाया है। कवयित्री के अनुसार अपने पर्व, उत्सवों को मनाने का वास्तविक सुख अपनों के ही

बीच में आता है। कवयित्री अपनी एक अन्य कविता 'होली' में अमेरिका में भारतीयों के द्वारा मनाई गई ऐसी ही होली का वर्णन इस प्रकार करती हैं-

"होली/यहाँ भी
आती है/पर कहीं
दुबकी/छुपी रंगाती है।
पर होली
यहाँ भी/आती है
बन्द दरवाजों/के पीछे
बैठी अन्दर-ही-अन्दर
सुबकती/रंगाती है।"[10]

प्रस्तुत पंक्तियों में कवयित्री सुदर्शन प्रियदर्शिनी अमेरिका में अपने स्वजनों से दूर होली का पर्व मनाने एवं उनसे दूर होने की आत्मिक वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति करती है। पश्चिमी देशों में जितनी तेजी से आधुनिकता का प्रवेश हुआ है, उतनी ही तीव्रता से वहाँ की जीवनशैली एवं मानसिकता में वैचारिक खुलापन आया है। वैचारिक स्वछंदता का प्रभाव मानवीय समाज एवं पारिवारिक संघर्षों पर भी पड़ रहा है, जिसके कारण एकल परिवार का चलन, अविवाहितों की संतानोत्पत्ति तथा तलाक एवं बहुविवाह जैसी प्रवृत्तियों में भी बहुत तेजी आई है। पश्चिमी देशों के निवासी तो इस जीवनचर्या को पहले ही स्वीकार कर चुके हैं किंतु वहाँ नए-नए गए प्रवासी भारतीयों के लिए इसे स्वीकार्य करना बहुत मुश्किल होता है। परिणामस्वरुप वह खुद को गिरने और संभालने की कोशिश में छटपटाता रहता है, किंतु पाश्चात्य संस्कृति की स्वछंदतावादी प्रवृत्ति उसका बराबर पीछा करती रहती है और उसे न सही तो उसकी संतानों की अपनी गिरफ्त में अवश्य ले लेती है। ब्रिटेन में बहुत लंबे समय से रह रहे प्रवासी साहित्यकार तेजेन्द्र शर्मा प्रवासी भारतीयों की इन्हीं मनःस्थितियों को इस प्रकार से उजागर करते हैं-

"मेरा पासपोर्ट नीले से लाल हो गया
मेरे व्यक्तित्व का एक हिस्सा
जैसे कहीं खो गया
मेरी चमड़ी का रंग आज भी वही

मेरे सीने में वही दिल धड़कता है
जन-गण-मन की आवाज, आज भी
कर देती है मुझे सावधान!
और मैं, आराम से, एक बार फिर
बैठ जाता हूँ, सोचना जैसे टल जाता है।
कि पासपोर्ट का रंग कैसे बदल जाता है।"[11]

इन देशों में बसे प्रवासी भारतीय भी इस दोहरे जीवन को जीते हैं। वह स्वयं ही अपने समाज से बहुत दूर पहुँचकर भी उसे अपनी स्मृतियों में बसाये रखते हैं। प्रवासी समाज की इसी वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति तेजेन्द्र शर्मा ने उपर्युक्त पंक्तियों में की है। पाश्चात्य जीवनशैली में बाहरी चमक दमक जितनी अधिक है, आंतरिक रूप में उतना ही खोखलापन व्याप्त है, इस तथ्य से वहाँ रह रहे भारतीय भली-भाँति परिचित है। इसलिए ये लोग वहाँ की जीवनशैली का अंग बनने के बजाए अपनी आस्थाओं पर दृढ़ रहने की कोशिश करते हैं। कुछ लोग अपने इन्हीं संस्कारों को बचा पाते हैं और कुछ लोग पाश्चात्य संस्कृति के उन्मुक्त स्वछंद बहाव में बह जाते हैं। पश्चिमी देशों में भारतीयों को जिंदगी की इसी रफ्तार एवं भागम-भाग जिन्दगी को पुष्पा भार्गव ने इन पंक्तियों में उद्घाटित करती हैं-

"परिवर्तित जीवन में ढल कर
अब एक सभ्य देश का वासी
भूला निज भाषा संस्कृति को
बेबस होकर मौन प्रवासी
- - - - - - - - - -
- - - - - - - - - -
आँखों से सावन बरसे जब
स्मृति के घन घिर-घिर आए
विकट विवशता में उलझे
पाँव कभी न लौट पाए।"[12]

पाश्चात्य समाज की सबसे बड़ी विशेषता वहाँ का वैचारिक खुलापन है। पाश्चात्य समाज भी इसी के अनुरूप ढल गया है। पाश्चात्य देशों में आधुनिकता के नाम पर परिवर्तित होती जा रही जीवन शैली ने जहाँ जीवन जीने की नई पद्धति अपनाई है

तो वहीं बहुत कुछ पीछे भी छोड़ दिया है। मानवीय संबंधों में आ रहा यही बिखराव एवं एकांकीपन उनके उन्मुक्त जीवनशैली की परिणति है। आधुनिकता के नाम पर और अधिक आधुनिक बनने की इस होड़ ने पश्चिमी समाज को नितांत अकेला कर दिया है, वहाँ व्यक्ति शांति एवं अपनत्व की तलाश में भटकता रहता है किंतु उसे कहीं से भी उम्मीद की किरण दिखलाई नहीं देती है। वह अकेलेपन में कुंठा एवं अवसाद जैसे मनोविकारों से ग्रसित हो रहा है। पाश्चात्य देशों के सामाजिक जीवन एवं सांस्कृतिक पहलुओं से रू-ब-रू हो रहे प्रवासी भारतीय समाज के समक्ष अपनी मान्यताओं और विश्वासों को बचाए रखने के प्रश्न चुनौतीपूर्ण हैं, जिनके उत्तर एवं समाधान भी उन्हें अपनी इन्हीं सांस्कृतिक उपादानों में मिलते हैं। दो देशों की संस्कृतियों के इसी अंतर्द्वंद्व एवं टकराहट की भस्माग्नि के रूप में बचा भारतीय मन किस प्रकार छटपटाता रहता है, इसी की यथार्थानुभूति सुदर्शन प्रियदर्शिनी ने इन पंक्तियों में की हैं-

"पाश्चात्य सभ्यता
बोल रही है
सर चढ़ निशंक
अपने ही उपलों से
हम अपना घर
जला रहे हैं।"[13]

कवयित्री सुदर्शन प्रियदिर्शनी ने निम्न पंक्तियों में विदेशों में रह रहे भारतीय समाज के पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में आकर अपने सांस्कृतिक प्रतिमानों से विमुख होने पर पश्चाताप किया है। पतन का यह सिलसिला बदस्तूर जारी है, लेकिन पीछे छुटती जा रही अनमोल धरोहरों की कीमत का किसी को कोई भान नहीं है। इन्हीं छटपटाती संवेदनाओं की यथार्थानुभूति को वे अन्यत्र इस रूप में अभिव्यक्त करती हैं-

"विदेशी दरख्तों पर
लटक कर
मेरे सपनों
ने खुदकुशी/करली

विदेशी शब्द/ही बुरा है
पहले हमारे/घर आए थे
मारने/अब
घर बुला/कर
मारते हैं।"[14]

इन देशों में रह रहा भारतीय समाज अपनी उन्नति एवं स्थापित होने की आपाधापी में इतनी तेज दौड़ रहा है कि यहाँ के लोगों की भांति ही उसके संबंध एवं सामाजिक सरोकार पीछे छुट रहे हैं। इन सबसे बेखबर वह कब-कब में इस जीवनशैली का अंग बन जाता है, इसका एहसास उसे बहुत बाद में तब होता है, जब वह नितांत अकेला रह जाता है।

पश्चिमी देशों में मानव जीवन के बहुआयामी पक्ष हैं। वहाँ अपनी जवानी में जीवन के आनन्द में मदमस्त व्यक्ति न तो अपने आगे देखना चाहता है और न पीछे ही मुड़ना चाहता है। नतीजतन एक समय स्वार्थी रिश्तों की भीड़ में घिरा रहने वाला यही व्यक्ति जरूरत के समय नितांत अकेला, बेसहारा और लाचार हो जाता है, जिसकी परिणति उसे ओल्ड ऐज होम तक पहुँचा देती है। इस प्रकार पाश्चात्य समाज में एक ओर जहाँ प्रगति के अनेक अवसर हैं तो वहीं दूसरी ओर इसी प्रगति की चाह में फिसल जाने का भय भी व्याप्त रहता है।

पश्चिमी समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का भाव सर्वोच्च है। चाहे स्त्री हो या पुरुष, यहाँ तक की बच्चों तक को अपनी मन मर्जी के अनुसार जीवन को जीने की पूर्ण स्वतंत्रता है। यहाँ के समाज में कोई भी बंधन स्वीकार्य नहीं है। भारतीय समाज की जीवन दृष्टि एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ इसके बिल्कुल विपरीत है। जब कोई भी व्यक्ति भारत में यहाँ आता है तो अपने आपको एक विचित्र एवं विपरीत परिवेश में पाता है। उसके अंतर्मन में पूर्व में विद्यमान सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ एवं धारणाएँ उसे अपने समाज एवं संस्कृति से जोड़े तो अवश्य रखती है किंतु पाश्चात्य संस्कृति एवं सामाजिक सरोकारों के साथ भी उसे समन्वय व सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। प्रवासी जीवन के इसी दोहरे दंश को डॉ॰ संध्या वात्स्यायन अपने लेख 'प्रवासी कथा साहित्य में भाव ओर परिवेश का द्वंद्व' में इस प्रकार से उद्घाटित करती

हैं, "प्रवासी जीवन अपनी जड़ों से उखड़ा-कटा जीवन है; देश-परेदश का यह द्वंद्व ही उनका साहित्यिक आधार बनता है। यह अनुभूति यथार्थ है और इस दृष्टि से प्रवासी हिंदी का यह द्वंद्व निजी अनुभूतियों का द्वंद्व बनकर उभरता है।"[15] दो विपरीत धुरवों में स्थित दो विस्तृत एवं समृद्धशाली सभ्यताओं को और अधिक नजदीक लाने वाला ये प्रवासी भारतीय समाज अपनी प्रत्येक संवेदना में अपनी धार्मिक आस्थाओं, विश्वासों एवं मान्यताओं का न केवल निर्वहन करता है अपितु उनके साथ जीवन जीता है।

विदेशों में बसे भारतीय डायस्पोरा का अपनी मातृभूमि से यही जुड़ाव उनकी जीवनशैली एवं साहित्य में भी परिलक्षित होता है। विदेशों में रचा जा रहा प्रवासी हिंदी साहित्य प्रवासी भारतीयों के इसी जुड़ाव का प्रतिफलन है। प्रवासी हिंदी कविता विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीय समाज की इन्हीं आस्थाओं एवं विश्वासों को अमेरिकी समाज एवं संस्कृति में फलीभूत होने तथा आगे बढ़ने के अंतर्द्वंद्व को दर्शाती है। जिसमें एक ओर प्रवासी भारतीय समाज की धार्मिक आस्था, विश्वास एवं मान्यताएँ निहित हैं तो वहीं दूसरी ओर अमेरिकी समाज एवं संस्कृति की विशिष्टताएँ परिलक्षित होती हैं। भारतीयता के इसी भाव की अभिव्यक्ति प्रवासी कवयित्री रेणु राजवंशी 'गुप्ता' अपनी कविता 'घर हिंदू का' में इस प्रकार करती है-

"बाहर चले शीत शुष्क हवा
भीतर ही सौरभ धूप चंदन का
होता है वह घर हिंदू का।
हैलों की जगह जहाँ हो अभ्यास नमस्कार का
बच्चों में हो संस्कार अग्रजों के चरण स्पर्श का
होता है वह घर हिंदू का।"[16]

प्रवासी हिंदी कविता के इसी वैशिष्ट्य बोध को प्रो॰ ऋषभ देव शर्मा अपने लेख 'प्रवासी हिंदी कवियों की संवेदना: सरोकार के धरातल' में इस प्रकार से रेखांकित करते हैं, "प्रवासी हिंदी कविता के मुख्य सरोकार बड़ी सीमा तक वहीं हैं जो भारत में लिखी जा रही हिंदी कविता के हैं, यही कारण है कि अलग-अलग देशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों द्वारा रची जा रही हिंदी कविता में सामाजिक न्याय, मानव अधिकार, जीवन मूल्य, सांस्कृतिक बोध, इतिहास बोध, लोकतत्व, प्रेम और सौंदर्य समान रूप

से मुख्य कथ्य बनते दिखाई देते हैं, हाँ कवियों के निजी व्यक्तित्व और परिस्थिति भेद के कारण उनकी अभिव्यक्ति-पद्धति में अवश्य भिन्नता और विविधता दिखलाई देती है। इस प्रकार व्यापक सरोकारों की समानता और कथन-भंगिमा की निजता से उत्पन्न विविधता द्वारा प्रवासी रचनाकार हिंदी कविता जगत को निरंतर समृद्ध कर रहे हैं।"[17] निष्कर्षतः प्रवासी हिंदी कविता का फलक अत्यंत विस्तृत है। यह भारतीयता के साथ-साथ अलग-अलग देशों की संवेदना एवं सरोकारों को भी अपना वर्ण्य विषय बना रही है। अतः प्रवासी हिंदी कविता दो अभिन्न संस्कृतियों में सामंजस्य की प्रक्रिया से गुजरते प्रवासियों की व्यथा कथा को तो स्वर प्रदान करती ही है, साथ में उनकी चुनौतियों एवं संघर्षों को भी रेखांकित करती है। अस्तु प्रवासी हिंदी कविता भारतीय संस्कृति बनाम पाश्चात्य संस्कृति के बीच पिसते प्रवासी भारतीयों के संघर्ष एवं वेदना को स्वर प्रदान करने वाली प्रवासी हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है।

संदर्भ सूची

1. डॉ॰ रविन्द्र एम॰ अमीन, भारतीय संस्कृति और पश्चिमी संस्कृति के द्वंद्व की दास्ताँ: गुनाहगार हिन्दी प्रवासी कथा साहित्य, भाग-2, डॉ॰ कल्पना गवली (सं॰) माया प्रकाशन, कानपुर-208021, प्रथम संस्करण, 2018, पृ॰सं॰ 82
2. कमल किशोर गोयनका, हिंदी प्रवासी साहित्य (कविता), यश पब्लिकेशन्स, शाहदरा, नई दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण
3. कमल किशोर गोयनका, हिंदी प्रवासी साहित्य (कविता), यश पब्लिकेशन्स, शाहदरा, नई दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण, पृ॰सं॰ 183-184
4. उपासना, धार्मिक संदर्भों में प्रवासी मानव: दशा व दिशा (संदर्भ-तेजेन्द्र शर्मा की कहानियाँ), हिंदी साहित्य और प्रवासी विमर्श, डॉ॰ वसुन्धरा उपाध्याय, (सं॰), साहित्य संचय प्रकाशन, दिल्ली-110090, प्रथम संस्करण 2019, पृ॰सं॰ 111
5. वहीं, पृ॰सं॰ **27**
6. वहीं, पृ॰सं॰ **128**

7. वहीं, पृ॰सं॰ **166**
8. गुलाब खंडेलवाल, अंतः सलिला, कमल प्रकाशन, मकदूरगंज चौक, प्रतापगढ़-**230001,** प्रथम संस्करण **1999,** पृष्ठ सं॰ **93**
9. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, मुझे बुद्ध नहीं बनना, अमन प्रकाशन, महरौली, दिल्ली-**110030,** प्रथम संस्करण **2012,** पृष्ठ सं॰ **27**
10. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, बरहा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-**110002,** प्रथम संस्करण् **2009,** पृष्ठ सं॰ **8**
11. www.kavitakosh.com
12. ऊषा राजे सक्सेना (सं॰), देशान्तर (प्रवासी भारतीयों की कविताएँ), हिंदी अकादमी, दिल्ली-**11007,** प्रथम संस्करण, पृ॰सं॰ **253-54**
13. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, यह युग रावण है, अमन प्रकाशन, महरौली, दिल्ली-**110030,** प्रथम संस्करण, **2010,** पृष्ठ सं॰ **151**
14. सुदर्शन प्रियदर्शिनी, यह युग रावण है, अमन प्रकाशन, महरौली, दिल्ली-**110030,** प्रथम संस्करण, **2010,** पृष्ठ सं॰ **134**
15. डॉ॰ संध्या वात्स्यायन, प्रवासी कथा साहित्य में भाव और परिवेश का द्वंद्व, प्रवासी साहित्य भाव और विचार, संध्या गर्ग (सं॰), साहित्य संचय, दिल्ली-**110090,** प्रथम संस्करण **2017,** पृ॰सं॰ **36**
16. कमल किशोर गोयनका, हिंदी प्रवासी साहित्य (कविता), यश पब्लिकेशन्स, शाहदरा, नई दिल्ली-**110032,** प्रथम संस्करण, पृ॰सं॰ **45**
17. प्रो॰ ऋषभदेव शर्मा, प्रवासी हिंदी कवियों की संवेदना: सरोकार के धरातल, प्रवासी हिंदी साहित्य संवेदना के विविध संदर्भ, डॉ॰ प्रतिभा मुदलियार (सं॰), अमन प्रकाशन, कानपुर **208012,** प्रथम संस्करण **2019,** पृ॰सं॰ **43**

भूमंडलीकरण का वैश्विक सन्दर्भ

श्रीकांत पाण्डेय
संपर्क: 7838944433
ईमेल pandeyshrikant85@gmail.com

शोध सार

पाश्चात्य ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने अपने साम्राज्यवादी वर्चस्व को वैधानिक और 'मानवीय' आवरण प्रदान करने के लिए जिस तरह से 'असभ्यों को सभ्य' बनाने का सुनहरा तर्क गढ़ा था ठीक उसी प्रकार अमरीकी वर्चस्व, जिसे कालांतर में नव-उपनिवेशवाद के नाम से जाना गया, की नई वैश्विक परिस्थिति में भी

अनेक सिद्धांतों का उदय, प्रचार और प्रसार हुआ जिनमें से एक इस अध्याय में विवेच्य भूमंडलीकरण की अवधारणा भी शामिल है।

'भूमंडलीकरण' को खगोलीकरण, वैश्वीकरण, जगतीकरण, ग्लोबीकरण, विश्वायन (बांग्ला में) की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। 'भूमंडलीकरण' अंग्रेजी भाषा के 'ग्लोबलाईजेशन' शब्द का हिंदी अनुवाद है। भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत विभिन्न राष्ट्रों का एक दूसरे के साथ आर्थिक एकीकरण होता है। आर्थिक परियोजना संबंधी पहलू से इसे 'भूमंडीकरण' भी कहा गया है।

बीज शब्द: *समाज, विश्व, पाश्चात्य, आर्थिक, सामाजिक, तर्क*

शोध आलेख

बीसवीं सदी ऐतिहासिक रूप से कई व्यापक और युगांतकारी घटनाक्रम की साक्षी रही है। इस कालखंड में पैदा होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक घटनाक्रम ने राष्ट्रों को कई स्तरों पर गहराई से प्रभावित किया तथा वैश्विक परिदृश्य को उद्वेलित किया। इसमें जाति विरोधी आंदोलन, साहित्य में आधुनिक मूल्यबोध का प्रवेश, उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय संघर्ष और विश्वयुद्ध, आर्थिक उठापटक, फासिज्म का उभार, शीतयुद्ध जैसी घटनाएं शामिल थीं।

बीसवीं सदी के इस कालखंड में पश्चिम के वर्चस्व वाले उपनिवेशित राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद से मुक्ति का स्वप्न देखा और उसने इसे साकार भी किया। भारत, चीन, रूस जैसे देश विश्व पटल पर एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरे। भौगोलिक रूप से ये तीनों देश एशिया महाद्वीप में अवस्थित थे। यह उपनिवेशवाद, सामंतवाद के विरुद्ध एशियाई जनमानस के संघर्षों का प्रतिफलन था।

इस दौर में एशिया के इस विशाल भूखंड पर रूस और चीन जैसी दो बड़ी महाशक्तियों के उदय ने विश्व के राजनीतिक संतुलन को कई मायने में प्रभावित किया। पश्चिमी दुनिया के औपनिवेशिक वर्चस्व और उसकी स्थानापन्न हो कर उभरी अमरीकी प्रभुता को रूस की अक्टूबर क्रांति और चीन की किसान क्रांति ने सीमित किया। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इसे शीतयुद्ध कालीन समय में बहुत ही स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। किंतु इस सदी ने न केवल मुक्ति के स्वप्न को फलीभूत होते हुए देखा अपितु वह प्रथम विश्वयुद्ध, द्वितीय विश्वयुद्ध की भयावाह परिणतियों, भारत-पाक विभाजन के कारण अब तक के सबसे बड़े विस्थापन नरसंहार की गवाह बनी।[1]

इन समस्त परिवर्तनों के चलते कई प्रकार के विचारों और सिद्धांतों का उदय, प्रचार और प्रसार हुआ। पश्चिमी उपनिवेशवाद की ढलान और उसकी जगह लेते हुए नए अमरीकी वर्चस्व ने नई विचारधाराओं को जन्म दिया। पाश्चात्य ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने अपने साम्राज्यवादी वर्चस्व को वैधानिक और 'मानवीय' आवरण प्रदान करने के लिए जिस तरह से 'असभ्यों को सभ्य' बनाने का सुनहरा तर्क गढ़ा था ठीक उसी प्रकार अमरीकी वर्चस्व, जिसे कालांतर में नव-उपनिवेशवाद के नाम से जाना गया, की नई वैश्विक परिस्थिति में भी अनेक सिद्धांतों का उदय, प्रचार और

---

[1] रामविलास शर्मा ने 1947 में लिखे गए एक लेख 'संस्कृति और फासिज्म' में इन परिस्थितियों का वर्णन करते हुए लिखा है, "गत महायुद्ध में फासिस्टों की करारी हार हुई और जनवादी शक्तियों के आगे बढ़ने का → मौका मिला। पूर्वी यूरोप के देशों में जर्मन पूँजी ही नहीं ब्रिटिश पूँजी का भी प्रभुत्व खत्म हो गया। पोलैंड और युगोस्लाविया जैसे बड़े-बड़े देश नई जनवादी व्यवस्था कायम करने में सफल हुए। वहाँ की बड़ी-बड़ी ताल्लुकेदारियाँ, जागीरें और रियासतें तोड़ दी गईं और उनकी जमीन किसानों में बाँट दी गई। उद्योग-धन्धों पर मुनाफाखोर पूँजीपतियों के बदले समाज का अधिकार हो गया। जब ब्रिटेन और अमरीका के पूँजीवादी अखबार यह शोर मचाते हैं कि इन देशों पर रूस का प्रभुत्व हो गया, तो उनका असली मतलब यह होता है कि वहाँ पर ब्रिटिश और अमरीकी पूँजी का प्रभुत्व खत्म हो गया है। इधर एशिया में च्यांग-काई-शेक की चीनी दीवाल बुरी तरह हिल गई है। देश के एक बहुत बड़े भाग में जमींदारी प्रथा खत्म कर दी गई है।...वियतनाम, हिन्द चीन, बर्मा और हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलनों से यूरोप का पूँजीवाद दहशत खा रहा है।"
(डॉ. रामविलास शर्मा, *मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1994, तृतीय संस्करण : 2008, पृष्ठ सं. 57)

प्रसार हुआ जिनमें से एक इस अध्याय में विवेच्य भूमंडलीकरण की अवधारणा भी शामिल है।

'भूमंडलीकरण' को खगोलीकरण, वैश्वीकरण, जगतीकरण, ग्लोबीकरण, विश्वायन (बांग्ला में) की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। 'भूमंडलीकरण' अंग्रेजी भाषा के 'ग्लोबलाईजेशन' शब्द का हिंदी अनुवाद है। भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत विभिन्न राष्ट्रों का एक दूसरे के साथ आर्थिक एकीकरण होता है। आर्थिक परियोजना संबंधी पहलू से इसे 'भूमंडीकरण' भी कहा गया है। 'भूमंडीकरण' शब्द भूमंडलीकरण शब्द का रोचक और रचनात्मक, अर्थपूर्ण परिभाषीकरण है। जिसका आशय है कि सम्पूर्ण 'भू' (पृथ्वी, दुनिया) का 'मंडीकरण अर्थात् पूरे थीसिस में 'अर्थात्' ग्लोबल बाजार के रूप में दुनिया की एकाश्मक निर्मिति।[1]

भूमंडलीकरण पर चर्चा करते समय इसके तीन चरणों का उल्लेख किया जाता है। भूमंडलीकरण का पहला चरण सन् 1870 से माना जाता है। सन् 1870 से 1913 के कालखंड को 'अहस्तक्षेप' का समय कहा गया है क्योंकि इसमें सरकार उत्पाद, श्रम और पूंजी के संचलन में हस्तक्षेप नहीं करती थी। भूमंडलीकरण का पहला चरण ब्रिटिश उपनिवेशवाद का समय है। इसके दूसरे चरण की शुरुआत सन् 1970 से और तीसरे चरण की शुरुआत सन् 1990 से स्वीकार की जाती है। आज हम जिस भूमंडलीकरण की चर्चा करते हैं। वह भूमंडलीकरण का यही निकटवर्ती (तीसरा) चरण है।[2] मैनेजर पाण्डेय भारत के संदर्भ में मोटे तौर पर भूमंडलीकरण के दो चरणों की चर्चा करते हैं – पहला, उपनिवेशवाद के साथ शुरू होने वाला भूमंडलीकरण और दूसरा, बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू होने वाला भूमंडलीकरण। वे इन चरणों को 'अभियान' की संज्ञा देते हैं। भूमंडलीकरण को परिभाषित करते वे कहते हैं कि "भूमंडलीकरण का अर्थ है पूँजी और पूंजीवाद का भूमंडलीकरण।... पूँजीवाद के भूमंडलीकरण का

1 रविभूषण, 'भूमंडलीकरण और हिन्दी कविता', *समकालीन जनमत*, संपा. सुधीर सुमन, जुलाई-सितम्बर 2002, पटना, पृष्ठ सं. 56

2 रविभूषण, 'भूमंडलीकरण और हिन्दी कविता', *समकालीन जनमत*, संपा. सुधीर सुमन, जुलाई-सितम्बर 2002, पटना, पृष्ठ सं. 55

जो अभियान बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ है वह भूमंडलीकरण दूसरा अभियान है। पहला अभियान तो उपनिवेशवाद के साथ शुरू हुआ था जो भारत में अट्ठारहवीं सदी के प्लासी के युद्ध के बाद आरम्भ हुआ और उन्नीसवीं सदी में उस अभियान का पूरे भारत पर कब्जा हुआ।"[1] भूमंडलीकरण की विशेष चर्चा सन् 1990 ई० के बाद की वैश्विक आर्थिक परिस्थियों के लिए विशेष तौर पर की जाती है। यह वह समय है जब द्विध्रुवीय विश्व के दो शक्तिशाली केंद्रों (अमरीका-सोवियत संघ) में से एक सोवियत संघ का विघटन हुआ अर्थात् आर्थिक महाशक्ति के रूप में अमरीका विश्व की इकलौती ताकत बन गया। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य (सन् 1986-1990) अलेक्जेंडर याकोव्लेव ने 'खुलापन' (Glasnost) का विचार दिया और सोवियत संघ के विदेश मंत्री एडवर्ड शेवर्दनात्ज़े ने 'नई सोच' (New thinking) का विचार दिया। इन सोवियत नेतृत्वकर्ताओं के ये सारे विचार सोवियत अर्थव्यवस्था के संकट के परिणाम थे क्योंकि इस समय सोवियत अर्थव्यवस्था की आर्थिक विकास दर आधे से भी कम हो गई थी और उपभोक्ता वस्तुओं की गुणवत्ता को लेकर आम सोवियत नागरिकों में असंतोष की स्थिति थी।[2] बीसवीं सदी के अस्सी के दशक के आखिर में ही पूर्वी यूरोप में कम्युनिस्ट सरकारों का पतन हुआ। इसी समय 'The New Yorker' पत्रिका के जनवरी 23, 1989 के अंक में Robert Heilbroner का एक लेख 'THE TRIUMPH OF CAPITALISM' (पूंजीवाद की विजय) नाम से प्रकाशित हुआ। जिसके पहले ही वाक्य में यह घोषणा की गई कि "capitalism has won."[3] कुल मिला कर इस पूरी परिघटना को पूंजीवाद की अप्रतिहत गति और विजय के रूप में देखा गया।

---

1 मैनेजर पाण्डेय, *भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2013, पृष्ठ सं. 190

2 रावसाहेब कसबे, *आंबेडकर और मार्क्स*, अनु. उषा वैरागकर आठले, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पहला संस्करण अक्टूबर 2009, पृष्ठ सं. 35

3 "REFLECTIONS about the contest between capitalism & socialism, which, writer asserts, capitalism has won. The Soviet Union, China & Eastern Europe have given us the clearest possible proof that capitalism organizes the material affairs of humankind more satisfactorily than socialism.." P- 98

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वैश्विक पटल पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद की चुनौती खत्म हो गई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की भयानक विभीषिका ने यूरोप के कई शहरों को तबाह कर दिया था। जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन जो तत्कालीन दौर में औद्योगिक-आर्थिक क्षेत्र में अग्रणी थे, तबाह हो गए थे और ऐसी परिस्थिति अमरीका को एक लाभप्रद अवस्था उपलब्ध कराती थी। जिससे भविष्य में 'न्यू वर्ल्ड आर्डर' का निर्माण होना था और जिसमें 'पाउंड स्टर्लिंग' के स्थान पर अमरीकी 'डॉलर' केंद्रीकृत भूमिका ग्रहण करने वाला था। सन् 1944 ई० में ब्रेटनवूड्स (अमरीका) में एक सम्मलेन आयोजित किया गया जिसमें नव-उपनिवेशीकरण की दो महत्त्वपूर्ण संस्थाओं, 'अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष' और 'विश्व बैंक' की नींव रखी गई। पूंजी का चरित्र सदैव ही भूमंडलीय रहा है। अपने उत्पाद के लिए कम लागत और उस पर अधिक मुनाफा प्राप्त करने की उसकी लिप्सा इस छोर से, उस छोर तक उसे धावन करने को बाध्य करती है। रणधीर सिंह का कहना है कि "पूंजीवाद अपने आरंभ से ही एक भूमंडलीय व्यवस्था की तरह ही रहा है। एडम स्मिथ इस बात को बखूबी जानते थे, और आप स्वयं *कम्युनिस्ट मेनिफैस्टो* में इस तथ्य की तीक्ष्ण और बिलकुल सटीक शब्दों में भविष्यवाचक अभिव्यक्ति पाएंगे, जहां मार्क्स ने लिखा है कि कैसे 'अपने माल के लिए बराबर प्रसारित होते बाजार की जरूरत के कारण बुर्जुआ वर्ग दुनिया के कोने-कोने की खाक छानता है', कैसे यह 'हर जगह घुसने को, हर जगह पैर ज़माने को, हर जगह संपर्क कायम करने को बाध्य रहता है', कैसे इसने 'भूमंडलीय बाजार स्थापित किया' और 'विश्व बाजार को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल कर हर देश में उत्पादन और खपत को एक सार्वभौम रूप दे दिया है'.. ।"[1] ध्यातव्य है कि ब्रिटिश अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ही अहस्तक्षेप (Laissez-faire) सिद्धांत के आरंभिक प्रस्तोता थे और इस सिद्धांत का प्रतिपादन ऐसे समय पर किया गया जब ब्रिटेन के औद्योगीकृत समाज को अपने अधिक उत्पादन के लिए नए बाजारों आवश्यकता पड़ी। हम सभी इस

(https://www.newyorker.com/magazine/1989/01/23/the-triumph-of-capitalism)

1 रणधीर सिंह, *मार्क्सवाद समाजवाद और भारतीय राजनीति*, अनुवादक- जितेंद्र गुप्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2002, पृष्ठ सं. 205

ऐतिहासिक तथ्य से बखूबी वाकिफ हैं कि 'व्यापार की मुक्ति' के इस सिद्धांत ने भारत जैसे औद्योगिक रूप से पिछड़े देश का जम कर आर्थिक दोहन किया और यहां के व्यापार की स्वाभाविक विकास प्रक्रिया को गंभीर क्षति पहुंचाई और इस तथाकथित 'मुक्ति' को एक औजार, एक युक्ति की तरह इस्तेमाल किया गया। क्षति, चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक या सांस्कृतिक; जिसे ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत जैसे देश को पहुंचाई। जिस तरह साम्राज्यवाद की प्रक्रिया में पूंजी का अप्रतिहत संचरण निहित था, ठीक उसी प्रकार भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में भी पूंजी का अप्रतिहत संचरण ही प्रच्छन्न उद्देशिका थी। "पूंजीवाद का यह शोषक संरचनात्मक तर्क आज उस समय से ज्यादा कार्यकारी और सक्रिय है, आज दुनिया पहले से ज्यादा पूंजीवादी है – और यह ऐसी सच्चाई है, जिसे बुर्जुआ विचारधारा 'भूमंडलीकरण' के नाम पर मिथक निर्माण करके झुठलाना चाहती है।"[1]

भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया को पूंजी के नवीन आधिपत्य के रूप में परिभाषित किया जाने लगा और इसे नव-उपनिवेशवाद का मुखौटा माना जाने लगा। पूरन चंद्र जोशी ने इस प्रक्रिया को प्रश्नांकित करते हुए लिखा है कि "इस प्रकार इधर कुछ ही अरसे में खगोलीकरण, उदारीकरण और संप्रेषण क्रांति के फलस्वरूप मुक्त अर्थव्यवस्था, मुक्त नागरिक समाज, और मुक्त कला और संस्कृति की अवधारणाओं की हवाएँ आँधी बनकर पश्चिम से पूरब की ओर चली हैं जिन्होंने समस्त दूसरी दुनिया का, उसके अंतर्विरोधों और उसकी आंतरिक कमजोरियों का लाभ उठाकर, एकदम सफाया कर दिया है और तथाकथित तीसरी दुनिया पर आक्रामक रूप से हावी हो गई हैं। ये हवाएँ अगर कई दशकों से जमा हुई गंदगी और मैल, कूड़ा-करकट और प्रदूषण का ही सफाया करतीं, तो ये एक नवोदय में सहायक होतीं। लेकिन ये तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण के आदर्शों और लक्ष्यों, मूल्यों और मान्यताओं, मूल सिद्धांतों और अवधारणाओं का भी सफाया करती जा रही

[1] वही, पृष्ठ सं. 204

हैं।"[1] भूमंडलीकरण की अवधारणा की नितांत निर्ममता को अदृश्य रखने के लिए उसकी मिथकीयता एक यथार्थ है और इसे उदारीकरण और नवउपनिवेशवाद के उदार चेहरे के रूप में प्रस्थापित किया गया है। भूमंडलीकरण के प्रसंग से ही सूचना क्रांति के क्षेत्र में 'ग्लोबल विलेज' (विश्व ग्राम, मार्शेल मैक्लुहान) की चर्चा को बल और विस्तार प्रदान किया गया। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस पद को सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में 'वसुधैव कुटुम्बकम' की विश्वजनीन मानवीयता से संबद्ध करने का प्रयास भी किया गया। पर वास्तविकता यह है कि भूमंडलीकरण उन मूल्यों का आत्यंतिक विरोधी है जो प्रेम, त्याग, ममता, सहयोग, सेवा आदि के रूप में किसी कौटुम्बिक वैशिष्ट्य के परिचायक होते हैं। वस्तुतः यह भूमंडलीकृत अधिनायकत्व के लिए इस्तेमाल किया गया शब्दिक भ्रमजाल है जिसे मानवीय भावनात्मकता और संवेदना के मखमली आवरण में प्रस्तुत किया जाता है।[2] सुपरिचित कथाकार प्रभु जोशी ने भूमंडलीकरण की आलोचना करते हुए अपने एक लेख का शीर्षक रखा है – "शल्य क्रिया के शिल्प में वध।"[3] यह शीर्षक बड़े ही रचनात्मक ढंग से भूमंडलीकरण के चरित्र की व्यंजना करता है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 29 अक्टूबर, 1979 में वित्तीय बाजार में भारी गिरावट दर्ज की गई थी। यह संकट तीसा (1929) की महामंदी के ठीक पचास साल बाद आया। फिर 19 अक्टूबर, 1987 में वित्तीय बाजारों में ऐसी ही भारी गिरावट दर्ज की गई। इन घटनाओं ने पुनः दर्शाया कि पूंजीवाद संकट मुक्त नहीं है। पूंजीवाद में उत्पादित वस्तु पर लगे श्रम के लिए दिया जाने वाला वेतन कभी भी उत्पादन के समतुल्य नहीं हो सकता। यानि उत्पादन के मुकाबले वेतन हमेशा ही कम रहेगा। वेतन

---

1 पूरन चंद्र जोशी, *अवधारणाओं का संकट*, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1995, पृष्ठ सं. 10

2 "वसुधैव कुटुंबकम उदार चरित्र का लक्षण है जो सारे विश्व में आत्मीयता स्थापित करने वाली भावनात्मक मानवीय अवधारणा है जबकि वैश्वीकरण पूंजीपति देशों का आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और सुरक्षात्मक अधिनायकत्व है."
(प्रभाकर श्रोत्रिय, अतिथि संपा., *समकालीन भारतीय साहित्य*, भूमंडलीकरण विशेषांक, जुलाई – अगस्त, 2011, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 7)

3 वही, पृष्ठ सं. 15

ही क्रयशक्ति है। इसलिए उत्पादन की अधिकता और क्रयशक्ति में कमी के चलते उत्पाद की ब्रिकी में गिरावट होने लगती है। इससे अर्थव्यवस्था में मंदी आने लगती है। मंदी को इस जिसे कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद का 'असमाधेय संकट' कहा है जो हरदम पूंजीवाद का पीछा करता रहता है। बारम्बार आने वाले इस संकट के निदान के लिए जो उपाय किए जाते हैं। वे इसका कोई स्थायी समाधान नहीं करते अपितु मंदी के इस संकट को कुछ समय के लिए टाल देते हैं। मंदी के इस संकट के हल के लिए ही कल्याणकारी राज्य की बात कही गई। जिस पर प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कीन्स ने बल दिया था। वस्तुतः 'वेलफेयर' का आशय ही था – रोजगार का सृजन और बहुत सारी ऐसी सेवाएं जो लोगों को खरीदनी पड़ती हैं, उसे सरकार के द्वारा उपलब्ध करना। ताकि लोगों की क्रयशक्ति बढ़ सके। दरअसल पूंजीवाद के अपने 'मैकेनिज्म' में ऐसी क्षमता ही नहीं है कि वह रोजगार पैदा कर सके क्योंकि उसे कम से कम भुगतान करके अधिक से अधिक मुनाफा कमाना होता है। रोजगार सृजन के बजाय वह बेरोजगारी के संकट को एक निश्चित मात्रा में बनाए रखता है।[1] इस स्थिति में यह पूंजीवाद पर नहीं छोड़ा जा सकता कि वह क्रयशक्ति को बढ़ाने का काम करे। इस स्थिति में राज्य/सरकार को आगे आकर हस्तक्षेप करना पड़ता है। राज्य पूंजीपति

---

[1] "पूंजीवाद अपने उत्कृष्ट रूप में एक मुद्रा-आधारित व्यवस्था है जहाँ सम्पत्ति का सबसे बड़ा हिस्सा या तो मुद्रा के रूप में या फिर मुद्रा के बदले मिलनेवाली परिसंपत्तियों यानी वित्तीय परिसंपत्तियों के रूप में रखा जाता है। व्यवस्था का काम करते रहने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा का मूल्य मालों के मूल्यों के सामने कम नहीं होते जाना चाहिए, नहीं तो लोग मुद्रा-सम्पत्ति से कट जायेंगे, और ऐसे में मुद्रा न सिर्फ सम्पत्ति का एक रूप नहीं रह जायेगी बल्कि प्रचलन के माध्यम के रूप में भी बंद हो जाएगी।

इसलिए पूंजीवाद कई तरीकों से मुद्रा की मूल्य-स्थिरता को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। इनमें से एक तरीका न सिर्फ साम्राज्यवादी देशों में, बल्कि तीसरी दुनिया में मजदूरों की एक विशाल आरक्षित सेना को बनाये रखना है। "दूर-दराज" की यह आरक्षित सेना ना सिर्फ स्थानीय मुद्रा-मजदूरी को कम रखती है और इस तरह वहां पैदा होने वाले कच्चे माल की कीमतों को भी कम रखती है, बल्कि साम्राज्यवादी देशों के मजदूरों की मुद्रा-मजदूरी को भी कम रखती है। क्योंकि अगर वे ज्यादा वेतन की मांग पर जोर देते हैं तो उनके ऊपर तीसरी दुनिया की ओर पूँजी के प्रवाह से पैदा होने वाली बेरोजगारी का खतरा मंडराता लगता है।"

(उत्सा पटनायक, प्रभात पटनायक, 'वैश्वीकरण के दौर में साम्राज्यवाद', संकन *साम्राज्यवाद आज*, अनु. दिनेश पोसवाल, गार्गी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण : जनवरी, 2016, पृष्ठ सं. 75)

से टैक्स लेता है और उसका निवेश रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि में करता है। जिसके कारण अर्थव्यवस्था मंदी से बची रहती है। मूलरूप से वेलफेयर स्टेट की भूमिका थी – क्रयशक्ति को बनाए रखना ताकि मंदी न आए। लेकिन इन सारे प्रयासों के बावजूद सत्तर का दशक आते-आते मंदी की ऐसी स्थिति आई कि पूंजी का अतिशय संचय हो गया। पूंजीवादी अर्थव्यवथा के बड़े-बड़े केंद्रों मसलन अमरीका, यूरोप में यह एक चिंता जनक अवस्था थी। यदि और उत्पादन किया जाता तो इससे मंदी का संकट और भी भयावह हो जाता। इस दुरवस्था से निपटने के लिए पूंजी के प्रवाह को बड़े राष्ट्रों की सीमा से बाहर भेजे जाने की रणनीति बनाई गई अर्थात् पूंजी का निर्यात हो। शीत युद्ध कालीन वैश्विक राजनीति और होड़ के चलते 1970 के दशक के बाद के सालों में शुरू हुई इस आर्थिक प्रक्रिया को भूमंडलीकरण कहा जाता है।

भूमंडलीकरण के प्रवक्ताओं ने इस आर्थिक परियोजना को विश्व-कल्याणकारी परियोजना के रूप में प्रस्तुत किया। जिसमें नागरिकों के जीवन-स्तर में सुधार और खुशहाली लाने की बात कही गई। यह कहा गया कि पूंजी के लिए राष्ट्रों की उन्मुक्त सीमाएं नागरिकों को संपन्न बनाएगी क्योंकि किसी अन्य देश में विकसित होने वाली नई तकनीक, नए तरह के उत्पाद और सेवाएं किसी देश विशेष तक सीमित न रह कर, पूरी दुनिया में, कहीं भी, कभी हासिल की जा सकेगीं। "विशाल औद्योगिक-व्यापारी प्रतिष्ठानों और उनकी सेवा में समर्पित मीडिया द्वारा जतनपूर्वक चढ़ाया गया सुनहला तबक भूमंडलीकरण की छवि से उतरता जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं ने इस कपट मृग की असली काया उघाड़कर दुनिया के समाने रख दी है। इसके विश्व-कल्याणकारी होने का भ्रम तो पूर्व एशिया के आर्थिक संकट ने ही पूरी तरह मिटा दिया है... भूमंडलीकरण के समर्थक व्यक्तियों और प्रतिष्ठानों की तरफ से यह झूठ एक स्वयंसिद्ध सत्य की तरह प्रचारित किया जा रहा है कि दूसरे विश्वयुद्ध के

बाद से उन्मुक्त बाजार व्यवस्था के कारण दुनिया के सभी देशों में उत्पादन और लोगों का जीवन स्तर उठा है।"[1]

सामन्यतः पूंजी के भूमंडलीकरण के साथ श्रम का भी भूमंडलीकरण होना चाहिए था लेकिन कुछ सीमाओं को छोड़ कर श्रम का भूमंडलीकरण या एक-दूसरे राष्ट्र में जा पाना अभी भी मुश्किल है। वैश्विक पूंजी के लगातार संकट में बने रहने के कारण भूमंडलीकरण के प्रबल समर्थक राष्ट्र भी वर्तमान समय में भूमंडलीकरण की सैद्धांतिक परिभाषा से पीछे हट रहे हैं और पुनः राष्ट्र-राज्य के पूंजीपतियों को राज्य के संरक्षण की जरूरत हो रही है। जिसका प्रभाव आज यूरोपीय संघ में "Brexit" के रूप में देखा जा सकता है और हाल में ही G-7 मीटिंग (8-9 जून, 2018) से अमरीका का छोड़कर जाना भी एक उदहारण है और राष्ट्रीय स्तर पर संकीर्ण राष्ट्रवादी शक्तियों का उदय भी वर्तमान समय में वैश्विक स्तर पर देखा जा सकता है।

अतएव भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत पूंजी, निवेश, वित्त एवं सेवाओं का एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में बिना किसी बाधा के संचरण विश्व का आर्थिक एकीकरण निहित है और इसके लिए 'कल्चरल इकोनामी' एक उपयोगी युक्ति है। प्रभु जोशी का कहना है कि "नब्बे के दशक में 'उदारीकरण' जैसे पद के अंतर्गत 'अर्थव्यवस्था' में एकाएक उलटफेर करते हुए, बहुराष्ट्रीय निगमों तथा उनकी अपार पूँजी के प्रवाह के लिए भारत में जगह बनानी शुरू कर दी गई। कहने की जरुरत नहीं कि ऐसी निगमें और उनकी पूँजी विकसित राष्ट्रों के नव-उपनिवेशवादी मंसूबों को पूरा करने के अपराजेय और अचूक शक्ति – केंद्र हैं, जिसका सर्वाधिक कारगर हथियार है, 'कल्चरल इकोनॉमी' और जिसके अंतर्गत वे 'सूचना', 'संचार', 'फ़िल्म – संगीत' और साहित्य के जरिए 'अधोरचना' में सेंध लगाते हैं। और फिर धीरे – धीरे उसे ध्वस्त कर देते हैं। नवउपनिवेशवाद के शिल्पकार कहते हैं, 'नाऊ वी डोंट एंटर

[1] सच्चिदानंद सिन्हा, *भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2003, आवृत्ति 2016, पृष्ठ सं. 100, 101

अ कंट्री विथ गनबोट्स, रादर विथ लैंग्वेज एंड कल्चर।"[1] भूमंडलीकरण को व्यापक अर्थों में लिया जाता है। यह एक तरह का 'पैकेज' है जिसमें विचारों और संस्कृति के भूमंडलीकरण को भी शामिल किया जाता है। भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भूमंडलीकरण की भूमिका उनकी विविधता को खत्म करने वाली रही है। इस क्षेत्र में एकरूपीकरण के कारण तत्संबधी सामाजिक बहुलतावाद पर संकट बढ़ा है एवं बाजार की भाषायी की आवश्यकता के रूप में अंग्रेजी भाषा की प्रभुता बढ़ी है। इस तरह नव-उपनिवेशवाद के उद्धारक के रूप में भूमंडलीकरण की परियोजना को लगातार विस्तार दिया गया है। फिर भी भूमंडलीकरण के समस्त गुणगान उसकी नकारात्मक भूमिका को ढंकने में कामयाब नहीं हो सके हैं। भूमंडलीकरण की इस व्यापक परियोजना के चलते जिस वैश्विक बाजार को अप्रतिहत गति से विस्तार दिया गया है। उसने समाज को सुंदर और सौहार्दपूर्ण बनाने के बदले उसे और अधिक विश्रृंखल बना दिया है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. रामविलास शर्मा, *मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1994, तृतीय संस्करण : 2008
2. रविभूषण, 'भूमंडलीकरण और हिन्दी कविता', *समकालीन जनमत*, संपा. सुधीर सुमन, जुलाई-सितम्बर 2002, पटना
3. मैनेजर पाण्डेय, *भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2013
4. रावसाहेब कसबे, *आंबेडकर और मार्क्स*, अनु. उषा वैरागकर आठले, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पहला संस्करण अक्टूबर 2009
5. https://www.newyorker.com/magazine/1989/01/23/the-triumph-of-capitalism
6. रणधीर सिंह, *मार्क्सवाद समाजवाद और भारतीय राजनीति*, अनुवादक-जितेंद्र गुप्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2002

[1] प्रभु जोशी, 'शल्य क्रिया के शिल्प में वध', *समकालीन भारतीय साहित्य*, भूमंडलीकरण विशेषांक, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय जुलाई-अगस्त, 2011, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 15

7. पूरन चंद्र जोशी, *अवधारणाओं का संकट*, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1995
8. प्रभाकर श्रोत्रिय, अतिथि संपा., *समकालीन भारतीय साहित्य*, भूमंडलीकरण विशेषांक, जुलाई – अगस्त, 2011, नई दिल्ली
9. उत्सा पटनायक, प्रभात पटनायक, 'वैश्वीकरण के दौर में साम्राज्यवाद', संकन *साम्राज्यवाद आज*, अनु. दिनेश पोसवाल, गार्गी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण : जनवरी, 2016
10. सच्चिदानंद सिन्हा, *भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2003, आवृत्ति 2016
11. प्रभु जोशी, 'शल्य क्रिया के शिल्प में वध', *समकालीन भारतीय साहित्य*, भूमंडलीकरण विशेषांक, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय जुलाई-अगस्त, 2011, नई दिल्ली

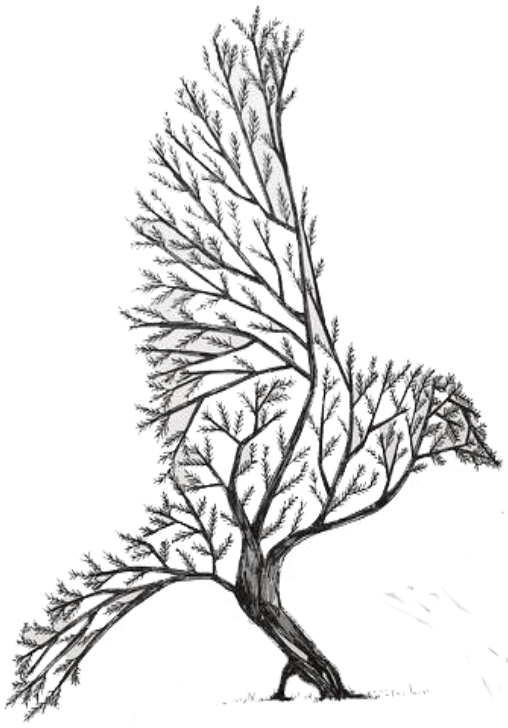

दक्षिण काशीगा, एकम्बरेश्वरम: तेलंगाना राज्य के प्रसिद्ध मंदिर

सुनंदा ठाकुर, सज्जन सिंह पी
हिन्दी साहित्य के शोधकर्ता, महबूबनगर, तेलंगाना राज्य, पिन कोड; 509002.,
फ़ोन:7989956300,
ईमेल: sunandathakur88@gmail.com

शोध सार

तेलंगाना राज्य में कई ऐतिहासिक और प्रसिद्ध मंदिर और पवित्र स्थान हैं। उस भाग के रूप में, यह कहा जा सकता है कि विकाराबाद जिले में तंदूर के पास बशीराबाद मंडल तेलंगाना और कर्नाटक के वन क्षेत्र में प्रसिद्ध है क्योंकि पवित्र स्थान को दक्षिणा काशी के नाम से जाना जाता है और इसकी ऐतिहासिक प्रसिद्धि है। आपने कई प्रसिद्ध और लोकप्रिय मंदिरों, काशी, गया, प्रज्ञा, श्रीशैलम, तिरुपति, वुंडापुरम जैसे आध्यात्मिक स्थानों का दौरा किया है और पूर्वी काशी एकंबरी रामेश्वरम में बहुत पवित्र पौराणिक तीर्थ यात्रा की है। इस शिव मंदिर की विशिष्टता को स्वर्ग के रूप में मान्यता प्राप्त है।

बीज शब्द: *दक्षिण काशीगा, एकम्बरेश्वरम, तेलंगाना, राज्य के प्रसिद्ध मंदिर.*

शोध आलेख

तेलंगाना राज्य में कई ऐतिहासिक और प्रसिद्ध मंदिर और पवित्र स्थान हैं। उस भाग के रूप में, यह कहा जा सकता है कि विकाराबाद जिले में तंदूर के पास बशीराबाद मंडल तेलंगाना और कर्नाटक के वन क्षेत्र में प्रसिद्ध है क्योंकि पवित्र स्थान को दक्षिणा काशी के नाम से जाना जाता है और इसकी ऐतिहासिक प्रसिद्धि है। आपने कई प्रसिद्ध और लोकप्रिय मंदिरों, काशी, गया, प्रज्ञा, श्रीशैलम, तिरुपति, वुंडापुरम जैसे आध्यात्मिक स्थानों का दौरा किया है और पूर्वी काशी एकंबरी रामेश्वरम में बहुत पवित्र पौराणिक तीर्थ यात्रा की है। इस शिव मंदिर की विशिष्टता को स्वर्ग के रूप में मान्यता प्राप्त है।

पहले इस घने जंगल को विभिन्न पक्षियों जैसे तोते, मोर, कोयल, जय, चकोरा बटेर आदि से घिरे अरण्य के नाम से जाना जाता था। ज्ञात हो कि घने जंगल से भरा यह जंगल तेंदुओं और बाघों जैसे कई जंगली जानवरों का लोकप्रिय स्थान था।

ऐतिहासिक साक्ष्य साबित करते हैं कि छठे निजाम, नवाब मीर मुबाब अली खान ने दो गर्जना वाले बाघों का शिकार किया और तीन दिनों तक मायलावरम में रहे। ऐसा माना जाता है कि तब इस क्षेत्र के धनी लोगों ने राजा को सोना, चांदी, मोती आदि कई उपहार भेंट किए थे।

इस पवित्र स्थल का महाकाव्य महत्व

त्रेता युग के दौरान, जब भगवान राम ने रावण ब्रह्मा, पिडपा का वध किया, तब भगवान राम के कुल शिक्षक श्री वशिष्ठ महामुनि ने भगवान राम से कहा।

राम अ! उनका कहना है कि यदि आप रावण ब्रह्मा को मारते हैं, तो उन्हें मारने का पाप हो सकता है, इसलिए इससे छुटकारा पाने के लिए, यदि आप एक करोड़ शिवलिंग स्थापित करते हैं, तो यह पाप दूर हो जाएगा।

कोटिलिंग की स्थापना के भाग के रूप में, श्री वशिष्ठ महामुनि श्री रामचंद्र से कहते हैं कि यदि किसी शिव लिंग के पास स्थापित करते समय रावण की ध्वनि का उच्चारण किया जाता है, तो भी वह ध्वनि नहीं निकलेगी, और उस स्थान के पास आपके पापों का नाश हो जाएगा।

कई शिवलिंगों को खड़ा करने के बाद, भगवान राम अपने गुरु के निर्देशों का पालन करते हैं और इस बर्बर जंगल में पहुंचते हैं। इस जगह में तीन दिशाएं हैं, बड़ी झाड़ियां हैं और केवल सही जगह खाली है। यह मंदिर शिवलिंग को स्थापित करने के लिए अच्छा है।

एक शुभ दिन पर, भगवान श्री रघुराम चंद्र ने अपने हाथों से शिवलिंग की स्थापना की। यह स्थान लोकप्रिय रूप से राम लिंगम या रामेश्वर लिंगम के नाम से जाना जाता है। इस तरह की महाकाव्य कहानी के साथ, एक लोकप्रिय सच्ची कहानी है जिसने एकम्बर नाम को जन्म दिया। मैं प्रत्येक कहानी को भविष्य के अंकों में समझाऊंगा।

उन्होंने महसूस किया कि इस स्थान पर झीलें भी प्रमुख हैं। फिर सात झीलें दिखाई देती हैं। ये सात झीलें स्वामी के मंदिर के नीचे पूर्व से पश्चिम की ओर बहती हैं और

इस गंगा नदी को पवित्र स्नान करने के लिए बहुत पवित्र माना जाता है। इस स्थान को रावणब्रह्मा के पाप विनाश का तीर्थ स्थल माना जाता है।

एकम्बरेश्वरम प्रसिद्ध मंदिर

इस दक्षिण काशी तीर्थयात्रा से शुरू होकर, गुलबर्गा जिले (निज़ाम के राज्य में) के सेदम तालुक में एक प्रसिद्ध मंदिर के पास, माना जाता है कि श्री राम ने एक महत्वपूर्ण शिव लिंग को एक ऐसे स्थान के रूप में प्रतिष्ठित किया था जहाँ रावण के शब्दों को नहीं सुना जा सकता था। बाद में यह स्थान बहुत लोकप्रिय हो गया और लोगों ने अंततः इसे नरुनी सरुनी कहा। यहां विश्राम गृह भी उपलब्ध है। दक्षिण काशी एकम्बर रामेश्वर लिंग के दर्शन करने के बाद, इस क्षेत्र में अनंत रूप से बहने वाली पानी की धारा, जो पवित्र और निर्बाध रूप से बहती है, को काशी पुण्य क्षेत्र के बराबर कहा जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि जो लोग काशी क्षेत्र में स्नान करते हैं उन्हें अभिनेता के गुण की प्राप्ति होती है। इस पवित्र स्थान में भगवान राम द्वारा जल में शस्त्रों के प्रयोग से सात सरोवर बनते हैं, जो एक बड़े सरोवर की छोटी झीलें हैं।

इस तीर्थ के पास के मंदिरों का विवरण इस प्रकार है

यहां सात तालाबों (गुंडम) से भरी एक चौड़ी झील चौकोर आकार में उपलब्ध है। इस झील के आयाम 500 वर्ग फुट हैं और केंद्र में श्री राम चंद्र द्वारा स्थापित रामलिंगेश्वर मंदिर है। इस मंदिर की नंदी मूर्ति के सामने और उत्तर दिशा में श्री हनुमान मंदिर के सामने इन लोगों का एक प्रायद्वीप दिखाई देता है। मंदिर के पीछे एक माला स्तूप है जिसकी ऊंचाई 55 फीट है। पुराने जमाने में इस मंदिर को दर्शनीय बनाने के लिए दीया जलाया जाता था।

दक्षिण की ओर एक विशाल धर्मशाला है। दक्षिण-पूर्व दिशा में श्री मोहम्मद कुबाब साहब दरगाह है और उत्तर-पश्चिम दिशा में श्री पार्वती देवी मंदिर है। मंदिर पथ के

दाहिनी ओर स्वर्गीय श्री मल्लैया स्वामी की समाधि है। उन्होंने विकास और विकास के लिए बहुत काम किया है। उनका मूल स्थान शिवपुर तालुक, नानजिंग गुडा जिला, शिवमोग्गा कर्नाटक, मैसूर क्षेत्र है। उपरोक्त सभी स्थानों को इस पुजारी के सुनहरे हाथों से बनाया और पूरा किया गया था। माला स्तूप को छोड़कर उनका इतिहास बड़े पैमाने पर लिखा गया है और अब यह रूप में छपा हुआ है।

विवरण निम्नानुसार है।

जड़ थीर्थम, केशरा थीर्थम, शिव थीर्थम, दादी थीर्थम, राम थीर्थम, अंबा थीर्थम, पापा नसाना थीर्थम।

निष्कर्ष

इस प्रकार के प्रसिद्ध तीर्थ, उनकी ऐतिहासिक सत्य कथाएँ, स्थान, उनकी उपस्थिति, उनका महत्व, ये तीन बातें वर्तमान पीढ़ी को पता होनी चाहिए, और हमारे साहित्य, संस्कृति, इतिहास और भाषा अनुसंधान को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से इस प्रकार की सामग्री संग्रह, प्रकाशन और प्रसार अनुसंधान हमारी संस्कृति, हमारा इतिहास, आने वाली पीढ़ी के लिए हमारी भाषा होगी।यह देखते हुए कि यह ..... के महत्व को प्रदान करने में सहायता करेगा। .....

इस पवित्र स्थान तक पहुँचने के लिए परिवहन मार्ग का विवरण

यह प्रसिद्ध क्षेत्र हैदराबाद महानगर से 140 किमी की दूरी पर स्थित है। तंदूर से बशीराबाद के रास्ते में नीला पल्ली गांव के पास खेत का सबसे नजदीकी रास्ता है।

क्षेत्र हैदराबाद से यादगिरि के रास्ते में कोडंगल के पास तंदूर की ओर और लक्ष्मी नारायण पुरम के पास से पहुंचा जा सकता है।

संदर्भ

1. स्वयं लेखक द्वारा पुण्य क्षेत्र की यात्रा।
2. मंदिर के आसपास के गांवों की यात्रा के दौरान लेखक द्वारा स्वयं एकत्र की गई सामग्री के आधार पर
3. धर्मस्थल और मंदिर ट्रस्ट के पुजारियों के बुजुर्गों द्वारा दी गई जानकारी के संग्रह के आधार पर

श्रीराम के गुणों के परिप्रेक्ष्य मे राजर्षि नेतृत्व शैली का अध्ययन

डॉ. दिनेश कुमार
पदनाम – सहायक महा प्रबन्धक (मा.स.प्र)
संस्था का नाम : बैंक ऑफ बड़ौदा
ई. मेल : drdineshbob@gmail.com
मोबाइल नंबर : 8477009303
दिव्यान्शु सिंह
पदनाम – अतिथि फ़ैकल्टी
संस्था का नाम : दिल्ली विश्वविधालय
ई. मेल : divymanshusingh@gmail.com
मोबाइल नंबर : 9871508230

शोध सार

पिछले कुछ दशकों मे विभिन्न प्रकार की नेतृत्व शैलियों का विकास हुआ जैसे कि परिवर्तनकारी नेतृत्व शैली, सहभागी नेतृत्व शैली और सेवक शैली आदि। इन सभी नेतृत्व शैलियों की आर्थिक समृद्धि में विशेष भूमिका रही है लेकिन यह आर्थिक समृद्धि एक तरफा रही है। साथ ही नेतृत्व कर्ताओं द्वारा की गई धोखाधड़ी की घटनाओं मे भी इजाफा हुआ है, जिसके कारण एनरॉन संकट, सत्यम कंप्यूटर एवं किंगफिशर धोखाधड़ी आदि जैसे सैकड़ों संकट पैदा हुए है। दिनांक 26 सितंबर, 2021 के बिजनेस टुडे के अनुसार, भारत में कोविड़ के दौरान एक करोड़ से अधिक लोगों की नौकरियाँ चली गई। लोगों की आय में 97% की गिरावट दर्ज की गई और गरीबों की संख्या में 12% की वृद्धि हुई है। किन्तु इसके विपरीत, पिछले पांच वर्षों के दौरान करोड़पतियों की संख्या में 63% की वृद्धि दर्ज की गई है। प्रश्न उठता है कि नेतृत्व शैली के मौजूदा दर्शन मे ऐसा क्या है, जिसकी वजह से इस तरह की विषमताएँ पैदा हो रही है, और इसका क्या हल हो सकता है? अतः नेतृत्व शैली के दर्शन को एक व्यापक दृष्टिकोण से देखने एवं समझने की आवश्यकता है। हमे एक ऐसे नेतृत्व की आवश्यक्ता है जो कि आत्म-केन्द्रित या संस्था-केंद्रित के स्थान पर समाज केंद्रित दृष्टिकोण रखता हो।

चाणक्य द्वारा प्रयुक्त 'राजर्षि नेतृत्व' नेतृत्व-कर्ता (लीडर) को 'वसुधैव कुटम्बकम' के पारंपरिक भारतीय दर्शन का अनुपालन करने की प्रेरणा देता है। राजर्षि नेतृत्व दो शब्दों से बना है जहाँ राजा का अर्थ है एक परिवर्तनकारी नेतृत्व प्रदान करने वाला और

ऋषि का अर्थ है एक बुद्धिमान द्रष्टा जो अपना जीवन समाज के कल्याण में लगाता है। चाणक्य द्वारा अपने शिष्य को सिखाए गए राजर्षि नेतृत्व के सिद्धांतों पर चलकर ही चंद्रगुप्त ने शक्तिशाली राजा, घनानंद को परास्त कर एक साधारण बच्चे से मगध का सम्राट बनने का सफर तय किया तथा जिससे विश्व विजेता सिकंदर महान भी लड़ने की हिम्मत न जुटा सका था।

हालाँकि, राजर्षि चाणक्य द्वारा प्रयुक्त एक पुराना शब्द है, लेकिन इस विषय पर शोध-पत्र न के बराबर उपलब्ध है। हेर्मेनेयुटिक्स आधारित इस शोध-पत्र के माध्यम से शोधकर्ताओं का प्रयास है कि रामायण मे उद्दृत कहानियों के माध्यम से राजर्षि नेतृत्व के गुणों को आसानी से समझना जिसमे निर्वासन के दौरान, जब रावण ने राम की पत्नी सीता का अपहरण कर लिया तो उसे मुक्त करने के लिए, राम ने अयोध्या से मदद लेने की बजाय, सुग्रीव (जो कि खुद ड़र के मारे कुष्यमुक पर्वत पर छिपा हुआ था) के साथ गठजोड़ किया और बंदरों, खानाबदोशों और जंगल के गरीबों एवं दलितों की सेना बनाकर रावण की शक्तिशाली सेना को हराकर राम-राज्य की स्थापना की

बीज शब्द: *आत्म-ज्ञान, दैवी संपत, धार्मिक सिद्धांत, वसुधैव कुटम्बकम, समावेशी विकास, सेवक शैली, ऋषि दृष्टिकोण।*

शोध आलेख

भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने दो प्रकार के व्यक्तियों के गुणों का वर्णन किया है दैवी संपत एवं असुरी संपत। दैवी संपत वाले व्यक्ति निडर, आत्मसंयमी, सौम्य एवं शांत स्वभाव के होते हैं तथा काम, क्रोध और मोह से दूर रहते हैं। जबकि असुरी संपत वाले व्यक्ति अहंकारी, अक्रामक व्यवहार वाले एवं स्वार्थी होते हैं तथा अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की हर हाल मे पूर्ति मे लगे रहते है। व्यक्ति के इन्हीं दो गुणों के आधार पर ही समाज़ मे नेतृत्व प्रदाताओं (लीडर) को दो भागों मे विर्गीकृत किया जा सकता हैं, राजर्षि नेतृत्व एवं राक्षसी नेतृत्व। राजार्षी नेतृत्व प्रदाता वे होते है जिनमें दैवी संपत के गुण कूट- कूट कर भरे होते हैं। इसके विपरीत राक्षसी नेता वे होते है जिनमें असुरी प्रवृर्ति के गुणों का बाहुल्य होता हैं।

इस लेख का उद्देश्य भगवान श्रीराम के विशाल व्यक्तित्व से राजर्षि नेतृत्व के उन गुणों को समझने का प्रयास है जो कि किसी व्यक्ति को एक अच्छा लीडर बनाते हैं और देश एवं समाज़ के उत्थान मे सहायक होते है। चाणक्य द्वारा अपने शिष्य को सिखाए गए राजर्षि नेतृत्व के सिद्धांतों पर चलकर ही चंद्रगुप्त ने शक्तिशाली राजा, घनानंद को

परास्त कर एक साधारण बच्चे से मगध का सम्राट बनने का सफर तय किया था, तथा जिससे विश्व विजेता सिकंदर महान भी लड़ने की हिम्मत न जुटा सका था। राजर्षि नेतृत्व शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम चाणक्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में किया था जो कि 'राजा+ऋषि' शब्द के मिलने से बना है, जिसमें राजा एक मजबूत नेतृत्व का प्रतीक है तो ऋषि बौद्धिक गहराई और आध्यात्मिक व्यक्तित्व का प्रतीक है। ऋषि की तीन विशेषताएं होते है:

- उसके जीवन की यात्रा सनातनी होती है (ऐसी यात्रा जिसमे व्यक्ति 'स्व' की खोज मे लगा हो)।
- वह दूसरों को अँधेरे से उजाले मे ले जाने का प्रयास करता है।
- वह समग्र दृष्टि से जीवन को देखने का प्रयास करता है।

उक्त गुणों के कारण ही राजर्षि लीडर ऋषि वशिष्ठ की तरह विनम्र, जनक की तरह बंधन-मुक्त और नारद की तरह प्रतिबद्ध होते हैं। ऐसे लीडर आत्म-ज्ञान, आत्म-नियंत्रण एवं विनम्रता के प्रतीक होते है तथा निष्काम कर्म, धर्म और योग के सिद्धांत का पालन करते हुए आपसी सामंजस्य और सर्वसम्मति की रणनीति को अपनाते हुए लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति कटिबद्ध होते है तथा समाज़ के उज्जवल भविष्य के लिए प्रयासरत रहते है। ऐसा लीडर शक्ति, भक्ति एवं जज्बे के गुणों से परिपूर्ण होता है जैसा कि कथन है :

"शक्ति बिना भक्ति के निरंकुश हो जाती है,
भक्ति बिना शक्ति के नपुंसक हो जाती है,
और व्यक्ति बिना जज्बे के नगण्य हो जाता है। "

राजर्षि नेतृत्व के गुण (विशेषताएं)

मार्क ट्वेन के अनुसार "भारत मानव जाति का पालना है, मानवीय वाणी का जन्म स्थान है और इतिहास की जननी है"। सदियों पहले लिखी गई धार्मिक पुस्तकें प्रबंधन सिद्धांतों के समृद्ध स्रोत हैं जिन्होंने व्यक्तियों को समाज़ मे आपसी सौहार्द से जीने का रास्ता सिखाया है। भगवद गीता और रामायण इस श्रृंखला में हिंदू धर्म के दो सबसे

प्रतिष्ठित और पवित्र ग्रंथ हैं। भगवद गीता किसी लीडर को स्वयं को संयमित करते हुए उच्च कोटि की चेतना को प्राप्त करने हेतु उसका मार्ग दर्शन करती है तो रामायण धर्म पथ का अनुसरण करते हुए स्व-केंद्रित से समुदाय-केंद्रित होने के लिए लीडर को प्रेरित करती है।

यह शोध पत्र हेर्मेनेयुटिक्स आधारित गुणात्मक शोध पत्र है जिसके माध्यम से शोधकर्ता का प्रयास भगवद् गीता और रामायण के विभिन्न सिद्धांतों का विश्लेषण करते हुए भगवान राम के व्यक्तित्व के माध्यम से राजर्षि नेतृत्व के मूल गुणों / विशेषताओं को आसानी से समझना एवं समझाना है जो कि कॉरपोरेट लीडर / राजनैतिक नेताओं के लिए आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी वह त्रेता एवं द्वापर युग मे प्रासंगिक थी।

राजर्षि नेतृत्व के गुणों को निम्न समूहों मे वर्गीकृत किया जा सकता है:

- R-Rishi Vision (ऋषि दृष्टिकोण)
- A-Assimilation with the team through the process of oneness (टीम के साथ स्वयं को आत्मसात करना)
- J-Journey of excellence among all odds (सभी बाधाओं के बीच अपनी यात्रा को शिद्दत से मुकम्मल करना)
- A-Analyzing strategy (निरंतर विश्लेषण द्वारा रणनीति बनाना)
- R-Righteousness/ principle of Dharma (धर्म के सिद्धांत का सर्वदा अनुपालन)
- I-Influencing character (प्रभावशाली चरित्र)
- S-Servanthood-ship (सेवक शैली का भाव)
- I-Inclusiveness (समावेशी विकास)

1- ऋषि दृष्टिकोण

ऋषि दृष्टिकोण राजर्षि नेतृत्व को राक्षसी नेतृत्व, जो कि समाज़ के लिए संकट पैदा कर देता है, से अलग करता है। ऋषि दृष्टिकोण का अर्थ है, "समग्रता का दृष्टिकोण"

जिससे नेतृत्व प्रदाता समाज़ के वृहद हित मे अनुयायियों के साथ मिलकर एक ऐसी रूप रेखा बनाता है जिससे अनुयायी, दिल से कार्य करते हुए परिणाम की परिणीति मे अपना योगदान दे सकें, जैसे कि रामायण मे श्रीराम ने सुग्रीव एवं वानर सेना से न केवल अपनी पत्नी सीता को बचाने लिए समर्थन नहीं मांगा बल्कि पृथ्वी पर से रावण सहित राक्षसी ताकतों के विनाश के लिए समर्थन माँगा। यदि ऐसा न होता तो राम के लिए यह बहुत आसान था कि वह हनुमान से अनुरोध करते कि लंका जाकर सीता को पीठ पर बैठा कर चुपचाप चले आएं। किन्तु श्रीराम ने ठीक इसके विपरीत जाकर कठिन रास्ता चुना ताकि राक्षसों का समूल विनाश किया जा सके और धरती पर राम-राज्य की स्थापना की जा सकें। राम के इस दृष्टि कोण के कारण ही उनके वानर सेना का न केवल मनोबल बढ़ा बल्कि सुग्रीव जैसा कायर राजा बाली एवं रावण जैसे योद्धाओ से लड़ने को प्रोत्साहित हुआ, जिसे किष्किंधकाण्ड मे तुलसीदास जी ने कुछ इस तरह उद्दृत किया है:

" बालि त्रास ब्याकुल दिन राती, तन बहु ब्रन चिंतां जर छाती।
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ, अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ।" (4:11:2)

ऋषि दृष्टिकोण के कारण ऐसा लीडर भगवदगीता मे उद्दृत समुदाय-केंद्रित एकात्मवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए अपनी टीम के बीच सकारात्मकता की एक ऐसी किरण पैदा करता है कि वें हनुमान की तरह मनोवैज्ञानिक अनुबंध से परे कार्य करने लग जाते हैं, जैसे कि हनुमान को केवल सीता की खोज करने का कार्य सौपा गया था, लेकिन हनुमान ने उसके अलावा लंका का एक गुप्तचर की तरह पूर्ण सर्वेक्षण किया और साथ ही लंका को जला भी दिया और शत्रु के मनोबल पर गहरा आघात किया। इस घटना की तुलना वर्तमान मे युद्ध से पहले की गई सर्जिकल स्ट्राइक से की जा सकती है जिसमे कि युद्ध से पहले ही दुश्मन के शस्त्रागार को नष्ट कर दिया जाये।

2- टीम के साथ स्वयं को आत्मसात करना

भावनात्मक संबंधों द्वारा समवेदना एवं समानुभूति का भाव विकसित करते हुए राजर्षि नेतृत्व टीम के सदस्यों के साथ अपने आप को आत्मसात कर लेता है, जैसे कि श्रीराम

ने सुग्रीव और विभीषण के साथ भावनात्मक संबंध विकसित किया और विश्वास एवं सम्मान का वातावरण पैदा करने हेतु बाली को मारने के बाद सुग्रीव को किष्किंधा का राज-पाठ सौंपा (*अंगद सहित करहु तुम्ह राजु- 4:11:5*) तो विभीषण को पहले ही लंका-नरेश घोषित किया, जिसकी वजह से ही सुग्रीव एवं विभीषण ने अपने उपर लगने वाले व्यक्तिगत लांछनो के बावजूद राम का साथ दिया।

भावनात्मक संबंधों एवं समुदाय-केंद्रित एकात्मवाद के सिद्धान्तों का पालन करते हुए लीडर टीम मे ऐसी ऊर्जा भर देता है कि टीम अपनी उच्चतम क्षमता का प्रदर्शन कर सकें। जैसे कि रावण की सेना हथियारों से परिष्कृत और शक्तिशाली योद्धाओं से भरी हुई थी, जिसे इंद्र सहित कई दुर्जेय राजाओं और देवताओं को हराने का श्रेय था, जबकि राम के सैनिक बंदर, खानाबदोश, आदिवासी किस्म के थे और बाली द्वारा कई बार पराजित हो चुकी थी, लेकिन राम ने उनके भीतर ऐसा आत्मविश्वास पैदा किया जिससे से रावण की शक्तिशाली सेना को भी हरा दिया।

3- सभी बाधाओं को उत्कृष्टता से पार करने का प्रयास

सामान्य परिस्थितियों में अधिकांश लीडर उत्कृष्ट प्रदर्शन करते हैं लेकिन विकट परिस्थितियों मे अपना विवेक खो देते हैं और संतुलन नहीं रख पाते। एक राजर्षि लीडर के तौर पर श्रीराम का जीवन तमाम बाधाओं / विकट परिस्थितियों मे भी शांत रहते हुए उनका मुक़ाबला करने का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सीता अपहरण के बाद, श्री राम सीता की तलाश में दर्द एवं उदासी के कारण वन में भटक रहे थे, लेकिन इन विपरीत परिस्थितियों मे भी उन्होने सबरी से मिलने एवं जटायूँ को अपनी गोद में लिटाकर उसका अंतिम संस्कार करने की ज़िम्मेदारी से मुख नहीं मोड़ा और अपने कर्तव्यों का निर्वहन किया।

1980 मे जापानी प्रबन्धकों द्वारा खोजे गए काइज़न के सिद्धांत (निरंतर सुधार के जापानी सिद्धान्त) को पाँच हज़ार वर्ष पूर्व, पांच दिनों मे समुद्र पर पुल का निर्माण कर राम की सेना द्वारा लागू किया गया, जिसमे पहले दिन 14 योजन (1 योजन 12 किमी

के बराबर) तथा दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें दिन 20, 21, 22 और 23 योजन पुल का निर्माण किया।

4 – निरंतर विश्लेषण करना एवं रणनीति बनाना

लीडर द्वारा विश्लेषण के गुण को दो भागों मे बाँटा जा सकता है:

- आत्म-विश्लेषण
- ता।क।आख (ताकत, कमजोरी, अवसर एवं खतरों) का विश्लेषण

- **आत्म-विश्लेषण:** आत्म-विश्लेषण मे व्यक्ति स्वयम के गुणों/ कमियों का विश्लेषण बाह्य परिस्थितियों के साथ करता है, रामायण युद्ध की नींव राम और सीता के आत्म विश्लेषण की कमी का ही परिणाम थी जिसमे सीता एक सोने के हिरण पर मोहित हो जाती है और उसे पाने की जिद्द करने लगी (*सुनहु देव रघुबीर कृपाला, एहि मृग कर अति सुंदर छाला*- 3:26:2) जबकि एक साधारण मनुष्य भी जानता है कि मृग कभी भी सोने का नहीं हो सकता। भगवद्गीता मे कृष्ण कहते है कि मोह, काम और क्रोध नर्क के तीन द्वार है और श्रीराम इस सिद्धान्त को जानते हुए भी अपनी भावनाओं को मोह-वश संतुलित नहीं कर पाते है और सीता की जिद्द के कारण हिरण का पीछा करने लगते है (*माया मृग पाछें सो धावा*- 3:26:6)। सीता द्वारा लक्ष्मण रेखा' का उल्लंघन भी आत्म विश्लेषण की कमी का सटीक उदाहरण है।

  उक्त घटना को यदि राम के जीवन के व्यक्तित्व का अपवाद माना जाए तो राम का पूरा जीवन आत्म विश्लेषण के गुणों से भरा है। राजर्षि लीडर के रूप में राम ने स्वविश्लेषण द्वारा सत्य, न्याय और कर्तव्यपरायणता के मार्ग का अनुसरण किया और अपनी 'सामाजिक भूमिका' को 'स्व' से ऊपर रखा और बाली पर छिप कर मारना एक ऐसा ही उदाहरण है क्योंकि वे जानते थे कि बाली को अन्यथा नहीं

मारा जा सकता था, लेकिन सच्चाई और न्याय के हित में उन्होंने अपने ऊपर अपवाद के तौर पर ही सही, इस लांछन को सामाजिक हित मे स्वीकार किया।

- ता.क.अ.ख **विश्लेषण**: ता.क.अ.ख के लिए अँग्रेजी मे प्रचलित शब्द है स्वोट (SWOT), जिसका अर्थ है अपनी ताकत, कमजोरी, अवसर और खतरों का विश्लेषण करना और लक्ष्य प्राप्ति की योजना बनाना जैसे कि लंका में हनुमान ने लंका का पूरा विश्लेषण किया, उनकी जीवन शैली, ताकत और कमजोरी का आकलन किया, खतरों और अवसरों को समझा और उसकी सटीक जानकारी श्रीराम को दी। इसी तरह राम ने भी सभी परिस्थितियों के विश्लेषण के बाद सीता की तलाश में चारों दिशाओं में वानर सेना को भेजा किन्तु मुख्य सेना जिसमे हनुमान, अंगद जैसे वीर योद्धा थे उन्हें दक्षिण दिशा में भेजा, जहाँ सीता के होने की संभावना ज्यादा थी और हनुमान को अपनी पहचान हेतु अपनी मुद्रिका दी।

नेतृत्व प्रदाता के रूप मे, श्री राम ने न केवल टीम की क्षमता और प्रतिबद्धता के स्तर को बढ़ाने का प्रयास किया बल्कि संगठन मे औकटापेस (OCTAPACE) संस्कृति के विकास को भी सुनिश्चित किया ताकि स्वोट विश्लेषण के दौरान मदद मिल सके। ऑकटापेस का अर्थ है:

O- Openness (खुलापन)
C- Confrontation (टकराव)
T- Trust and trustworthiness (विश्वास)
A- Authenticity (प्रामाणिकता)
A- Autonomy (स्वायत्ता)
P- Pro-action (समर्थक कार्यवाही)
C- Collaboration (सहयोग)
E- Experimentation (प्रयोग)

- **खुलापन और टकराव:** खुलापन एक ऐसा वातावरण प्रदान करता है जहां कर्मचारी अपने विचारों को व्यक्त करने करने के लिए स्वतंत्र महसूस करते हैं तथा

अपनी चिंताओं को टालने की बजाय एक-दूसरे से साझा करते हैं। खुलेपन के साथ जब सदस्यों मे टकराव होता है तो सदस्य संयुक्त रूप से समाधान खोजने के लिए प्रयासरत रहते है जैसे कि जब विभीषण रावण को छोड़कर जब श्रीराम के पास आश्रय माँगने पहुँचे तो राम ने अपने सेना प्रमुखों से खुला परामर्श किया। हनुमान को छोड़कर अधिकांश प्रमुख राक्षस-राज रावण का भाई होने के नाते उस पर भरोसा नहीं कर रहे थे किन्तु राम ने उनके विचारों को सिरे से खारिज करने के बजाय, आश्वस्त किया जिससे एक दूसरे के प्रति सम्मान एवं सामञ्जसय की भावना पैदा हुई। राम का यह निर्णय युद्ध के भाग्य का फैसला करने वाला महत्वपूर्ण निर्णय बना।

- **विश्वास और प्रमाणिकता :** रामायण का राम विश्वास और प्रामाणिकता का सबसे सटीक अच्छा उदाहरण है जो कि 'प्राण जाए पर वचन न जाए' के लिए विख्यात है। बाली को मारने के बाद राम के पास किष्किंधा पर कब्जा करने और उसकी सेना का उपयोग करने का विकल्प था, लेकिन उन्होंने इसे सुग्रीव को सौंपा। इसी कारण सुग्रीव एवं उसकी सेना ने अपना क्षमता से अधिक योगदान दिया।
- **स्वायत्तता और समर्थक कार्रवाई (**प्रो-एक्शन**) :** स्वायत्तता एवं प्रो-एक्शन का अर्थ है बिना भय के आगे बढ़कर एक-दूसरे की मदद करने का माहौल जिसमे टीम के सदस्यों को यह विश्वास होता है कि यदि वें कोई गलती कर देते हैं तो उनकी गलती को हनुमान की तरह माफ कर दिया जाएगा, जिन्होंने दिये गए कार्य से हटकर लंका को जला दिया तथा अंगद, जिसने पैर हिला पाने की शर्त पर सीता को पाने के लिए युद्ध न करने का वचन दे दिया। जिसे लंकाकाण्ड मे तुलसीदास जी ने कुछ इस तरह लिखा है :

  "जौं मम चरन सकसि सठ टारी, फिरहिं रामु सीता मैं हारी" (6:33:5)

- **सहयोग और प्रयोग**: सहयोग एवं प्रयोग का अर्थ है एक दूसरे के सहयोग से कार्यस्थल पर नवाचार और रचनात्मक तरीके से समस्या का समाधान ढूँढना जैसे कि नल-नील की मदद से समुद्र पर पत्थरों से तैरते हुए पुल का निर्माण करना को कि आज के वैज्ञानिक युग मे भी संभव नहीं है।

5- धार्मिक सिद्धांतो की अनुपालना: धर्म इंसान को जानवरों से अलग करता है। धर्म का समुदाय विशेष की मान्यताओं, कर्म-काण्डों एवं पूजा-पाठ आदि से कोई संबंध नहीं है। धर्म का अर्थ है प्राकृतिक क़ानूनों की आध्यत्मिक भावनाओं से अनुपालना। राजर्षि नेता 'ऋषि चेतना' के अनुयायी के रूप में धर्म के मार्ग का अनुसरण करते हैं, जिसमें 'सामुदायिक-भूमिका' 'स्व-भूमिका' से उपर होती है। ऐसे लीडर आत्म-नियंत्रण करते हुए शाश्वत कानून का अनुसरण करते है और श्रीराम की तरह एक आदर्श नेता, आदर्श राजा, आदर्श भाई, आदर्श पुत्र, आदर्श मित्र और एक व्यावहार कुशल व्यक्ति के रूप में जाने जाते है। राम ने सामान्य परिस्थितियों में भी अपने मूल्यों पर खड़े रहने का प्रयास किया जैसे कि उनकी एक ही पत्नी थी, जबकि बहुविवाह प्रचलित था तथा उनके पूर्वजों मे सभी ने बहुविवाह किया था। कठिन परिस्थिति में भी, धर्म और वचन का पालन करते हुए श्रीराम ने भरत के अयोध्या लौटने के प्रस्ताव को यह जानते हुए भी कि वनवास कष्टकारी होगा, ठुकरा दिया।

6- प्रभावशाली चरित्र: राजर्षि नेतृत्व अपने उच्च आचरण के माध्यम से अपने अनुयायिओं मे ऐसा विश्वास पैदा करते है कि उनका लीडर रास्ते मे आने वाली कठिनाइयों को आसानी से पार करा सकेगा। इस हेतु राजर्षि लीडर अपने भीतर निम्न गुणों को विकसित करने का प्रयास करता है:

- व्यक्तिगत विचार एवं प्रदर्शन
- आदर्श प्रभाव
- बौद्धिक प्रोत्साहन

- **व्यक्तिगत विचार एवं प्रदर्शन :** कोई भी संगठन अपने समूह के सदस्यों के प्रदर्शन के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए व्यक्तिगत विचार एवं प्रदर्शन के माध्यम से लीडर संगठन के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तिगत विकास का ध्यान रखते हुए उन्हें प्रशिक्षित एवं प्रेरित करता है जिससे वह जोख़िम भरे कदम उठा सके जैसे

कि सुग्रीव जो कि बालि से थर-थर कांपता था, ने राम के करिश्माई व्यक्तित्व के कारण बालि से लड़ने की हिम्मत जुटा सका।

- **आदर्श प्रभाव :** लीडर अपने अनुयायियों से सम्मान की मांग नहीं करता है बल्कि उसके उच्च स्तर नैतिक आचरण और चरित्र उसे सम्मान और प्रशंसा योग बनाता है। सामूहिक मिशन, विश्वास और मानवीय मूल्यों के माध्यम से वह अनुयायियों को इस तरह जोड़ता है कि टीम के सदस्य चुनौतीपूर्ण कार्य को स्वयं दिल और दिमाग से स्वीकार कर सकें जैसे कि युद्ध के पहले दिन ही निहत्था हो जाने के बाद रावण को छोड़ देने के कारण ही राम ने रावण के साथ पूरे युद्ध को 'सत्यमेव जयते' के युद्ध के रूप में बदल दिया।
- **बौद्धिक प्रोत्साहन** : अर्थात अनुयायियों को नए दृष्टिकोण से समस्या को समझने के लिए प्रोत्साहित करना जैसे कि जब हनुमान समुद्र के ऊपर उड़ते हुए सुरसा से मिले, तो सुरसा ने उनके रास्ते को रोकते हुए उन्हें उसके मुंह में प्रवेश करने के लिए कहा। हनुमान ने अपने शरीर का आकार सुरसा के मुख के आकार से दुगना कर दिया। इस पर सुरसा ने भी अपने मुंह के आकार को हनुमान के शरीर के आकार से दोगुना बढ़ा दिया। यह प्रतियोगिता तब तक चलती रही जब तक सुरसा ने अपने मुंह का आकार 32 योजन के बराबर नहीं कर लिया। हनुमान ने समस्या को एक अलग दृष्टिकोण से देखा और अपने शरीर के आकार को मच्छर के समान छोटा करके उसके मुंह में प्रवेश किया और बाहर आ गए। सुरसा उनके रचनात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित हुई और उन्हें राम-काज के कार्य को पूरा करने का आशीर्वाद दिया।

7-सेवक शैली का भाव : सेवक शैली का अर्थ सामान्य अर्थों में सेवक नहीं है। राजर्षि दो शब्दों से बना है, राजा- एक नेता जो ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में उत्कृष्ट है, और ऋषि का अर्थ है संत जो समाज की सेवा के लिए खुद को समर्पित कर देता है। नेतृत्व की स्थिति लीडर को अपनी भौतिक एवं तामसिक इच्छाओं की पूर्ति का मौका देती है इसलिए आवश्यक है कि लीडर अपने भीतर सेवक शैली का भाव विकसित

करें। सेवक का गुण लीडर की अहंकारी गुणवत्ता को कम करता है और वह आंतरिक संतुष्टि महसूस कराता है। ऐसा लीडर अपने 'भीतरी स्व एवं बाह्य स्व' उच्च स्तर का सूक्ष्म संतुलन बनाए रखने मे कामयाब रहता है, शबरी, जिसे निम्न कुल का माना जाता था, के जूठे बैर खाना एवं जटायूं को अपनी गोद मे सुलाना सेवक शैली का अनूठा उदाहरण है। लीडर का इस तरह का आध्यात्मिक झुकाव अन्य लोगों को लीडर के साथ जुड़ने के लिए प्रभावित करता है जैसे कि जब हनुमान राम से जब ब्राहंण वेश मे मिले तो उनका दास्य भाव जगा और वें समझ गए कि राम एक महान विद्वान और योद्धा हैं और उनके मालिक सुग्रीव का कल्याण कर सकेंगे।

सेवक शैली का भाव की अपनी प्रकृति के कारण ही, श्री राम हमेशा शांत रहते हुए भी सफलता प्राप्त करते थे, जबकि उनके भाई लक्ष्मण कई मौकों पर अपना आपा खो देते थे, जिसके कारण उन्हें नाविक द्वारा नदी पार कराने से इनकार करने, मेघनाथ द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र से बेहोश होने जैसी परेशानी झेलनी पड़ी।

8- समावेशी विकास: सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) या तुलन पत्र मे दिखाये गए लाभ के आंकड़ो द्वारा किसी देश या कम्पनी की आर्थिक प्रगति को मापना एक पुराना सूत्र (फॉर्मूला) है। अब इसे मानवीय विकास सूचकांक से मापने की आवश्यकता है। सतत आर्थिक विकास के अलावा पर्यावरण और सामाजिक जीवन में भी सुधार एक महत्वपूर्ण पहलू है। राजर्षि लीडर यह भली भांति समझता है कि वह ब्राह्मणीय इकाई का एक अविभाज्य अंग है और उसके द्वारा किए गए कार्य का उस पर वैसा ही असर पड़ेगा जैसा कि आस-पास के वातावरण पर। अतः वह ब्रहमाण्ड के नियमों से तालमेल बिठाते हुए निर्णय लेता है जिससे संस्था के भीतर सकारात्मक ऊर्जा पैदा होती है एवं भावनात्मक पूर्ण मानवतावादी और नैतिक वातावरण बनता है जैसा कि भगवद गीता मे उदृत है:

सर्वभूत्स्थमात्मान्न सर्वभूतानि चात्मनि, ईक्षते योगयुकतात्मा सर्वत्र समदर्शन:

(6'29)

सर्वभूत्स्थित्म यो मां भजत्येकत्वमास्थित:, सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।
(6'30)

समावेशिता 'वसुधैव कुटुम्बकम' का आधार है तथा आधुनिक संगठन मे उतना ही आवश्यक है जितना 'राम-राज्य' में। 'राजर्षि' मॉडल को अपनाने वाला लीडर अपने संगठन में समावेशित विकास को वैसे ही मजबूत करता है जैसे कि राम ने संतों, वंदरों, खानाबदोशों, आदिवासियों को जोड़कर राक्षसों का नाश किया था। जाति, रंग, पंथ और धर्म आदि के आधार पर भेदभाव को खारिज किया जैसा कि अरण्य कांड में कहा भी गया है:

"जाति पति कुल धर्म बदाई, धन बाला परिजन गुना चतुराई,
भगस्ति हिना नारा सोहाई कैसा, बीनू जल बारिदा देखा जैसा।" (3:34:3)

समावेशी नेतृत्व में, श्रीराम की भांति ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान करते हुए उनकी खूबियों को समझने एवं निखारने की अद्वितीय क्षमता है जैसे श्री राम उस युग ने अस्पृश्यता और निम्न एवं उच्च कुल के भेदभाव के प्रचलित मानदंडों को खारिज करते हुए वे सभी के साथ घुलमिल गए और अपने सेना मे विभिन्न किस्म के व्यक्तियों को शामिल किया जैसे यदि हनुमान उनकी सेना में सबसे शक्तिशाली व्यक्ति थे तो जामवंत बूढ़े और कमजोर होने के बावजूद एक रणनीतिक विचारक के रूप मे शामिल थे। इसी तरह, अंगद जो कि बाली (जिसे उन्होने मारा था) का पुत्र था, को शामिल किया तो विभीषण, जो कि रावण (जिसे वह मारने जा रहे थे) का भाई होने के बावजूद शामिल किया। नल-नील को भी अपने दल में शामिल किया जो कि अभिशाप से पीड़ित थे किन्तु अच्छे वास्तुकार थे।

निष्कर्ष

प्रतिस्पर्धा के इस युग मे बहुमुंखी प्रतिभा वाले कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, अतः राजर्षि नेतृत्व अपनी संस्था मे यह सुनिश्चित करता है कि :

- लोगों के साथ समान और निष्पक्ष व्यवहार हो रहा है।
- लोगो मे नवाचार और रचनात्मकता के अवसर प्राप्त हो रहे है।
- विभिन्न स्तर के नेतृत्व प्रदाताओं मे आत्म-सतर्कता एवं आत्म-अनुशासन बरता जा रहा है।
- मशीन से अधिक मनुष्य पर ध्यान दिया जा रहा है।
- लोगों मे संस्था के प्रति अपनेपन का भाव पैदा हो रहा है, और
- संसाधनों का बेहतर उपयोग इस प्रकार हो रहा है संस्था के सदस्य लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एक दूसरे की मदद कर रहे है।

त्रेता युग में श्री राम द्वारा अपनाई गई राजर्षि नेतृत्व की उक्त शैली आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी कि आज से 5000 वर्ष पूर्व थी। राजर्षि नेतृत्व शैली के उक्त गुणों का पालन किया जाय तो उत्कृष्ट का ऐसा संस्थान बनेगा, जिसमें उच्च स्तर की कॉर्पोरेट संस्कृति विकसित होगी और संस्था के कर्मचारी न केवल समर्पित और निष्ठावान होंगे अपितु सही अर्थों में उत्कृष्ट होंगे एवं उच्च कोटि की ग्राहक सेवा प्रदान करेंगे और अपने प्रतिस्पर्धियों से हमेशा ही आगे रहेंगे, चाहे वह कितना ही ताकतवर एवं आक्रामक क्यों न हो।

संदर्भ सूची:

1. ए. शुक्ला. 7 मेंजमेंट लेशन दैट एंटेल रामायण। एण्टरप्रेंनुएर (2015)। https://www.entrepreneur.com/article/252374
2. आर. गुप्ता एवं डी. मित्रा. एन एम्परिकल स्टडी ऑन स्प्रिचुआलिस्टिक एलिमेंट्स इन ओर्गेनाइजेशनल लीडरशिप एंड एन अनालिटिकल फ्रेमवर्क ऑन राजर्षि लीडर्स विथ रेस्पेक्ट टू इंट्रापर्सनल एंड इंटरपर्सनल फेक्टर्स। इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ ह्यूमन रीसौर्स मेंजमेंट (अंक 6), 2017, पृ.9-22। http://www.iaset.us/archives/international-journals/international-journal-of-human-resources-management? page=3
3. आर. जे स्टर्नबर्ग. द मिसिंग लिंकस : कमेंट्स ऑन द साइंस ऑफ विज़डम इन ए पोलेराइज्ड वर्ल्ड। साइकोलोजिकल इंकवाइरी (अंक 31),

पृ 153-159।
https://doilorg/10.1080.1047840x.2020.1750922

4. बी.ए. मुनियापन. ट्रांसफोरमेशनल लीडरशिप स्टाइल डीमोन्स्ट्रेटेड बाई श्रीरामा इन वाल्मीकि रामायण। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इंडियन कल्चर एंड बिजनेस मैनेजमेंट (अंक 1), 2007 पृ. 104। https://doilorg/10.1504/ijicbm.2007.014473
5. बी.पी.सक्सेना, तुलसी रामायण - द हिंदू बाइबिल, 2016।
6. बोधानंद, टी. अग्रवाल एवं एस. मेनन. *समावेशी नेतृत्व: परंपरा और आधुनिकता से परिप्रेक्ष्य*,रूटलेज इंडिया प्रकाशन, 2019।
7. दिनेश कुमार, एन इवलुयएशन ऑफ इंपेक्ट ऑफ एचआरडी मीजर्स इन स्ट्रेटजिक चेंज मेनेजमेंट एंड पर्किन अप कस्टमर सेटिस्फेकशन: केस स्टडी ऑफ बैंक ऑफ बड़ौदा (पीएच.डी उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)। शिक्षा और अनुसंधान विश्वविधालय, भुवनेश्वर , 2015, http://shodhgangalinflibnetlac.in:8080/jspui/handle/10603/50881
8. दिनेश कुमार, दिव्यान्शु सिंह एवं कृतिका। लिटरेचर रिवयू ऑफ ट्रान्स्फ़ोर्मेशनल सरवेंट स्टाइल ऑफ लीडरशिप : फाउंडेशन ऑफ राजर्षी मॉडल ऑफ लीडरशिप,जर्नल ऑफ माइक्रो एवं स्माल बिज़नस मेजमेंट, (अंक 2), 2021, पृ 40-52। https://doi.org/10.46610/jmsbm.2021.v02i01.005
9. एस. चक्रवर्ती. विज़डम लीडरशिप: लीडिंग बाई सेल्फ। *जर्नल ऑफ ह्यूमन वैल्यू* (अंक -1), 1995, पृ.205-220। https://doi.org/10.1177/097168589500100205
10. एस.चक्रवर्ती. आत्म-केंद्रित, राजर्षि नेतृत्व। इश्यू इन बिजनेस एथिक्स (अंक 2), 2011,पृ. 23-39। https://doi.org/10.1007/978-94-007-1153-2_2

11. तुलसीदास, श्री रामचरितमानस (2012 वां संस्करण), गीता प्रेस, गोरखपुर।
12. *श्रीमद्भगवद्गीता* , गीता प्रेस, गोरखपुर।

कोका किंगः एक विमर्श

नन्दकिशोर नीलम
विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बाबू शोभाराम राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर (राज.) 301001
मो. 9462639738
ईमेलः drnkneelam@gmail.com

आलेख सार

रजनी मोरवाल की कहानी 'कोका किंग' का कथानक हिंदी कहानी में एक महत्वपूर्ण घटना है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह कथानक उठाने का काम एक स्त्री लेखक ने किया है और वह भी एक दलित स्त्री लेखक ने तो कोका किंग पर बवाल मचना स्वाभाविक ही था! इस कहानी पर 100 से भी ज्यादा टिप्पणियों का विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्दः *कहानी, रजनी मोरवाल, स्त्री, साहित्य, विमर्श*

आलेख

रजनी मोरवाल की कहानी 'कोका किंग' का कथानक हिंदी कहानी में एक महत्वपूर्ण घटना है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह कथानक उठाने का काम एक स्त्री लेखक ने किया है और वह भी एक दलित स्त्री लेखक ने तो कोका किंग पर बवाल मचना स्वाभाविक ही था! इस कहानी पर मैंने 100 से भी ज्यादा टिप्पणियों का विश्लेषण किया है। एक भी टिप्पणी कहानी की संपूर्णता को लेकर नहीं है। बस अश्लीलता के नाम पर रजनी मोरवाल और 'हंस' को खारिज किया गया है। असल में ये लोग कभी हंस के महत्व को समझ ही नहीं पाए। सचाई यह है कि आज ये लोग जिन विषयों पर बात कर पा रहे हैं, जिन विमर्शों के झंडाबरदार बने हुए हैं उन विषयों और विमर्शों का जनक हंस पत्रिका ही है। इन टिप्पणियों में एक तरफ कहानी की महानता का अतिरंजन है तो दूसरी ओर केवल नकार-लानत-मलानत! तिहाड़ी एंकर की तरह हिंदी साहित्य में भी हर बात के लिए सनसनी फैलाने वाले कुछ 'निपट अशांत', अति उपद्रवी लोग और उनके स्त्री-पुरुष 'मित्रों' की एक नस्ल है जिन्हें यह कहानी अश्लील, सॉफ्ट पोर्न, कोक शास्त्र, कोकशास्त्र का गुटका संस्करण और यौन शास्त्र लगती है, कुछेक को देहवाद की पोशक लगती है, कुछ कहती हैं कि 'यौनिकता

का स्थूल भद्दा वर्णन भी कहानी को पोर्न बनाता है', कुछ तो यहां तक कह रहे हैं कि 'सेक्स, कामसूत्र, यौन और ऑर्गेज्म आदि साहित्य के विषय हैं ही नहीं।'

हिंदी साहित्य के लिए 'पुरुष यौनकर्मी' विषय भले ही अजनबी रहा हो या इस पर बहुत ज्यादा न लिखा गया हो (वैसे एक उपन्यास 'दो मुर्दों के बीच गुलदस्ता' का जिक्र आया है जिसको पुरुषवेश्या के जीवन पर लिखा हिंदी का पहला उपन्यास माना जाता है।) पर यह समाज की रगों में बहती हुई अनंत काल की सच्चाई है जो विभिन्न रूपों और परिस्थितियों में विद्यमान रही है। यूट्यूब, फिल्मी दुनिया, ऐप और ऑडियो स्टोरीज में जिगोलो या मेल एस्कॉर्ट के कथानक लम्बे समय से उपलब्ध हैं। निहायत निम्न दर्जे की सी ग्रेड फिल्मों को छोड़ भी दें तो आजकल शॉर्ट फिल्मों और वेबसीरीज की भरमार है इस विषय पर। पाठकों को याद होगा कुछ वर्षों पहले 'बीए पास' नामक फिल्म आई थी जिसमें मजबूरी में जिगोलो बने युवक की आत्महत्या द्वारा इस प्रवृत्ति का दुखांत वर्णन किया गया था। अच्छी कथा होने के बाद भी अतिषय कामुकता और सेक्स के भद्दे प्रदर्षन ने इस फिल्म को बाज़ारू बना दिया। वस्तुतः फिल्म का उद्देष्य जिगोलो की विवशता दिखाने से ज्यादा अनावश्यक लम्बे-लम्बे यौन दृश्य दिखाकर एक खास दर्शक वर्ग को आकर्षित करना मात्र था।

पहले इसका रूप भले ही आज जैसा सुनियोजित, खुला, व्यावसायिक और व्यापक न रहा हो, भले ही अब की तरह पुरुषों की मंडी न सजती हो पर हमारे महानगरों में यह प्रवृत्ति बहुत पहले से रही है। 1980 के आसपास ज्यादातर जान पहचान और पर्सनल संबंधों पर ही इस प्रवृत्ति की नींव टिकी थी। प्रायः तरुण और सद्यः युवा पहली पसंद होते थे। तब न बुक करके बुलाया जाता था न सौदेबाजी होती थी। बाकायदा इस काम के लिए लालच और ऑफर दिए जाते थे। नब्बे के दषक के आरंभ में होटल्स में मर्दों की खरीद फरोख़्त होने लगी। 1980 वाला रूप अब अधिक व्यवस्थित और व्यावसायिक हो चला था। सखियों और अच्छे होटल्स के विश्वसनीय कर्मचारियों के माध्यम से सब कुछ तय किया जाता था।

साहित्य में स्त्री वेश्या जीवन पर विभिन्न कोणों और दृष्टियों से पर्याप्त लेखन हुआ है पर साहित्य में पुरुष वेश्या विषय उपेक्षित क्यों रहा इसके दो प्रमुख कारण मुझे नज़र आते हैं। एक तो स्त्री रचनाकारों का इतने बोल्ड विषय (पुरुष वेश्या) पर लिखने में संकोच और दूसरा पुरुष रचनाकारों पर स्त्री-विमर्शकारों द्वारा पितृ सत्तात्मक सोच, स्त्री विरोधी और विकृत मानसिकता का होने के आरोप का डर! क्योंकि विषय स्त्री यौनिकता से जुड़ा है और अब तक हिंदी जगत दिमागी तौर पर इतना परिपक्व नहीं हुआ है कि वह इस बात को स्वीकार ले कि कोई रईस औरत रुपये देकर बार-बार सेक्स खरीद रही है! हमारे यहां स्त्री-विमर्श भी बस इसी रूप में काम्य है जिसमें हर औरत शोशित है और हर पुरुष शोषक! पुरुष देह का खरीदार है और स्त्री मात्र देह है। पुरुष विभिन्न प्रकार की हिंसाओं के साथ-साथ यौन हिंसा भी करता है और स्त्री उसे सहने को विवष है। स्त्रीवादी यह भूल जाते हैं कि सेक्स एक बायॉलोजिकल नीड है और यह नीड स्त्री को भी बेचैन करती है। वह भी संतुष्ट या असंतुष्ट हो सकती है। उसको भी परपुरुष आकर्षित कर सकता है। उसको भी किसी के खयाल सता सकते हैं। वह भी ऑर्गैज़म को लेकर कॉशियस हो सकती है। वह भी अपनी मर्जी से अपने अनुसार सेक्स का चयन और उपभोग कर सकती है। असल में मर्दवादियों ने स्त्री को केवल देह समझा और स्त्रीवादियों ने उसे काम-संवेदना विहीन पुतली! इसका प्रमाण अभी सामने आया जब अनु शक्ति सिंह ने स्त्री ऑर्गैज़म पर टिप्पणी की। बहुत ताज्जुब हुआ कि अधिकांश स्त्री-पुरुषों ने भूख और पेट की गणित में स्त्री ऑर्गैज़म के बहाने स्त्री यौनिकता को ही स्पष्ट रूप से नकार दिया। यह नकार भी एक तरह का उत्पीड़न है। यह उत्पीड़न पितृसत्ता का हथियार है। असल में स्त्री-विमर्श के समर्थन और विरोध में खड़े अतिवाद ने स्त्रियों का बड़ा नुकसान किया है। दोनों ने स्त्री की सहज-प्राकृतिक यौन-आकांक्षाओं और फैंटेसियों का अपहरण किया है। वस्तुतः यौनिकता बायोलॉजिकल है इस नाते यौनिकता स्त्री और पुरुष दोनों में निहित है। पुरुष के लिए ये सब सहज रूप से उपलब्ध है पर स्त्री के लिए अंतहीन बाधाएं हैं। स्त्री की यौन आकांक्षाओं को लेकर खुली अभिव्यक्ति अभी हिंदी साहित्य में कम है। देहमुक्ति का विचार खुद स्त्री विमर्श और लेखन में ही अभी विवादास्पद है।

रजनी मोरवाल ने अब के सबसे ज्यादा चलन में रहे विषय को कहानी के रास्ते साहित्य में प्रवेश करवाया तो खोखले आदर्शों की चूलें हिल गईं क्योंकि हम आज भी हमारी सनातन धर्मी महानता के दंभकारी प्रपंची सामाजिक परिवेश में जी रहे हैं जहां अनेक सामाजिक वर्जनाएं स्त्री पर लाद दी गई हैं ऐसे में यह कैसे बर्दास्त कर लिया जाता कि एक स्त्री लेखक ऐसी कहानी लिखे जिसमें न केवल सेक्स का खुला वर्णन हो बल्कि एक स्त्री को बार-बार पुरुषों की देह खरीदते हुए दिखाया गया हो इसलिए सारी बहस और चिल्लपों आधा पृष्ठ के वर्णन पर सिमट आयी कहा गया कि यह ''..... पोर्न का परस करने वाली कहानी है। ..... मृदुला गर्ग के। ..... चितकोबरा। ..... के चार पन्ने भी इस कहानी के सामने मासूम और पवित्र नज़र आते हैं।'' असल में 'छातियों' और 'गोलाइयों' जैसे कुछ चलताऊ शब्दों के प्रयोग के अलावा इस कहानी में सेक्स या अश्लीलता जैसा कुछ है ही नहीं। कोका किंग कहानी अश्लील नहीं है। अगर गहराई से देखें तो हिन्दी में ऐसी अनेक कहानियां हैं जिनमें कोका किंग से ज्यादा खुला काम चित्रण है। ऐसा लगता है लिप लॉक और लिकिंग जैसे आम शब्दों से ही हिंदी का पाठक गष खा गया है! कोका किंग चितकोबरा के पासंग भी नहीं है। चितकोबरा खुले और लंबे-लंबे सेक्स दृष्यों के बाद भी नायिका की मनोदशा और परिवेश का गहन विवेचन करने वाला अपनी तरह का युगप्रवर्तक लघु उपन्यास है। अगर रजनी मोरवाल इस कथानक को ठीक से विनियोग कर लेती तो कोका किंग कहानी भी हिंदी कहानी में एक नए विषय का प्रवर्तन करती!

इस कहानी का नायक नैरेटर एक कम पढ़ा लिखा निम्न मध्यम वर्ग का युवक है जो 'मकड़जाल-सी नजर आने वाली कॉलोनी' में अपने बड़े परिवार के साथ मुष्किल से जीवन बिता रहा है।' (पृष्ठः 21) ऐसी ही एक कॉलोनी में रहने वाली जसविंदर की सहायता से वह जिगोलो बनकर अपने आंगन में भी जसविंदर की तरह 'सोने का एक गाछ' लगाता है। निसंदेह हिंदी साहित्य की यह पहली कहानी है जो किसी महिला ने लिखी है और जिसमें एक उच्चवर्ग की ''सांवले रंग की लंबी, छरहरी और घने बालों वाली लड़की, जिसकी स्याह बरौनियों पर जाने-अनजाने आंसू छलक आते हैं। । '' (पृष्ठः 19) दस हजार रुपये में एक रात के लिए मर्द की देह खरीदती है। वह बार-बार

यह काम करती है। यह हिंदी साहित्य के लिए कोई साधरण बात नहीं है। इसके लिए रजनी मोरवाल के साहस की दाद देनी चाहिए। उन्होंने एक ऐसे जरूरी कथानक का रास्ता खोला है जिसका ख्याल और साहस ही हिंदी में अभी तक दुर्लभ था। अब तक देह खरीदने का काम सिर्फ पुरुष करते आए हैं। बिकने वाली देह स्त्री की होती है। पर यहां तो देह की खरीदार स्त्री है और बिकने वाली देह है पुरुष की! इससे हुआ यह कि पुरुष तो पुरुष कई दक्षिण पंथी स्त्रीवादी लेखक भी इस कहानी से तिलमिला उठीं। अधिकांश वे लेखक फिलहाल चुप हैं जो स्त्री-विमर्श के अतिवाद को लेकर सुर्खियों में बनी रहती हैं। कई प्रगतिशील और जनवादी कही जाने वाली स्त्रीवादी लेखक भी (इस आलेख के लिखे जाने तक) मौन हैं। इस सारी उठा-पटक में कहानी के असल मर्म, प्रस्तुतिकरण और परिवेश पर बात न के बराबर हुई। कहानी हंस से पहले भी एक संकलन में 'कोका क्वीन' नाम से छप चुकी है। मुझे इस बात से ज्यादा लेनादेना नहीं है कि कहानी नाम और आंशिक फेरबदल के बाद दुबारा छपी है। यह लेखकीय ईमानदारी की बात है! लेखक और संपादक के बीच का मसला है! दोनों कहानियों को एक सजग पाठक की हैसीयत से देखता हूं तो मेरे सामने एक महत्वपूर्ण विषय है और उस पर लिखी एक कहानी है जिसमें नैरेटर नायक कोका किंग है और नायिका एक लेखक है जिसका नाम प्रिया उर्फ फिरोज़ा है। ऐसा नहीं है कि कहानी खास अवसर पर छपने के लिए जल्दबाजी में लिखी गई हो। इस कहानी के 'कोका क्वीन' से 'कोका किंग' बनने के बीच रजनी मोरवाल के पास पर्याप्त समय था। पर न जाने किस हड़बड़ी में सिर्फ़ नाम बदलकर आंशिक परिवर्तन करके कहानी दुबारा छपवा दी।

इस कहानी में जहां-जहां कहानीकार सहज रही हैं वे अंश कहानी के रूप में कुछ प्रभाव छोड़ते हैं। सहवास में रहे अधूरेपन के वर्णन वाला अंश- ''..... दम घुट रहा है मेरा, छोड़ो!''

''क्या वाकई छोड़ दूं? ऐसे मौके पर तुम छूटकर परेशान हो जाती हो।''

‘‘हां, व्यक्तित्व पर एक अधूरापन तारी हो जाता है, अपूर्णता किसी को पसंद आएगी भला?‘‘ (पृष्ठः 17-18) सहवास के बाद विदा होते समय की जाने वाली ‘पागलपंतियों‘ वाला प्रसंग (पृष्ठः 18-19) और सोने के गाछ वाला वर्णन (पृष्ठः 21) ऐसे ही हैं। कहानी के अंत में नैरेटर का चिंतन ‘‘ऑल वेल देट एंड्स वेल। यही परिकल्पना सात्विक है न। ..... ? फिर मैं खुष क्यों नहीं अपनी बंधी-बंधाई नौकरी से? अपनी पत्नी से? अपने छोटे-से घर से? दोपहिए से? क्यों अधूरे सपनों की किरचन जब-तब मेरी आंखों में लगती है। ..... ऊपर से स्वास्थ्य को लेकर चिंतित भी हो उठा हूं। अपने आंगन में मेरा ही लगाया हुआ सोने का गाछ मुरझाने लगा था। ..... ?‘‘ (पृष्ठः 22) जैसे कुछ अंश प्रभावी हैं। पर कहानी के मुख्य सूत्र को ठीक से पकड़कर रजनी मोरवाल आगे नहीं बढ़ पायी जिससे पूरी कहानी कमजोर होकर बिखर गई।

रजनी मोरवाल ने कहानी के आरंभ में फिरोज़ा की एक आदत ‘होंठ तिरछा करके मुस्कुराने’ को उसके एक परिचयात्मक सिंबल की तरह प्रयोग करने की कोशिश की है। ‘‘वह अक्सर होंठ तिरछा करते हुए मुस्कुराती थी।’’ (पृष्ठः 16) कहानी में होंठ तिरछा करके मुस्कुराने के प्रसंग कई बार आए हैं। कहानी के आरंभ में ही दूसरी बार होंठ तिरछा करने का वर्णन करते हुए लेखक लिखती है- ‘‘..... वह पहले से अधिक तिरछा होंठ करके मुस्कुराई थी और ऐसा करते हुए उसका नीचे वाला होंठ कंपन करने लगा था।’’ (पृष्ठः 16) अच्छा यह होता कि इस आदत को फिरोज़ा के जीवन-मनोविज्ञान से जोड़ कर कोई सार्थक कारण या परिस्थिति रची जाती, बिना इसके यह प्रसंग आरोपित लगता है। रजनी मोरवाल ने आरंभ से ही इस आदत को कुतूहल जगाने की नीयत से प्रस्तुत किया है जिससे पाठक में इसके कुछ खास निहितार्थ होने की सनसनी पैदा होती है लेकिन प्रसंग को बार-बार बस जिक्र करके छोड़ दिया गया है। फिर लगता है न जाने किस हड़बड़ी में वह खुद ही भूल गई हो!

‘‘ए लिटल एक्सट्रा एफर्ट। ..... ’’ जैसे दार्शनिक वाक्य से कहानी की शुरूआत करने वाली रजनी मोरवाल नैरेटर के रूप में तुरंत ही छातियों और गोलाइयों जैसे चलताऊ शब्दजाल में फंस जाती है। ये शब्द अपेक्षाकृत ज्यादा ‘कैची’ हैं पाठक पर सीधा ‘अटैक’ करते हैं कहानीकार यह जानती है पर कहानी की नायिका के संपूर्ण व्यक्तित्व

पर कहानीकार ज्यादा नहीं खुल पायी। इस खास विषय की खास नायिका के व्यक्तित्व को जिस गहरी संवेदना से गढ़ना था वह लेखक नहीं कर पायी। कुछ घटनाएं और प्रसंग तो नितांत आरोपित और अविश्वसनीय लगते हैं। उसके क्लीवेज वाले काले तिल के क्रोधित होकर धधकने का वर्णन भी ऐसा ही है जिसका मतलब सिर्फ सिहरन पैदा करना है। (पृष्ठः 17) कहानी में आया बेगम अख़्तरी का प्रसंग भी थोपा हुआ लगता है। न कहानी में उसकी कोई जरूरत लगती है न नायिका की किसी खास मनःस्थिति का वह उद्घाटन करता है। ठुमरी की जिन पंक्तियों को नायिका गुनगुनाती है वे भी प्रसंगानुकूल नहीं हैं। ऐसा लगता है रजनी मोरवाल को भी इस बात का एहसास है इसलिए 'कोका क्वीन' कहानी में प्रस्तुत की गई दस पंक्तियों को वह खुद ही हटाकर कोका किंग में सिर्फ चार पंक्तियां रखती हैं। यही नहीं कोका क्वीन कहानी में अख़्तरी बाई से संबंधित एक पूरा पैराग्राफ है जो कोका किंग से हटा दिया गया है। जाहिर है रजनीजी खुद इससे आश्वस्त नहीं थी। असल में यह तात्कालिक रूप से उपजे 'यूट्यूबी ज्ञान' का उद्वेग है जिसका प्रयोग करने से लेखक खुद को रोक नहीं पायी। चलो मान लेते हैं कि फिरोज़ा तो लेखक है इस नाते साहित्य और संगीत से परिचित है पर नैरेटर भी यह जानता है कि उक्त ठुमरी सुदर्शन फ़ाकिर की लिखी है जबकि उसके साहित्य प्रेमी व्यक्तित्व की इस खूबी की झलक कहानी में और कहीं नहीं मिलती! दोनों की संक्षिप्त सी वार्तालाप में रजनी मोरवाल ने इस प्रसंग को जस्टीफाई करने की निष्फल कोशिश की है-

''..... आज अख्तरी बाई का जन्मदिन है।''

''गजब है! तुम्हें इतना सब याद है।''

''ये क्यों नहीं कहते कि तुम्हें हैरत है कि मेरी जैसी स्त्री ये सब जानकारी कैसे रखती है?'' (पृष्ठः 17)

इस संवाद के बाद भी यह प्रसंग कहानी में पैबंद ही लगता है।

यहां लेखक के अनचाहे ही एक सार्थक डिस्कोर्स उभर आता है। नायिका का नैरेटर से यह कहना ''..... तुम्हें हैरत है कि मेरी जैसी स्त्री ये सब जानकारी कैसे रखती है?''

(पृष्ठः 17) कई सवाल खड़े करता है। क्या कहानीकार के मन में यह संदेह है कि अपनी यौन आकांक्षा को जिगोलो से पूरा करने वाली स्त्री कला-साहित्य-संगीत में रूचि नहीं रख सकती? यह प्रश्न पितृसत्ता या मर्दमानसिकता के स्थायी चरित्र को बयां करने के लिए खड़ा किया गया है? 'मेरे जैसी स्त्री' कहने के पिछे यही मन्तव्य है कि दुनिया की आम राय यही है? उसके अवचेतन में भी कहीं यह दबा हुआ है कि समाज उसे गलत औरत मानता है! कहीं न कहीं वह खुद इस गिल्ट का शिकार है कि वह गलत है! इसी उधेड़बुन में वह नैरेटर को संपूर्ण समाज का प्रतीक मानते हुए उस पर तंज करती है - ''क्यों? तुम क्या औरों से अलग हो?'' (पृष्ठः 17)

हालांकि पूरी कहानी में कहीं भी यह नहीं लगता कि रजनी मोरवाल इस कहानी में क्या कहना चाहती है फिर भी एकबारगी यह मान लेते हैं कि अनेक स्त्रीवेश्या की तरह अनेक पुरुषवेश्या भी यह धंधा खुशी से नहीं करते। उनकी भी मजबूरियां होती हैं और वे भी अपने स्वाभिमान को अनदेखा करके यह काम करते हैं। अधिकांश स्त्रियां तो इस धंधे में जबरन धकेल दी जाती हैं पर मर्दों के साथ जबरदस्ती वाली बात थोड़ा असहज करने वाली होगी। ऐसी स्थिति में लेखक अपनी गंभीर लेखनी से अपने पात्रों के पक्ष में एक मार्मिक माहौल का सृजन करते हैं जिससे पाठकों की संवेदना और सहानुभूति पात्रों के साथ हो जाती है। रजनी मोरवाल अपने नायक के मुंह से टुकड़े-टुकड़े स्वाभिमान की बात कहलवाकर भी वह परिवेश नहीं रच पायी जिसकी जरूरत कहानी में है- ''.....और मैं उस दस हजार की गड्डी को सहलाते हुए अपने टुकड़े-टुकड़े पड़े स्वाभिमान को पलंग से बटोरकर पुनः जीवित करने की कोशिश में जुट गया।'' (पृष्ठः 19) पूरी कहानी में नायक के स्वाभिमान को लेकर कहीं भी ऐसा द्वंद्व या तनाव नहीं दिखाया गया जिससे इतनी गहरी बात प्रकट हो! वह खुद प्रिया उर्फ फिरोज़ा से हुए एक संवाद में अपने अधूरे सपनों को पूरा करने के लिए पुरुष वेश्या बनना स्वीकार करता है। वह साफ-साफ कहता है कि- ''मुझे किसी ने धकेला नहीं है जबरन, बल्कि मैं खुद इन सब में दाखिल हुआ ठीक वैसे ही जैसे कोई वेश्या या कॉलगर्ल। '' (पृष्ठः 20) वह अति महत्वाकांक्षी व्यक्ति है जो हमेशा ऐशोआराम के ख्वाब देखता है- ''बचपन से ही मेरी आंखों को बड़े सपने देखने की लत थी। बड़ा

घर, लंबी कार, खूब धन-दौलत, संपत्ति और ऐष्वर्य के सपने आते थे। ..... '' (पृष्ठः 20) फिर स्वाभिमान का प्रश्न आया कहां से? यह भी नहीं है कि नायिका अपने व्यावहार से उसके स्वाभिमान को ठेस पहुंचाती है जैसा आमतौर पर वेश्यावृत्ति के धंधे में होता है। पर कहानी में तो दोनों के बीच ठीक-ठाक समझ ही प्रकट होती है। कहीं भी नहीं लगता कि नैरेटर के साथ स्वाभिमान का कोई संकट है। परिवेश और परिस्थितियों का जो चित्रण कहानीकार ने किया है वह भी इतना विद्रूप नहीं है कि उसकी वजह से नैरेटर जिगोलो बन जाए। जैसी परिस्थितियां नैरेटर की हैं वे आज देष के करोड़ों नौजवानों की है! एक तरफ संक्षिप्त वर्णन में नैरेटर खुद के स्वाभिमान को बिखरा हुआ पाता है वहीं कुछ समय बाद ही वह अपनी अलक्षित बीमारी के डर से पुनः 'टॉय बॉय' के नाम से अपनी नई आई डी बना कर उसी धंधे में प्रवृत्त होता है। कहानी के अंत मंनैरेटर के आंशिक द्वंद्व को दिखाते हुए कहानीकार ने इस बात को जस्टीफाई करने की कोशिश की है कि किन हालातों में वह फिर से टॉय बॉय बनता है। (पृष्ठः 22) यह जस्टीफिकेशन भी कई विरोधभासों से भरा पड़ा है। अपने खराब स्वास्थ्य के लिए चिंतित नैरेटर का फिर से जिगोलो बन जाना क्या अटपटा नहीं लगता? यह सारा खेल ही स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क पर टिका है। यौन-जीवन की सारी दुष्वारियां ही अस्वस्थ शरीर और अस्वस्थ मस्तिष्क से शुरू होती है। तब सवाल यह है कि बीमार मन और तन से सेक्स के लिए कैसे प्रवृत्त हुआ जा सकता है?

ऐसी ही अस्वाभाविकता फिरोज़ा के कथनों में भी भरी पड़ी है। पहली ही मुलाकात में वह नैरेटर से रोते-रोते कहती है- ''कोई अपनी मर्जी से ये सब नहीं करता!'' (पृष्ठः 19-20) फिर वह नैरेटर से अपनी भटकन और अस्थिरता का जिक्र करती है पर इनका कोई ठोस आधार वह नहीं बता पाती। भटकन और अस्थिरता क्या है? क्यों है? ये खुलासा ठीक-ठीक कहानी में नहीं होता है। वह बस इतना कहती है- ''मैं अस्थिर अवस्था में थी और किसी के साथ होना चाहती थी।'' (पृष्ठः 19) यहां दो स्थितियां हो सकती हैं एक तो यह कि वह मानसिक रूप से अस्थिर रही हो और उसे सहारे की जरूरत हो। पर ऐसी अवस्था में वह अपनी दोस्त से एस्कॉर्ट वाली साइट का पता नहीं

लेती। कोई ऐसा व्यक्ति खोजती जो मानसिक रूप से उसे सपोर्ट करता। ऐसी स्थिति में प्रायः विवाहेत्तर भावनात्मक प्रेम संबंध बनते हैं जो कालांतर में भले ही यौन संबंधों में बदल जाए। तो जाहिर है कि उसकी अस्थिरता सेक्स से संबंधित थी, उसके भीतर सेक्स के लिए आवेग था जिसे वह रोक नहीं पायी जैसा वह खुद स्वीकार करती है- ''मैं अस्थिर अवस्था में थी और किसी के साथ होना चाहती थी।'' यहां स्पष्ट संकेत है कि नायिका अपनी अस्थिरता को खत्म करने के लिए सेक्स को प्राथमिकता मानती है और कोका किंग को बुक करती है। इसी प्रसंग में वह आगे कहती है- ''..... इस तरह यदि आप मेरी इस अवस्था का इल्जाम धरें तो इसे मिड लाइफ क्राइसिस कह सकते हैं। आखिर होता भी तो यही है न, अपने गिल्ट से बचने के लिए हर व्यक्ति कोई सिर ढूंढता है जिस पर अपने गुनाहों के टोकरे को भारमुक्त कर सके? तो मिड लाइफ क्राइसिस से बढ़िया और क्या बहाना मिलेगा इस भटकन को विराम देने का?'' (पृष्ठः 19) यानि वह अपने गिल्ट से बचने और गुनाहों के टोकरे को भारमुक्त करने के लिए मिडलाइफ क्राइसिस के सिर को चुनती है। 'मिडलाइफ क्राइसिस एक मनोवैज्ञानिक टर्म है' जिस पर फ्रायड के अनुयायियों से लेकर आधुनिक काम-मनोविज्ञानी हैवलॉक एलिस तक के अनुयायियों ने अपनी तरह से विचार किया है। मिषेल फूको जैसे समकालीन यौन मनोविज्ञानी के विवेचन से स्पष्ट होता है कि अब यह एक सामान्य मनोवैज्ञानिक समस्या की तरह ट्रीट की जाती है क्योंकि इसका संबंध व्यक्ति की घुटन, टूटन, तनाव, अकेलेपन से है जो आज के युग की बड़ी सचाई है। इसका संबंध हमारी यौनिकता से भी है जो महानता के दंभपूर्ण प्रपंचकारी सामाजिक परिवेश की वर्जनाओं से उत्पन्न होती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि 'मिडलाइफ क्राइसिस' अमुमन 40 से 55 वर्ष तक के लोगों में उत्पन्न होने वाले विभिन्न मानसिक दबावों और तनावों का समुच्चय है जिसमें यौन समस्या भी एक है। मजेदार यह है कि रजनी मोरवाल ने बिना समझे हड़बड़ी में मिडलाइफ क्राइसिस को केवल 'अभुक्त काम वासना' तक सेंट्रलाइज कर दिया है। नायिका अपनी सेक्स डिमांड को मिडलाइफ क्राइसिस के बहाने से पूरी करना चाहती है।

किसी भी स्त्री के जीवन में ऐसा समय तब आता है जब उसके और उसके पति के बीच तनाव, कलह, उत्पीड़न, यांत्रिकता या अलगाव आ जाता है और वह अकेली पड़ती जाती है। ऐसा भी होता है कि स्त्री के जीवन में सामाजिक-आर्थिक कारणों से कोई गहरी टूटन और अकेलापन हो जो उसके सामाजिक व्यक्तित्व के साथ-साथ उसकी यौनिकता को भी प्रभावित करता हो। ऐसी किसी भी स्थिति का स्पष्ट संकेत कहानी में नहीं है। फिरोज़ा नैरेटर से अपने वर्तमान जीवन में पर पुरुष से सेक्स संबंधों को किसी अनजानी ऊब का कारण बताती है-''इन सबकी शुरुआत एक ऊब से हुई थी। ये ऊब स्वयं से थी, पति से थी या अपने एकाकीपन से, पता नहीं?'' (पृष्ठः 22) आगे वह नैरेटर से हुए सेक्स संबंधों को मिथ्यालोक कहते हुए सबसे छुटकारा पाने की बात करती है-''अब एहसास हो रहा है इस सारे प्रपंच के बावजूद भी अंततः वही रिक्तता बची जिसकी पूर्ति के लिए ये सारा मिथ्यालोक रचा जा रहा होता है, यह एक नखलिस्तान है ..... उफ्फ! में भी अब थक चुकी हूं और इस मायाजाल से छुटकारा चाहती हूं। '' (पृष्ठः 22) फिरोज़ा नैरेटर से एक नई ज़िंदगी की शुरुआत का वादा करके विदा ले आती है। कुछ समय बाद वह इसी मिथ्यालोक और नखलिस्तान में फिर से भटकने के लिए किसी नये एस्कॉर्ट को बुक करती है। रजनी मोरवाल ने कहीं भी फिरोज़ा की इस मनःस्थिति का जिक्र नहीं किया है कि जिस प्रपंच को रचने के बावजूद भी अंततः उसको रिक्तता ही मिलती रही थी जिसकी पूर्ति के लिए उसने सारा मिथ्यालोक रचा था आखिर क्यों उसी मिथ्यालोक में फिर धंसने को लालायित हो जाती है? ''..... आज तुम मन भर लो! मैं चुक गई हूं भीतर से। '' (पृष्ठः 17) कहने वाली फिरोज़ा क्यों फिर से उसी सेक्स की तरफ भागती है जिससे वह अपने भीतर से चुक गई है? यहां यह भी उल्लेखनीय है कि रजनी खुद खुल कर यह लिखने का साहस नहीं कर पायी कि नायिका बार-बार सेक्स संबंधों के लिए आवेगशील है, बेचैन है और वह अपनी जरूरत को पूरी करने के लिए सचेत-प्रयत्नशील भी है। स्पष्ट है कि उसकी अस्थिरता और भटकन का आखिरी ठौर सेक्स ही है। कहानी के अंत में उसके द्वारा किए गए ''टॉय बॉय मिलेगा?'' (पृष्ठः 22) मेसैज से यह बात साबित हो जाती है।

फिरोज़ा के व्यक्तित्व की एक और विचित्रता कहानी में प्रकट होती है। जब वह नैरेटर से पूछती है कि ‘‘तुम क्यों करते हो ये सब?’’ (पृष्ठः 20) तो नैरेटर अपने सामाजिक-आर्थिक कारणों को गिनाते हुए यह भी कहता है कि ‘‘मेरी बीबी बेहद बदसूरत है और सरकारी जॉब करती है‘‘ (पृष्ठः 22) इसलिए वह उससे शादी कर लेता है। फिरोज़ा इस बात के लिए उससे सवाल करती है- ‘‘एक तरह से यह फैसला भी अपने अधूरे सपनों को पूरा करने के लिए लिया?‘‘ (पृष्ठः 22) वह स्वीकार करता है कि ‘उसको अपने सपने पूरे करने का यही तरीका उचित लगा था।’ (पृष्ठः 22) यह जानकर आष्चर्य होता है कि फिरोज़ा एक लेखक है, फेमिनिस्ट है इस नाते संवेदनशील भी है। एक संवाद में वह जसविंदर के प्रसंग में नैरेटर को फटकारती है- ‘‘अब ये मत कहना प्लीज कि उसी (जसविंदर) ने तुम्हें बिगाड़ा था? पुरुषों के लिए यह दुनिया का सबसे सहूलियत भरा आक्षेप है अपनी दुर्बलताओं और जिम्मेदारियों से बचने का। सारा किया-कराया स्त्रियों के सिर मढ़ दो और स्वयं को मासूम सिद्ध कर दो। ‘‘ (पृष्ठः 21) यह उद्धरण देने के पीछे मुख्य कारण यह है कि जसविंदर के लिए नैरेटर को फटकार लगाने वाली फिरोज़ा तब क्यों चुप रहती है जब वह सीधे-सीधे अपनी बीबी को ‘बेहद बदसूरत’ कहते हुए ‘सरकारी नौकरी’ की वजह से उससे शादी करना स्वीकार करता है? नैरेटर के अनुसार वह नारीवादी स्त्री है और ‘‘बार-बार पितृसत्ता के विरुद्ध झंडा बुलंद करती है।’‘ (पृष्ठः 21) तो कैसे उस पुरुष के साथ वह इतनी सहज और संवेदनशील है जो स्वार्थी ही नहीं मक्कार और मर्दवाद का अनुचर भी है और स्त्री की भावनाओं से खेलने वाला भी है?

निसंदेह कहानी का सूत्र सही है पर रजनी मोरवाल पूरी कहानी को ठीक से विन्यस्त नहीं कर पायी। एक रचनात्मक मैत्री जो रचनाकार और रचना के बीच होनी चाहिए वह कहीं दिखाई नहीं पड़ती। पात्रों से लेखक का संवेदनशील और रागात्मक रिष्ता भी कहानी में नहीं बन पाया। पात्रों के जीवन के उतार-चढ़ाव, आवेग-संवेग, अवसाद-तनाव और द्वंद्वों का मार्मिक वर्णन भी नहीं है जो पाठक को कहानी के पक्ष में खड़ा कर सके। आरोपित घटनाएं और परिस्थितियां, अविष्वसनीय कथन, बिखरा हुआ दिषाहीन कथानक, युगीन संदर्भों की अनदेखी कुलमिलाकर कहानीकार तय ही नहीं कर पायी कि आख़िर कहानी में करना क्या है-कहना क्या है? क्योंकि यह कहानी एक

विशिष्ट सामाजिक परिघटना और मनोवैज्ञानिक स्थिति पर आधारित है इसलिए इसका मनोवैज्ञानिक और मनोसामाजिक स्तर पर पूरा विवेचन ज़रूरी था। कोई भी स्त्री यों ही बार-बार जिगोलो खरीदने नहीं निकल पड़ती! फिरोज़ा के युग-जीवन संघर्ष और दबावों को कहानी में गूंथकर कहानी को प्रामाणिक और नया मुहावरा बनाया जा सकता था पर न जाने क्यों कहानी की असली गांठ रजनी मोरवाल खोल नहीं पायी। यह कहना भी यहां जायज नहीं लगता कि अक्सर कहानी कहानी के भीतर ही होती है लेकिन पाठक और आलोचाक उसे बाहर ढूंढते हैं। यहां कहानीपन से कहानी का बाहर और भीतर दोनों रीते हुए हैं। हर दृष्टिकोण से देखने पर यही लगता है कि कहानी का उद्देष्य केवल एक विषय को उद्घाटित करना भर है। उस विषय की तह में उतर कर कहानी कहना नहीं। मैं नहीं कहता कि लेखक अपने पात्रों के पीछे डंडा लेकर पड़ जाए और अपने निर्णयों से पात्रों की आत्मा ही रोंद दे। पर अपनी कहानी के उद्देष्य के प्रति तो लेखक को सजग और स्पष्ट होना ही पड़ेगा। इतनी पकड़ तो उन पर रखनी ही पड़ेगी की वे लेखक के मन्तव्य को व्यक्त कर सके। भटके हुए पात्र कहानी को खा जाते हैं। कहना न होगाकि रजनी मोरवाल जिस प्रवृत्ति को कहानी का आधार बनाती हैं उस प्रवृत्ति 'स्त्री द्वारा भुगतान करके सेक्स खरीदने' के पक्ष में भी वे नहीं लगती है। कहानी न नायिका के पक्ष में खड़ी हो पाती है न नायक के पक्ष में। पूरी कहानी में एक संशय झूलता रहता है फिर आख़िर कहानी लिखी किस लिए गई है? इन सब प्रश्नों के बीच अनजाने में ही यह कहानी एक महत्वपूर्ण विषय के प्रति गहरी वितृष्णा गढ़ देती है। ऐसा लगता है कि एक नये कथानक की संभावनाओं का अंत कर दिया गया है। यह कहानी आज की हिंदी कहानी की नई ज़मीन की नज़ीर बन सकती थी पर संवेदना और संशा दोनों ही स्तरों पर अपने कमजोर कहन के कारण इस महत्वपूर्ण विषय को ही प्रशांकित कर देती है।

संदर्भ

- हंस के मई 2022 अंक में प्रकाशित रजनी मोरवाल की कहानी 'कोका किंग'

लोक कला और साहित्य के मर्मज्ञ प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन) से ललित कुमार सिंह की बातचीत।

जरुरी है लोक कलाओं के स्पन्दन को महसूस करना

लोक एक व्यापक संज्ञा है और उसकी परिधि में सब कुछ समाया हुआ है। ऐसी कला जो लोगों द्वारा बिना किसी औपचारिकता के कंठानुकंठ या एक हाथ से दूसरे हाथ तक हस्तांतरित होती हुई आगे बढ़ती है, वह अपने आप में लोक कला है। लोककलाओं की भी अपनी बारीकियां हैं, उसका अपना शास्त्र है। कई बार यह जो विभाजन किया जाता है कि शास्त्र अलग है लोक अलग है लेकिन लोग परंपराओं में भी बहुत सारे हिस्से ऐसे हैं जिनमें सूक्ष्मताओं की ओर ध्यान दिया जाता है। कुछ नियम मर्यादायें हैं उनका भी पालन किया जाता है। बस अंतर यहां आ जाता है कि लोग कलाकार उसे स्थानांतरित करता है तो आने वाली पीढ़ी उसमें अपनी ओर से कुछ इज़ाफा करती है और बिना किसी औपचारिकता के ,बिना किसी विधि विधान के, बिना किसी शास्त्री परिभाषा के निरंतर आगे बढ़ती रहती है। हमारा देश जो है लोक कलाओं का खजाना है। इस देश में ऐसा कोई हिस्सा नहीं है जहां पर कोई विशेष प्रकार की लोक कला ने जन्म नहीं लिया हो, उसका विकास नहीं हुआ हो। संकट यह है कि आश्रय के आभाव में लोक कला के सामने संकट आ खड़ा हुआ है।

एक जमाने में जो मुखौटे और जो कठपुतलियां हैं इनका प्रयोग साभिप्राय होता था। मनोरंजन की वस्तु तो नहीं है यह मेरी दृष्टि में क्योंकि उनके माध्यम से लोग विशेष प्रकार की पुराख्यानों को प्रकट करते थे। मिथकों को प्रकट किया जाता था। मुखौटों के माध्यम से किया जाता था ,आज भी किया जाता है। केरला चले जायें तो जो मुखौटे होते हैं उनका अपना विधान है। मुझे लगता है कि संपूर्ण एशिया महाद्वीप की विशेषता है जहां पर मुखौटों की बड़ी समृद्ध परंपरा रही है।

कठपुतलियों को लेकर भी हम इसी तरह की स्थितियां मानते हैं और सुदूर अतीत से इस परम्परा का सिलसिला बना हुआ है। चार प्रकार की पुतलियां हैं जिनका

प्रयोग किया जाता है। अलग - अलग अंचलों में जो क्षेत्रीय रूप उभरे हैं इनमें नवाचार भी होता चला आ रहा है कुछ नया आविष्कार भी हुआ है। हमारा यह जो क्षेत्र है मालवा, राजस्थान इसमें सूत्र पुतली होती है जो धागे से संचालित की जाती है, उसका बहुलता से प्रयोग होता रहा है। इसी प्रकार एक दस्ताना पुतली भी होती है जिसको हम हाथ में धारण करते हैं। मुझे गौरव मिला है कि विक्रम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में स्थापित लोक एवं जनजातीय कलाओं से जुड़ा हुआ जो संग्रहालय है उसमें दस्ताना पुतली का एक महत्वपूर्ण संग्रह है। यह दस्ताना पुतलियां जो हैं इनके माध्यम से हम पंचतंत्र, हितोपदेश से लेकर महाराणा प्रताप हल्दीघाटी या वर्तमान सत्र में बालकों प्रयोगी नाटकों का मंचन भी हम लोग किए हैं। दस्ताना पुतलियों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इनका मंचन बिल्कुल न्यूनतम माध्यम से किया जाता है। सूत्र पुतली में थोड़ी सी जटिलता है जिसमें एक पर्दा है, एक औपचारिक मंच है जिसके पीछे से सूत्र संचालन होता है। लेकिन जो दस्ताना पुतली है उसमें हमें कुछ नहीं करना है सिर्फ हाथ के अंगूठे और शेष दो उंगलियां हैं उसके निकट की उनके माध्यम से उन्हें संचालित किया जाता है। कठपुतली का एक और महत्वपूर्ण रूप है वह जो काष्ठ की पुतली होती है। उसके अलावा जो चमड़ा होता है उसके माध्यम से पुतलियों का निर्माण किया जाता है जिसे हम छाया पुतली (शैडो पपेट) के रूप में देखते हैं। और उसका बहुलता से दक्षिण भारत में कर्नाटक आदि में प्रयोग किया जाता है यह उधर जो दक्षिण पूर्व एशियाई देश है वहां तक यह गई हुई है। सामान्य जनजीवन में इनकी लोकप्रियता इसलिए कम हो रही है क्योंकि आश्रय जो है वह कम हो रहा है। पुरातन काल से लेकर की मध्यकाल तक इन्हें राजाश्रय मिलता रहा और लोकाश्रय भी मिलता है। लेकिन वह जो लोक कलाकार है उसको थोडा बहुत राजाश्रय तो मिला लेकिन लोकाश्रय के अभाव में अपनी कलाओं से दूर हो जाते हैं। मैंने कई ऐसे कलाकारों को देखा है कि जिनके पूर्वज बहुत अच्छे ढंग से कठपुतलियों का संचालन करते थे, वह मुखौटों का निर्माण करते थे। हमने रामलीला में भी देखा है कि मुखौटों का बहुत अच्छा प्रयोग होता रहा है लेकिन धीरे-धीरे लोग इससे दूर होते चले जा रहे हैं। और कहीं ना कहीं इसके पीछे आत्महीनता की स्थिति को मानता हूँ मैं। हम जो हैं अपना आत्म स्वाभिमान खो रहे हैं हम विदेशी कलाओं, विदेशी

परंपराओं उनकी ओर आकर्षित हो रहे हैं। वह लोग हमारी कलाओं को देख रहे हैं और हम अपनी कलाओं के संरक्षण के लिए ठीक प्रकार का वातावरण नहीं दे पा रहे हैं तो मुझे लगता है कि राजाश्रय मिले और लोकाश्रय मिले तभी हमारी लोककलाएँ जीवित रह सकती हैं। मुखौटा जो है वह तो आदिमकाल से चला आ रहा है और बिल्कुल शुरुआती तौर पर जो जनजाति समुदाय अपने आदिम अवस्था में था तो वह देखता था कि उसको दिख रहा है कोई वन्यजीव है वन्य प्राणी है तो उसके आकार को बनाकर अपने चेहरे पर लगाता था। सींघों का प्रयोग किया जाता था। कई स्थानों पर आज भी जनजातियां हैं जो मुखौटों का विविध रूपी इस्तेमाल करती हैं कहीं पर वह पूरे चेहरे को वह ढक देता है, कहीं वह सिर को ढक देता है। कहीं पर चेहरा जो है वह विशेष प्रकार से पोता जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि मुखौटों को व्यापक परिप्रेक्ष्य मिला है हमारी भारत भूमि में और अभिव्यक्ति का जो मानदंड है वह कितना अनूठा है। आपको बता दूँ कि अपने यहाँ अभिनय के चार प्रकार माने गये हैं। हम मुखौटों को आहार्य अभिनय के रूप में विशेष महत्त्व देते हुए दिखाई देते हैं। हमारे यहाँ आंगिक अभिनय, वाचिक अभिनय ओर सात्त्विक अभिनय है। कल्पना करें कि मुखौटों के कलाकार के पास माध्यम बचा ही क्या है ? वह जो सूक्ष्म अभिनय है विभिन्न मुख – मुद्राओं के द्वारा किया जाने वाला वह तो कर ही नहीं पायेगा क्योंकि उसके चेहरे पर मुखौटा लगा हुआ है। अपने यहाँ के कलाकारों ने वीभत्स रूप, रौद्र रूप, और श्रृंगार रूप तथा विभिन्न प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने वाले अलग – अलग मुखौटे बनाये जो सीधे – सीधे उनके चरित्र से जुड़ते हैं और बड़ी सहजता भावाभिव्यक्त करते हैं। हनुमान जी का मुखौटा होगा तो थोड़े से प्रतीकों के माध्यम से बना देंगे लेकिन अब केवल मुखौटों के आधार पर काम नहीं करते हैं उसके आंगिक अभिनय भी महत्वपूर्ण होता है। अब मुखौटा जो है वह किसी राक्षस का धारण कर लें या किसी विभक्त रस की अभिव्यक्ति करने वाले किसी खल पात्र का कर लें लेकिन अगर आपका आंगिक अभिनय जो है कोमल होगा तो निश्चित तौर पर उस मुखोटे को धारण करने का कोई तात्पर्य नहीं रह जाएगा। देवी का अभिनय करना है तो देवी के अनुरूप ही मुखौटा नहीं होगा आंगिक अभिनय आपको उसके अनुरूप करना होगा तो मुखौटा जो है वह मात्र केवल मुख पर चढ़ाया जाने वाला आवरण

नहीं है उसे शेष जो 3 आयाम बचते हैं अभिनय के वाचिक अभिनय के साथ भी हमें जोड़ना पड़ेगा क्योंकि अगर उस प्रकार की ध्वनि नहीं होगी उस प्रकार की अभिव्यक्ति नहीं होगी तो मुखौटे का कोई मतलब नहीं रह जाएगा। इसी प्रकार आंगिक अभिनय को भी हमें देखना पड़ेगा लेकिन सात्त्विक अभिनय के साथ समस्या यह होगी कि वह उतना संभव नहीं है मुखौटों के माध्यम से। लेकिन फिर भी कुछ छोटी-छोटी चीजें वह शेष हमारा जो अंगोपांग हमें दिखाई दे रहे हैं अगर अभिनेता उसका इस्तेमाल करेगा तो वह भी प्रकट हो सकता है। प्रयोगधर्मी निर्देशकों में मैंने कई ऐसे निर्देशक कई ऐसे नाट्य मंचन देखे हैं जिनमें मुखौटों का कठपुतलियों का आधुनिक परिवेश में प्रयोग हुआ है। कई ऐसे लेखक हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में स्थान दिया है विशेष तौर पर जो पुराख्यानों पर आधारित जो मध्यकालीन नाट्य रूप हैं आप लोग देख सकते हैं कि रामलीला है उसमें मुखौटों का बहुत प्रचलन रहा है व्यापक तौर पर प्रयोग होता है। गणेश जी दिखाना है तो कैसे दिखाएंगे गणेश जी बिना मुखौटे के तो दिखा नहीं सकते हैं हनुमान जी को दिखाना है तो भी इस्तेमाल किए किया जाएगा मुखौटा। इसी प्रकार की स्थिति पुराख्यानों पर आधारित आधुनिक परिवेश में जो नाटक बने हैं उनमें भी दिखाई देती है। 'हयवदन' प्रसिद्ध कृति है गिरीश कर्नाड की वह भी एक मंचन कैसे होगा बिना मुखौटे के हो नहीं सकता यही स्थिति गुलवर्धन के थिएटर की है। गुलवर्धन ने तो इस विधा को बहुत चमत्कारिक रूप में और बेहद प्रयोगशीलता के रूप में आगे बढ़ाया है , और मुझे यह सौभाग्य मिला है कि गुरुवर्धन जी से साक्षात्कार भी लिया है और गुलवर्धन जी के थिएटर को भी देखा। उन्होंने पुरातन काल से चली आ रही कठपुतली और मुखौटों की परंपरा को बिल्कुल अभिनव विन्यास दिया और उसके कारण वे नए से नए विषयों को लेकर अपनी प्रस्तुतियां अपनी करती थीं। विशेष तौर पर रामलीला का एक विशेष मंच आवरण हम लोगों ने देखा है तात्पर्य है कि प्रयोगधर्मी निर्देशक चाहे तो हमारे दौर में भी मुखौटों और कठपुतली विधा के जो विभिन्न आयाम हैं उनका ठीक प्रकार से प्रयोग कर सकता है। कठपुतली की सबसे बड़ी विशेषता है कि अब इसमें अब अंग भी नहीं बचा है क्योंकि मुखौटों में तो चेहरा ढका है बाकी आंगिक स्थितियां बनी हुई हैं लेकिन कठपुतली के साथ यह संकट है कि उसमें कुछ भी नहीं है केवल आपके पास

पुतलियां हैं या आप का हाथ है जिसमें आपने दस्ताना पहना हुआ है जिससे आप कठपुतलियाँ चला रहे हैं या छाया पुतलियां (शैडो पपेट) हैं। अब इसमें तो कितना कठिन माध्यम है कि चरित्र को रूपांतरित करने के लिए मंच पर आप नहीं जा रहे हैं केवल वह आकृति जा रही कठपुतली जा रही है। इससे आप पार्श्व से वाचिक अभिनय कर सकते हैं तो निश्चित तौर पर जिन मंचों पर चतुरायामी अभिनय के लिए गुंजाइश होती है वह कलाकार को छूट मिलती है लेकिन मुखौटे और कठपुतली दोनों थे ऐसी विधा है जिसमें चतुरायामी अभिनय के लिए संभावनाएं नहीं बचती हमारा माध्यम सीमित हो जाता है। लेकिन अगर कोई प्रयोगधर्मी व्यक्ति है तो इस पर बहुत अच्छे से काम कर सकता है। मुझे लगता है कि लोक जीवन और लोक कलाओं के मध्य यदि मुखौटा और कठपुतलियों का फिर से सम्यक प्रसार हो तो निश्चित तौर पर यह विधा बहुत सशक्त है और इनके माध्यम से हम नए विषयों को भी एकदम से समसामयिक विषयों को भी संप्रेषित कर सकते हैं। हम क्यों नहीं पर्यावरण से जुड़े हुए विषयों को लेकर या फिर जो तापीय परिवर्तन हो रहा है , जो जलवायु से संबंधित संकट आ रहा है या आधुनिक परिवेश से जुड़ी हुई कई समस्या आ रही है उनमें भी हम लोगों को मुखौटों और कठपुतलियों का प्रयोग कर सकते हैं हमारे देश के कई लोगों ने इस पर काम किया है। देवीलाल सामर का नाम सुविख्यात हैं जिन्होंने राजस्थान में बैठकर कठपुतली प्रथा को वैश्विक स्थिति तक पहुंचाया है। और वह एक महत्वपूर्ण प्रसंग देवीलाल सामर जी के साथ रहे महेंद्र भाणावत मुझे सुना रहे थे कि जब हमारे यहां के कठपुतली कलाकारों को लेकर उन्होंने योजना बनाई कि इनका प्रदर्शन विश्व स्तर पर होने जा रहे है कठपुतली प्रदर्शन में हम करवाना चाह रहे हैं तो भारत की तत्कालीन जो प्रमुख लोग थे संस्कृति से जुड़े हुए लोग थे उन लोगों ने कहा यह कैसे संभव है क्योंकि हमारे यहां तो कठपुतली चलाने वाला बेचारा वह एक भिक्षाटन करने वाले व्यक्ति की स्थिति में पहुँच चुका था और यह हम सोच नहीं पा रहे थे कि अमेरिका ,जापान या यूरोपीय देशों की जो कठपुतली के सामने हमारे देश की कठपुतली कैसे खड़ी हो सकती है लेकिन सामर जी ने , महेंद्र भानावत जी ने और अन्य लोगों ने यह कहा कि हम कठपुतली को उसी स्तर पर विकसित करेंगे। राजस्थान के उदयपुर के आस-पास के कई कलाकार इनको बनाना और इनको नचाना

छोड़ चुके थे। उन्होंने वर्कशॉप की और स्क्रिप्ट तैयार की और उसके बाद में जिस तरह से कठपुतली कला सामने आई दिल्ली में उसका प्रदर्शन हुआ तो उसको फिर विश्व स्तर पर होने वाले कठपुतली महोत्सव में भारत का दल गया और उसके बाद उसकी पुनर्स्थापना हुई। तात्पर्य है कि हमें कहीं न कहीं अपनी जड़ों के साथ जुड़ना होगा और आधुनिक रंगमंच में आधुनिक परिवेश में उसकी शक्ति और संभावना पर विचार करना होगा। निश्चिततौर पर लोक कलाकारों ने संकट झेला है। शहरीकरण हो रहा है मैंने जैसा अभी बताया कि कई ऐसे कलाकार हैं जो बताते हैं कि उनके पूर्वज उस विधा को करतेथे लेकिन बाद के लोग दूर हट गए।

फड़ चित्रन की जो कला है उसके साथ भी यह संकट हुआ। भीलवाड़ा क्षेत्र में रहने वाले कलाकार इसको प्राय: छोड़ने की स्थिति में आ गए थे लेकिन यही लोग देवीलाल सामर, महेंद्र भाणावत जी आदि लोगों ने उनसे कहा कि नहीं आप इसको छोड़ क्यों रहे हैं ? उन्होंने कहा कि हमको इस कला से मिलता क्या है हम तो नए ढंग के साइन बोर्ड बनाएंगे उससे कमाई हो सकती है पुरानी चीजों को अब कौन खरीदता है, कौन उनको स्थापित करता है, कौन उन्हें प्रतीक रूप में पूछता है या उनका प्रदर्शन करवाता है। उन्होंने उस दौर में संस्कृति से जुड़े हुए जो लोग थे उनसे बात की, उनकी वर्कशॉप आयोजित करवाई। फिर कलाकारों प्रश्रय मिला उनको राष्ट्रपति सम्मान मिले, उन्होंने पुनः स्थापना करवाई उस फड़ चित्रण की। एक तरह से पुन: स्थापना हुई उस फड़ चित्रण कला की। कावड़ कला के साथ भी यही हुआ, कावड़ भी लगभग पीछे चली गई थी कावड़ कला को भी पुनर्जीवन मिला। मालवा का जो माच है वह भी विलुप्त के कगार पर जा रहा था लेकिन अब नए युग के जो रंगकर्मी है उन्होंने कोशिश की उनके साथ जुड़े उस मंच के कलाकारों के साथ जुड़े। उस वक्त हम लोगों ने भी यहां पर माच के महोत्सव करवाये हैं। पिछले डेढ़ दशक के अंदर 6-7 महोत्सव हो चुके हैं और हमने कुछ रंग दल जो लगभग निष्क्रियता की स्थिति में जा रहे थे या जिनके पूर्वज कलाकार थे धीरे-धीरे दूर हो रहे थे तो ऐसे लोगों के लिए युवाओं की रंग कार्यशाला करवाई। माच की कार्यशालाएं करवाई और प्रयास अगर करेंगे तो निश्चित तौर पर यह हो सकता है। लोक भाषाएं तो हमारे देश की प्राण हैं इस

देश में यदि लोक भाषाएं नहीं होंगी तो यह देश नहीं रहेगा इस देश को परस्पर जोड़ने का काम एक दूसरे के हाथ में हाथ डाले हुए लोक भाषाएं ही कर रही हैं। इस देश की संस्कृति ही लोक संस्कृति है। हम लोग कितने भी शहरी हो जायें हम लोग कितने भी महानगरी जीवन की तरफ अग्रसर हो जायें लेकिन बिना लोक कलाओं, लोक भाषाओं, लोक संस्कृति के यह देश नहीं बचेगा और इनके मध्य से जो आपस में लड़वाने की कोशिश जो लोग कर रहे हैं इसके प्रति भी हमें कहीं न कहीं सजग होना पड़ेगा क्योंकि जब एक लोक भाषा मिटेगी तो इसका मतलब है यह नहीं है कि दूसरी भाषा बच जाएगी दूसरी भाषाएं भी उसी गति से समस्या में आएंगी। अत: सब को सामूहिक रूप से सभी क्षेत्र में बोली जाने वाली लोक भाषाओं के केवल रक्षण नहीं उनके प्रयोग के लिए प्रयास करना चाहिए| मेरा यह मानना है कि लोक संस्कृति, लोक परंपराएं , लोक भाषाएं आचार या मुरब्बे की तरह नहीं है जिनको संरक्षित पदार्थ आप डाल दें बरनी में रख दें और वह बच जाएँगी ऐसा नहीं होगा। अगर आप रहेंगे तो लोक भाषाएं बची रहेंगी आप उसको सोचे कि मैं इनको 11 मर्तबान में रख दूं उसको संजों लूं और बस हो गया काम तो ऐसा उचित नहीं होगा तो इस दृष्टि से संरक्षण ही नहीं वरन उनके प्रयोग की आवश्यकता है। नाट्य में मुखौटों और कठपुतलियों का व्यापक प्रयोग हो सकता है इसमें किसी प्रकार की कोई समस्या नहीं है। यह बेहद धैर्यवान बेहद सजग और प्रयोग शील व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस तरह से इसकी रक्षा ही नहीं करें वरन इसे लोक व्यापी बनाने की चेष्टा करे। कठपुतलियों के माध्यम से अभिनव रंग प्रयोग होने चाहिए इसी तरह से जहाँ – जहाँ आवश्यकता हो जरूरी नहीं कि पूरे नाटक में मुखोटों का इस्तेमाल किया जाए जहां आवश्यक हो मुखौटों का इस्तेमाल करें। इसी तरह जहाँ आवश्यकता हो वहां कठपुतलियों का प्रयोग करें निश्चित तौर पर इससे जो नाट्य प्रस्तुति है उसमें नई संभावनाओं के द्वार खुलेंगे। हमारा जो मंच रहा है वह लोकमंच रहा है हमने पश्चिम के प्रभाव से एक बंद तरह का बॉक्सनुमा सेट बना लिया यथार्थवादी थिएटर में आ गए हैं हम लोग, और हमने कलाकार को और दर्शक को दोनों को बीच खाँचे में डाल दिया है। हमारा रंगमंच तो खुला रंगमंच है हमारे यहां रात-रात भर जो प्रस्तुतियाँ होती थीं। उसके अंदर बिल्कुल किसी औपचारिकता के अभाव में बिना उसके लोग मंचन

करते थे और रात-रात में मंचन करते थे, तो अगर कोई श्रेष्ठ रंग निर्देशक प्रयोगशील हो तो मुखौटे और कठपुतली इन दोनों के माध्यम से उन्हें नई दिशा दे सकता है। इससे मुखौटे और कठपुतली की विधा ही लाभान्वित नहीं होगी मुझे लगता है कि आधुनिक थिएटर भी लाभान्वित होगा। कठपुतलियों और मुखौटों के माध्यम से हम बहुत सारे प्रतीकों को भी व्यक्त कर सकते हैं। 'आधे अधूरे' के बारे में आप सभी जानते हैं कि 'आधे अधूरे' क्या है ? 'आधे अधूरे' एक तरह से मुखौटे का परिवर्तन ही तो है उसमें भेष बदलता है जबकि व्यक्ति वही रहता है। हमारे यहाँ मुखौटे बदलते थे और अभिनेता बदल जाता था उसका कथन बदल जाता था तो निश्चित तौर पर मुखौटों और कठपुतली दोनों के प्रयोग से अभिव्यक्ति के नये अर्थों को तलाशा जा सकता है।

संरक्षण की जहाँ तक बात है मैं फिर वहीं आता हूँ मुखौटा को संग्रहालय में रख दें कठपुतली को संग्रहालय में रख दें। और प्रदर्शनी में दिखाएं इनको कि ऐसा था उनके चित्र दिखाएं उससे संरक्षण नहीं होगा, उसे हम दस्तावेजी करण के स्तर पर मान सकते हैं। इनका जब तक लोक व्यवहार नहीं होगा, लोक में प्रयोग नहीं होगा, नए रंगमंच के साथ इनका रिश्ता नहीं बनेगा तब तक इन दोनों विधाओं के संरक्षण, संवर्धन और नवाचार के लिए कोई रास्ते नहीं खुल सकते। अतः व्यापक तौर पर इन दोनों विधाओं से जुड़ी हुई कार्यशालायें केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं वरन प्रादेशिक और जिला स्तर पर आयोजित की जानी चाहिए। स्थान-स्थान पर इन विधान से जुड़े हुए जो पुराने कलाकार हैं उनको खोजें हम लोग उनको बिठाए उनके रंग कार्यशाला आयोजित करवाएं। मैं नाथद्वार की गलियों में घूम रहा था लोग अपने अपने ढंग से चीजों को देखते हैं लेकिन मेरी निगाह एक दुकान पर गई जहां पर गणेश जी का एक मुखौटा टंगा हुआ था मैं गया उनके पास मैंने उनसे कहा कि मुझे और मुखौटे दिखाएं। उनको लगा कि मैं शायद कोई नाट्य मंडली वाला हूँ। जिसका विषय उस क्षेत्र की किसी लोक कला से सम्बंधित है। जब उसने अंदर से बहुत सारे मुखौटे निकाले तो मैं चकित रह गया कितना समृद्ध मुखौटों का संसार हमारे यहाँ पर है मैंने कुछ सैंपल के रूप में कुछ उस से खरीदें और उसने जो कहा उस उसको पैसा दिया। तात्पर्य यह है

कि जब इस तरह से बिल्कुल अवहेलना का शिकार यह कलाएँ हो रही हैं तो उनको केवल हम लोग सजाकर संरक्षित नहीं कर सकते। उनके कलाकारों को बुलाएं, सीखें कि कैसे मुखौटों का निर्माण होता है। इस कला को हम लोग नई पीढ़ी से जोड़ें, स्कूल कालेज स्तर के विद्यार्थियों को जोड़ें। मंचन में उनका प्रयोग हो इसी प्रकार कठपुतली जटिल है मेरे पास सैंपल है जिसमें हम लोग देखते हैं कि किस तरह से एक अनगढ़ कास्ट फलक लिया जाता है उसको धीरे-धीरे तराशा जाता है और बाद में चेहरा बनता है और उसके बाद में कलाकार उसमें रंग डालता है रंग भरता है और फिर वस्तुओं से उसको सजाया जाता है और फिर कठपुतली आकर लेती है। हमारे यहाँ कुछ डॉक्यूमेंट उपलब्ध है विक्रम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में। निश्चित तौर पर इन कलाओं को केवल संग्रहालय की वस्तु न बनाएं, उन पर निरंतर कार्यशालाएँ हो, उनके कलाकारों को बुलाएं और फिर उनका मंचन कराएं क्योंकि मंच पर जाकर ही उनका पालन-पोषण होगा और लोग नए-नए अर्थों की अभिव्यक्ति के माध्यम से कर पाएंगे। धन्यवाद .....

ललित कुमार सिंह
शोधार्थी : दिल्ली विश्वविद्यालय , हिंदी विभाग
शोध कार्य : रंगमंच, मुखौटा और कठपुतली कला
ई मेल – lalitkumarsingh251@gmail.com
मो.- 9335980492

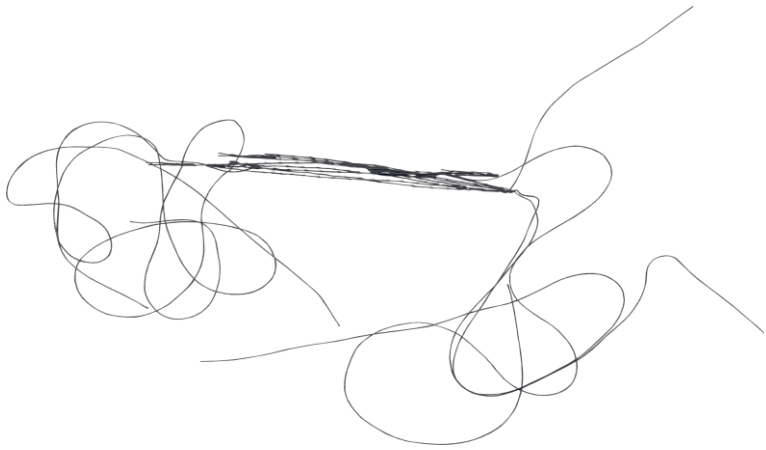

साहित्यिक रचनाएँ

आलोक रंजन की कविताएँ

1.एक दो तीन ही नहीं कई मंजिलें

इमारतें है इस शहर में
खड़े हैं छाती तानकर
उनके दीवारों पर लिखा होता है
परिचय उनका बिल्कुल साफ साफ
अंग्रेजी के बड़े अक्षरों में।

कहीं से नहीं आती यहां
चीखने चिल्लाने की आवाजें
शायद वाहनों के तेज आवाजों ने
दबाकर रख दिया है उन्हें
कैसे लिखें पाएंगे शिकायत वे लोग
इंग्लिश मीडियम
की होती है सारी मंजिलें
झोपड़ी को को हिंदी का ह भी नहीं
आता।

बहुत हाथ पैर मार कर भी
मौत से रोज अवकाश लेते हैं वे लोग
छन से जलते हुए पांव
वेदना ऐसे जैसे फुटता है कोई घाव
कहां है सरकारी योजनाएं गैर-
सरकारी संगठन
एक बार फिर पुछने की हिम्मत जुटाई
है
मैंने एक चित्र को विचित्र रुप में
देखकर।

2.करना ही नहीं चाहिए लड़की से विवाह

लड़कियों के कद बढ़ जाते हैं
रह जाती है पीछे कहीं उम्र उनकी
यह बात जब तक घर वालों को पता
चलता है
तब तक घर से निकल लेती है
लड़की
अपना सबकुछ समेट कर।

गांव समाज कि मानसिकता ही
कह लिजिए उनके लम्बाई देह से
आंकते हैं
उनकी समझ बूझ और वयस्कता
नियम कानून के बावजूद भी
कई वर्षों से मानसिक रूप से ब्याही
जाती है लड़की किसी अनजान
लड़के से।

मैं थूकता हूं वैसे समाज पर जिन्होंने
दहेज के डर से अनदेखा किया है
वर वधु के उम्र सोच विचार और
शिक्षा को

ब्याही गई हैं कई जवान लड़कियां
वयस्क व्यक्तियों से
खुलकर बोलता है अतीत हमारा।

कुछ नहीं तो होना चाहिए बात
विचार
तय होनी कद काठी उम्र समझ
बहुत जरूरी है आज एक लड़की का
स्त्री होना
स्त्री से मां होना काफी आसान होता
है
लड़की जुझती है अपने आप से ही
अक्सर
करना ही नहीं चाहिए लड़की से
विवाह।

3.अनपढ़ औरत

बहुत कुछ जानती है वो औरत
जिसे मुझे कम दिमाग कि और
अनपढ़ नाम से
मात्र परिचय करवाया मेरे समाज ने
और हमेशा आंकता रहा है
घर के काम और गहनें जेवर से।

शायद गलत है समाज उस जगह पर
जिस जगह से निरंतर देखता है
औरतों को
क्योंकि औरतों को आता है पढ़ना
रहन सहन चेहरा आदमी सबकुछ
पढ़ लेती है
और यह किसी किताब में नहीं
समाज में लिखा होता है।

वास्तव में औरतें उत्कृष्ट पाठक होती
हैं
पढ़ती है समाज को पलटती हैं पन्ने
घर द्वार के
वहीं प्राप्त ज्ञान से बाल बच्चों को
देती हैं सीख कई विरासत के रूप में
फिर अनपढ़ कैसे हो सकतीं हैं औरतें
भला।

**4.कोयले में दिनभर काम करने
से**

कैसा होगा आदमी काला
गन्दे होंगे कपड़े हाथ पैर सब
क्या शक किया जा सकता है
उनके नीयत पर
क्या हो भी हो सकती है काली
उसमें भी भरी होती है चमचा
चापलूसी
चोरी चमारी आदि जैसे शब्द।

हो सकते हैं वो भी ग़लत
बेख़ौफ़ होकर रिकार्ड कहते हैं
आज अपने का विकास अपना नहीं
देख सकता नग्न आंखों से
खैर वे तो कई घरों से आते हैं
वहां भी चलती है एक राजनीति
बनते हैं अपने आप में साहब सब के
सब।

अगर कभी इनके चमड़े का दाम
लगाया
जाय और कि जाय इनकी
मेहनत की निलामी
कितने खरीददार आएंगे सामने
खरीदने उस चमड़े को जो वर्षों से तप
रहा
कोयले की खान में
कितना होगा इनका दाम
कभी कभी इनके परिश्रम प्रश्न चिन्ह
लगा देते हैं बड़े बड़े अनुच्छेदों पर।

5. किताब तुम क्यों नहीं झूठ बोलते

क्यों तुम तो जलाएं जाते हो इस
दुनिया में
तुम्हारे साथ भी तो किया जाता है
गलत व्यवहार
फिर तो तुम्हें भी करनी चाहिए
चापलूसी बोलना चाहिए झूठ
दुसरे के लिए नहीं बल्कि अपने
बचाव के लिए।

तुम सच उगलते आ रहे हो
प्राचीन काल से आधुनिक काल तक
मध्यकाल में भी तुम्हें किसी ने नहीं
उकसाया
स्वर्ण मुद्राएं देकर
किसी ने नहीं कहा जोर से
धमका कर की बदलो
मेरा सारा इतिहास और भूगोल।

बताना आने वाली जनमानस को
हमारी उपलब्धियां
करना प्रसंशा ताकि आदर्श रहे
और कहीं जिन्दा उनके दिलों दिमाग
में
लेकिन तुम तो सब सच सच कह
डाले
बात भी बता दी चारणों की और
दरबारी कविओं की
तुम उनसे ही आज सामने आये हो
उनकी बातें विचारों को ही पढ़ते हैं
हम
लेकिन यकीन करते हैं तुम पर किसी
इतिहासकार दार्शनिक लेखक कवि
पर नहीं।

विद्यार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

कहानी

हस्बेमामूल

राम नगीना मौर्य

जब भी आप कहीं की यात्रा पर होते हैं तो सहयात्रियों संग आपको किसिम-किसिम के अनुभव भी मिलते हैं। बस्स...नजर पारखी, कोलम्बसी होनी चाहिए। किसी शायर की ये खूबसूरत पंक्तियां है न...''शौके दीदार है गर तो नजर पैदा कर।'' बहरहाल, आपको जबलपुर से लखनऊ तक की ट्रेन यात्रा का एक दिलचस्प अनुभव साझा कर रहा हूँ।

वाकया ये है कि रिश्ते में ही जबलपुर में आयोजित एक विवाह समारोह में शामिल होने का सुअवसर था। शादी के अगले दिन, रात्रि की ट्रेन से मुझे जबलपुर से लखनऊ के लिए वापस लौटना था। बताता चलूँ, मैं एक साथ कम-अज-कम तीन किताबें अवश्य पढ़ता हूँ। एक सण्डास में, दूसरी बेडरूम में, तो तीसरी डायनिंग-टेबल पर भोजन करते समय पढ़ता हूँ। हां, यदि कहीं की यात्रा में होता हूँ तो वो चौथी किताब हो जाती है। यात्रा में अमूमन मेरे साथ कहानी, उपन्यास, संस्मरण या यात्रा-वृत्तान्त आदि से सम्बन्धित कोई-न-कोई किताब होती है। वैसे भी, सोने से पहले कुछ-न-कुछ पढ़ने की पुरानी आदत जो है। इस बार मेरे साथ सुनील खिलनानी की किताब का हिन्दी अनुवाद 'भारतनामा' थी। ट्रेन चलने के बाद बाकी मुसाफिरों की तरह मैंने भी अपनी ऊपरी बर्थ पर चादर बिछाई और पढ़ने वास्ते अपने सिरहाने रखे बैग से यह पुस्तक निकाल, बुकमार्क हटाते पढ़ने लगा।

निचली सीट पर आमने-सामने जो मुसाफिर बैठे थे, उनमें एक लगभग साठ-बासठ बरस की अधेड़ महिला तो दूसरी लगभग बाइस-तेइस बरस की नवविवाहिता तथा एक लगभग पैंसठ-अड़सठ बरस के अधेड़ पुरूष तो दूसरा तीस-बत्तीस साल का युवक था। उनके साथ ही दो लगभग पांच से सात बरस के बच्चे भी थे। ये बच्चे उन अधेड़ महिला, पुरूष को नाना, नानी कहते सम्बोधित कर रहे थे। उनके बीच हो रही बातचीत से ये सभी एक ही परिवार के लग रहे थे। महिलाएं आपसी बातचीत में, तो

दोनों पुरूष अपने-अपने मोबाइल-फोन से बतियाने में मशगूल थे। ट्रेन छूटने के लगभग पन्द्रह-बीस मिनट बाद ही इस परिवार की महिलाओं ने अपने बैग से खाने के दो बड़े-बड़े टिफिन और फोम की कुछ प्लेटें निकालीं। पानी की बोतलें इन्होंने डिब्बे में आने से पहले ही प्लेटफॉर्म से खरीद रखीं थीं। दोनों महिलाओं ने दोनों पुरूषों व बच्चों को प्लेटों में खाना परोसा और अपने लिए भी भोजन परोसने के साथ ही पुनः घर-परिवार से जुड़े मसलों और खुशनुमा मौसम के बारे में चर्चारत हो गये। सुस्वादु भोजन के महक से वातावरण गमक उठा।

अभी पन्द्रह-बीस मिनट ही हुए होंगे कि किसी के जोर-जोर से खांसने की आवाज से मेरा ध्यान भंग हुआ। ध्यान दिया तो निचली सीट पर बैठी वो नवविवाहिता, इतनी तेज खांस रही थी कि खांसते-खांसते हांफने लगती। साथ बैठे, लेटे, अधलेटे अन्य यात्रीगण भी अचकचाते हुए उसकी तरफ देखने लगे। उसे जोर-जोर से खांसते देख ऐसा लग रहा था मानो परिवारिक सदस्यों संग बतियाते, भोजन करते समय पानी या भोजन का कोई टुकड़ा उसकी सांस नली में फंस गया हो। उसके घर-परिवार वालों ने अपनी-अपनी तरह से उसका प्राथमिक इलाज करना शुरू कर दिया। अधेड़ महिला उसकी पीठ सहलाने लगीं। साथ बैठे युवक ने जल्दी से थर्मस के ढक्कन में ही पानी उड़ेलते, उसकी ओर बढ़ाया। अधेड़ सज्जन ने उसे परेशान न होने व गहरी-गहरी सांस लेने का सुझाव दिया। मेरे बगल वाले ऊपरी बर्थ पर लेटे सहयात्री ने जल्दी-जल्दी अपने बैग से कफ-ड्रॉप का एक पत्ता निकालते, ‘‘इसे चूस लीजिए। फौरन आराम मिलेगा’’...कहते दो गोलियां उस नवविवाहिता की ओर बढ़ाया।

बहरहाल...लगभग बीस-पच्चीस मिनट की इन कवायदों के बाद नवविवाहिता की तबियत संभल गयी थी। माहौल शान्त हो गया था। निचली बर्थ पर बैठे उस परिवार के सभी सदस्यों ने भोजन खत्म कर लिया था। भोजन के कुछ देर बाद इस परिवार के अधेड़ पुरूष और अधेड़ महिला सदस्य लेटने की तैयारी में बगल वाली निचली बर्थ पर चादर-तकिया सजाने में लग गये। नवविवाहिता और वो युवक अभी भी बतियाने के मूड में थे। भोजन करने में तो वो दोनों बच्चे ना-नुकर कर ही रहे थे,

भोजन करने के बाद वे अभी भी सीटों के बीच में छुपते, दौड़ते, उधम मचाए हुए थे। ऐसे में डिब्बे के मुसाफिरों संग मुझे भी तत्काल नीद कहां आनी थी।

‘‘देखो बच्चों! शोर मत मचाओ। ऊपर वाली सीट पर जो अंकल जी लेटे हैं, कुछ पढ़ रहे हैं। उन्हें डिस्टर्ब हो रहा होगा। तुम अच्छे बच्चे हो ना...?’’ बुजुर्ग महिला ने पता नहीं क्या सोचते-समझते उन बच्चों को प्यार से डांटा।

मैंने भी साथ ले आयी अपनी किताब इस उम्मीद में पुनः खोल ली थी कि शायद पढ़ते-पढ़ते नींद आ जाये। यद्यपि मेरे सीट के बगल वाली लाइट खराब थी, लेकिन सामने के ऊपरी बर्थ की लाइट जल रही थी, जिससे मुझे उसकी रोशनी में पढ़ने में कोई खास दिक्कत नहीं हो रही थी। वो सज्जन फिलहाल अपने स्मार्ट-फोन में व्यस्त थे। परन्तु उस सीट पर लेटे सज्जन ने थोड़ी देर बाद अपनी लाइट बुझा दी। शायद सोने की तैयारी में होंगे। ऐसे में यात्रा के दौरान किताब पढ़ने की रही-सही यह उम्मीद भी जाती रही। हालांकि, निचली सीट पर बैठे दोनों बच्चों और बोगी में अन्य यात्रियों के भी बच्चों के लगातार शोर-गुल, धमा-चैकड़ी मचाए रहने की वजह से साफ था कि डिब्बे में लेटे यात्रीगण तब-तक आराम से नहीं सो सकते थे, जब-तक कि ये बच्चे भी थक-हार कर सो नहीं जाते।

‘...और बुझाओ लाइट। चले थे लेटने। मेरी पढ़ाई बन्द करने...’ मैंने मन-ही-मन बुदबुदाते, साथ वाले ऊपरी सीट पर लेटे सज्जन को लानत भेजते कोसा होगा। चूंकि लाइट बुझी होने के कारण किताब पढ़ने का सवाल ही नहीं था, सो नींद आने तक, स्वभावतः मैंने अपने स्मार्टफोन में आये नोटिफिकेशन्स आदि चेक करना शुरू कर दिया।

स्मार्टफोन बन्द करने के बाद यूँ ही, या कह लीजिए कौतुहलवश मेरी नजर निचली सीटों पर गयी। अधेड़ महिला, जो लेटे हुए बुजुर्ग सज्जन के बगल ही सीट पर बैठी थी, बैठे-बैठे ऊंघ रही थी। दूसरी निचली सीट पर लेटे युवक के बगल बैठी वो नवविवाहिता, हल्के गुनगुनाते अपने नाखूनों पर नेल-पॉलिश लगाने में मशरूफ

थी। अगल-बगल की सीटों पर कुछ यात्री अपने-अपने स्मार्टफोन्स में व्यस्त थे, तो कुछ बैठे-बैठे ऊंघ रहे थे। कुछ यात्री गहरी निद्रा में सो भी गये थे।

नवविवाहिता के बगल अधलेटा सा वो युवक, जो निश्चय ही उसका पति होगा, बार-बार अपना हाथ नवविवाहिता की खुली कमर तक ले जाता, लेकिन नेल-पॉलिश खराब न हो, वो नवविवाहिता अपनी कुहनी से उसका हाथ हटा देती। नवविवाहिता कभी उसे आंखें दिखाती, तो कभी सिर्फ मुस्किया कर ही रह जाती। चूंकि, नींद नहीं आ रही थी, सो अदबदा कर उन दोनों की इन हरकतों पर ध्यान चला ही जा रहा था। हालांकि मैं अपनी तरफ से पर्याप्त सतर्क भी था, कारण कि सुनते हैं, महिलाओं का सिक्स्थ-सेंस गजब का होता है। उन पर आसपास के किन-किन की नजर है, वे कुछ देर में ताड़ ही लेती हैं। उसी क्रम में मैंने आगे देखा कि वाबजूद नवविवाहिता के मना करने के, उस युवक की उँगलियाँ नवविवाहिता की कमर पर, इरादतन, फितरतन या शायद आदतन दौड़ ही जातीं। ऐसी हरकतें वे शायद स्वभाववश या उम्र के तकाजेवश कर रहे होंगे। मैंने अंदाजा लगाया।

डिब्बे में ज्यादातर बत्तियां बुझी हुईं थीं। बस्स...केवल गैलरी में एक या दो हल्की लाइट्स जल रही थीं। इसके अलावा डिब्बे में जो भी थोड़ी-बहुत रोशनी बिखरी हुई थी, वो मुसाफिरों के स्मार्टफोन से निकल रही रोशनी की वजह से भी हो सकता था। चूंकि मुझे नींद नहीं आ रही थी, और साथ ले आयी किताब भी पढ़ पाने का अवसर नहीं था, सो मेरे तईं अपने इर्द-गिर्द ताका-झांकी स्वाभाविक ही था। इसे किसी कर अन्यथा नहीं लिया जा सकता।

मेरे दूसरी तरफ ऊपरी बर्थ पर लेटी, फोन पर एक महिला के बतियाने की आवाज बहुत देर तक आती रही। पता नहीं किससे बतिया रही थी? बतियाते हुए सामने वाले को लगातार धमकाती, कभी रोती, तो कभी हंसने लगती। हालांकि, उसकी बातों से यह भी अंदाजा लग रहा था कि वो या तो अपने बॉयफ्रेंड से बतिया रही थी, या अपने पति से? उसकी बातें खत्म होने का नाम ही नहीं ले रही थी। हां!

डिब्बे में सो रहे बाकी यात्रियों पर उसने इतना एहसान अवश्य किया कि रोने-धोने-धमकाने के सत्रावसान के बाद अब वो धीमी आवाज में ही बतियाने लगी थी।

मेरा ध्यान भंग हुआ, मोबाईल पर आये संदेश से। पत्नी ने व्हाट्सएप पर गुड-नाइट संदेश भेजा था। इधर से मैंने भी गुड-नाइट लिखा। इस तरह हमारी गुड-नाइट हुई।

किसी के जोर-जोर से बोलने की आवाज सुनकर मेरी नींद खुली। नीचे, साइड-बर्थ पर एक नवयुवक और एक बुजुर्ग बैठे किसी गूढ़ विषय पर चर्चारत थे। ये दोनों नये पैसेन्जर लगे। शायद इसी स्टेशन से चढ़े हों? ट्रेन किसी स्टेशन पर रूकी हुई थी। प्लेटफॉर्म पर अंधेरा सा होने के कारण, खिड़की से बाहर झांकने पर स्टेशन का नाम पढ़ा जाना मुश्किल था। हां, प्लेटफॉर्म पर कुछ यात्रीगण जरूर दौड़ते-भागते नजर आये। अगल-बगल की सीटों पर लेटे कुछ यात्रियों के खर्राटे भी साफ-साफ सुने जा सकते थे। मैंने स्मार्टफोन में देखा, रात के तीन बजकर तेइस मिनट हुए थे।

''रूकिये, देखिये तभी आगे बढ़िये। इसे दुनियावी सिद्धान्त मान लीजिये।'' बुजुर्ग ने उस नवयुवक को समझाते हुए बात आगे बढ़ाई।

''कहीं की भी यात्रा पर निकलने से पहले अजीब तरह की बेचैनी महसूस होती है। जहां के लिए निकलना है, वहां जाने पर सब कुछ ठीक-ठाक तो रहेगा न? जिस कार्य के लिए निकले हैं, वह समय से सम्पन्न हो जायेगा न? रास्ते में कुछ उल्टा-सीधा तो घटित नहीं होगा न?...आदि-आदि।'' नवयुवक ने प्रत्युत्तर में कहा।

''ये सिर्फ तुम्हारी ही समस्या नहीं हो सकती है। बहुतों के साथ ऐसा होगा। पर कुछ लोग कह देते हैं, तो कुछ इसे सहजभाव, आत्मसात कर लेते हैं। अब मुझे ही देखो! कार में सवार हुआ तो ऐसा लगा कि ड्राइवर बहुत धीमें गाड़ी चला रहा है, सोचा कि उसे तेज चलाने को कहूँ, लेकिन अगले ही पल यह भी ध्यान आया कि तेज चलाने के लिए कहने पर वो कहीं लड़-भिंड़ न जाय। इससे सारा दोष मुझ पर ही आयेगा। फिर, क्या पता ड्राइविंग के समय उस चालक को बेवजह का रोक-टोक पसन्द न हो। उसे गाड़ी तेज चलाने के लिए कहने के बजाय कार की सवारी का आनन्द

ही लिया जाय। वैसे भी, मंजिल नजदीक आने लगे तो निश्चिन्तता का आभास होने ही लगता है। नतीजा यह रहा कि घर से तुम्हारे बाद निकलने के वाबजूद, मैं भी समय से स्टेशन पहुँच गया...हा-हा-हा।'' बुजुर्गवार ने दुनियावी ज्ञान का पिंटारा खोला था।

''शायद आप ठीक कह रहे हैं। लेकिन मैं तो मोबाईल पर बार-बार आ रहे एक फोन कॉल की वजह से परेशान हो गया था। किसी महत्वपूर्ण कार्य के लिए घर से निकलिए, और ऐसे में यदि कोई अनसेव्ड नम्बर या अवांछित कॉल आपके मोबाईल-स्क्रीन पर चमकने लगे, जिसे आप पसन्द नहीं करते हैं, तो मूड का अपसेट हो जाना स्वाभाविक है।'' नवयुवक ने मानो बुजुर्गवार के सुझावों पर सफाई दी हो।

''तुम कर भी क्या सकते हो? नियति को नहीं बदल सकते। हां! लेकिन एक-दो बार और ऐसी कॉल आने पर, उसे अटेण्ड करना है या नहीं, तुम खुद तय कर सकते हो। यदि बहुत जरूरी होगा तो सामने वाला दुबारा-तिबारा भी कॉल करेगा। ऐसे में कॉल अटेण्ड करने से पूर्व तुम्हारे मन-मस्तिष्क में एक खाका बन चुका होगा। तुम खुद को इस बात के लिए तैयार कर चुके होंगे कि कॉल अटेण्ड करने के उपरान्त तुम्हें उससे क्या कुछ कहना है? इससे तुम्हारा काम आसान हो जायेगा, और हो सकता है अनावश्यक तनाव से छुटकारा भी महसूस हो...हा-हा-हा।'' बुजुर्गवार ने एक बार फिर, अपने ही तरीके अपने अनुभव साझा किये।

''पर...कुछ लोग ऐसे भी होते हैं मानो वे कितने खालिहा हैं। किसी को कब फोन मिलाना है, बिना उचित समय देखे-समझे, कभी भी फोन मिला देंगे। ऐसे में बड़ी असहज स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तुर्रा ये भी कि अगले ही पल फोन अटेण्ड न करने पर नाराजगी व्यक्त करते मेसेज भी कर देंगे।''

''देखिये, ऐसे विघ्नसंतोषियों से निबटने का तो यही तरीका है कि उनका फोन अटेण्ड करिये, और कोई-न-कोई व्यस्तता बताते, फिलवक्त बात करना टाल दीजिए। हमारे कार्यों की प्राथमिकता तय करने का अधिकार सिर्फ हमें है, किसी और को नहीं। कोई नाराज हो, होता रहे। ऐसी बातों, ऐसे लोगों की कभी परवाह नहीं करनी चाहिए।'' बुजुर्गवार की ये दुनियावी बातें सुनकर मेरी यह धारणा एक बार फिर मजबूत हुई कि

कुछ सवाल, जवाब के लिए नहीं किये जाते, बल्कि यह जांचने-परखने के लिए किये जाते हैं कि सामने वाला उन्हें किस खूबसूरती से टाल जाता है।

''हां! देखिये तो, एक और दिलचस्प बात बताना तो मैं भूल ही गया। जल्दबाजी में मैंने अपने शर्ट का एक बटन ऊपर-नीचे बन्द कर दिया, और उसी क्रम में सारे बटन बन्द करते जब आखिरी बटन बन्द कर रहा था, तो इस बात का एहसास हुआ। मुझे सारे बटन खोलते, फिर से बन्द करना पड़ा, जिससे एक छोटे से काम में दोगुना समय जाया हो गया। शायद इसीलिए कहते होंगे...जल्दी का काम शैतान का होता है-हें-हें-हें।'' नवयुवक ने इस बार शायद स्टेशन पर पहुंचने में देरी हो जाने के कारणों के बारे में जानकारी दी थी।

''खैर, कुछ भी हो। अगर तुमने जल्दबाजी नहीं दिखाई होती तो ये ट्रेन छूट ही जाती, और इंटरव्यू भी। अब आगे से ध्यान रखना कि जब भी कहीं जाना हो, तो घर से निकलने में कम-अज-कम पन्द्रह मिनट का मार्जिन जरूर रखो। क्या पता रास्ते में कहीं जाम आदि मिल जाये। 'मेन एट वर्क...आगे रास्ता बन्द है' टाइप कोई बोर्ड ही दिख जाये, तो क्या करोगे? ठिकाना तो अगली सांस का भी नहीं...हा-हा-हा।'' बुजुर्गवार ने मानो हिदायत सी दी हो।

''जी सर। यह बात तो है। लेकिन इसके लिए मैं उस टैम्पो वाले का भी तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ, जिसने मेरे अनुरोध पर अपना टैम्पो बेतहाशा दौड़ाते-भगाते, शॉर्टकट अपनाते मुझे ठीक समय पर स्टेशन पहुंचा ही दिया।'' ये कहते युवक ने मानो राहत की सांस ली।

''ये तुमने बढ़िया कही, शॉर्टकट वाली बात...हें-हें-हें।'' कहते बुजुर्गवार ठठाकर हंसने लगे।

चूंकि वो बुजुर्गवार थोड़ा ऊंची आवाज में बोल रहे थे, जिससे यह आभास हो रहा था कि आसपास बैठे लोगों को बलात्, वे अपने इन दुर्लभ जीवनानुभवों से अवगत कराना चाहते हैं। पास बैठे एक-दो यात्रियों ने तो हूँ-हाँ करते उनकी बातों का समर्थन भी किया, जिससे उनका उत्साहवर्धन होना स्वाभाविक था। बताता

चलूँ...साथ ले आयी किताब 'भारतनामा' में भी संजोग से शॉर्टकट की आदत के बारे में मैंने थोड़ी देर पहले एक दिलचस्प पैरा पढ़ा था, जो अचानक याद आया, उनकी बातों में तस्दीक भी हुआ। उनकी बातचीत में यह भी गौरतलब था कि वो कुछ भी कहने के बाद ठठाकर, बेसाख्ता हंसते। इस तरह ज्ञान देने के अति-उत्साह में उनके मुंह से थूक निकलने के बजाय सभ्य भाषा में कहूँ तो 'मोतियों की बौछार-सी' हो रही थी, जो सीधे उस नवयुवक के मुंह पर पड़ने के कारण वो अपने कमीज की बांह बार-बार मुंह पर ले जाते पोंछ लेता। क्या पता ऐसा उनका स्वभाव ही हो? जाहिर है ऐसे तुमुल कोलाहल भरे माहौल में नींद तो उचटनी ही थी।

ट्रेन के लखनऊ पहुंचने का समय पौने दस बजे का था। ऐसे में इरादा यही था कि कम-अज-कम आठ-साढ़े आठ बजे तक तो अपनी सीट पर सुकून से सो ही सकता हूँ। लेकिन अभी सुबह के लगभग छः ही बजे होंगे, जब मैं टॉइलेट से होकर वापस अपनी सीट पर आया तो देखता हूँ कि निचली सीटों पर बैठे यात्री परिवार के वो अधेड़ सज्जन और नवयुवक तो अभी लेटे हुए हैं, लेकिन निचली सीटों पर बैठी वो दोनों महिलाएं उठकर बैठ गयीं हैं। नवविवाहिता ने झट अपने बैग से कंघी निकालकर बाल संवारे, तो अधेड़ महिला ने साथ ले आयी बोतल के पानी से मुंह पर छींटा मारते, तौलिये से पोंछने के बाद अपने चेहरे पर हल्के हाथों क्रीम लगाई। तत्पश्चात् दोनों बच्चों को जगाकर उनके भी मुंह पर पानी के छींटे मारने के बाद उन्हें जूते-मोजे पहनाकर, उनके बालों में कंघी फिराकर उन्हें राजा बाबू, रानी बिटिया सरीखे बनाते, उनके हाथों में दो-दो क्रीम बिस्किट पकड़ा दिये।

अब उस अधेड़ महिला ने गैलरी से गुजरते हुए चाय वाले को आवाज देते चार चाय का ऑर्डर दिया। चाय वाले ने कागजी कपों में जब तक चाय ढ़ाला, तब तक नवविवाहिता, जो अब तक बालों में कंघी करते, क्रीम-पौंडर आदि लगाकर बन-ठन चुकी थी, ने सीट पर ही अखबार बिछाते, अपने बैग से चिप्स-पापड़ और बिस्कुट के पैकेट निकालते, उसे खोल दिये। दोनों छोटे बच्चे बिस्कुट-चिप्स आदि खाकर अपने-अपने स्मार्टफोन में कोई गेम खेलने में व्यस्त हो गये। चाय वाले को पैसे चुकताकर, उसे चलता कर अब वो दोनों महिलाएं भी चिप्स-पापड़ व बिस्कुट का नाश्ता करते,

बतकुच्चन में ऐसे मगन हो गयीं, मानो वे ट्रेन में नहीं, अपने घर के चौबारे में बैठी हों। ऐसे माहौल में सुबह आठ-साढ़े आठ बजे तक सोने का मेरा प्रोग्राम जाहिरन तौर भाड़ में जा चुका था। उसी मध्य मेरे मोबाईल-स्क्रीन पर मेसेज एलर्ट दिखा। देखा तो पत्नी ने व्हाट्सएप पर गुड-मॉर्निंग संदेश भेजा था। इस तरह मेरी गुड-मार्निंग हुई। चूंकि, अब सोने का कोई सवाल ही नहीं था, सो बजाय किसी पशोपेश के, मानवीय-व्यवहार के इन्हीं पहलुओं पर शोधपरक नजरिये मैंने खुद को व्यस्त रखने के प्रयास का फैसला किया।

बताता चलूँ...विषय से इतर नहीं प्रसंगानुकूल है। स्वभाव के बारे में मेरा यह भी मानना है, हालांकि ये लेखक के अपने विचार हैं...मंजन करते, दाढ़ी बनाते, बाथरूम में जाते, घर-परिवार के सदस्यों की आदतों, उनके स्वभाव के बारे में हम इस कदर अभ्यस्त हो जाते हैं कि घर में कहीं भी रहें, हमें पता लग ही जाता है कि इस समय वॉशबेसिन के सामने घर का कौन सदस्य मंजन कर रहा है, कौन दाढ़ी बना रहा है, या कौन सदस्य बाथरूम में है। वैसे ये हस्बेमामूल सी बातें हैं, जो अमूमन ज्यादातर के साथ रोजमर्रा के अनुभवों में शामिल हो ही जाती होंगी। क्या नहीं...?

सुबह जब लखनऊ प्लेटफॉर्म पर उतरने लगा तो एक युवक के साथ चलते-बतियाते जो महिला मेरे सामने से निकली, उसकी आवाज कुछ जानी-पहचानी सी लगी...'ओ-हो...तो यही मोहतरमा हैं, जो मेरे बर्थ के दूसरी तरफ ऊपरी बर्थ पर लेटी, रात-भर किसी से फोन पर बतियाती रहीं थीं।' मैंने यूँ ही या शायद स्वभावतः, उनके साथ चल रहे युवक को देखने-पहचानने का असफल प्रयास किया था...।

तो ये सब बातें तो हुईं मेरी इस ट्रेन यात्रा से जुड़े कुछ दिलचस्प अनुभवों के बारे में। यात्रा में सहयात्रियों के रूप में उन महिलाओं, उन पुरूषों और उन बच्चों के स्वभाव के बारे में। मध्यरात्रि में ट्रेन में आये उस नवयुवक और बुजुर्गवार के स्वभाव के बारे में। अब स्वाभाविक तौर आपके जेहन में इन पंक्तियों के लेखक के स्वभाव के बारे में भी जानने की उत्कंठा होगी। तो मित्रों, यह कार्य मैं आप पाठकों पर छोड़ता हूँ। उम्मीद है आप सभी की प्रतिक्रियाएं अवश्य मिलेंगी। हां! सफर में मिलने वाले नये अनजान

मुसाफिरों से मिलने, उनसे बोलते-बतियाते, उनकी ये हस्बेमामूल सी बातें सुनने, दिलचस्प अनुभवों से गुजरने का मजा ही कुछ और है। क्या नहीं...?

संपर्क: 5/348, विराज खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ - 226010, उत्तर प्रदेश,
मोबाइल न0-9450648701,
ई मेल- ramnaginamaurya2011@gmail.com

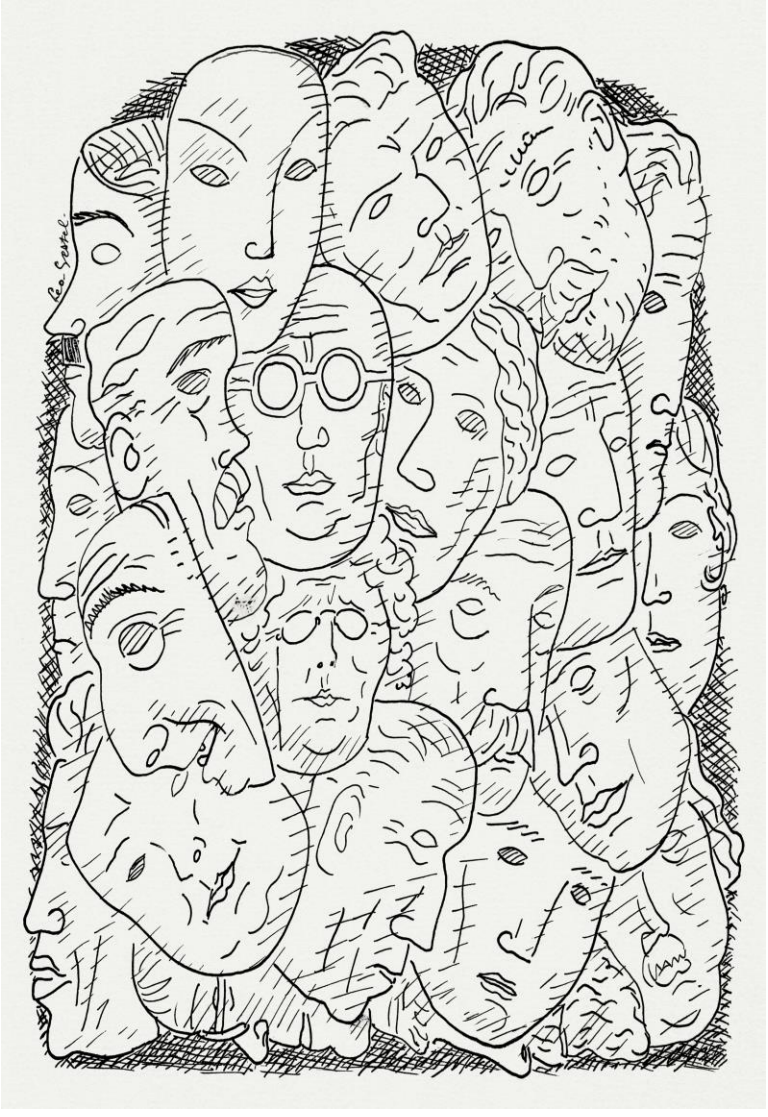

कहानी

जो तुम कह देते एक बार

मनीषा

पूरे घर में एक भयानक उदासी छाई हुई थी। बरामदे में किशन हाथ में डंडा लिए इधर-से-उधर घूम रहा था। आज उसका डंडा चलना तय था, लेकिन किस-किस पर चलेगा यह कोई नहीं जानता था। डंडे के कहर से घर में मौजूद हर शख़्स डरा-सहमा हुआ अपनी-अपनी जगह पर जड़ होकर बैठा था। अभी थोड़ी देर पहले ही किशन सीमा से बहुत ख़ुशमिज़ाज होकर बातें कर रहा था। अचानक सीमा से उसने एक सवाल पूछा जिसका जवाब सुन उसकी त्योरियाँ चढ़ गयीं। अक्सर किशन ड्यूटी से लौटते वक़्त ही पीकर धुत्त होकर घर पर आता था। आने के बाद पहले तो सब पर खूब प्यार लुटाता था फिर अचानक से किसी भी छोटी-से-छोटी बात पर गर्म होकर मार पिटाई पर उतर आता था। एक दिन इसी मार पिटाई में किशन के हाथों सीमा का सिर फूट गया। सीमा के सर से बहते खून को देख उसके चारों बच्चे बुरी तरह सहम गये थे। उसी दिन से उनकी नज़रों में अपने बाप के प्रति एक डर का भाव बैठ गया था। वे किशन से डरे-डरे रहते थे। आज तो किशन वैसे भी डंडा लिए फिर रहा था। मतलब आज किसी की शामत आने तय थी। घर में सिवाय कल्पना के सभी मौजूद थे। दरअसल कल्पना ट्यूशन गयी हुई थी, क्योंकि कल्पना दसवीं कक्षा की परीक्षा देने वाली थी। वह गणित में बहुत कमज़ोर थी तो किशन ने अपनी माँ कलादेवी के बहुत मनाने पर इधर-उधर कुछ पैसों का इंतज़ाम कर किसी तरह उसका ट्यूशन लगवा दिया था। शाम के सात बज चुके थे, लेकिन कल्पना अभी तक घर नहीं लौटी थी। साढ़े सात के आस-पास कल्पना घर आई। अभी उसने घर की दलहीज़ पर कदम रखा ही था कि किशन ने उसके हाथ से बैग लेकर उसके मुँह पर तमाचा जड़ दिया। सब जान चुके थे शामत आज कल्पना की ही आनी है। किशन की माँ यानि कल्पना की दादी ने बीच बचाव करने की कोशिश की, लेकिन किशन ने उसकी भी एक न सुनी और उस डंडे का कहर कल्पना पर बरसाने लगा। सबने रोकने की कोशिश की, पर किशन कहाँ रुकने वाला था क्योंकि वो तो ठान कर बैठा था।

कल्पना बार बार पूछती रही- पापा! आखिर मेरी गलती क्या है?

लेकिन किशन सुन ही नहीं रहा था। इसके बाद उसने कल्पना से कहा- आज से तेरा पढ़ना-लिखना बंद अब घर में बैठ।

सारे घर में कल्पना की सिसकियाँ गूँज रही थी। एक तो उसे उसका जवाब नहीं मिल रहा था। दूसरा उसका सपना जो उसने पढ़ लिख समाज में अपना एक मुकाम बनाने के लिए देखा था वो भी किशन ने घर बैठने का फ़रमान सुना कर चूर-चूर कर दिया था। इतने में किशन ने कल्पना का बैग फिर से उठाया और घर के बरामदे में लाकर रख दिया और उसमें से किताबें निकाल-निकाल उन्हें आग लगानी शुरू कर दी। घर में सबने रोकने की कोशिश की, लेकिन किशन नहीं रुका। बल्कि उसने सीमा पर भी डंडा चला दिया।

किशन ने कहाँ- ये सब तेरा किया-धरा है। मैं बाहर जाता हूँ तो तेरा फ़र्ज़ होता है बच्चों पर नज़र रखना। तूने ही इसे बिगाड़ा है।

सीमा ने कहने की कोशिश की -जैसे मेरे ही तो भरोसे पल रहे हैं। मेरा ही फ़र्ज़ है, तुम्हारा नहीं। कभी खुद स्कूल में जाकर भी पूछा है कि बच्चा क्या पढ़ रहा है। सिर्फ़ स्कूल की फ़ीस देने से ही तो बाप का फ़र्ज़ पूरा नहीं होता।

सीमा डंडे के कहर से भली-भाँति परिचित थी, क्योंकि कई बार उसका कहर सीमा पर भी बरसा था। इसलिए वह चाह कर भी किशन के आगे मुँह न खोल पाई।

किसी को नहीं मालूम था कि आखिर हुआ क्या है? सबके मन में सवाल यही सवाल घूम रहा था। रात भर सीमा और उसके तीनों बच्चे बहन कल्पना को चुप कराते रहे। किसी ने खाने का एक निवाला तक भी गले से नीचे नहीं उतारा था। जबकि किशन खा-पीकर सो चुका था। सारे बच्चों की नज़रों में आज उनका बाप शैतान का रूप ले चुका था।

अगले दिन जब किशन उठा तो उसने फिर कल्पना को बुलाया।

कल्पना काँपते हुए उसके पास गयी और उसके कुछ बोल पाने से पहले ही किशन बोल पड़ा- आज से और अभी से तेरा घर से बाहर निकलना बंद।

घर में सभी परेशान थे। सबके मन में सवाल थे, लेकिन किशन से पूछने की हिम्मत किसी में भी नहीं थी। यहाँ तक की खुद उसकी पत्नी सीमा में भी नहीं। किशन की माँ

उसे रात से ही देख रही थी। आख़िर में उसने ही सवाल किया- किशन बेटा आखिर बात क्या हुई है, कुछ तो बोल?

किशन ने कहाँ- कल मैं पड़ोस में अपने बराबर वाले सुभाष के यहाँ गया था।

माँ ने फिर सवाल किया- कोई बात हुई थी क्या?

किशन ने कहा- बात का ही तो सारा खेल है माँ। बस क्या बताऊँ कल्पना ने हमारी नाक कटा दी है। कल सुभाष बता रहा था कि उसने कल्पना को किसी लड़के के साथ देखा था।

माँ ने कहा- वही सुभाष न जो महीने भर पहले हमसे हमारे घर का बना प्रसाद सिर्फ़ इसलिए नहीं लिया था, क्योंकि हम वाल्मीकि हैं।

किशन ने कहा- हाँ! वही सुभाष माँ। अब वो ऐसा नहीं है, बल्कि वो तो मेरा सबसे अच्छा दोस्त बन गया है। मेरे साथ उठता-बैठता भी है।

माँ ने कहा- ठीक है। जब वो कह रहा है तो ऐसा ही होगा।

मन-ही-मन किशन की माँ सुभाष की बातों पर विश्वास नहीं कर रही थी। उसने सोच लिया था कि वह खुद पूरी बात का पता लगाएगी। तभी वह अपनी बहू सीमा के पास गयी और बोली सीमा कल्पना को ले आ तो मुझे तुम दोनों से कुछ बात करनी है। सीमा कल्पना के साथ कलादेवी के कमरे में चली आई।

कलादेवी ने कल्पना से पूछा- बेटी कोई लड़के-वड़के का चक्कर है क्या?

कल्पना और सीमा, कलादेवी के इस प्रश्न से स्तब्ध थी।

कल्पना ने कहा- नहीं, दादी ऐसा तो कुछ भी नहीं है।

कलादेवी ने कहा- बेटा मेरे सिर पर हाथ रख कर क़सम खा ऐसा कुछ नहीं है।

कल्पना ने सिर पर हाथ रखते हुए कहा - आपकी क़सम दादी ऐसा कुछ नहीं है। आखिर ऐसा हुआ क्या है जो आप मुझसे ऐसा सवाल पूछ रही हो?

तभी सीमा बोली- माँ जी, मैं भी परेशान हूँ। इनकी मार के डर से मैं इनसे कुछ पूछ भी नहीं सकती। ये जब भी मारते हैं ऐसे मारते हैं कि मैं अधमरी-सी हो जाती हूँ। कई दफ़ा

मुझे पता भी नहीं होता मुझ से गलती कहाँ हुई। मार खाते-खाते मेरी आधी उमर ऐसे ही कट गयी।

अचानक से दरवाज़े से किसी के आने की आवाज़ आई। सीमा ने देखा किशन घर के बाहर चप्पल उतार रहा था। किशन सीधा अपनी माँ के कमरे की ओर आ रहा था। उसे आता देख सीमा और कल्पना वहाँ से उठ के चल दी। कमरे में कल्पना को देखते ही उसने उसे घूर कर आँख दिखाई। किशन माँ से बात करता हुआ कहता है- माँ याद है न हमने ज़िदंगी कैसे गुज़ारी है। सिर पर मैला ढोते थे तो सब राह चलते हम पर फब्तियाँ कसते थे। जाति की नीचता से हमें भी तोल देते थे। दिनभर काम करने के बाद भी कभी-कभी हमारे पास खाने तक के पैसे नहीं होते थे तो हम सब बिना खाना खाए ही सो जाते थे। हमारे पास घर के नाम पर सिर्फ़ एक कमरा था जिसमें मैं तुम और बाक़ी भई-बहन सोते थे। बापू के जाते ही पता नहीं चला सुनील और विक्रम कब इतने बड़े हो गये कि हमारा कमरे जितना घर भी बेच कर निकल गये। आज तक उनका नहीं पता कहाँ हैं? कैसे हैं? मैं घर में सबसे बड़ा था। अपनी ज़िम्मेदारियों से कैसे पल्ला झाड़ लेता। मैंने जैसे-तैसे 10वीं पास की तब जाकर मुझे सरकारी दफ़्तर में चपरासी की नौकरी मिली थी। उसमें भी उसका मैनेजर संजय शर्मा मुझ से कभी सीधे मुँह बात तक नहीं करता था। कई बार मुझे 10 लोगों में बेइज्जत कर देता था तो कभी मेरा छुआ कुछ भी हाथ लगाने को तैयार नहीं होता था। इन सबके चलते मैंने वो नौकरी छोड़ दी थी। उसके बाद फिर यहीं दिल्ली में नौकरी लगी। यहाँ कुछ समय तक मैंने जाति छुपाए रखी। मैं वो जाति से भरी अपमानता फिर से नहीं झेलना चाहता था।

माँ बोली- हाँ बेटा सब याद है मुझे। हमारा तू ही तो एकमात्र सहारा बचा था। तू नहीं होता तो हम किसी फुटपाथ पर लावारिसों की तरह पड़े होते।

किशन ने कहा- ख़ैर छोड़ो माँ ये सब। तुझे कुछ ज़रूरी बात बतानी है। पता है आज मैं कहीं गया था वहाँ मुझे चंद्रपाल मिला वही जो एक दिन हमारे घर आया था।

माँ बोली – हाँ, याद है। तो?

किशन ने कहा- तो क्या माँ वो अपने लड़के के लिए कोई लड़की ढूँढ रहा है। तभी मुझे हमारी कल्पना की याद आई और वो तो कल्पना से मिला भी है। याद है जब वो मिला था तब कहा था की कल्पना जिस घर जाएगी ख़ुशियाँ लाएगी।

माँ ने कहा- हाँ-हाँ मुझे याद है सब। अब आगे तो बता।

किशन बोला- मैं उनके लड़के विजय से उसके रिश्ते की बात कर आया हूँ।

माँ ने कहा- लेकिन बेटा वो तो पढ़ रही है। अभी उसके 10वीं के इम्तिहान भी है।

किशन ने कहा- बस करो माँ। कोई इम्तिहान नहीं देना है। खूब पता है मुझे कि कितना पढ़ रही है। माँ तुम नहीं जानती कि मैं उस दिन सुभाष के सामने कितना शर्मिंदा हुआ था।

माँ ने कहा- बेटा एक बार कल्पना और सीमा से बात कर लो।

किशन ने कहा- मैंने कहा ना मैं बात पक्की कर आया हूँ। जाकर सीमा को भी बताऊँगा कि तैयारियाँ कर ले। आने वाली अगले महीने की 7 तारीख को उसकी शादी होगी।

वहाँ से उठ कर किशन सीमा के पास गया। उसने सीमा को बता दिया कि उसने चंद्रपाल के लड़के विजय से कल्पना का रिश्ता तय कर दिया है। अगले महीने शादी है। सुनकर सीमा चौंक गयी थी, लेकिन क्या बोलती? आज तक चली थी उसकी घर में, जो आज चलती। फिर भी उसने आवाज़ उठाने की कोशिश की। वह आज अपनी लड़की के हक में उतर आई थी। वह बोली- शादी तो ठीक है, लेकिन उसे 10वीं की परीक्षा देने दो। उसके सपने बहुत बड़े-बड़े हैं। मैं उसकी माँ हूँ। उसने मुझ से अपनी कई बाते साँझा की है। भगवान के लिए उसे परीक्षा देने दो। तभी वहाँ कलादेवी भी आ गयी और बोली- हाँ बेटा उसे परीक्षा देने दो।
किशन बोला- नहीं माँ, मैंने एक बार कह दिया तो कह दिया। अब कोई परीक्षा नहीं देनी। अगर तुम लोगों ने ज़्यादा ज़ोर दिया तो मैं जहर खा लूँगा। फिर मेरी लाश पर पाँव रखकर भेजना उसे परीक्षा देने।
किशन के इस वाक् प्रहार ने सबको खामोश कर दिया। सीमा और कलादेवी समझ गयीं कि अब इससे बहस करना बेकार है।

शादी की तारीख़ तो सब जानते थे, लेकिन परीक्षा की तारीख़ सिवाय कल्पना के कोई नहीं जानता था। जब कल्पना को पता चला तो उसने खुदख़ुशी करने की ठान ली। उसने मौत के मुँह में उतने के लिए जैसे ही कदम बढ़ाया तभी सीमा कमरे में आ गयी। सीमा को देख कल्पना फूट-फूटकर रोने लगी।

सीमा- मत रो मेरी बच्ची। कुछ भी हो आखिर हैं तो वो तेरे पिता ही। अगर उन्होंने कुछ सोचा है तो तेरे भले के लिए ही सोचा होगा।

कल्पना- ये कैसी भलाई है माँ? इन्होंने इंसान पैदा किया है कोई भेड़-बकरी नहीं कि जब तक चाहा घर की चौखट से बाँधे रखा और जब चाहा किसी को बेच दिया।

कल्पना की बातें सुन सीमा की आँखें भर आयीं। उसके मुँह से बस इतना निकला- हे भगवान्, मेरी बच्ची की राह आसान कर।

फिर वह कल्पना को लेकर कलादेवी के पास गयी।

कालादेवी- रो मत बेटा। मैं हूँ न। कोई-न-कोई रास्ता निकाल ही लूँगी। तू ये बता कि तेरी परीक्षा किस-किस दिन है?

कल्पना ने बताया कि बाकी विषयों की परीक्षा तो शादी की तारीख से पहले हो जायेगी, लेकिन आखिरी विषय गणित की परीक्षा के दिन ही उसकी शादी तय की गयी है।

सीमा ने कल्पना से कहा- परीक्षा किस समय है?

कल्पना ने कहा- सुबह 10 से दोपहर 1 बजे तक।

कलादेवी बोली- कोई नहीं तुम आराम से जाना परीक्षा देने। तेरे बाप को मैं देख लूँगी।

सीमा- माँ, अगर उन्हें पता चल गया तो?

कलादेवी- अरे वह दिन के समय घर पर रहता ही कब है? उसके आने से पहले ही कल्पना परीक्षा देकर वापस भी आ जायेगी। तू फ़िक्र न कर।

कल्पना- लेकिन दादी, पापा ने तो मेरी किताबें भी जला दी हैं। मैं परीक्षा की तैयारी करूँगी कैसे?

कलादेवी- उसकी चिंता न कर। किताबों का इंतज़ाम हो जाएगा।

सीमा- कैसे माँ? मेरे पास तो एक पैसा भी नहीं है और इनके बाप से माँगने का सवाल ही पैदा नहीं होता। किताबों के नाम पर तो वो एक धेला भी नहीं देंगे।

कलादेवी ने एक बार सीमा की तरफ देखा। फिर अपनी पुरानी संदूकची खोलकर उसमें से अपना चाँदी का कड़ा निकाला और सीमा को देते हुए कहा- ले मेरा कड़ा गिरवी रखकर किताबों के लिए पैसे ले आ।

सीमा- लेकिन माँ जी! यह तो...

कलादेवी (रुंधे गले से)-हाँ, ये कल्पना के दादाजी की आख़िरी निशानी है। सोचा था इसे कल्पना को उसकी शादी में दूँगी। मगर आज शादी से ज़्यादा कल्पना के सपने ज़रूरी हैं। अब जा देर न कर। हम तो न बन पाए कुछ मगर हमारी कल्पना के साथ ऐसा कुछ न होगा। हमारी कल्पना अपने पैरों पर खड़ी हो। कभी भी मुश्किल वक्त

आए तो उसे अपने मायकेवालों की ओर सहारे का हाथ ना बढ़ाना पड़े। बल्कि वह खुद ही अपना सहारा बने।
सीमा ने अपने बड़े बेटे अरविन्द को बुलाया और उसे दादी का कड़ा देकर कहा- बेटा जा इसे बनिए के यहाँ गिरवी रखकर पैसे ले आ।
अरविन्द कड़ा गिरवी रखकर पैसे ले आया। उन्हीं पैसों से कल्पना की किताबें आयीं। कल्पना को अपने बिखरे सपने जुड़ते-से जान पड़े। उसने भी जोरों-शोरों से परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी। धीरे-धीरे समय गुजरा और एक-एक कर कल्पना के चार विषयों की परीक्षाएँ हो गयीं। अब बचा था आख़िरी इम्तेहान। यह उसके लिए सबसे बड़े इम्तेहान का दिन था, क्योंकि इसी दिन उसकी शादी भी होने वाली थी।

शादी वाले दिन सुबह से ही घर में मेहमानों का आना-जाना लगा हुआ था। सब बार-बार सीमा से कल्पना के बारे में पूछ रहे थे। वह सबको झूठ-पर-झूठ बोले जा रही थी। कभी कहती कि कल्पना नहा रही है, तो कभी कहती कल्पना मेंहदी लगाने में व्यस्त है। कोई नहीं जानता था अरविंद उसे सुबह 9 बजे ही परीक्षा केंद्र छोड़ आया था। कल्पना खूब मन से अपनी परीक्षा दे रही थी। निश्चित समय पर परीक्षा ख़त्म हुई और कल्पना स्कूल के बाहर आकर अरविंद को ढूँढने लगी। उसे लेने वह आने वाला था, लेकिन अरविन्द घर पर जाकर शादी की तैयारियों से घिर चुका था।

अरविंद कल्पना से कह कर गया था कि वह उसे लेने आएगा, इसीलिए वह अपनी सहेलियों के साथ न जाकर वहीं केंद्र पर उसका इंतज़ार करती रही। उसकी सहेलियाँ चली गयीं और परीक्षा केंद्र भी धीरे-धीरे खाली हो गया। अरविंद का काफी देर इंतज़ार कर उसने अकेले ही घर जाने का मन बनाया। मन से वह डरी भी हुई थी कि जब सबको पता चलेगा कि मैं घर पर नहीं हूँ तो अलग बखेड़ा खड़ा होगा। पर वह खुश थी कि उसने परीक्षा दे दिया है। वह घर जा ही रही थी कि उसे सामने से बाइक पर सुभाष आते दिखा। उसे देखकर कल्पना ने अपने क़दमों की रफ्तार बढ़ा दी।

इतने में सुभाष ने अपनी बाइक बिलकुल कल्पना के बगल में ले जाकर बड़े जोर से हॉर्न बजाया। वह सहम गई। तभी उसने कल्पना के गालों को हाथ लगाया। बदले में कल्पना ने एक थप्पड़ उसे जड़ दिया। सुभाष मुँह पर थप्पड़ पड़ते ही भन्ना गया। उसने कहा- मैंने कहा था न तुझे ज़्यादा दिन इस मोहल्ले में दिखने नहीं दूँगा। तुम साले वाल्मीकि मोहल्ले में गंदगी फैलाये हुए हो। कितने जतन करे तुम्हारे इस मोहल्ले से

निकालने के लेकिन तेरा बाप है कि जाने का नाम ही नहीं लेता। पर मेरा नाम भी सुभाष ठाकुर ऐसे ही नहीं है। अच्छे-अच्छों को चूस कर गुठलियाँ फेंक दी हैं। तू और तेरा बाप किस खेत की मूली है।
वो तेरा बाप, गंदगी की दुकान उसे भी मुझे मुँह लगा कर दोस्ती गांठनी पड़ी। उस दोस्ती का ही नतीज़ा है जो आज होने वाला है।
कल्पना ने चौंककर सुभाष को देखा और कहा- मतलब क्या है तुम्हारा?
सुभाष ने कहा- वही जो तू समझ रही है। तेरी शादी और क्या?
कल्पना ने कहा- तुमने क्या किया था?

सुभाष ने कहा- ज़्यादा कुछ नहीं बस एक कहानी तेरे बाप को सुनाई और वो बेवकूफ सच मान बैठा। सोचा था कि ये सुनकर मोहल्ला से वाल्मीकियों की सफ़ाई होगी, लेकिन हुई सिर्फ़ एक इंसान की। खैर कोई नहीं बाकियों को भी देशनिकाला मैं ही दूँगा।
कल्पना ने घृणा से सुभाष के मुँह पर थूक दिया। सुभाष गुस्से से तिलमिलाता हुआ बोला- बदजात लड़की तेरी इतनी जुर्रत। देख मैं अब तुझे इसका कैसा मज़ा चखाता हूँ।

इतना कहकर सुभाष ने कल्पना को धक्का देकर पास की झाडियों में गिरा दिया। दोपहर का समय था। ऊपर से भीषण गर्मी। लोग-बाग अपने-अपने घरों में दुबके हुए थे। उधर सुभाष झाड़ियों में कल्पना के शरीर को नोच-खसोट रहा था। स्कूल की छुट्टी हुए भी बहुत देर हो चुकी थी, इसलिए भी सड़क पर स्कूल का एक बच्चा तक नहीं था। बेचारी कल्पना की दर्द भरी चीख और सिसकियाँ किसी के कानों में न पड़ी। कल्पना को ऐसे ही छोड़ सुभाष वहाँ से रफूचक्कर हो गया था। उधर अरविंद घर से फारिग होकर कल्पना के स्कूल पहुँचा। पर उसे वहाँ कल्पना कहीं भी नहीं मिली। वह परेशान-सा सड़क से गुज़र रहा था कि तभी उसे झाड़ियों से किसी के सिसकने की आवाज़ सुनाई पड़ी। उस आवाज़ का पीछा करते-करते वह उस जगह पहुँचा, जहाँ सुभाष ने कल्पना की अस्मत की धज्जियाँ उडायी थी। वहाँ कल्पना को निर्वस्त्र पड़े देख अरविंद काँप उठा। उसने फ़ौरन अपनी शर्ट उतार कर कल्पना को ओढा दी। जैसे-तैसे बेसुध कल्पना को वह उठाकर घर ले जाने लगा। रास्ते में सब उसे देख रहे थे। साथ ही तरह-तरह की बातें कर रहे थे। वह कल्पना को लेकर घर पहुँचा तो देखा दरवाज़े पर चंद्रपाल अपने बेटे की बारात लिए खड़ा था। वह उन सब को अनदेखा

करता हुआ कल्पना को गोद में उठा सीधा अंदर घुस गया। घर में अरविंद और कल्पना को देखकर सबका दिल बैठ गया था। कलादेवी और सीमा कल्पना को देख छाती पीट-पीट कर रो रही थी। रोते हुए कलादेवी ने कहा- हाय मेरी बच्ची! मुझे तो वो कमीना सुभाष पहले दिन से खटकता था। मोहल्ले में जितने भी झगड़े हमसे मोहल्ले वालों ने किए उन सब में वो मुआ होता ही था। पर कौन जानता था वो हमें यहाँ से निकालने के लिए ऐसे भी कर सकता है।

रोने की आवाज़ सुन दौड़ता हुआ किशन आया और बोला- ये क्या हुआ बेटा? किसने किया ये सब तेरे साथ?
कलादेवी (रोते हुए)- और कौन कर सकता है? वही तेरा मुँहलगा सुभाष है इन सबके पीछे। जिस दिन से उसने कल्पना के बारे में तुझसे झूठ कहा था उसी दिन से मैंने उसके बारे में पता करवाया था। वो नासपीटा तेरे सामने तो दोस्ती का नाटक करता था और पीठ पीछे तुझे मोहल्ले से भगाने की बात करता था। तू इतना बेवक़ूफ़ है कि तूने अपने घरवालों और बच्ची से ज़्यादा उस कमीने का भरोसा किया। अरे कल्पना की इस हालत का जितना ज़िम्मेदार सुभाष है, उतना ही तू भी है किशन।
किशन की आँखें डबडबा गयीं। रूंधे गले से उसने इतना कहा- मुझे माफ़ कर दे माई। मुझे माफ़ कर दे मेरी बच्ची।

तभी कल्पना उठ खड़ी हुई- अब माफ़ी माँगकर क्या होगा पापा। जिस दिन मेरे देर से आने पर आपने मुझे जानवरों की तरह पीटा था तब आपको माफ़ी माँगने का ख्याल नहीं आया था। उस दिन मैं और सारा घर आपसे पूछता रहा कि आखिर मेरी खता क्या है, लेकिन उस दिन तुम्हारे मुँह से सिवाय गालियों और दुत्कार के कुछ न निकला था। उसी दिन 'जो तुम कह देते एक बार' तो बात यहाँ तक पहुँचती ही नहीं पापा। मेरी इस हालत के ज़िम्मेदार आप हैं, सिर्फ आप।

कल्पना ने अपने और सुभाष के बीच हुई घटना और बातों को उजागर कर दिया। ये सब सुनकर किशन के होश उड़ गये थे। वह रोता हुआ बार-बार कल्पना से माफी माँग रहा था।

उसने कल्पना से कहा- मैं तो तुझसे माफी माँगने के लायक भी नहीं रहा मेरी बच्ची। फिर भी तेरा बाप तेरे सामने हाथ जोड़कर खड़ा है।

कल्पना ने कहा- आपके डर से सारा घर सहमा हुआ रहता है। किस-किस से माफ़ी मागेंगे आप? माफ़ तो शायद घर का कोई भी सदस्य न कर पाए। सब आपकी वजह से हुआ है। जाति से तो मैं रोज़ लड़ ही रही थी, लेकिन सुभाष से नहीं लड़ पाई। आपको पता है वो रोज़ मुझे रास्ते में छेड़ता और और मेरी जात को गाली देता था। आज तक मैंने कभी घर पर नहीं बताया था, क्योंकि आप तब भी मेरी पढ़ाई रोककर मुझे ही घर पर बैठा देते। वैसे भी आपकी नज़रों में लड़कियों की पढ़ाई कोई पढ़ाई थोड़े न होती है।

मुझे माफ़ कर दे कल्पना। मुझे एक बार तेरी बात सुननी चाहिए थी।

दरवाज़े पर खड़ी बारात बेआबरू हुई कल्पना को अब अपनाना नहीं चाहती थी। वो लोग बरात लेकर वापस लौट जाना चाहते थे, लेकिन चंद्रपाल के बेटे विजय ने पूरी बरात को रोक लिया। विजय ने सबसे एक सवाल किया- इस सब में कल्पना की गलती क्या है?

सारे बारातियों ने विजय को सुनाना शुरू कर दिया। कहने लगे कि तुम क्या चाहते हो एक बेआबरू हुई लड़की को अपनाना। तुम्हें अपनाने का शौक हो तो अपनाओ, हम नहीं अपनाने वाले। चंद्रपाल ने विजय से कहा- मैं तेरा बाप हूँ। तुझे मेरी सुननी पड़ेगी। वरना मेरे घर में तेरे लिए कोई जगह नहीं है।

विजय ने कहा- मैं यह शादी ज़रूर करूँगा। बेशक मुझे इसके साथ एक किराए के घर में रहना पड़े। लेकिन मैं शादी कल्पना से ही करूँगा बशर्ते कल्पना को मंज़ूर हो तो। साथ ही उस सुभाष को सज़ा भी हम दोनों ही मिलकर दिलाएँगे।

ऐसा बोलते हुए विजय ने कल्पना की और देखते हुए कहा- क्यों कल्पना बनेगी मेरी बीवी। मगर मेरी घरवाली डरपोक नहीं है। वह ज़ुल्म के खिलाफ़ आवाज़ भी उठाएगी और दोषी को सज़ा भी दिलवाएगी। इससे पहले मेरे साथ थाने चल। उस भेड़िये सुभाष की एक-एक करतूत हम पुलिस को बताएँगे। उस पापी को उसके किये की सज़ा मिलकर ही रहेगी।

फिर विजय आगे बढ़ा और कल्पना का हाथ पकड़कर बोला- चल थाने, पहले सुभाष के खिलाफ़ शिकायत दर्ज करवाएँगे, फिर शादी करेंगे।

कल्पना कुछ न बोल पायी बस श्रद्धा और विश्वास भरी नज़रों से विजय को देखती रही।

शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई-मेल

Manishagauraniya@gmail.com

पुस्तक समीक्षा

समाज के यथार्थ को दिखाती कहानियाँ

समीक्षक: प्रिया राज
शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
priyaraj8194@gmail.com

पुस्तक – हाथ ओ उग ही आते हैं(कहानी संग्रह)
कहानीकार – प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
प्रकाशक – वाणी प्रकाशन
वर्ष – २०२१
मूल्य – २९९

हिंदी दलित साहित्य जगत में 'श्यौराज सिंह बेचैन' का लेखन मील के पत्थर के समान है। उनकी कहानियों के केंद्र में शोषण, गरीबी, अशिक्षा, जातिवाद और भेदभाव के शिकार दलित और स्त्रियों के संघर्ष को दिखाया गया है। 'श्यौराज सिंह बेचैन' नब्बे के दशक से ही अपने कथा सृजन में शोषणकारी शक्तियों की शिनाख़्त करते रहे हैं। उनका लेखन हाशिए पर जीने वाले समाज की प्रेरणा है। उनका कहानी संग्रह 'हाथ तो उग ही आते हैं' नौ कहानियों का संग्रह है। जो वाणी प्रकाशन (२०२१) से प्रकाशित हुआ है। इन कहानियों की अन्तर्वस्तु उस समाज का सच है जो समाज के दायरे से बाहर समझे जाते हैं।

श्यौराज सिंह बेचैन की कहानियाँ जहाँ एक ओर ग्रामीण समाज का सच प्रस्तुत करती हैं, तो दूसरी ओर शासन व्यवस्था का सच भी हमारे सामने रखती हैं। तमाम संवैधानिक अधिकार मिलने पर भी समाज में बराबरी का स्तर नहीं आ पाया है। डॉ. भीमराव अंबेडकर कहते हैं कि किसी भी समाज के विकास को देखना है तो उस समाज की स्त्रियों के विकास को देखिए। लेखक की कहानियाँ समाज की वास्तविकता के साथ राजनीतिक षड्यंत्र को बखूबी पाठक के सामने रखती हैं।

मानवीय संवेदना को लोकतांत्रिक मूल्यों से जोड़ती ये कहानियाँ अधिकांशतः सामाजिक मुद्दों सामाजिक सरोकारों से संबंध रखती हैं।

हाथ तो उग ही आते हैं कहानी संग्रह की पहली कहानी है 'घूंघट हटा था क्या' एक ग्रामीण परिवेश की कहानी है, कहानी के दो पक्ष हैं, पहला एक स्वर्ण स्त्री की कहानी लगती है, चौधरी अपनी पहली पत्नी के मरने के उपरांत किशोरी जिसकी उम्र सोलह भी नहीं है, लाडो से शादी कर लेता है और प्रसव प्रसूति के दौरान वह मर जाती है। सामंतवादी व्यवस्था के आधीन स्त्री की कहानी है। पढ़ने लिखने की उम्र में पुरुषवादी मानसिकता का बोझ ढोती स्त्री की कहानी है। बे-मेल विवाह को प्रस्तुत करती है। प्रेमचंद के यहाँ भी बे-मेल विवाह की समस्या को दिखाया गया है। इससे यहाँ एक बात और स्पष्ट होती है कि समय भले ही बदल गया हो पर समाज में समस्याएं ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। विवाह की उम्र को संवैधानिक दर्जा प्राप्त हो चुका है परंतु कम उम्र में विवाह देने वाली लड़कियां भी समाज में हैं। ऐसे में उन्हें शारीरिक और मानसिक पीड़ा से गुजरना पड़ता है। चौधरी लाडो से विवाह कर उसका बचपन और उसका जीवन दोनों ही समाप्त कर देता है। लाडो कफन की बुधिया की तरह प्रसव की असहनीय पीड़ा से अपने प्राण त्याग देती है। वहीं कहानी का दूसरा पक्ष भी है, जहाँ चौधरी बच्चू को अपनी पास गुलाम बना लेता है और समय सीमा पूरी होने पर भी उसके माँ-बाप के पास वापस नहीं भेजता अपितु उसे आजीवन गुलाम बनाने की मंशा रखता है। भीतर तक झकझोर देने वाली कहानी है। जातिवाद और गरीबी के कारण बच्चू को सारा समय काम में जुटे रहना पड़ता है। बाहरी पुरुष जबकि वह बच्चा है, मालकिन (लाडो) को देखने की अनुमति नहीं होती। किसी भी परिस्थिति में लाडो को हर समय घूँघट में रहना है, लाडो का घूँघट में रहना गुलामी का प्रतीक है, वहीं बच्चू गुलामी का जीवन जी रहा है। समाज में गुलामी के पैबन्दों को दर्शाती कहानी है। कहानी उपन्यास के कथानक को अपने में समेटे है। ये कहानी जातिवाद के दुष्परिणाम और स्त्री की दयनीय स्थिति का यथार्थ अंकन करती हुई दहेज प्रथा, परदा प्रथा, बाल विवाह बे-मेल विवाह जैसी कुप्रथाओं को उजागर कर स्त्री शोषण, दलित

शोषण, गुलामी आदि को समाज को खोखला कर देने वाली समस्याओं को हमारे सामने रखती है।

दूसरी कहानी है 'हमशक्ल' जो पूरी तरह से एक राजनीतिक कहानी है। इस समाज में गरीब दलित पर राजनीति होती रही है आज भी होती है। स्त्री को भी राजनीतिक षडयंत्र में शामिल कर लिया गया है। हमशक्ल कहानी में एक समान दिखने वाली लड़कियां है एक सवली जो प्रेमराय की लड़की है और दूसरी ओर एक गरीब दलित कर्मदास की लड़की भोरवती है। प्रेमराय और कर्मदास में नौकर और मालिक का संबंध है। भीमराव अंबेडकर लिखते हैं कि सत्ता राजनीति की एक ऐसी चाबी है जिससे सभी ताले खुलते हैं। कहानी दलित स्त्री के अगुवा कर उस पर वोट की राजनीति को लेकर बुनी गई है। सत्ता के शीर्ष पर बैठने की लालसा समाज के हर तबके, जाति, समुदाय में समान ही है। यह कहानी व्यवस्थाकरो के चरित्र में छुपी जातीयता के तत्वों और रचे जा रहे षड्यंत्रों का पर्दाफाश करती है प्रकेश कहता है कि ऐसा करने से दोहरे लाभ होंगे। अछूतों-गरीबों के वोट पक्के करने हैं और उनमें से कोई विद्रोह पनप रहा हो तो उसे दबा देना। कहानी कई स्तर पर खुलकर हमारे सामने आती है, जहाँ एक ओर राजनीतिक षड्यंत्र कूटनीति, चालबाजी, धोखेबाजी है तो दूसरी और एक दलित स्त्री की शिक्षा पर प्रश्न उठाती है, उसके व्यक्तित्व पर उठते सवाल सामने आते हैं। तीसरी ओर दलित समाज के व्यक्तित्व की गुलामी के जीवन को दिखाया गया है। जाति व्यवस्था के बारीक सूत्र वंश परंपरा से उपजते हैं, वंश परंपरा एक ऐसी व्यवस्था है जो जाति व्यवस्था को बनाए रखती है। सवर्ण समाज में जाति व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दलितों को शिक्षा से दूर रखती है। स्त्री शिक्षा की तो बात ही दूसरी है। एक जगह लेखक सवर्ण मानसिकता को दलित स्त्री के प्रति प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि लड़कियां अक्षर ज्ञान पाते ही अपनी जाति और औकात भूल जाती है। वहीं अंबेडकर कहते हैं कि किसी भी समाज के विकास को देखना हो तो उस समाज की स्त्रियों के विकास को देखना। स्त्री का विकास उसकी शिक्षा से संभव है। रचनाकार की सबसे अच्छी बात होती है कि वह पाठक को सोचने पर विवश करे। जब भोरवती गायब होती है, यह घटना ही पाठक को अंत तक कहानी से जोड़े रखती है। पाठक

अंत तक यह सोचता रहता है कि क्या भोरवती कहानी में वापस आएगी, भोरवती कहानी में वापस आती तो है परंतु वह पाठक को मजबूर करती है सोचने पर कि क्या वह भोरवती है या सवली, अगर सवली है तो प्रकेश अपनी बहन के साथ दुष्कर्म करता है और यदि भोरवती के साथ हुआ है तो सवली राजनीतिक हथियार बन कर सामने आती है। कहानी हमें इस बिंदु पर लाकर छोड़ देती है कि पाठक सोचता रहे कि अंत तक चीजें किस तरह घटित हुई हैं। प्रेमराय का पूरे परिवार का सरकारी और निजी संस्थानों पर कब्जा है कस्बे में दो कॉलेज और पांच स्कूल थे लेकिन हर एक में राय परिवार की बहू बेटियां नाते रिश्तेदार भरे हुए थे प्रबंधन कोई प्रबंधक कोई प्रधान चाहे तो कोई डायरेक्टर बन बैठा था भरे भी क्यों ना हो? यह संस्थान स्वायत्त थी। कहानी राजनिति के विभिन्न आयामों के साथ सवर्ण समाज की पैठ को भी दिखाती है कि किस प्रकार समाज में सवर्ण समाज का दबदबा और वर्चस्व कायम है।

आग और फूस कहानी अंतर्जातीय विवाह को दिखाती कहानी है। ग्रामीण परिवेश से जुड़ी कहानी है। समाज में स्थिति कमोवेश पहले जैसी ही बनी हुई है। सरसवती एक ब्राह्मण स्त्री है जिसने एक दलित पुरुष से विवाह किया है। उसके विवाह के कुछ समय पश्चात् ही उसके पति की मृत्यु हो जाती है। जिसके कारण उसे अपने ससुर के साथ रहना पड़ता है। समाज को यह स्वीकार्य नहीं होता। कहानी सरस्वती के माध्यम से ब्राहमण समाज की मानसिकता को प्रस्तुत करती है। स्त्री को भोग लेने की मंशा पुरुष के मन में सदैव बनी रहती है। सरसवती को दलित समझ कर उसके साथ जबरन शारीरिक संबंध बनाकर ब्राह्मण पुरुषों द्वारा अपनी हवस मिटाने का प्रयास किया जाता है। समाज में पुरुषवादी मानसिकता इस तरह से हावी रहती आई है, इससे स्त्रियां भी अछूती नहीं रहीं हैं। इसी के चलते सरसवती कहती है अब मैं मर जाना चाहती हूँ स्त्री की पवित्रता में ही उसकी जिजीविषा छिपी होती है पवित्रता मर गई तो स्त्री भी मर गयी। समय बदलने से व्यक्ति की सोच बदली है, उसने पुरानी परंपराओं और रूढ़ियों मानसिकताओं का खंडन प्रारंभ कर दिया है, इस कहानी में भी यह खंडन हम देख पाते हैं क्या पवित्रता चरित्र का और मॉरल देह के आवरण है।

हाथ तो उग ही आते हैं कहानी अत्यंत ही मार्मिक कहानी है। शहर हो या गांव आज भी जाति व्यवस्था बनी हुई है। लोगों की मंशा दूसरे की जाति जानने की बनी रहती है। नाम पूछ लेने के बाद यह जिज्ञासा सदैव बनी रहती है कि नाम के आगे क्या? सूतो चौधरीन अपने घर में काम करने वाली नौकरानी की जाति पूछकर उसे काम पर रखती है, लेकिन उसका पति उसको समझाता है कि देखो सूतो कामवाली चाहिए तो जात पर मत जाओ..... औरत होकर औरत से बहनापा निभाओ उनकी जात पर मत जाओ। कहानी का दूसरा हिस्सा अत्यंत मार्मिक है जब एक दिन रुक्खो काम पर अपने बच्चे को लेकर आती है और सूतो का लड़का रुक्खो के बच्चे के हाथों पर गाड़ी चढा देता है, रुक्खो काम करते हुए बच्चे की आवाज से बाहर आती है, सूतो जानती है बच्चे के साथ क्या हुआ है, रुक्खो को पाँच सौ रुपए देकर भेज देती है ताकि रुक्खो उसके गले न पड़ जाए। रुक्खो अपने बच्चे को हॉस्पिटल ले कर जाती है और डॉक्टर बच्चे के हाथ काटने की बात करता है, उसकी मानसिक स्थिति देखकर डॉक्टर कहता है हाथ तो उग ही आते हैं। कहानी का दूसरा पक्ष अत्यंत मार्मिक है साथ ही यह कमलेश्वर की चप्पल कहानी की याद कहीं न कहीं दिलाता है। लेखक ने सवर्ण समाज की मानसिकता दलितों के प्रति कैसी है यह दिखाने का प्रयास किया है।

कार्ड संख्या 2118 कहानी में अशोक नामक एक दलित के अभावग्रस्त जीवन को दिखाया गया है। उसकी स्थिति, परिस्थितियों, दुखों, कष्टों को अभिव्यक्त किया गया है जहाँ एक जगह लेखक लिखते हैं कि ये तस्वीरें पत्रों से भी ज्यादा बोलती है कि सत्तर साल की आजादी में जिसमें शिक्षा स्वास्थ्य आवास और रोजगार किसी भी स्तर पर समता स्वतंत्रता का सपना नहीं देखा उसे आप और क्या दिखाना चाहते हैं।

अस्थियों के अक्षर, सिस्टर, और वह अम्मा जैसी थी अंतिम कहानियाँ मैं शैली में लिखी गई हैं। यह लेखक की आत्मकथा का अंश भी हैं। लेखक ने अपने जीवन की वास्तविक घटनाओं को कहानियों में उकेरा है, अपने जीवन के अभावग्रस्त जीवन के साथ दलित समाज की स्थिति का चित्रांकन किया है। एक कहानी महज कहानी का एक ही पहलू नहीं रखती अपितु अन्य कई पक्ष वह अपने में समेटे हैं। इन कहानियों का कथ्य वंचित शोषित उपेक्षित समाज की जीवनशैली को लेकर चलता है।

वर्णव्यवस्थवादी समाज में गुलामी की बेड़ियां आज भी दलित कहीं जाने वाले समाज के पैरों में पड़ी हैं। जाति व्यवस्था के विरोध में खड़ी ये कहानियाँ मानव मुक्ति मानव स्वतंत्रता के मूल्यों का संपोषण कर इतिहास के हाशिए से बहिष्कृत समाज को केंद्र में लाकर उनकी अस्मिता और अस्तित्व के प्रति सचेत करती हैं।

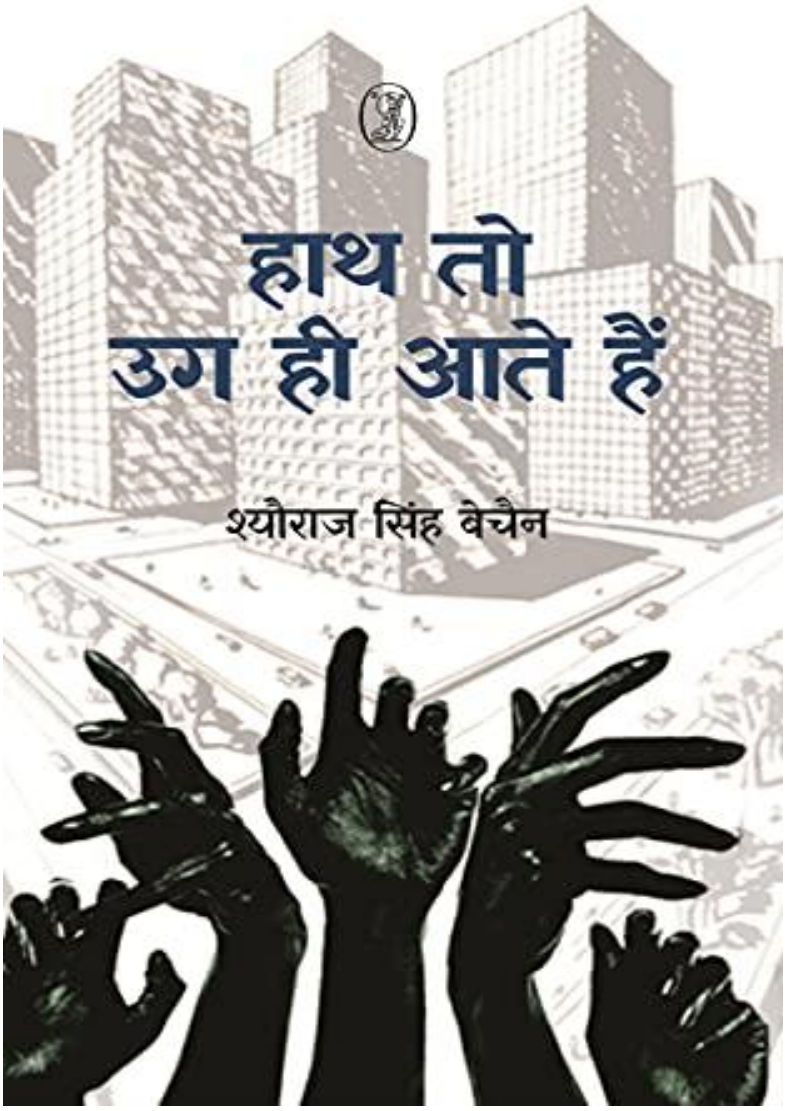

साहित्यिक चोरी का दस्तावेज़: छापकटैया

समीक्षक: रश्मि सिंह

टीवी पर बोर्नविटा का विज्ञापन कुछ यूं कहता है, 'मेरे बेटे को जीत की आदत तब लगेगी जब वो मुझे हरायेगा, तब नहीं जब मैं उसे जीतने दूँगी।'

विज्ञापन की इस पंक्ति ने आत्मबल और आत्मसम्मान के साथ जीवन जीने की कला की ओर संकेत किया है। निश्चित रूप से इस विज्ञापन का उद्देश्य 'एंटरटेनमेंट' नहीं है।

पत्रकारिता की विद्यार्थी होने के नाते 'विज्ञापन कला' को पढ़ने और समझने का करीब से अवसर मिला। सेकेंड और मिनट के बेहद कम समय में 'मारक' और 'कारक' शब्दों के केंद्र में सिर्फ और सिर्फ बाजार नहीं बल्कि 'समाज' भी है। वह समाज जो हमें 'आदमी' से 'मनुष्य' बनने का अवसर प्रदान करता है।

हम हमेशा स्वस्थ समाज की परिकल्पना करते हैं। लेकिन बीमारियां हर समाज में होती हैं। ऐसी ही एक बीमारी है। 'इगोपुष्टक' बीमारी जिसे कह सकते हैं। 'स्वरचित' के सामने टिकने के लिए 'स्वचुरित' आसरा लेकर हम नशे में डूबे रहते हैं। अब यह नशा जब धैर्य की सीमा क्रॉस करता है तो उल्टी शुरू। भांति-भांति की उल्टी।

या यों कहें कि हम ढकच-ढकच कर गंध फैलाते हैं। रातोंरात हम 'सर्जक' बन जाते हैं। सर्जना के लिए 'प्रेरणा' अनिवार्य है। कोई कसक या टीस जो आपको बेचैन कर दे। उस बेचैनी की शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया ही 'सर्जना' है।

जिसने ज़िंदगी की कैफ़ियत को करीब से महसूसा है, शब्द उसी के पास रहना पसंद करते हैं लेकिन 'चौर्यकर्म' में कुशल 'आरोपित प्रतिभा' को यह मंज़ूर नहीं। नतीज़न 'कट-कॉपी-पेस्ट' की कीत-कीत शुरू। मज़े की बात यह है कि हम कीत-कीत खेलते हैं लेकिन पर्दा न उठे इसकी भी पूरी कोशिश करते हैं-

'पर्दे में रहने दो पर्दा न उठाओ'

पिछले कुछ दिनों से 'छापकटैया' किताब पढ़ते हुए यह गीत साथ-साथ रहा। भेद खुल गया है क्योंकि पर्दा उठ चुका है। सभी जरूरी प्रमाणों और दस्तावेजों के साथ लिखी गयी इस किताब ने कईयों को 'फ्लोर' पर ला दिया है। फिर भी कूदेंगे क्योंकि नशा उतरने में भी समय लगता है। उतरते नशे के साथ कुछ सम्मोहनकारी मंत्र भी पढ़े जाते हैं लेकिन इसका असर भी उल्टा ही होता है। आख़िर चोरी का जहर खुद पीकर दूसरे के मरने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं आप?

जहर आपने पीया है, असर भी आप पर होगा।

'हरियाणवी लोकसाहित्य में दलित उत्पीड़न कांड' की बात करती 'छापकटैया' किताब के लेखक प्रो.राजेंद्र बड़गूजर सर हैं। कुल 308 पन्नों की इस किताब में प्रमाणों की भरमार है। बिना प्रमाण के कोई बात नहीं कही गयी है। पाठक के रूप में इसे पढ़ते हुए 'विश्वसनीयता' ने अंत तक मुझे किताब से जोड़े रखा। बात सिर्फ छाप काटकर गाने की नहीं है। इसके पीछे कुत्सित मनोविज्ञान है जो लोगों को संचालित कर रहा है। भागती रेस का हिस्सा बनना है और साथ ही साथ अपना 'पौना भर ईगो' भी शांत करना है। शॉर्टकट खेलते हुए हम 'विजयी' होने का दंभ भी पाले हुए हैं। लेकिन शायद हमें नहीं पता कि,शब्दों की चोरी ज्यादा दिन तक टिकने नहीं देती। नशे में चूर अपनी तस्वीर आईने में देखकर जब हम कहते हैं, 'डोंट कॉपी माय थॉट' तब आईना बेचारा भी लाज के मारे पानी-पानी हो जाता है।

किताब की कुछ बातें साझा कर रही हूँ-

कुछ बेईमान किस्म के लोग किसी की रागणी पर किसी दूसरे का नाम(छाप) लगाकर गा देते हैं, तो 'छापकटैया' शब्द उनके लिए प्रयुक्त हुआ है। (5-6)

जहां एक ओर आदमी सच्चाई, ईमानदारी और आन-बान-शान के लिए दीवारों में चिना जाना और फांसी के तख़्ते पर झूलना चुन लेते हैं, वहीं बेईमान किस्म और कब्जाधारी उसी अनुपात में निम्नतम स्तर पर उतर आते हैं। वह उघाड़ा हो जाता है। यह एक मानवीय प्रवृत्ति है। हर आदमी में इंसान भी होता है और बे(ईमान) भी। इन दोनों में से वह खुद चुनता है। हांलाकि चुनते समय भारी संघर्ष तो चलता है परंतु वह क्या चुन लेता है, यह उसके व्यक्तित्व, शिक्षा-दीक्षा, परिवेश और संस्कार पर निर्भर करता है। (11-13)

रागणियां मात्र मनोरंजन नहीं हैं। यह हमारी हरियाणवी जीवन-शैली का प्रतिबिंब भी हैं। और इस छाप काट परिदृश्य से हमारी लूट-खसोट और सामंती संस्कार की झलक भी मिलती है। (19)

किसी कवि की छाप काटकर गाना असभ्यता की निशानी है। आदिम जड़ता है। यह तय है कि वह अधिक दिनों तक लोगों को बरगला नहीं सकता। उनकी संख्या कम होती है। मेरी इस बात को याद रख लिया जाए कि आखिर में वह अकेला ही बचा रहेगा। अपने आपको कोसेगा। जब उसके भीतर का अच्छा और सच्चा आदमी उसके छापकटैया रूप पर हावी होने लगेगा। (20)

एक जरूरी बात यह भी है कि कुमार्गी को कोई भी कुमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर सकता है। छपकटैया गायक की मंशा और मानसिकता के कारण ही छापकाट गैंग उन्हें लालच सरकाता है। यदि वे कला के आदर्श की परवाह करते हुए छाप काटकर गाने से परहेज करने लगें तो किसी की हिम्मत नहीं है कि वे उससे ज़बरदस्ती गवा लें।(24)

सर्जक कभी भी छाप नहीं काटता।(25)

इतने सारे बदलावों और छापकटैया की मानसिकता का अध्ययन करने के बाद एक बात तो पूर्ण विश्वास के साथ कही जा सकती है कि यह 'जिसकी उतरगी लोई तो क्या करेगा कोई' कहावत को पूर्ण उदाहरण के साथ देखना चाहता है तो

छापकटैयों के चरित्रों को एक बार देख लें। उसके लिए अपनी बेशर्मी को छिपाने के लिए गिरावट की कोई सीमा नहीं है। (43)

रागणी किसी भी कलाकार को संतान की तरह होती है। वह उसकी रचना, सृष्टि और पुत्रवत होती है। रागणी की प्रसिद्धि के कारण रचनाकार की प्रसिद्धि जुड़ती है। रचनाकार भविष्य में रागणी के कारण ही जाना जाता है। किसी कवि की किसी रागणी पर उनके नाम काटकर छाप काटकर किसी अन्य की छाप लगाना एक घृणित काम है। इस छद्म-छाप बेईमानी के लिए बड़ी से बड़ी सज़ा भी गौण है। यह एक कवि की अस्मिता से खिलवाड़ है।(80)

'बौद्धिक संपदा अधिकार कानून' को हमें पढ़ने की आवश्यकता है। 'चौर्यकर्म' के साथ 'ऊपर तक पहुँच' का भौकाल भी कुछ काम नहीं आने वाला। बेहतर है अपनी रंग,चमक और सृजनात्मकता के साथ कुछ जोड़ें। 'कॉपी-कॉपी' खेलेंगे तो-

'न ख़ुदा ही मिला न विसाल-ए-सनम'

शोधार्थी, हिंदी विभाग, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, बिहार,
सम्पर्क: 9451889860,9354944750

‘